डा० एस. एम. पाण्डेय
डा० श्रीकान्त पाण्डेय

संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

History of Sanskrit Literature

ভারতীয় সংস্কৃতির
ও
বাঙ্গালার জাতীয়
সাহিত্য

H. Tony of
London's
Literature

संस्कृत साहित्य
का
आलोचनात्मक इतिहास

लेखक :
डॉ० सत्यनारायण पाण्डेय
एम० ए०, पी-एच० डी०
डॉ० श्रीकान्त पाण्डेय
संस्कृत-विभाग
दिगम्बर जैन कालिज, बड़ौत (मेरठ)

संशोधित एवं परिवर्द्धित नवीन संस्करण

साहित्य भण्डार
शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाजार, मेरठ-२५० ००२

● प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
मेरठ–२
दूरभाष : 0121 {2656444 (कार्य०)
2518754 (प्रति०)

© प्रकाशकाधीन

● पूर्णतया संशोधित अष्टम संस्करण

● मूल्य : साठ रुपये (६०.००)

● मुद्रक : सुधाकर ऑफसेट
मेरठ।

पुरोवाक्

संस्कृत भाषा का साहित्य अपनी प्राचीनता, विशालता, व्यापकता, विविधता, गम्भीरता, उदात्ता और लालित्य की दृष्टि से विश्व की किसी भी भाषा—विशेषकर प्राचीन भाषा के साहित्य से महान् और उच्च है, इस तथ्य को सभी संस्कृतविद् प्राच्य और पाश्चात्य विद्वान् सर्वात्मना स्वीकार करते हैं। यह भारतीय मेधा का सर्वोत्तम प्रतिनिधि है। विश्व में भारत का जो भी महत्त्व और गौरव है, उसके मूल में उसकी आध्यात्मिकता आदि अन्य विशेषताओं के साथ ही सुरभारती का यह महान् साहित्य भी है।

इस विशाल साहित्य का विस्तृत ऐतिहासिक परिचय सहस्रपृष्ठात्मक अनेक ग्रन्थों का विषय है, जो बहु व्ययसाध्य होने के साथ ही अनल्प काल और श्रम से सापेक्ष भी है। यही कारण है कि अद्यावधि, विश्व की किसी भी भाषा में इस प्रकार का प्रयास नहीं किया गया है। इस दिशा में जो भी बड़े से बड़ा प्रयास हुआ है, वह इस विशाल वाङ्मय का बहुत ही सतही और संक्षिप्त परिचय-मात्र है। अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच और हिन्दी भाषाओं में इस प्रकार के ग्रन्थों की एक लम्बी शृंखला है। इसी शृङ्खला की एक कड़ी के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ को भी देखा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की उपादान-सामग्री एतद्विषयक विभिन्न आकरग्रन्थों से ली गई है, इसलिये इसमें मौलिकता का कोई दावा नहीं है, तथापि कतिपय साहित्यिक प्रवृत्तियों और कवियों पर व्यक्त किए समीक्षात्मक मन्तव्यों और आधुनिक संस्कृत साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और धाराओं का संक्षिप्त परिचय, जिसका इस प्रकार के ग्रन्थों में प्रायः अभाव ही दिखाई पड़ता है, में कुछ नूतनता दिखाई पड़ सकती है। इसे इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता समझनी चाहिये और मैं समझता हूँ कि इसी आधार पर इसका सम्बद्ध विद्वत्समाज तथा छात्रवृन्द में व्यापक स्वागत होगा।

अन्त में, जिन सुधी विद्वानों के विचारों और मन्तव्यों से इसके प्रस्तुतीकरण में लाभ उठाया गया है, उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं तथा पाठकों से निवेदन करते हैं कि वे इसकी त्रुटियों से हमें अथवा प्रकाशक को अवगत कराने की कृपा करें ताकि उन्हें अगले संस्करण में दूर किया जा सके।

—(डॉ०) श्रीकान्त पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	क्या	कहाँ
	पूर्व वैदिक खण्ड	
१	**वैदिक साहित्य :** सामान्य परिचय, वेदों का रचनाकाल, विषय-विवेचन और क्रम-निर्वाह आदि।	१-२८
२	**यजुर्वेद :** सामान्य परिचय—संहिताओं का विषय-विवेचन तथा उनकी तुलनात्मक आलोचना, पूर्व वैदिक-कालीन संस्कृति।	२९-४७
	उत्तर वैदिक खण्ड	
३	**ब्राह्मण :** आरण्यक, उपनिषद्, उत्तर-वैदिक कालीन संस्कृति (वेद-सम्बन्धी साहित्य)	४८-५१
४	**आरण्यक :** वैदिक संस्कृत (वेद सम्बन्धी साहित्य) वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष, रचना काल. व्याख्याकार, सूत्रकालीन संस्कृति।	५२-८७
५	**लौकिक साहित्य :** (रचनात्मक साहित्यिक खण्ड) रामायण और महाभारततत्कालीन संस्कृति।	८८-९९
६	**पुराण :** रचनाकाल, रचयिता, पुराणों का परिचय।	१००-१०७
७	**महाकाव्य :** संस्कृत भाषा तथा साहित्य, काव्य तथा महाकाव्य, महाकाव्य के अभ्युदय के उपकरण, उत्तर पीठिका।	१०८-१६३
८	**ऐतिहासिक महाकाव्य**	१६४-१८२
९	**नाटक :** संस्कृत नाटक की उत्पत्ति एवं विकास—संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक।	१८३-२३७
१०	**गीतिकाव्य :** उद्भव एवं विकास—सन्देश-काव्यों की परम्परा।	२३८-२६६
११	**संस्कृत गद्य-साहित्य :** उद्भव एवं विकास, वैदिक गद्य, संस्कृत-पत्र-पत्रिकायें।	२६७-३०५
१२	**अख्यान साहित्य उद्भव एवं विकास :** आख्यान साहित्य का स्थान, विशेषता।	३०६-३१२
१३	**चम्पूकाव्य।**	३१३-३१५
	लौकिक संस्कृत शास्त्रीय साहित्य	
१४	**नाटयशास्त्र :** ऐतिहासिक क्रम, विषय-विवेचन।	३१६-३५४
१५	**अलङ्कारशास्त्र :** इतिहास आदि।	३५५-३५९
१६	**धर्मशास्त्र का इतिहास।**	३६०-३६९
१७	**अर्थशास्त्र :** राजनीति, नीति और अर्थशास्त्र।	३७०-३७७
१८	**व्याकरणशास्त्र।**	३७८-३८९
१९	**कोषसाहित्य।**	३९०-३९२
२०	**आयुर्वेद :** उद्देश्य और उत्पत्ति।	३९३-३९९
२१	**धनुर्वेद।**	४००-४०२
२२	**ज्योतिषशास्त्र :** अङ्कगणित, गणित-ज्योतिष, फलित-ज्योतिष।	४०३-४१२

अध्याय

१ वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय

वेद अनन्त ज्ञान-राशि का वह अक्षय भण्डार है, जो ऋषियों के द्वारा परिलक्षित एवं आविष्कृत होकर विविध मन्त्रों और विधानों के संग्रह रूप से प्रस्फुटित हुआ। कहा भी है—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन चारों की वेद संज्ञा है। वेद-मन्त्र ऋषियों द्वारा देखे गये है, साधारण मानव द्वारा बनाये नहीं गये ऐसी भारतीय परम्परा की मान्यता है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि गौरवीत ने मन्त्र-समूहों को देखा था। कौषीतकि ब्राह्मण ने भी कहा है (१०-३०) कि वेद मन्त्र देखे गये हैं। इसी से यास्क ने अपने 'निरुक्त' में तथा कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' में मन्त्र के देखने वाले या साक्षात्कार करनेवाले को ऋषि कहा है।

प्राचीनतम भारोपीय साहित्य के कीर्तिस्तम्भ के रूप में विश्वसाहित्य की इतिहास-परम्परा में वेदों का ही शीर्षस्थ स्थान है। अनेक पाश्चात्य विद्वान् आज भी यह मानते हैं कि कम से कम ४५०० वर्ष के समय से लाखों हिन्दुओं ने वेदों का परमेश्वर के निःश्वास-रूप में आदर किया है। बृहदारण्यक में लिखा है—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् ऋग्वेदोयजुर्वेदः"। हिन्दुओं को भाव व विचार का, स्तर भी वेदों से ही प्राप्त हुआ है—सर्वं वेदात् प्रसिध्यति"—(मनु)। वेद अपनी प्राक्कालीनता के कारण भारतीय साहित्य के उच्चतम, शिखर पर आसीन हैं, इसलिये जब तक कोई व्यक्ति वैदिक साहित्य में दृष्टि-निक्षेप नहीं करता; जब तक वेदों की रसमाधुरी का आस्वाद नहीं पाता, तब तक भारतीयों के आध्यात्मिक जीवन और उनकी संस्कृति को कदापि नहीं समझ सकता।

जिस बौद्ध-दर्शन का भारतवर्ष में प्रादुर्भाव हुआ है, वह भी उस व्यक्ति के लिये सर्वथा दुर्ज्ञेय रहेगा जो वेदों से अपरिचित है; क्योंकि भगवान बुद्ध की शिक्षाओं का वेदों से उतना ही सम्बन्ध है, जितना नवीन साहित्य का प्राचीन साहित्य से है। वेद-विहित सिद्धान्तों को समझे बिना आधुनिक आदर्शों और विश्वासों को हृदयङ्गम कर सकना भी असम्भव है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (६/२) में लिखा है—"यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" अर्थात् पहले ईश्वर ब्रह्मा को उत्पन्न करके लोक शिक्षा के लिये उन्हें वेद देते हैं। शब्दमय नित्यवेद को ऋषियों ने समाधि की अवस्था में ज्ञान व ध्वनि रूप में प्राप्त करके छन्दोमयी वाणी में अभिव्यक्त किया। ऋषियों ने जिन मन्त्रों को स्वयं प्रत्यक्ष

किया था उन्हें 'कण्ठाप्त' और जिनका स्मृति द्वारा अनुमान लगाया था उन्हें 'कल्प्य' मन्त्र कहते हैं । 'विद्' ज्ञाने धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ है ज्ञान, जो नित्य एवं शाश्वत है । वेदों में वह ज्ञान है जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की सिद्धि होती है । वेद से हमारा तात्पर्य कुरान अथवा बाइबिल अथवा त्रिपिटक की भाँति किसी एक विशेष काल में गुम्फित की गई कुछ परिगणित पुस्तकों के संग्रह से नहीं है अपितु उस विशाल साहित्य से है, जिसका अनेक शताब्दियों के लम्बे समय में प्रादुर्भाव हुआ और श्रुति के रूप में शताब्दियों तक कुल-परम्परा में कण्ठस्थ-संचारण के प्रकार से जिसकी रक्षा हुई । जर्मन विद्वान् विण्टरनिट्ज का मत है कि अन्तिम वंश के महर्षियों द्वारा, इसके विषय तथा विशाल काल को दृष्टि में रखकर पवित्र ज्ञान या दैविक प्रकाश के रूप में, इसकी उद्घोषणा कर दी गई । संक्षेप में वेद निखिल ब्रह्माण्ड पर शासन करने वाले उन तेजस्वी भारतीय मनीषियों का विजयी निनाद है, जिन्होंने लोक कल्याण के लिये आध्यात्मिक तत्वों का चिन्तन करते हुए नियति के चिरन्तन तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का उद्घाटन किया था । आज यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदों की उपलब्ध संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के जो संस्करण निकले हैं वे प्रायः यूरोप के विद्वानों ने विदेशों में प्रकाशित कराए हैं । जो भारत में प्रकाशित हुए हैं । उनमें अनेक के पाठ संदिग्ध एवं अविश्वसनीय हैं ।

आज जो वेद या वैदिक साहित्य उपलब्ध हैं, उसमें साहित्यिक रचना के चार प्रकार प्राप्त होते हैं और इनमें से प्रत्येक रचना अधिक या न्यून मात्रा में दूसरी रचनाओं से सम्बद्ध है । इनमें से कुछ रचनाओं की रक्षा हुई, किन्तु अनेक लुप्त भी हो गई । वैदिक साहित्य के ये साहित्यिक प्रकार निम्नलिखित हैं :

(१) संहिता--संहिता का अर्थ है—संग्रह । इससे हमारा तात्पर्य मन्त्रों, सूक्तों, प्रार्थनाओं, स्तुतियों तथा याज्ञिक नियम-विधियों के संग्रह से है ।

(२) ब्राह्मण-ग्रन्थ—इस विस्तृत गद्य भाग में आध्यात्मिक तत्वों का, विशेष रूप से यज्ञों की विधियों का और पृथक्-पृथक् याज्ञिक विधानों का वर्णन प्राप्त होता है । इसमें वैदिक अनुष्ठानों का क्रियात्मक रूप निहित है । ब्रह्म का एक अर्थ 'यज्ञ' भी है, इसलिए यज्ञ का प्रतिपादन तथा उनकी व्याख्या करने के कारण इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण पड़ा । विधि ही ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय है । इनके द्रष्टा आचार्य कहलाते हैं ।

(३) आरण्यक—इनका कुछ भाग ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत अथवा उनसे सम्बन्धित है और कुछ अंश अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है । इनमें अरण्य के महर्षियों या वानप्रस्थियों के यज्ञ, महाव्रत तथा होत्रादि का विवरण है । प्रधानतः इनमें यज्ञ-रहस्य-प्रतिपादक विद्या का निरूपण है । इनमें यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का विवेचन तथा आधिदैविक रूप का निरूपण सरल एवं संक्षिप्त शैली में किया गया है ।

(४) उपनिषद्—'उप' का अर्थ है समीप और निषद् का अर्थ है बैठने वाला अर्थात् परमतत्त्व के समीप बैठने वाला ज्ञान ही उपनिषद् का विषय है। यह अधिकारी को ब्रह्म के समीप पहुँचा देता है। इन ग्रन्थों में संन्यासियों एवं योगियों का ईश्वर, जगत् तथा मनुष्य के प्रति ध्यान-नेत्रों से साक्षात्कृत ज्ञान भरा है और एक विशाल मात्रा में प्राचीनतम दर्शन-शास्त्र छिपा पड़ा है।

किसी काल में अवश्य ही संहिताओं की एक विशाल संख्या रही होगी, जिसने गायकों तथा पुरोहितों की विभिन्न शाखाओं का प्रवर्त्तन किया और जिनमें इसी प्रकार कुल-क्रम से प्राप्त होना प्रचलित रहा। इनमें से अनेक परिवर्तित शाखाओं के विविध रूप मात्र हैं, अतः भारतीय उन्हें एक ही कहकर प्रकट करते हैं। पतञ्जलि के अनुसार चारों वेदों की १,१३० शाखाएँ होती हैं जिनमें से ११ उपलब्ध हैं।

(१) ऋग्वेद संहिता—यह दस मण्डलों या आठ अष्टकों में स्तुतिमय गीतों (ऋचाओं) का संकलन है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसकी इक्कीस तथा शौनक के चरणव्यूह में ५ संख्याएँ मानी हैं। आजकल केवल शाकल शाखा पूर्ण तथा बाष्कल खण्डित रूप में मिलती है। इसमें १०,५८०½ ऋचाएँ १,५३, ८२६ शब्द तथा ४,३२००० अक्षर प्रयुक्त हुए हैं।

(२) यजुर्वेद संहिता—यह यजुषों (यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों) का संग्रह है जिसमें याज्ञिक विधि नियमों का ज्ञान है चरणव्यूह के अनुसार यजुर्वेद की ८६ शाखाएँ हैं, "यजुर्वेदस्य षडशीति भेदा भवन्ति" और पतञ्जलि १०० शाखाएँ मानते हैं। यह दो रूपों में उपलब्ध है—

(अ) कृष्णयजुर्वेद संहिता—इसकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण तैत्तरीय, कठ और मैत्रायणी संहिताएँ हैं, जो आज भी उपलब्ध हैं। कपिष्ठल कठ संहिता की भी मात्र त्रुटित प्रति वाराणसी राजकीय संस्कृत कालेज के 'सरस्वती भवन' में विद्यमान है। इसमें मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग मिले हुए हैं।

(ब) शुक्लयजुर्वेद संहिता—इसकी वाजसनेयी या माध्यन्दिनी तथा काण्व ये दो संहिताएँ सुरक्षित हैं।

(३) सामवेद संहिता—सामों अर्थात् गेयात्मक मन्त्रों या गीतों का संग्रह है। इसके दो प्रधान भाग हैं—(१) आर्चिक तथा (२) गान। इससे स्वर माधुरी का ज्ञान होता जाता है। इसकी एक सहस्र शाखाओं में जैमिनीय, राणायनीय तथा कौथुम ये तीन शाखाएँ ही वर्तमान में उपलब्ध हैं।

(४) अथर्ववेद संहिता—यह आङ्गिरस अथर्वा ऋषि के द्वारा परिदृष्ट एवं प्रयुक्त मन्त्रों का संग्रह है, जिसे माया या अभिचार के नियमों का परिज्ञान कहा जाता है। यह वेद आयुष्मिक तथा ऐहिक दोनों प्रकार का फल देता है। इसकी शाखाओं में से इस समय शौनक और पिप्पलाद ये दो शाखाएँ ही प्राप्त हैं।

इन चार विभिन्न संहिताओं के कारण ही भारतीय चारों वेदों में भेद की

परिकल्पना कर लेते हैं और यही कारण है कि वेद शब्द का प्रयोग बहुवचन में होता है। वह प्रत्येक रचना जो ब्राह्मण, आरण्यक अथवा उपनिषद् से सम्बद्ध है, अवश्य ही किसी न किसी संहिता से सम्बन्ध रखती है।

इस प्रकार केवल संहिताएँ ही नहीं अपितु (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद और (४) अथर्ववेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद् भी प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के एतरेय और कौषीतकि ब्राह्मण हैं। कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक तथा कपिष्ठलकठ ब्राह्मण हैं और शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण है। सामवेद के ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, मंत्र, देवताध्याय, वंश, संहितोपनिषद्, जैमिनीय तथा तलवकार ब्राह्मण हैं। अथर्ववेद की शौनक शाखा का गोपथ ब्राह्मण है।

इसी भाँति आरण्यकों और उपनिषद् का भी विभाजन है। संहिताओं और ब्राह्मणों की भाँति आरण्यक भी ११३० होने चाहिये, किन्तु आज केवल ७ ही मिलते हैं। ऋग्वेद के (१) ऐतरेय आरण्यण तथा (२) शाङ्खायन या कौषीतकि आरण्यक हैं। कृष्णयजुर्वेद के (१) तैत्तिरीय तथा (२) मैत्रायणीय या चरक शाखा का वृहदारण्यक उपलब्ध हैं। शुक्लयजुर्वेद के (१) माध्यन्दिन वृहदारण्यक तथा (२) काण्व वृहदारण्यक हैं। इनमें क्रमशः माध्यन्दिन शतपथ तथा काण्व शतपथ ब्राह्मणों के शेषांश के ६ अध्याय आते हैं। सामवेद का (१) तलवकार-आरण्यक है जिसे जैमनीयोपनिषद् ब्राह्मण भी कहते हैं। अथर्ववेद का कोई आरण्यक प्राप्त नही हैं, कुछ लोग गोपथ ब्राह्मण के अन्तिम भाग को गोपथ-आरण्यक मानते हैं।

ऋग्वेद के उपनिषद् ऐतरेय, कौषीतकि तथा बाष्कल मन्त्रोपनिषद् हैं। यजुर्वेद के तैत्तिरीय, महानारायण, कठ, मैत्रायणीय, ईश, बृहदारण्यक एवं श्वेताश्वतर हैं। सामवेद के छन्दोग्य तथा केन हैं और अथर्ववेद के उपनिषद् प्रश्न, मुण्डक एवं माण्डूक्य हैं।

वह प्रत्येक रचना जो उपरिनिर्दिष्ट चार प्रकार के वर्गों में से किसी एक पर अवलम्बित है तथा किसी एक वेद से सम्बद्ध है, वैदिक कहलाती है। प्रो० विण्टरनिट्ज का कथन है कि—"समग्र वैदिक साहित्य भिन्न आनुक्रमिक काल पर अवलम्बित गीत-संग्रह, प्रार्थना-ग्रन्थ, आध्यात्मिक व पारमार्थिक निबन्धात्मक धार्मिक रचनाओं के दैर्घकालिक अनुक्रम का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही एकता का आदर्श भी उपस्थित करता है। जहाँ तक ये सब सम्मिलित रूप में ब्राह्मण-धर्म-पद्धति के भित्तिस्तम्भ की स्थापना करते हैं। ये ब्राह्मणवाद के लिये भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितने कि ईसाई धर्म में प्राचीन विधान नवीन विधान के लिये हैं। जिस दृष्टि से यहूदी तथा ईसाई अपने पवित्र शास्त्र को देखते हैं, वैसे ही भारतीय वेद का आदर करते हैं और वेद के समस्त वर्तमान उपलब्ध स्वरूप को दैविक मानते हैं। किन्तु यह महत्त्व की बात है कि जहाँ एक ओर यह 'पवित्र शास्त्र' कहा जाता है, वहीं दूसरी ओर भारतीयों की परम्परा इसे 'श्रुति' कहती है", क्योंकि ये दृष्ट संहिताएँ

लिखी और पढ़ी नहीं गई थीं अपितु देखी, बोली और सुनी गई थीं ।' भारतीय दर्शन-साहित्य का समस्त इतिहास इसका साक्षी है कि केवल ऋग्वेद के प्राचीन सूक्त ही ईश्वर (ब्रह्मा) के निःश्वास तथा प्राचीन महर्षियों द्वारा साक्षात्कृत नहीं थे, अपितु वैदिक साहित्य की अन्तिम कृति, उपनिषदों का प्रत्येक शब्द भी स्वयं परब्रह्म द्वारा प्रकाशित, असंदिग्ध ज्ञान के रूप में समादृत था । भारतीय दर्शन-शास्त्र की विविध धाराओं में भले ही भेद रहे, किन्तु वेदों को दिव्यप्रकाश स्वीकार करने के लिए सब एकमत हैं । वेदों पर विचार करते हुए विशेषतः उपनिषद् इन संहिताओं की व्याख्या के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द हैं और प्रत्येक दार्शनिक इनसे स्वेच्छानुसार संकलन करता है । सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि बौद्ध भी, जो वेदों को प्रमाण नहीं मानते, यह अंगीकार करते हैं कि वेद परब्रह्म द्वारा ही विरचित हैं, किन्तु श्रुति-परम्परा द्वारा गृहीत होने से परिवर्तित होने के कारण परब्रह्म का कृत्रिम लेखमात्र हैं । वे कहते हैं कि इसी कारण वेदों में अनेक अशुद्धियाँ आ गई हैं ।

वेद शब्द का प्रयोग केवल उस साहित्य के लिए किया जाता है जो दैविक प्रकाश है । इसके साथ-साथ एक और रचना है, जिसका वैदिक साहित्य से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है तथापि वेद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता । इन्हें 'कल्पसूत्र' कहा जाता है । इनकी रचना एक विशिष्ट, अत्यन्त ही संक्षिप्त गद्य-शैली में हुई जिससे वैदिक यज्ञों की दुरूह विधियों को स्मरण करने में कठिनता का अनुभव न करना पडे । कल्पसूत्र के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्ब (माप) सूत्र समझे जाते हैं ।

इनमें से ये उपलब्ध हैं—(१) ऋग्वेद से सम्बद्ध आश्वलायन और शाङ्खाय. कल्पसूत्र । (२) कृष्णयजुर्वेद के (बौधायन और आपस्तम्ब शाखाओं के) श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्वसूत्र, काठक शाखा का काठक-गृह्यसूत्र, मैत्रायणी शाखा के मानव श्रौतसूत्र, मानव गृह्यसूत्र तथा वाराह गृह्यसूत्र । शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र तथा कात्यायन शुल्वसूत्र । (३) सामवेद के लाटयायन और द्राह्यायण श्रौत-सूत्र, खादिर गृह्य सूत्र, जैमिनीय श्रौत सूत्र, जैमिनीय गृह्य सूत्र, गौतम-धर्म-सूत्र तथा आर्षेय कल्प-सूत्र । (४) अथर्ववेद के वैतानश्रौतसूत्र, कौशिक गृह्यसूत्र तथा वैखानस गृह्यसूत्र :

(१) श्रौतसूत्र—इनमें अनेक दिन तक सम्पन्न होने वाले तथा पुरोहितों द्वारा सम्पादित होने वाले श्रौताग्नि आदि से सम्बन्धित यज्ञों के विधान के नियमों का संकलन है ।

(२) गृह्यसूत्र—इनमें षोडश संस्कारों तथा गृह्याग्नि से सम्बद्ध सामान्य अवसर पर होने वाले कर्मों की विवेचना और याज्ञिक विधियों का संग्रह है ।

(३) धर्मसूत्र—इन्हें भारतीयों का प्राचीनतम न्यायग्रन्थ कहा जा सकता है इनमें आध्यात्मिकता तथा धर्म के व्यापक नियमों का सन्देश है ।

(४) शुल्वसूत्र—इनमें यज्ञवेदि के निर्माण की रीति का प्रतिपादन है। आर्यों की प्राचीन ज्यामिति से सम्बद्ध कल्पनाओं और गणनाओं का प्रतिपादन होने से इनका वैज्ञानिक महत्व भी है।

ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों की भाँति ये रचनाएँ भी किसी न किसी वेद से सम्बद्ध हैं। फिर भी ये समस्त रचनाएँ मनुष्यकृत मानी जाती हैं, ईश्वरकृत नहीं क्योंकि ये वेदों के भाग नहीं हैं।

वेदाङ्गों में ध्वनिशास्त्र, व्याकरण, शब्दव्युत्पत्ति विद्या, छन्द तथा ज्योतिष पर विरचित अनेक रचनाओं का अन्तर्भाव होता है।

वैदिक साहित्य की समस्त कृतियों में ऋग्वेद-संहिता प्राचीनतम तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसमें कोई विप्रतिपत्ति या विवाद नहीं है। सामान्यतया इस संहिता को ऋग्वेद के नाम से कहा जाता है। किसी काल में विद्यमान इस संहिता के २१ संस्करणों में से हमें केवल एक ही पूर्ण रूप से उपलब्ध हुआ है। जो शाकल-संहिता प्राप्त हुई है उसमें १,०२८ सूक्तों का संकलन है और वह १० मण्डलों या ६४ अध्यायों में विभक्त है। छन्दों एवं चरणों से युक्त मन्त्र को ऋक् ऋचा कहते हैं और वेद का अर्थ है ज्ञान, अतः ऋचाओं के ज्ञान को ऋग्वेद कहा जाता है। किसी देवता की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ का स्मरण दिलाने वाला वाक्य मन्त्र कहलाता है तथा गुप्त कथन को भी मन्त्र कहते हैं। मन्त्रों के संग्रह का नाम संहिता है।

यजुर्वेद का चतुर्थांश ऋग्वेद से लिया गया है। सामवेद के १,६०३ मन्त्रों में से १,५०४ ऋग्वेद के हैं। अथर्ववेद के ५,९८७ मन्त्रों में से १,२०० मन्त्र ऋग्वेद में आए हैं। अतः चारों वेदों में ऋग्वेद संहिता का ही प्रमुख स्थान है।

ऋग्वेद के १० मण्डलों में से द्वितीय से सप्तम तक क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ या इनके वंशजों द्वारा उद्घाटित या प्रकाशित माने जाते हैं। दूसरे में न्यूनतम ४३ सूक्त हैं तीसरे में ६२, चौथे में ५८, पाँचवें में ८७, छठे में ७५ और सातवें में इन सब मण्डलों से अधिक १०४ सूक्त हैं। इनमें से प्रत्येक मण्डलों के अनुवाकों में सूक्तों का क्रम मन्त्रों की गणना पर आश्रित है। प्रायः सबसे अधिक मन्त्रों वाला सूक्त पहले है और सबसे कम वाला अन्त में है। जहाँ यह क्रम नहीं है वहाँ या तो कई छोटे सूक्तों का संग्रह है अथवा किसी अन्य स्पष्ट कारण से ऐसा किया गया है। अनुवाकों का क्रम देवताओं के आधार पर है। प्रथम सूक्त—समूह अग्नि को, द्वितीय इन्द्र को सम्बोधित करके लिखा गया है, इत्यादि। यही क्रम इन सब मण्डलों में है।

अष्टम मण्डल में ९२ सूक्त हैं, जिनके ऋषि कण्व तथा अङ्गिरा वंश के हैं। आठवें मण्डल के तथा प्रथम मण्डल के आदि के ५० सूक्तों के क्रम में भी समानता दृष्टिगोचर होती है। अष्टम मण्डल के (४८–५९) में ११ बालखिल्य सूक्त भी पाये

जाते हैं, इन्हें आधुनिक विद्वान् प्राचीनतम मानते हैं, परन्तु ये प्राचीन सूक्त संहिताओं में क्यों गृहीत नहीं किए गए, यह कहना कठिन है। कुछ विद्वान् इन्हें संहिताओं के संकलन के बाद परिशिष्ट रूप में गुम्फित मानते हैं। नवम मण्डल के सभी ११४ सूक्त सोमपरक हैं तथा अनुवाकों का क्रम छन्दों की समानता पर आश्रित है। वैदिक आर्यजनों के हिमालय प्रदेशोत्पन्न सोमरस के पान से उत्पन्न आनन्दोल्लास का वर्णन इस मण्डल के सूक्तों में मिलता है। सोम विषयक मन्त्रों के कारण इसे 'पवमान-मण्डल' भी कहा जाता है। दशम मण्डल प्रथम मण्डल के भी बाद की रचना है। आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में यह सबसे अधिक अर्वाचीन है; क्योंकि इसमें स्थान-स्थान पर पूर्व मण्डलगत सूक्तों का उल्लेख मिलता है। विषय और आकार की दृष्टि से भी यह रचना पाश्चाद्वर्त्तिनी प्रतीत होती है। दार्शनिक तथ्यों के अतिरिक्त इसमें प्राचीन देवताओं के स्थान पर अनेक नवीन देवताओं का समावेश हुआ है।

इस प्रकार संक्षेप में प्रत्येक मण्डल के अनुवाकों का क्रम या तो देवता की एकता पर आश्रित है (जैसा २ से ७ तक के वंशानुगत मण्डलों में है) या ऋषि की समानता पर (जैसा प्रथम, अष्टम और दशम मण्डल में है) अथवा छन्द की समानता पर (जैसा नवमण्डल में है)। प्रथम तथा दशम दो में से प्रत्येक मण्डल में (१९१) सूक्त हैं तथा इनमें से अधिकांश अथर्ववेद में उद्धृत किये मिलते हैं।

वेदों का रचनाकाल

वेदों के काल के विषय में हम केवल आनुमानिक कल्पना कर सकते हैं, जैसा कि पाश्चात्य जगत् के अनुसंधान-शास्त्रियों ने किया है। यद्यपि काल के विषय में आनुमानिक कल्पना कभी-कभी हास्यास्पद-सी लगती है, तथापि दुर्भाग्यवश यह एक तथ्य है और एक ऐसा तथ्य है जिसे स्वीकार करना कुछ अप्रिय लगता है। काल के सम्बन्ध में प्रकाण्ड विद्वानों की धारणाओं में प्रारम्भ से मतभेद रहा है और यह मतभेद कुछ शताब्दियों से ही नहीं अपितु सहस्रों वर्षों से इसी प्रकार निरवच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में कुछ मत ये हैं :

(क) वेदों के रचनाकाल पर आस्तिक विचारधारा

भारतीय आस्तिक हिन्दू के लिये वेदों की रचना का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि उसकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय, अनादि और शाश्वत हैं। आस्तिक हिन्दू की धारणा है कि भिन्न-भिन्न काल में महर्षियों के स्वतः शुद्ध अन्तःकरण में, समाधि की अवस्था में, मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ और इन मन मन्त्रों की रक्षा ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा कण्ठस्थीकरण के प्रकार से हुई। ये महर्षि ऋषि कहलाते थे जिन्होंने मन्त्रों का दर्शन किया, न कि प्रणयन—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'। इस प्रकार वेदों की रचना का अर्थ हुआ "ब्रह्म के निःश्वासभूत मन्त्रों का ध्यान-नेत्रों द्वारा साक्षात्कार"—"यस्य निःश्वसितं वेदाः"। परन्तु कुछ आस्तिक विद्वानों ने वेदों के काल-निर्णय का प्रयास भी किया है। जैसे कुछ विद्वान् मन्त्रों का आदि रचनाकाल १५,००० वर्ष प्राचीन

मानते हैं। पण्डित दीतानाथ शास्त्री चुलैट ने 'वेद-काल-निर्णय' नामक पुस्तक में ज्योतिष गणना के प्रमाण द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि वेद आज से लगभग ३,००,००० वर्ष पूर्व का है। पण्डित दीनानाथ शास्त्री के सुपुत्र पण्डित गोपीनाथ शास्त्री चुलैट ने 'युग परिवर्तन' नामक पुस्तक में यह विचार व्यक्त किया है कि वर्तमान कल्प के २८वें कलियुग को समाप्त हुए ४२ वर्ष हो गये और संवत् १९८१ में २९वां सतयुग प्रारम्भ हो गया। उनके मतानुसार चतुर्युगी ४३ लाख २० हजार वर्ष में नहीं अपितु १२ हजार वर्ष में पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार वेदों की रचना का काल लाखों वर्ष पूर्व माना जाता है, किन्तु इन धारणाओं को पाश्चात्य अनुसन्धान-शास्त्रियों के सन्देह-प्रधान और विचार-प्रधान मस्तिष्क स्वीकार नहीं करते।

(ख) पाश्चात्य अनुसन्धान-शास्त्रियों तथा आधुनिक भारतीयों का मत

सर्वप्रथम भारतीय संस्कृत साहित्य से परिचय प्राप्त होते ही पाश्चात्य विद्वानों ने समस्त भारतीय रचनाओं का काल अत्यन्त प्राचीन माना था। फ्रेडरिक श्लीगल महोदय ने कहा था कि प्रारम्भिक जगत् के इतिहास को वेदों का आलोक अपने प्रकाश में आलोकित करता है, जो आज तक अन्धकार में था। सन् १८५२ में डॉक्टर ए० वेबर ने अपनी 'भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में यह सिद्ध किया कि भारतीय साहित्य अत्यन्त ही प्राचीन साहित्य है, जिसका लिखित प्रमाण हमारे पास मौजूद है। सन् १८७६ में डॉक्टर वेबर ने अपनी पुस्तक के द्वितीय संस्करण में यह परिवर्धन किया कि जहाँ तक लिखित अधिकार का सम्बन्ध है भारतीय साहित्य की प्राचीनता ईजिप्ट (मिस्र) के उन लिखित स्मृति-चिह्नों द्वारा खण्डित हो जाती है, जो कुछ काल पूर्व प्रकाश में आये हैं। डॉक्टर वेबर के मतानुसार भौगोलिक तथा धार्मिक इतिहास सम्बन्धी कारणों द्वारा हम भारतीय साहित्य को प्राचीन साहित्य के रूप में स्वीकार्य मानते हैं। ऋग्वेद के प्राचीनतर भाग से यह प्रतीत होता है कि उस काल में भारतीय आर्य पंजाब में व्यवस्थित थे। भारतवर्ष को चीरते हुए धीरे-धीरे पूर्व में गङ्गा की ओर बढ़ने का संकेत वैदिककाल के बाद के भाग में उपलब्ध होता है। दक्षिण में ब्राह्मण धर्म के प्रसार के प्रमाण हमें महाकाव्यों में मिलते हैं। यह निश्चित है कि दक्षिण में ब्राह्मण धर्म के प्रचार के पूर्व शताब्दियाँ बीत चुकी होंगी, जबकि वेदों की रचना हुई होगी, क्योंकि दक्षिण की उस भूमि पर, जोकि जंगल तथा वन्य मनुष्यों द्वारा अधिजुष्ट थी, ब्राह्मण धर्म का प्रसार बहुत पीछे हुआ होगा। ऋग्वेद की प्रकृति पूजा से उठकर उपनिषद् ग्रन्थों के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों तक पहुँचाने वाले सिद्धान्तों के विकास में तथा उन पौराणिक धर्म के सिद्धान्तों के विकास में अवश्य ही शताब्दियाँ लगी होंगी जिन्हें ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में मेगस्थनीज ने भारतवर्ष में प्रचलित पाया था। डॉक्टर वेबर ने वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में अपनी कोई निर्णयात्मक धारणा नहीं रखी,

अपना कोई निश्चयात्मक विश्वास नहीं रखा, अपितु अप्रत्यक्ष रूप से यह उद्घोषणा की कि इस प्रकार का कोई भी प्रयास सर्वथा निरर्थक है।

सन् १८५९ में सर्वप्रथम प्रोफेसर मेक्समूलर ने अपने "प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास" में प्राचीन भारतीय साहित्य की क्रम-परम्परा का निर्णय करने का प्रयत्न किया था। भारतीय क्रम-परम्परा के कुछ निश्चित सूत्रों से प्रारम्भ करके सिकन्दर के प्रादुर्भाव तथा बौद्ध धर्म के उद्गम-काल तक उपलब्ध होने वाले प्रमाणों को प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपनी धारणाओं का आधार बनाया है। बौद्धधर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सबसे पहले प्रोफेसर मैक्समूलर ने एक निश्चित दिशा में यह संकेत किया कि बौद्ध धर्म उस समस्त वैदिक साहित्य का प्रागस्तित्व स्वीकार करता है, जिसमें सूक्त, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। यह समस्त साहित्य अवश्य ही भगवान् बुद्ध के पूर्व का है, जिनका काल निश्चित प्रमाणों के आधार पर ईसवी पूर्व ५०० मान लिया गया है। वेदाङ्ग अथवा सूत्र साहित्य भी अनुमानतः बौद्ध धर्म के उद्गम तथा प्रथम प्रसरण काल के समकालीन हैं। अब सूत्र-ग्रन्थों का उद्गम अनुमानतः ई० पू० ६०० से २०० काल में माना जाता हैं। सूत्र-ग्रन्थ ब्राह्मण साहित्य की पूर्व कल्पना करते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ कम से कम २०० वर्ष के बिना नहीं रचे जा सकते क्योंकि हमें प्रारम्भिक ब्राह्मण-ग्रन्थों में अध्यापकों की एक लम्बी सूची मिलती है। इस प्रकार प्रोफेसर मैक्समूलर यह तर्क रखते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के उद्गम काल के लिए ई० पू० ८०० से ६०० तक का काल स्वीकार करना पड़ेगा। इधर ब्राह्मण-ग्रन्थ वैदिक संहिताओं की पूर्व कल्पना करते हैं और इन समस्त संहिताओं के प्रणयन के लिए भी कम से कम २०० वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। इस प्रकार स्थूल रूप में मैक्समूलर ने वेदों की रचनाकाल के लिए ई० पू० १,००० से ८०० तक का काल माना, जिसमें इन संग्रहों का गुम्फन हुआ। संहिताओं के गुम्फन के पहले ये मन्त्र या गीत जनप्रिय धार्मिक कविता के रूप में प्रचलित रहे होंगे और उस काल के लिए भी २०० वर्ष की आनुमानिक कल्पना करके वैदिक कविता के प्रारम्भिक काल के सम्बन्ध में मैक्समूलर ने अपना विश्वास ई० पू० १,२०० से १,००० तक रखा। इस प्रकार मैक्समूलर ने ब्राह्मण काल के लिए, मन्त्र काल के लिए और उदयकाल के लिए दो-दो सौ वर्ष की कल्पना की।

यह स्पष्ट है कि वेदों की उन प्रत्येक धारा के लिए केवल २०० वर्ष की पूर्व कल्पना करना कितना भ्रामक है, स्वेच्छाचारिता की कैसी विडम्बना है। शारीरिक धर्म पर 'गिफर्ड व्याख्यान माला' में स्वयं मैक्समूलर ने यह विचार रखा कि हम वैदिक काल की अन्तिम सीमा का निर्णय करने की आशा नहीं कर सकते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वयं मैक्समूलर को अपने निर्णय पर विश्वास नहीं था, अपनी धारणा में आस्था नहीं थी और अपने तर्क में दृढ़ निष्ठा नहीं थी। वैदिक सूक्तों का रचना काल ई० पू० १०००, १५००, २०००, ३०००. ४. ५००,

६००० कुछ भी क्यों न हो, तथापि विश्व की कोई शक्ति, विश्व का कोई तर्क और विश्व का कोई अनुसन्धान इसको निश्चित नहीं कर सकता। हम मानते हैं कि विज्ञान में अत्यन्त विलक्षण अभिव्यञ्जक शक्ति होती है—यही कारण था कि मैक्समूलर की वैदिक रचना काल के सम्बन्ध में काल्पनिक धारणा, बिना किसी निश्चित तर्क के, बिना किसी निश्चित प्रमाण के धीरे-धीरे वैज्ञानिक रूप से सिद्ध होती हुई एक तथ्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गई और उस तथ्य ने धीरे-धीरे उस अवस्था का रूप ग्रहण किया कि डब्ल्यू० डी० विटने ने यह कहते हुए अपने अनुसन्धान को आगे बढ़ाया कि मैक्समूलर ने ऋग्वेद का काल ई० पू० १, २०० से १,००० तक सिद्ध किया है।

उस समय यह एक आश्चर्य की वस्तु थी कि इस सम्बन्ध में एल० एन० स्काडर ने १,५०० ई० पू० से २००० ई० पू० तक जाने का साहस किया था। किन्तु जब अकस्मात् प्रोफेसर जेकोबी ने ज्योतिष गणना के आधार पर वैदिक साहित्य के रचना काल को ई० पू० ३००० में प्रतिष्ठित किया तो पाश्चात्य विद्वानों में एक कोलाहल मच गया। इसका प्रमुख कारण सम्भवतः अपने राष्ट्र के प्रति एकान्त अनुराग तथा अपने साहित्य की प्राचीनता के प्रति अन्ध प्रेम था, क्योंकि उनके साहित्य की परम प्राचीनता वैदिक साहित्य को इतना प्राचीन मानने से नष्ट होती थी। आज भी अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् वैदिक रचना काल के सम्बन्ध में जेकोबी का मत देखकर आश्चर्य करते हैं कि जेकाबी ने इतनी अत्युक्तिपूर्ण धारणा कैसे स्थिर की अथवा यदि हम भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के शब्दों में कहें तो, क्यों स्थिर की। हमें आश्चर्य तो इस बात का है कि वह कौनसी संदिग्ध भित्ति थी, जिस पर जेकाबी का मत अवलम्बित था; जिसकी रक्षा इतने ईर्ष्या प्रधान विचारों के उपरान्त भी हुई।

ज्योतिष के प्रमाणों की सहायता के आधार पर प्रारम्भिक भारतीय साहित्य की क्रम-परम्परा का निर्णय करना कोई नूतन संवर्तन नहीं था। लुड्विग ने सूर्यग्रहण के आधार पर इस प्रकार का एक प्रयत्न किया था। प्राचीन भारत में यज्ञकाल का निर्णय करने वाले पुरोहित प्राचीन रोम के धर्माधिकारियों की भाँति थे और साथ-साथ पञ्चांग की रचना भी करते थे। यज्ञों का काल पहले से ही निश्चित करने की दृष्टि से नभोमण्डल का सूक्ष्म ज्ञान तथा नक्षत्र-मण्डल का सूक्ष्म निरीक्षण करना आवश्यक होता था। यही कारण है कि हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में ज्योतिष के तत्व प्राप्त होते हैं। इन तत्वों में नक्षत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है।

प्राचीन भारतीयों ने यह अन्वेषण किया था कि चन्द्रमा को नक्षत्रपथ की प्रदक्षिणा के लिए २७ दिन और २७ रात्रियाँ लगती हैं और प्रत्येक रात्रि में चन्द्रमा विभिन्न नक्षत्रों पर स्थित रहता है। ये नक्षत्र सूर्य-मार्ग से बहुत दूर राशिचक्र में स्थित रहते हैं। इस परिधि को आलिंगन करने वाले २७ नक्षत्रों का एक अनुक्रम

होता है। नक्षत्रों का यही राशिचक्र उस काल में चन्द्रमा की स्थिति का ज्ञान कराने में सहायक होता था।

अब वैदिक साहित्य में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जिनसे वह प्रकट हो गया है कि अमुक नक्षत्र में यज्ञकार्य सम्पन्न होता है अथवा अमुक यज्ञ उस समय करना चाहिये, जब चन्द्रमा अमुक नक्षत्र में संयुक्त हो। ऐसे भी अनेक स्थल प्राप्त होते हैं, जिनमें नक्षत्रों का नवोदित चन्द्र तथा पूर्ण चन्द्र के साथ सम्बन्ध बताया जाता है। प्रारम्भिक साहित्य में, २७ नक्षत्रों में से केवल १२ नक्षत्र पूर्ण चन्द्र से सम्बन्ध रखने वाले मिलते हैं। इन १२ नक्षत्रों से १२ महीनों के नामों का अनुसन्धान किया जाता है। महीनों के ये नाम प्रारम्भ काल में चन्द्र मास के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। किन्तु बाद में सौर विभागों के लिए भी इनका प्रयोग होने लगा।

१८९३ में जर्मनी के बॉन नगर में प्रोफेसर जेकोबी ने और १८९३ में ही बम्बई में जेल के भीतर भारतीय विद्वान् बाल गंगाधर तिलक ने आश्चर्यजनक निर्णय अपने-अपने अनुसन्धान के आधार पर अपने-अपने तर्क के आधार पर, अपनी-अपनी युक्तियों के आधार पर और अपनी-अपनी धारणा के आधार पर विद्वत् जगत् के सामने रखे। यद्यपि दोनों विद्वान् एक-दूसरे से दूर थे, यद्यपि दोनों एक-दूसरे से पृथक् थे, यद्यपि दोनों विद्वानों की वैदिक रचना काल का निर्णय करने की अपनी-अपनी अलग-प्रणाली थी; अपनी-अपनी स्वतन्त्र पद्धति थी, अपने-अपने भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुवीक्षण था तथापि दोनों विद्वान् एक ही निष्कर्ष पर पहुँच गये। उस काल में नक्षत्र गणना कृत्तिका नक्षत्र से प्रारम्भ होती थी, जब कि आज नक्षत्र गणना अश्विनी नक्षत्र से प्रारम्भ होती है। प्रोफेसर जेकोबी ने यहाँ देखा कि ब्राह्मण काल में एक ऐसा वर्णन मिलता है कि उस समय भी कृत्तिका नक्षत्र उदित था और वासन्त संपात अर्थात् वर्नल इक्विनाक्स भी था। अयन गति की गणना के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया कि यह वासन्त-संक्रान्ति कृत्तिका नक्षत्र के उपस्थिति-काल में ई० पू० २,५०० में हुई थी। अतः यह ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना का काल हुआ। इधर बाल गंगाधर तिलक ने वैदिक संहिताओं में एक वर्णन को देखा जिसमें मृगशिरा नक्षत्र एक ओर उदित था और दूसरी ओर बासन्त संक्रान्ति भी थी। ज्योतिष गणना के आधार पर बाल गंगाधर तिलक ने यह निर्णय निकाल कि यह वासन्त संक्रान्ति ई० पू० ४,५०० में हुई थी। यह संहिताओं का रचना-काल था। इधर प्रोफेसर जेकोबी भी ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना काल के बाद संहिता-ग्रन्थों की रचना काल के लिए आनुमानिक कल्पना करते-करते उदय काल तथा सभ्यता के विकास-काल के लिए ई० पू० ४,५०० तक पहुँचते हैं। इस प्रकार एक ओर जब बाल गंगाधर तिलक कुछ वैदिक संहिताओं के काल को ई० पू० ६,००० में प्रतिष्ठित करते हैं तो दूसरी ओर जेकाबी सभ्यता काल उद्गम ई० पू० ४,६०० मानते हुए संतोष का अनुभव करते हैं कि यही सभ्यता काल की विचार-परम्परा परिपक्व होकर धीरे-धीरे ऋग्वेद के सूक्तों के रूप में ढल गई। जेकाबी के मतानुसार सभ्यता का काल ई० पू० ४,५०० से २,५००

तक फैला हुआ है। इसी आधार पर जेकाबी ने यह माना कि सूक्तों का रचना काल इसी सभ्यता काल के उत्तरार्द्ध की देन है।

ज्योतिष के एक अन्य सूक्ष्म अनुवीक्षण के पश्चात् जेकाबी अपने मत की दृढ़ता में पूर्ण विश्वस्त हो गये। गृह्यसूत्रों में, प्राचीन भारत के उस काल में प्रचलित एक वैवाहिक प्रथा का निर्देश मिलता है, जिसके अनुसार वर और वधू उस समय तक अपने नूतन सदन में शान्तिपूर्वक चर्मासन पर बैठे रहते हैं, जब तक नभोमण्डल में नक्षत्र उदित नहीं हो जाते। यहाँ से वर अपनी नव वधू को ध्रुव नक्षत्र के दर्शन कराता है और कहता है "ध्रुव इव स्थिराभव" ध्रुव नक्षत्र की तरह, मेरे गृह को आलोकित करते हुए सदा स्थिर रहो। वधू नक्षत्र से कहती है कि तुम सर्वदा स्थिर रहते हो, मैं भी इसी प्रकार अपने पति के गृह में सर्वदा स्थिर रहूँ। इस वैवाहिक प्रथा का जिसमें सदा स्थिर रहने वाला एक नक्षत्र 'अपरिवर्तनीय स्थिरता का आदर्श उपस्थित करता है, उद्गम उस काल में अवश्य ही हुआ होगा जब कि कोई चमचमाता हुआ देदीप्यमान नक्षत्र, उत्तरी ध्रुव के इतना पास रहा होगा कि उस काल के दर्शकों को स्थिर की भाँति प्रतीत होता हो। अब यह पुनः अयन गति का परिणाम है कि वह नक्षत्र व्योम कक्षा के क्रमिक परिवर्तन के साथ-साथ उत्तरी ध्रुव और ध्रुव के चारों ओर २,६००० वर्ष में साढ़े तेइस डिग्री का अर्धव्यास बनाते हुए घूमने लगता है। इस प्रकार एक नक्षत्र दूसरे के पीछे धीरे-धीरे घूमता है और उत्तरी ध्रुव की ओर घूमता-घूमता उत्तरी ध्रुव बन जाता है। किन्तु समय-समय पर एक देदीप्यमान नक्षत्र ध्रुव की दिशा में बढ़ता है और इतना अधिक बढ़ जाता है कि प्रत्येक क्रियात्मक उद्देश्य के हेतु ध्रुव समझ लिया जाता है। वर्तमान काल में एक द्वितीय परिणाम का नक्षत्र उत्तरी गोलार्ध का ध्रुवतारा है, किन्तु जब वैदिक काल में ध्रुव तारा शब्द का प्रयोग होता था तो निस्संदेह इस नक्षत्र से तात्पर्य नहीं था, क्योंकि केवल दो सहस्र वर्ष पूर्व ही, यह नक्षत्र इतना दूर हट गया था कि इसे किसी भी प्रकार ध्रुव अर्थात् सर्वदा स्थिरता के रूप में नहीं कहा जा सकता था। इ० पू० २,५८० में हम दूसरा ध्रुव तारा देखते है, जिसने यह नाम ग्रहण किया। उस काल में लगभग ५०० वर्ष तक आल्फ्रेकानिस नामक तारा ही ध्रुव के इतना अधिक समीप रहा कि साधारण नेत्रों में देखने वालों को यह बिल्कुल स्थिर प्रतीत होता था। हमें ध्रुव के नाम के उद्गम को तथा विवाह की संध्या के अवसर पर वधू को स्थिरता के आदर्श के रूप में स्थिर नक्षत्र दिखाने की प्रथा को, उस काल में प्रतिष्ठित करना चाहिए, जबकि आल्फ्रेकानिस ही ध्रुवतारा था और यह काल ई० पू० ३००० का पूर्वार्द्ध कहा जा सकता है।

ऋग्वेद की वैवाहिक ऋचाओं में इस प्रथा का कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। इस आधार पर प्रोफेसर जेकाबी यह मानते हैं कि विवाहोत्सव में ध्रुव तारे को दिखाने की प्रथा ऋग्वेद के काल में प्रचलित नहीं हुई थी, किन्तु उसके बाद के काल में

प्रचलित हुई। इस प्रकार ऋग्वेद की सभ्यता का काल ई० पू० ३,००० से पहले निश्चित होता है।

जैसाकि हम बता चुके हैं, प्रोफेसर जेकोबी तथा बालगंगाधर तिलक की धारणाओं में पर्याप्त मतभेद था। कृत्तिका नक्षत्र की युक्ति के सम्बन्ध में सबसे प्रबल मतभेद यह था कि परम प्राचीन काल से भारतीय नक्षत्रों की स्थिति का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ मानते थे, सूर्य्य के साथ नहीं। साथ ही साथ परम प्राचीन काल में संक्रातियों के अनुवीक्षण का भी कोई चिह्न प्राप्त नहीं होता। जब हम यह पढ़ते है कि कृत्तिका नक्षत्र के तारे पूर्व से विचलित नहीं होते, तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे पूर्व से उदित हुए क्योंकि यह स्थिति तो ई० पू० ३००० में हुई थी, जो कि वासन्त संक्रान्ति के ज्ञान की ओर संकेत करती है। उस वाक्य का शुद्ध अर्थ यह प्रतीत है कि कृत्तिका नक्षत्र एक दीर्घकाल तक पूर्व दिशा में, प्रत्येक रात्रि में अनेक घण्टों तक दृश्य था। यह स्थिति ई० पू० १,१०० के लगभग थी। हजारों वर्षों में नूतन वर्ष की युक्तियों पर पहुँचकर उन प्रश्नों का समाधान करना और भी अधिक कठिन बन जाता है, क्योंकि मूलतः हमारे संहिता-ग्रन्थों में कभी तो वर्ष का प्रारम्भ वसन्त से होता है, कभी हेमन्त से होता है और कभी वर्षा से होता है। प्रश्न इससे भी अधिक विचारणीय तब हो जाता है, जब हमें संहिता ग्रन्थों में ऋतुओं की संख्या के सम्बन्ध में भी कभी तीन, कभी पाँच और कभी छह भेद मिलते हैं।

ध्रुव तारे से सम्बन्ध रखने वाले तर्कों ने मतभेद को जन्म दिया, यह सत्य है। यह भी सत्य है कि हम सम्भावना का प्रतिरोध नहीं कर सकते कि लगभग ई० पू० १,२५० में एक तारा विशुद्ध भारतीय गगनमण्डल पर ध्रुवतारे के रूप में दृश्य रहा होगा। केवल ऋग्वेद में इस प्रथा का निर्देश प्राप्त न होने के आधार पर ही एक तथ्य की उपेक्षा करना तथा किसी निर्णय की घोषणा करना कैसे अनुज्ञेय हो सकता है। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्तों में समस्त वैवाहिक प्रथाओं का अनुमिश्रण कर लिया गया हो और न ऐसा हुआ ही है। यह भी तर्कसंगत, विचार-संगत, युक्तिसंगत और बुद्धिसंगत नहीं है कि किसी अन्य निर्णय का निर्देश करने की अभिरुचि में एक विशेष प्रथा का, एक विशेष पद्धति का, एक विशेष प्रणाली का और एक विशेष तथ्य का अपहनन किया जाये।

यह सत्य है कि बालगंगाधर तिलक और प्रोफेसर जेकाबी अपनी युक्तियों द्वारा अपने विचारों द्वारा तथा अपने तर्कों द्वारा ज्योतिष-गणनों के आधार पर उस मत को पूर्णतया सिद्ध नहीं कर सके, जिसे वे सिद्ध करना चाहते थे। फिर भी इतना मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने वैदिक साहित्य में अनुराग रखने वाले विद्वानों की मनोवृत्ति को प्रोत्साहित किया तथा प्राचीनतम साहित्य के प्रति जिज्ञासा रखने वाले विद्वानों की जिज्ञसा को गुदगुदाया कि क्या भारतीय संस्कृति की प्राक्कालीनता की पुष्टि के लिये कुछ और भी प्रामाणिक भित्तियाँ सम्भव हैं? भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण से वैदिक साहित्य ई० पू० ३,००० तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति का जन्म

४००० ई० पू० हो चुका था जबकि दूसरी ओर प्रोफेसर मैक्समूलर ने ई० पू० १२०० तक ही वैदिक काल माना। प्रोफेसर मैक्समूलर की धारणा वर्तमान काल में राजनीति के इतिहास का ज्ञान रखने वाले किसी भी विद्यार्थी को अनुमत नहीं हो सकती। बूहलर महोदय ने प्रोफेसर मैक्समूलर के मत का विरोध प्रबल युक्तियों के आधार पर किया है।

'शिलालेखों का आधार'

शिलालेखों के पर्यालोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ई० पू० ३०० में आर्य भारतीयों ने दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त कर ली थी और दक्षिण भारत में ब्राह्मण धर्म तथा ब्राह्मण संस्कृति का प्रचार भी उस काल में हो गया था। 'बौधायन तथा आपस्तम्ब' की भाँति कुछ वैदिक शाखाओं का उद्गम भी दक्षिण भारत में हुआ। सत्य यह सिद्ध करता है कि दक्षिण भारत पर आर्यों की विजय अवश्य ही इस काल के कुछ और पहले हुई होगी, सम्भवतः ई० पू० ७०० या ८०० में। क्योंकि विजय होते ही समस्त प्रदेश ऐसे विशाल रूप में इतने शीघ्र अभिनिविष्ट नहीं हो सकता और ब्राह्मण धर्म का प्रचार भी इतनी सत्वरता से नहीं हो सकता कि सुदुर दक्षिण में वैदिक शाखाओं की रचना हो सके। बूहलर के मतानुसार ई० पू० ७००, ६०० के आस-पास दक्षिण भारत पर आर्यों की विजय के साथ-साथ यह कल्पना असम्भव हो जाती है कि भारतीय आर्य ई० पू० १,२०० या १,५०० में भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश तथा अफ़गानिस्तान के पूर्व प्रदेश में बस गये थे। यह हास्यास्पद है कि वैदिक काल की भारतीय आर्य जाति ने अपने शाश्वत गृहयुद्धों के साथ पंजाब, आसाम तथा बर्मा के अतिरिक्त भारतवर्ष के लगभग के १,२३००० वर्ग मील के क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त कर लिया था और विभिन्न राज्यों की स्थापना करते हुए उस आदर्श की ओर कदम बढ़ाया था, जो सम्भवतः ऐसे विशाल देश पर कम से कम ८०० वर्ष के काल में भी कठिनाई से हुआ होगा। यह विचार किया जाता है कि भारतवर्ष केवल वन्य तथा जंगल जातियों से ही अधिनिविष्ट नहीं था अपितु उन जातियों से भी अधिजुष्ट था जिनकी अपनी-अपनी सभ्यता थी, अपनी-अपनी संकृति थी, जो संस्कृति और सभ्यता आक्रमणकारियों की संस्कृति, सभ्यता से अधिक न्यून कोटि की नहीं थी। इस प्रकार के पराक्रमों के लिए इस निर्दिष्ट दीर्घकाल से बहुत अधिक काल की अपेक्षा थी।

ओल्डनबर्ग ने कहा है ७०० वर्ष का काल मनुष्य के विचार, समाज की प्रथाएँ और राष्ट्र की संस्कृति में एक विशाल परिवर्तन लाने के लिये एक लम्बी अवधि होती है। उनका कथन है कि उत्तर-दक्षिण अमेरिका के विशाल क्षेत्र में एक घोर परिवर्तन के हेतु ४०० वर्ष जो अर्थ रखते हैं, वह कोई भी बुद्धिजीवी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। जो जातियाँ अपनी-अपनी संस्कृति, अपनी-अपनी सभ्यता और अपनी-अपनी विचार-परम्पराओं में गुथी हुई प्रथाएँ लेकर अमेरिका में एक दूसरी जाति के संसर्ग में आई, वे समस्त जातियाँ भारतवर्ष की तत्कालीन जातियों की संस्कृति सभ्यता और प्रथाओं से भिन्न थीं। जहाँ तक भारतवर्ष की प्राचीन राजनीतिक

अवस्था का सम्बन्ध है, हमें ऋग्वेद के सूक्तों से पता चलता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी आर्य आतियों में परस्पर अनवरत युद्ध हुआ करते थे। इन विषम परिस्थितियों में भारतवर्ष की विजय अत्यन्त ही धीरे-धीरे एक-एक कदम बढ़ा कर नहीं हो सकती थी। यदि हम, भारतीय साहित्य के प्राचीनतम दो स्तरों की पारस्परिक तुलना करें तो यह स्पष्ट पता लगता है कि केवल पूर्व और दक्षिण में ही आर्य बहुत धीरे-धीरे बढ़े। ऋग्वेद के सूक्तों से हम देखते हैं कि भारतीय आर्य जातियाँ अपने विस्तृत रूप में भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम प्रदेश में तथा पूर्वी अफगानिस्तान में सबसे पहले बसीं, किन्तु जब ऋग्वेद के सूक्तों का प्रादुर्भाव हुआ होगा तो शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी होंगी। तर्क और बुद्धि यही स्वीकार करती हैं।

ऋग्वेद के सूक्तों के विभिन्न स्थलों द्वारा सिद्ध किया जाता है कि ऋषि प्राक्कालीन मन्त्रद्रष्टाओं के रूप में आदृत थे, जिन्हें अनुक्रमणिका में ही नहीं अपितु ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी भ्रान्तिवश मन्त्रद्रष्टा कहा गया है। इन सूक्तों का अभ्यास-क्रम स्मरणातिक्रान्त, अनादिकाल से प्राचीन पद्धति के अनुसार होता आ रहा है। ब्लूम फील्ड महोदय ने यह बताया कि ऋग्वेद की ४०००० पंक्तियों में से लगभग ५००० पंक्तियाँ केवल पुनरावृत्तिमात्र हैं। यह निर्देश सिद्ध करता है कि जब ऋग्वेद का प्रणयन हुआ, तो अधिक आधुनिक कवियों ने अपेक्षाकृत प्राचीन कवियों की पंक्तियों तथा भावों का ऋण लिया, क्योंकि ऋग्वेद के अपने रूप में आने के पूर्व ऋचाओं की एक विशाल संख्या का अस्तित्व था, जिन्हें कोई भी कवि अपनी प्रतिभा और पाण्डित्य के सौन्दर्य में सजा सकता था। इस प्रकार ऋग्वेद, वेद की अन्यान्य समस्त रचनाओं से पहले का है। सूक्तों की भाषा भी अन्यान्य वैदिक गद्य-रचनाओं की अपेक्षा अधिक आर्य है। धार्मिक विचारधारा, संस्कृति और सभ्यता की अवस्थाएँ भिन्न हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य में केवल ऋग्वेद के सूक्तों के संस्मरण मिलते हैं, साथ ही साथ अन्यान्य संहिताओं की ऋचाओं तथा मन्त्रों का अर्थ बहुत काल तक नहीं समझा गया। परिणाम यह हुआ कि प्राचीन पुनरावृत्त, धीरे-धीरे लुप्त हो गये। यही भेद ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त होने वाली शुनःशेप की कथा को ऋग्वेद के सूक्तों से पृथक् करता है।

कंठ-परम्परा मध्यकाल की पूर्व-कल्पना करती है। शिष्यों और गुरुओं की पीढ़ियाँ वैदिक शाखाओं के वर्तमान रूप ग्रहण करने के पूर्व ही विलुप्त हो गई होंगी। भाषाविषयक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक भित्तियों के आधार पर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रारम्भिक सूक्तों के काल तथा सूक्तों के संहिता के रूप में, अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित होने के काल के बीच में, अवश्य ही अनेक शताब्दियाँ हो चुकी होंगी ऋग्वेद-संहिता बहुत पहले बने हुए काल के साथ सन्निधि का निर्देश करती हुई, अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की भी सन्निधि का संस्मरण करती है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी अपनी विविध शाखा-प्रशाखाओं के साथ, अध्यापकों के नाम की विशाल सूची के साथ अपने उद्भव के लिये अनेक शताब्दियों के काल की अपेक्षा करते हैं। यह मानना

पड़ता है कि ब्राह्मण संस्कृति के प्रसार के लिये भी अनेक शताब्दियाँ लगी होंगी जिनमें आध्यात्मिक ज्ञान तथा पौरोहित्य की उच्चता का प्रस्फुटन हुआ। उपनिषद्-ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि ये ग्रन्थ भी अलग-अलग काल की गोद में खेले हैं। ये ग्रन्थ भी यद्यपि अध्यापकों के वंशों की एक लम्बी परम्परा की पूर्व-कल्पना करते हैं, तथापि हम देखते हैं की वैदिक साहित्य के नयनोन्मीलनकाल से नयननिमीलन काल तक भारतीय आर्य जातियों ने केवल सिंधु से गंगा तक का छोटा-सा प्रदेश जीता था। अब स्पष्ट हो जाता है कि यदि उत्तर पश्चिम से पूर्वीय गंगा प्रदेश तक बढ़ने के लिये इतना लम्बा समय लग सकता है तो सम्पूर्ण-मध्यभारत और दक्षिण भारत को जीतने के लिये कितनी शताब्दियाँ लगी होंगी ? अब यदि हम काल्पनिक आधार के रूप में ७०० वर्ष मान लें तो कोई बहुत अधिक काल तो नहीं प्रतीत होता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन धारणाओं का सम्पूर्ण श्रेय प्रोफेसर मैक्समूलर को है, जिन्होंने सबसे पहले यह बतलाया है कि ई० पू० ५०० का बौद्ध धर्म समस्त वैदिक साहित्य के अस्तित्व की पूर्व-कल्पना करता है। कतिपय विद्वानों का मत रहा है कि सबसे पहले उपनिषदों का काल भी ई० पू० ६०० से पहले नहीं हो सकता। इस दृष्टिकोण का विरोध करते हुए ओल्डन बर्ग ने अपनी धारणा रखी कि प्रारम्भिक उपनिषद् ग्रन्थों की रचना और प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य की रचना के बीच में कई शताब्दियाँ बीत गई होंगी। बौद्ध साहित्य केवल वेदों की ही पूर्व-कल्पना नहीं करता किन्तु वेदांगों की भी पूर्व-कल्पना करता है और वहाँ भी पूर्ण रूप से विकसित ब्राह्मण साहित्य की कल्पना करता है। जबकि मैक्समूलर के काल में यह विचार बुद्धि-संगत लगता था कि ७०० वर्ष में बुद्ध के आविर्भाव तक भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास के सम्पूर्ण विकास का संमर्दन हो गया था और बूहलर ने भी स्पष्ट किया कि बुद्धधर्म के आविर्भाव के पूर्व भी भारतवर्ष में कुछ ऐसी शाखाएँ थीं जो वेदों की पवित्रता तथा प्रामाणिकता का प्रतिरोध करती थीं। इन शाखाओं में एक शाखा जैनियों की थी, जिसने क्रम-परम्परा का इतने विश्वसनीय रूप से प्रसाधन किया कि हमें एक विश्वास के साथ यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होता कि इस परम्परा के प्रथम प्रवर्तक का जीवन ई० पू० ७५० के लगभग विद्यमान था। बूहलर ने यह भी सिद्ध करना चाहा था और हमारे विचार में वह सिद्ध भी कर सकता था कि वेद तथा ब्राह्मण धर्म का विरोध करने वाली शाखायें और भी अधिक प्राचीनकाल में प्रतिष्ठित की जा सकती हैं। किन्तु इसे भारतीयों का दुर्भाग्य कहना चाहिये कि इस धारणा को सिद्ध करने के लिये बूहलर महोदय जीवित नहीं रहे।

सन् १९०७ में एशियामाइनर में बोघाजकोई में हूगोविंक्लर द्वारा किये गये अनुसन्धानों ने ऋग्वेद तथा संस्कृति के काल की समस्या को एक नया संवर्तन दिया। प्राचीन हिट्टि राज्य की राजधानी के ग्रन्थ-रक्षागारों से प्राप्त हुए मृत्तिका-फलकों पर (जो बोघाजकोई में प्राप्त हुए थे) हिट्टि के राजा तथा मिटिनी के राजा में किये गये सन्धिपत्रों का उल्लेख मिलता है। यह काल निश्चित प्रमाणों के

आधार पर ई० पू० १,४०० के आरम्भ का माना जाता है। उन सन्धिपत्रों में दोनों राज्यों के देवताओं का [सन्धिपत्रों के संरक्षकों के रूप में आह्वान किया गया है। देवताओं की सूची में विभिन्न बेबीलोनियन और हिट्टि के देवताओं के साथ-साथ मित्र, वरुण और इन्द्र तथा मिटिनी देवताओं में से नासत्यों का नाम मिलता है। अब यहाँ यह प्रश्न आता है कि ये देवताओं के नाम एशियामाइनर में मिटिनियों के पास कैसे पहुँच गये। इस प्रश्न के उत्तर पर विद्वानों की मतधारणाओं में मतभेद है। सुप्रसिद्ध इतिहासशास्त्री मेयर इन देवताओं को आर्यों के काल का मानते हैं, आर्यों के उस काल का, जो कि भारतीयों और ईरानियों की भाषा और धर्म के रूप में अविभक्त रूप से था। मेयर यह भी कल्पना करते हैं कि उसी समय आर्य पश्चिमी मैसोपोटामिया तथा सीरिया में भी प्रकट होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस उत्तर पश्चिम भारत में आर्यों की सत्ता का स्वतन्त्र विकास आरम्भ हो गया था। वैदिक सूक्त इस विकास के साक्षी हैं, जिसका आरम्भ ई० पू० १५०० के बाद नहीं हो सकता।

इसी प्रकार की धारणा पी० गिल्स भी रखते हैं। ओल्डनबर्ग इसे अधिक सम्भव मानते हैं कि ये देवता किसी पश्चिमी आर्य जातियों के थे, जो भारतीय जातियों के तुल्य थीं, और किसी सामान्यभूत से लिये गये थे। ठीक उसी प्रकार जैसे भारतीय जातियों ने अपने लिये किसी सामान्यभूत से स्वीकार किये थे। अभिप्राय स्पष्ट है कि ये देवता जोरष्टर के काल से पूर्व ईरानियों द्वारा लिये गये होंगे। अथवा यह भी सम्भव है कि इस दृष्टिकोण से आर्यों की तृतीय शाखा से अभिप्राय हो। किन्तु ये धारणायें, ये अनुसन्धान, वेदों की प्राक्कालीन कल्पना के लिए सहायक नहीं होते।

वरुण और मित्र, इन्द्र और नासत्यौ इनके नाम के ये स्वरूप केवल वेद में ही प्राप्त होते हैं। इसलिए इन देवताओं को भारतीय देवताओं के रूप में स्वीकार करते हुए जैकाबी, कोनो और हिलब्रन्ड से हम सहमत हैं और यह भी स्वीकार करते हुए कि किसी भी दृष्टिकोण के लिए किसी भी प्रकार की सम्भावना न्याय्य नहीं होगी, हमें यह कल्पना करनी होगी कि जिस प्रकार आर्य पश्चिम से भारत में आये, ठीक उसी प्रकार अनन्य संयुक्त रूप में वापिस पश्चिम में लौट गये। इसे हम या तो योद्धा वर्ग का पराक्रम कह ले अथवा वैवाहिक सम्बन्ध की संवित्ति। हम इसे भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि ऋग्वेद काल में भारतीय आर्य भौगोलिक दृष्टिकोण से पश्चिम के निकट थे। जहाँ तक क्रम-परम्परा का सम्बन्ध है, हम जो कुछ बोघाजकोइ के शिला-लेखों से संकलित कर सकते हैं, वह यह है कि वे आर्य जातियाँ जो वैदिक देवताओं की पूजा किया करती थीं, लगभग ई० पू० २००० के मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में बहुत समय तक रहीं क्योंकि इन जातियों में से अनेक जातियाँ ई० पू० १४०० के लगभग सुदूर पश्चिम में प्रविष्ट हो चुकी थीं। यह लघु किन्तु

महत्त्वपूर्ण सत्य और भी अधिक सत्य हो गया होता यदि यह भी सिद्ध हो जाता कि बोघाजकोइ के शिला-लेखों में भारतीय सभ्यता के भी चिह्न प्राप्त होते हैं।

वेद के रचनाकाल के सम्बन्ध में ई० पू० ३००० की विचारधारा निश्चित रूप से बहिष्कृत हो गई होती, यदि यह सिद्ध हो जाता कि भारोपीय जातियाँ मूल भारोपीय जातियों से तृतीय सहस्राब्दी तक पृथक् नहीं हुई थीं। हमारे विचार में यह दृष्टिकोण असङ्गत हैं और सन्तोषजनक आधार पर अभी तक सिद्ध भी नहीं हुआ है। इस दृष्टिकोण का स्वागत उन विद्वानों ने किया जो ऋग्वेद तथा भारतीय संस्कृति के आरम्भिक काल को कम से कम प्राचीनता प्रदान करना चाहते थे। इस प्रकार जे० हर्टल ने ऋग्वेद के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक विचित्र धारणा रखते हुए कहा कि ऋग्वेद का प्रादुर्भाव उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में नहीं हुआ अपितु ईरान में जोरेष्टर के काल के अनति दूरकाल में हुआ था। हर्टल के मतानुसार जोरेष्टर का जीवनकाल ई० पू० ५५० के लगभग था। जी हुसिंग इससे कुछ आगे बढ़ जाते हैं और कुनीफार्म शिलालेखों में प्राप्त होने वाले कुछ राजाओं के नामों को इस प्रकार घुमाते और मरोड़ते हैं कि वे भारतीय राजाओं के नामों में परिवर्तित हो जाते हैं। इन तथ्यों की भित्ति पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि ई० पू० १००० में भारतीय अमरीका से अफगानिस्तान में आये (जो कि ऋग्वेद के काल की समस्या थी) और यह उसके बाद के काल की घटना थी कि वे भारत की ओर बढ़े। ब्रुनहाफर के सुझाव पर हुसिंग यह कल्पना करते हैं कि ऋग्वेद में निर्दिष्ट कानीत पृथुश्रवा राजा ग्रीक शिलालेख तथा सिक्के पर अङ्कित स्किथियन राजा कानीत से अभिन्न हैं और स्किथियन कानीत ई० पू० २०० में था। तात्पर्य स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण प्रमाणित करता हैं ऋचाओं की रचना का संग्रह ई० पू० २०० तक समाप्त नहीं हुआ था

वेद के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक प्रबल युक्ति यह कि वेद और अवेस्ता की भाषा तथा दोनों के धार्मिक दृष्टिकोणों में पारस्परिक निकट सान्निध्य है। यद्यपि यह सत्य है कि धार्मिक विचार-परम्पराओं में प्रतिरोध के तत्त्व हैं यद्यपि समता के तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं। पहली युक्ति यह है कि भारतीय और ईरानी प्राग्-वैदिक तथा प्राग्-अवेस्ता के काल की एक आर्य संस्कृति प्रतिष्ठापक थे और दूसरी युक्ति के अनुसार पृथक्-पृथक् होने के पश्चात् भी दोनों प्रतिवेशी रहे। जहाँ तक भाषा की समता का सम्बन्ध है, समता द्वारा क्रम-परम्परा की किसी ऐसी निश्चित सीमा का निर्देश करना सम्भव नहीं है जिसके द्वारा भाषाओं के पारस्परिक परिवर्तन की सन्धि का ज्ञान हो सके। क्योंकि कुछ भाषायें शीघ्रता से परिवर्तित होती हैं, तो कुछ भाषायें दीर्घकाल तक परिवर्तित नहीं होतीं। यह सम्भव है कि वैदिक सूक्तों और अवेस्ता की भाषा की भाँति, परम्परा से प्राप्त होने वाली कुछ भाषायें, साधारण बोलचाल की भाषाओं की अपेक्षा अधिक काल तक अपरिवर्तित रह सकती हैं।

अन्यन्य भाषाओं के इतिहास के सम्बन्ध में हम जो कुछ जानते हैं, वह हमें

यह मानने के लिये बाध्य करता है कि हजारों वर्ष की किसी अनिश्चित संख्या तक भाषाएँ कभी भी परिवर्तित हुए बिना नहीं रह सकतीं, फिर दसों हजार वर्षों की बात ही क्या ? प्रोफेसर विंटरनिट्ज के मतानुसार वेद की रचनाकाल के सम्बन्ध में ज्योतिष तथा भौगोलिक आधार-तत्त्वों पर स्वीकृत की गई ई० पू० १६००० तथा ई० पू० २५००० की धारणाएँ सर्वथा असङ्गत तथा भ्रामक हैं। उनका कथन है कि इस प्रकार की संख्या स्वीकार करने का अर्थ होगा कि एक लम्बे काल के वक्ष-स्थल पर भारतवर्ष में कोई ऐसी सांस्कृतिक उन्नति नहीं हुई जिसे उन्नति कहा जा सके। यह कभी सम्भव नहीं है। क्या भारतीयों जैसी तीव्र बुद्धि सम्पन्न जाति के लिये यह आश्चर्य की वस्तु नहीं है ? वैदिक संस्कृति तथा ब्राह्मण काल की संस्कृति के पारस्परिक असम्बन्ध के कारण ये संख्यायें असम्भव सी लगती हैं। जिस सम्बन्ध की व्याख्या, जहाँ तक धर्म की भावनाओं का सम्बन्ध है कभी नहीं की जा सकती, वह सर्वदा अव्याख्येय ही रहती। ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा के आधार पर पाणिनि द्वारा व्याकरण में नियमित की गई शास्त्रीय संस्कृत तथा ई० पू० ३०० में अशोक के शिलालेखों की भाषा, वेद की भाषा के साथ निकट सम्बन्ध बताती है। क्योंकि इतने वर्षों तक व्यवधान असाध्य नहीं हो सकता।

प्रोफेसर विन्टरनिट्ज ने विभिन्न मतों को संक्षिप्त करते हुए बताया कि ज्योतिष गणना के आधार पर निर्णीत की गई धारणाएँ स्वीकार्य नहीं हो सकतीं क्योंकि वैदिक संहिताओं में ऐसे अनेक स्थल है, जिनकी व्याख्याएँ अलग-अलग सम्प्रदाय वाले अपने-अपने मतानुसार अलग-अलग रूप में करते हैं। जब तक उन स्थलों के भाष्यों का एक असंदिग्ध अर्थ निश्चित न हो जाय तब तक ज्योतिष् की गणना चाहे कितनी ही निर्दोष क्यों न हो, प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। ऐतिहासिक तथ्यों की आड़ में कुनिफार्म शिलालेखों में प्राप्त होने वाले नामों के आधार पर वैदिककाल का आर्य तथा भारोपीय जाति के काल से सम्बन्ध खोजना भ्रान्ति-मूलक है, क्योंकि अधिक सम्भव प्रमाणों के आधार पर वैदिक संस्कृति के चिह्न निश्चित रूप में ई० पू० २००० में ढूँढ़े जा सकते हैं। वेद की भाषा के साथ अवेस्ता की भाषा का सम्बन्ध तथा वेद की भाषा के साथ शास्त्रीय संस्कृत का सम्बन्ध कोई निश्चित परिणाम नहीं निकालता। अन्ततः हमें भारतीय इतिहास के प्रमाणों पर निर्भर होना पड़ता है। सबसे दृढ़तर प्रमाण यह है कि बौद्ध साहित्य समस्त वैदिक साहित्य की पूर्व कल्पना करता है। यह एक ऐसा तथ्य है, यह एक ऐसी मर्यादा है, यह एक ऐसा प्रमाण है और यह एक ऐसी सीमा है कि बुद्धि और तर्क इसका अतिक्रमण नहीं कर सकते। इस प्रकार प्रोफेसर विन्टरनिट्ज ने वेदों की रचना का काल प्रारम्भ ई० पू० १५०० से १२०० माना है, विकास काल ई० पू० २५०० से २००० माना है और समाप्ति काल ई० पू० ७५० से ५०० के मध्य में माना है।

ऋग्वेद का आन्तरिक रचना-क्रम तथा विषय-विवेचन

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है।

भारतीय धर्म तथा सभ्यता का विशाल भवन श्रुति की आधार-शिला पर ही प्रतिष्ठित है। अपने प्रातिभ चक्षुषों से ऋषियों द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वों की विशाल राशि का नाम 'वेद' है। वेद प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान कराता है। वेद शब्द का प्रयोग मन्त्र के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है। मन्त्रों के समूह का नाम है 'संहिता'। मन्त्र संहितायें चार हैं—ऋक् संहिता, यजुः संहिता, तथा साम संहिता तथा अथर्व संहिता।

वेदचतुष्टय में ऋग्वेद का स्थान सर्वप्रमुख है। यह अपनी दिव्य संगीतमय अद्भुत ऋचाओं के कारण विश्व साहित्य की अमूल्य-निधि बना है। ऋग्वेद की ललित ऋचाएँ अपनी मधुरता के कारण पाश्चात्यों को भी अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। ऋग्वेद का महत्त्व सभी पाश्चात्य सुधियों ने शिरोधार्य माना है। पाश्चात्य तथा भारतीय ऋग्वेद को भाषा और भाव की दृष्टि से अन्य वेदों से प्राचीनतम घोषित करते हैं।

विभाजन

हिन्दू परम्परा के अनुसार वेदव्यास ने विकीर्ण ऋचाओं का संग्रह करके चार संहिताएँ निर्मित की तथा इन संहिताओं को भी एक विशेष आधार पर विभाजित किया है। ऋग्वेद का विभाजन दो प्रकार का किया है—(१) अष्टकक्रम तथा (२) मण्डलक्रम।

(१) **अष्टकक्रम**—समग्र ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टक में ८ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के अवान्तर विभागों का नाम वर्ग है तथा प्रत्येक वर्ग कई ऋचाओं का है। इस प्रकार समस्त ऋग्वेद में ८ अष्टक, ६४ अध्याय है तथा समस्त वर्गों की संख्या २००६ है और ऋचाओं की संख्या १०४८० १।४ है।

(२) **मण्डलक्रम**—यह क्रम अधिक महत्त्वपूर्ण, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक माना जाता है। ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। प्रत्येक मण्डल में अनेक अनुवाक हैं, प्रत्येक अनुवाक के अन्तर्गत कई सूक्त हैं तथा प्रत्येक सूक्त में कई मन्त्र या ऋचाएँ हैं। ऋग्वेद में १० मण्डल, ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त, १०५८० १/४ ऋचाएँ, १५३८२६ शब्द तथा ४३२००० अक्षर हैं।

ऐतिहासिक समय क्रम से मण्डलों का विवेचन—ऋग्वेद के मण्डलों में प्राचीन तथा अर्वाचीन मन्त्र संगृहीत हैं। द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक का भाग ऋग्वेद का केन्द्रीय अंश है। वंशविशेष से सम्बद्ध होने के कारण इन मण्डलों को आंग्लभाषा में 'Family Book' (वंशमण्डल) कहने की प्रथा है। प्रत्येक मण्डल एक ही ऋषि या उनके ही वंश के द्वारा निर्मित है। इन मण्डलों में ऋषि क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वशिष्ठ अथवा इनके वंशज हैं। अष्टम मण्डश में अधिकतर मन्त्र कण्व ऋषि से सम्बद्ध हैं तथा नवम मण्डल में (पवमान) सोम के विषय में भिन्न-भिन्न ऋषि-कुलों द्वारा दृष्ट-मन्त्रों का संग्रह है। प्रथम तथा दशम

मण्डल बाद की रचनाएँ हैं। दशम मण्डल सबसे अर्वाचीन है क्योंकि यह सभी मण्डलों से परिचित है तथा इसकी भाषा भी वैदिक संस्कृत से कुछ आगे बढ़कर साहित्यिक संस्कृत के अधिक समीप है।[1]

विषय-विवेचन

कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि ऋग्वेद में भारतीय संस्कृति के उषा-काल के स्थान पर मध्याह्न काल का वर्णन है, क्योंकि इसमें स्थान विशेष में बसे हुये जन-व्यवस्थित समाज तथा उसकी पूर्ण उन्नतावस्था का चित्रण है। वस्तुतः यह संस्कृति देवी सरस्वती की उस मूर्ति की भाँति है जो पूर्ण युवती के रूप में एक साथ प्रकट हुई हो। ऋग्वेद का विवेचन दो प्रकार से किया जा सकता है—
(१) साहित्यिक दृष्टि से तथा (२) वर्णनीय विषय की दृष्टि से।

(१) साहित्यिकदृष्टि से—कवित्वमय स्तुति-समूह के रूप में ऋग्वेद धार्मिक स्तोत्रों की अत्यन्त विशाल राशि है। इसमें विविध देवताओं के लिये अनेक ऋषियों ने भावाभिव्यञ्जक शब्दों में स्तुतियाँ की हैं। इसमें अग्नि, इन्द्र एवं वरुण-विषयक प्रार्थनायें अधिक हैं। देवियों में उषा का स्थान अग्रगण्य है। ऋग्वेद की ऋचाओं में ये प्रार्थनायें तुलनात्मक धर्म-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु कुछ अन्य विषयों से सम्बद्ध सूक्त भी पाये जाते हैं। जैसे—

(i) श्राद्ध तथा विवाह सम्बन्धी सूक्त—भौतिक विषयों में श्राद्ध एवं विवाह का विशेष महत्त्व है। सूर्या के पाणिग्रहण के लिये देवों का रथ पर चढ़कर दौड़ लगाने का सुन्दर वर्णन (दशम मण्डल में) अङ्कित या चित्रित है। पत्नी को पति के साथ रहने तथा प्रजा-समृद्धि के लिये उपदेश दिया है—

"इहं प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एता पत्या तन्वं संसृजेस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः॥

(ऋग्वेद १०/८५/२७)

(i) द्यूतक्रीडा—ऋग्वेद में द्यूत सूक्त नामक एक प्रसिद्ध सूक्त है, जिसमें जुए का फड़कता वर्णन उपलब्ध होता है। ऋग्वेद काल में जुआ खेलने की प्रथा थी पर यह प्रथा निन्दनीय थी। इस सूक्त में द्यूतकर के मुख से द्यूत की निन्दा बड़े मार्मिक ढङ्ग से की गई है। सूक्त के अन्त में उपदेश दिया गया है—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः॥ (ऋ० १०/३४/१३)

(iii) दानस्तुति—ऋग्वेद के सूक्तों में कतिपय मन्त्र ऐसे हैं जिन्हें 'दानस्तुति' कहा जाता है। आधुनिक ऐतिहासिक विद्वान् इन्हें किसी प्राचीन राजा के विपुल दान से आप्यायित होने वाले ऋषि द्वारा दाता की स्तुति मानते हैं, पर भारतीय वेदज्ञों की दृष्टि में ऐतिहासिक घटनाओं के (वेद में) असम्भाव्य होने से दान स्तुतियाँ नहीं हैं, प्रत्युत-प्ररोचना के निमित्त ही आख्यानों की कल्पना मन्त्रों के आधार पर कर ली गई है। दान की महिमा की भव्यता की सूचक ये स्तुतियाँ हैं—

---

१. इसके लिये पृष्ठ ६ द्रष्टव्य है।

'केवलाघो भवति केवलादी ।'
'न स सखा यो न ददाति सख्ये ।'

(iv) **संवादसूक्त**—ऋग्वेद में कतिपय नाट्य एवं काव्य में मण्डित सूक्त भी उपलब्ध हैं। इन कथोपकथनों से पूरित सूक्तों को संवाद सूक्तों के नाम से अभिहित किया जाता है। इन सूक्तों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की विभिन्न कल्पनायें हैं। यथा—

(a) ओल्डनबर्ग (Oldenberg) इन्हें प्राचीन आख्यानों का अवशिष्ट रूप कहते हैं।

(b) डॉ० सिलवाँ लेवी, डॉ० श्रोदर तथा डॉ० हर्टल इन्हें नाटकों का अवशिष्ट रूप कहते हैं।

(c) डॉ० विन्टरनिट्ज इन्हें प्राचीन लोकगीत का उदाहरण कहते है। इन संवाद सूक्तों में प्रमुख हैं—पुरुरवा-उर्वशी संवाद, यमयमी संवाद तथा सरमापणि संवाद। ये सभी दशम मण्डल में है।

(v) **दार्शनिकसूक्त**—ऋग्वेद के दशम मण्डल के बहुत से सूक्त दार्शनिकता से युक्त हैं जिनमें नासदीय, पुरुष, वाक् तथा हिरण्यगर्भ सूक्त अधिक प्रसिद्ध हैं।

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' सांख्यका, 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' सर्वेश्वरवाद का, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्...' चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का मूल सूचक है। विदेशी विद्वानों के विचार से धार्मिक विकास का क्रम इस प्रकार है—बहुदेववाद, एकदेववाद, सर्वेश्वरवाद।

(२) **वर्णनीय विषय की दृष्टि से**—तत्कालीन आर्यों का विस्तार दूर तक प्रसारित था। राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। इनका विवरण निम्नलिखित प्रकार का है—

(i) **राजनैतिक व्यवस्था**—(१) राजनैतिक एकता का उस समय विकास हो गया था। दस राजाओं से युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले सुदास् का नाम प्रसिद्ध है।

(२) गृह, ग्राम, विश और जन क्रमशः मिलकर राष्ट्र का निर्माण करते थे।

(३) शासन का प्रधान राजा होता था।

(४) राज्यसभा तथा समिति राजनीतिक संस्थाएँ थीं।

(५) शासन प्रजातन्त्रात्मक था।

(ii) **सामाजिक व्यवस्था**—(१) समाज पूर्ण विकसित और सुव्यवस्थित था।

(२) पितृ प्रधान कुटुम्ब होता था।

(३) चार वर्णों की व्यवस्था का सूत्रपात हो गया था।

(४) विधवाविवाह व सतीप्रथा प्रचलित थे।

(५) नैतिक दृष्टि से नारी का स्थान ऊंचा था।

(६) स्त्रियाँ मन्त्रद्रष्टा भी होती थीं। अपाला, विश्ववाटा, घोषा आदि उल्लेखनीय हैं।

(iii) **आर्थिक व्यवस्था**—(१) सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार व्यक्ति को था।

(२) जीवन का केन्द्र पशु सम्पत्ति था।

(३) कृषि जीविका का प्रमुख साधन न था।

(४) व्यापार भी होता था।

(५) प्रमुख भोजन गेहूँ और जौ था। इसके अतिरिक्त क्षीर, दधि और घृत का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

(६) मांस का भी वर्णन प्राप्त हुआ है।

(७) सोम और मधुपान श्रेयस्कर था। सुरापान हेय समझा जाता था। इस प्रकार ऋग्वेद सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सभी दृष्टियों में अपना प्राधान्य रखता है।

वेदानुशीलन का इतिहास

वैदिक अनुशीलन के इतिहास को हम सामान्यतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्राचीन युग, (२) मध्य युग एवं (३) आधुनिक युग। संहिताओं की रचना के उपरान्त ही रहस्यमय मन्त्रों के मर्म को समझने-समझाने की प्रवृत्ति का उदय हुआ। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ के विस्तृत वर्णन के साथ ही इस प्रवृति की प्रथम किरण दिखाई दी, जहाँ मन्त्रों का किञ्चित् अर्थ प्रकट करने का यत्न किया गया। यत्र-तत्र शब्दों की व्युत्पत्ति भी दी गई, जिन्हें यास्क ने अपने निरुक्त में "इतिह विज्ञायते" कहकर बड़े आदरपूर्वक प्रदर्शित किया। ब्राह्मण-ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री के आधार पर ही निघण्टु और निरुक्त की रचना बाद में की गई। मन्त्रों का पद-पाठ करने वाले ऋषियों ने वेद के अर्थ को प्रकट करने में योग दिया। प्राचीन ऋषियों ने मन्त्र के अवान्तरभूत पदों का पृथक्करण करके संहिताओं के पदपाठ का निर्माण किया, जिससे मन्त्रों के अर्थ का परिचय मिल जाता है। पद-पाठ करने वाले ऋषियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) शाकल्य—ऋग्वेद का पद-पाठ करके इन्होंने वेदार्थ को समझने समझाने का सूत्रपात किया। बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में जनक की सभा में शाकल्य और याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ का विशद वर्णन मिलता है। ये ही शाकल्य पुराणों के अनुसार ऋग्वेद के पद-पाठ के कर्त्ता हैं। 'ब्रह्माण्ड पुराण' पूर्वभाग द्वितीय पाद के चौंतीसवें अध्याय में इस तथ्य का उल्लेख मिलता है।

शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः।
बाष्कलिश्च भरद्वाज इति शाखाप्रवर्तकाः ॥३२॥
देवमित्रश्च शाकल्यो ज्ञानाहंकारगर्वितः।
जनकस्य स यज्ञे वै विनाशमगमद् द्विजः ॥३३॥

'निरुक्त' और 'ऋक्-प्रातिशाख्य' में भी शाकल्य का उल्लेख होने से उन्हें उपनिषद् कालीन ऋषि मानना सर्वथा युक्ति-युक्त और न्याय-संगत है। यास्क ने यत्र-तत्र शाकल्य का पद-पाठ स्वीकार नहीं किया है। उदाहरणार्थ—निरुक्त (६/२८) में 'वने न वायो' ऋग्वेद के दशम मण्डल के २९ वें सूक्त का प्रथम मन्त्र लिया गया है। शाकल्य ने यहाँ 'वायः' को (वा + यः) दो पदयुक्त माना है। यास्क ने स्पष्ट उल्लेख

करके इसे अग्राह्य माना है और एक ही पद स्वीकार किया है। यास्क 'वायः' का अर्थ 'पक्षी' लिखते हैं।

(२) रावण—ऋग्वेद का रावण का पद-पाठ भी उपलब्ध होता है। यों तो ऋग्वेद पर रावण ने भाष्य भी लिखा है, साथ ही पद-पाठ भी अपना अलग दिया है, जो शाकल्य पद-पाठ से अनेक स्थानों पर भिन्न, अपूर्व और मौलिक है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के 'नासदीय सूक्त में' "किमावरीवः कुह कस्याशर्मन्" के अन्तर्गत शाकल्य ने (कुह + कस्य) में दो पद माने हैं और (कहाँ + किसका) अर्थ किया है, जबकि रावण ने इसे अस्वीकार करके 'कुहकस्य' को एक ही पद माना है और उसका ऐन्द्र-जालिक या बाजीगर अर्थ किया है, जो ईश्वर पर घटित होता है।

यजुर्वेद का पद-पाठ भी प्राप्य है। माध्यन्दिन संहिता का पद-पाठ बम्बई से छप चुका है, किन्तु काण्व संहिता आज तक नहीं छप सकी। इनके रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं। आत्रेय ने तैत्तिरीय-संहिता का पद-पाठ किया था, जिसका निर्देश भट्टभास्कर ने 'तैत्तिरीय-संहिता-भाष्य में किया है। 'काण्डानुक्रमणी' ने आत्रेय को पदकार माना है। 'बोधायन गृह्य-सूत्र' में ऋषि-तर्पण के समय पदकार आत्रेय को भी तर्पण करने का विधान है। पं० बलदेव उपाध्याय जी ने इनके शाकल्य के समकालीन होने की सम्भावना प्रकट की है।

गार्ग्य सामवेद के पदकार हैं। इनके नाम और कार्य का समर्थन अनेक प्राचीन ग्रन्थों से होता है। निरुक्त में 'मेहन' शब्द के विषय में कुछ रोचक बातें मिलती हैं। दुर्गाचार्य कहते हैं कि ऋग्वेदियों के अनुसार 'मेहन' एक ही पद है किन्तु सामवेदियों के अनुसार इसमें (म + इह + न) तीन पद हैं। यास्क ने शाकल्य और गार्ग्य इन दोनों पदकारों के मतों का एकत्र उल्लेख किया है। यहाँ सामपदकार 'गार्ग्य' का नाम स्पष्ट उल्लिखित है। स्कन्दस्वामी भी यही मानते हैं—एकमिति शाकल्यः, त्रीणीति गार्ग्यः। गार्ग्य के पदपाठ में पदच्छेद बहुत अधिक किया गया है जैसे—'समुद्रः' का (सम् + उद्रम्) 'मित्रं' का पद-पाठ (मि त्रम्), अन्ये का (अन् + ये)। इन्हें ही प्रामाणिक मानकर यास्क ने इनकी निरुक्ति भी इन्हीं के अनुसार दी है, यथा—समुद्द्रवन्ति अस्मात् आपः अर्थात् जिससे जल बहता रहे, वह समुद्र है। 'प्रमीतेः त्रायते इति मित्रः' अर्थात् जो त्राण करता है (वृष्टि करके) वही मित्र या सूर्य है। अथर्ववेद का पदपाठ कोई विशेषता नहीं रखता, यह ऋग्वेद के ही अनुरूप है। इसके रचयिता के नाम का भी पता नहीं है।

इन विविध पदकारों में मत-वैपरीत्य है। एक आचार्य जिसे एक पद मानता है, उसे दूसरे पदकार दो या उससे भी अधिक पद मानते हैं। निरुक्त के भाष्यकार स्कन्दस्वामी 'आदित्य' शब्द के विषय में विविध आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए यह आशय प्रकट करते हैं कि पदकारों का अभिप्राय विचित्र ही होता है। उपसर्ग होने पर कोई अवग्रह नहीं लगाते, जबकि दूसरे सामान्य नियम से लगाते हैं। शाकल्य 'अधिवास' शब्द में अवग्रह नहीं देते, आत्रेय देते हैं।

पद-पाठ ही वेदार्थ के अनुशीलन का प्रथम सोपान है, क्योंकि पद का रूप जाने बिना अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। इस पद-पाठ के लिए भी व्याकरण के नियमों का अनुसन्धान, इससे बहुत पूर्व हो चुका होगा। 'निघण्टु' और 'निरुक्त' ग्रन्थों की रचना ब्राह्मण-ग्रन्थों में दी हुई निरुक्ति और व्युत्पत्ति के आधार पर की गई बाद की ही वस्तु है। षड्वेदाङ्ग का प्रयोजन भी वेदार्थ के समझने में योग देता है।

मध्ययुग में वैदिक संहिताओं पर प्रायः भाष्यों की रचना हुई, जिससे उसके अर्थ का विशदीकरण तो हुआ ही, बोधगम्यता भी बढ़ गई। इस कार्य के लिए भाष्यकारों ने निरुक्त, व्याकरण, इतिहास, पुराण आदि सभी आवश्यक साधनों से लाभ उठाया। इन भाष्यकारों[1] में ऋग्वेद के भाष्यकर्ता माधव भट्ट, स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, वेंकटमाधव और आनन्दतीर्थ हैं। यजुर्वेद की 'तैत्तिरीय संहिता' के भाष्यकार भव स्वामी, क्षुर, गुहदेव, और भट्ट भास्कर हैं। 'माध्यन्दिन संहिता' के उवट और महीधर हैं। सामवेद के भाष्यकार माधव, भरत स्वामी और गुणविष्णु हैं। इन सबमें प्रधान और विचित्र आचार्य सायण हैं, जिनके पाण्डित्यपूर्ण भाष्य पाँच वैदिक संहिताओं, एकादश ब्राह्मणों और दो आरण्यकों पर उपलब्ध होते है। आज वेद का मर्म और यज्ञ का रहस्य समझने में वस्तुत. सायणाचार्य, आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के ही भाष्य प्रकाश-स्तम्भ के समान हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं।

आधुनिक युग में वेदों पर अधिकांश कार्य पाश्चात्य विद्वानों ने किया, जिसके लिये हम उनके चिर ऋणी हैं। अगली पंक्तियों में वेद-क्रम से उनका उल्लेख किया गया है।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन एवं प्रकाशन के विषय में पाश्चात्य वेदज्ञों का कार्य वास्तव में स्पृहणीय है। कोलब्रुक महोदय ने १८०५ ईसवी में 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक पत्र के माध्यम से वेद पर एक विशद विवेचनात्मक निबन्ध लिखकर विविध वैदिक-ग्रन्थों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए, जिस लगन का सूत्रपात किया, उसका पल्लवित रूप जर्मन विद्वान् रूडल्फ रॉथ की 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक पुस्तक में १८४६ ईस्वी में प्रस्फुटित हुआ। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही योरुप के विद्वानों में वेद के अनुशीलनार्थ एक अपूर्व लहर जाग उठी।

रॉथ महोदय ने पश्चिमी भाषाविज्ञान तथा तुलनात्मक धर्म के आधार पर वेदों का मर्म समझने के लिये ऐतिहासिक पद्धति की उद्भावना की तथा सायणादि की व्याख्या को अग्राह्य घोषित कर दिया। वेद के ही विविध स्थलों में आये हुए शब्दों की छानबीन करके, संदिग्ध शब्दों के अर्थों को समझने की प्रणाली का आश्रय लेकर रॉथ ने 'सेण्टपीटर्सबर्ग संस्कृत-जर्मन महाकोष' नामक विशालकाय वैदिक कोश की

---

१. इन भाष्यकारों के परिचय के लिए द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय का "आचार्य सायण और माधव" नामक ग्रन्थ। (पृष्ठ १०८ से ११४)

रचना कर डाली। इसमें सभी शब्दों का अर्थ-विकास क्रम के अनुसार दिया गया है। वैदिक शब्दों के ऐतिहासिक अर्थ-विकास को समझने के लिये यह ग्रन्थ बेजोड़ है।

रॉथ के सहयोगियों, सहपाठियों एवं शिष्यों ने वैदिक अनुशीलन के कार्य में विशेष योग दिया है। इन पश्चिमी विद्वानों ने वैदिक ग्रन्थों के शुद्ध संस्करण तो प्रकाशित कराए ही, कुछ ने उनका अनुवाद किया तथा वेदार्थ के अनुशीलन-विषयक ग्रन्थ लिखे, जबकि अन्य पश्चिमी विद्वानों ने वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ तथा साहित्य के इतिहासपरक-ग्रन्थ भी प्रस्तुत किये।

पश्चिमी विद्वानों में मैक्समूलर का नाम अग्रगण्य है। ऋग्वेद के सायण-भाष्य का सर्वप्रथम विवेचनापूर्ण सम्पादन करना उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। सन् १८४९ से १८७५ ई० तक छब्बीस वर्षों के सतत प्रयत्न से उन्होंने कई सौ पृष्ठों की भूमिका तथा टिप्पणी सहित तीन सहस्र से अधिक पृष्ठों में इस बृहत् ग्रन्थ का सम्पादन किया। इससे योरुप में वैदिक अनुशीलन की रुचि जाग उठी। १८६३ में ही दूसरे जर्मन विद्वान् आउफ्रेक्ट ने अत्यन्त साहसपूर्वक रोमन लिपि में ऋग्वेद का एक अच्छा संस्करण प्रस्तुत किया। इसी समय प्रो० हाग (M. Haug) ने 'ऐतरेय ब्राह्मण' का एक संस्करण बड़ी उपयोगी भूमिका तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित बम्बई से प्रकाशित कराया, किन्तु जर्मनी के बोन नगर से डॉ० आउफ्रेक्ट का रोमन-अक्षरों में प्रकाशित इस ब्राह्मण का संस्करण अत्यन्त विश्वस्त माना जाता है। ऋग्वेद के ही अन्यतर 'कौषीतकी ब्राह्मण' का १८८७ में प्रो० लिण्डनर (B. Lindner) द्वारा सम्पादित संस्करण भी प्रशस्त है। इसी प्रकार ऋग्वेद के श्रौतसूत्रों के शुद्ध संस्करण भी पाश्चात्य विद्वानों की कृपा से आज प्राप्त हैं। 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' का सम्पादन स्टेन्सलर (Stenzler) ने तथा 'शांखायन श्रौतसूत्र' का हिलेब्रान्ट (Hillebrant) ने बड़े अध्यवसाय से किया है।

ऋग्वेद का अनुवाद करने में भी पाश्चात्यों ने बड़ा योगदान किया। डॉक्टर विल्सन (H. H. Wilson) ने १८५० ई० में सायण भाष्य के अनुसार ऋग्वेद का पूरा अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। १८७६–७७ ई० में जर्मन विद्वान् ग्रासमान (H. H. Grass Mann) ने रॉथ की स्वतन्त्र पद्धति पर ऋग्वेद का पद्यानुवाद दो जिल्दों में प्रकाशित किया। इसी समय जर्मनी के दूसरे वेदज्ञ लुड्विग् (A.Ludwig) ने विस्तृत व्याख्या सहित सायण के अनुकरण पर ऋग्वेद का गद्यानुवाद छह जिल्दों में निकाला। १८८९–९२ ई० में ग्रिफिथ (R. T. H. Griffith) ने सायणानुसार ही ऋग्वेद का अंग्रेजी पद्यानुवाद काशी से प्रकाशित कराया। १९०९–१२ ई० में जर्मन विद्वान् डॉ० ओल्डनबर्ग (H. Oldenberg) ने बर्लिन से ऋग्वेद की मार्मिक व्याख्या दो जिल्दों में प्रस्तुत की। इससे पूर्व १८८८ ई० में ही ऋग्वेद के छन्द आदि अन्य विषयों की विशद विवेचना लेखक कर चुका था।

जहाँ तक व्याख्या-ग्रन्थों का प्रश्न है, ग्रासमान का 'वैदिक कोष' ऋग्वेद से ही सम्बद्ध है। उसमें ऋग्वेद के प्रत्येक स्थल का उल्लेख करके शब्दार्थ-निर्णय किया गया है।

१९०५ में प्रो० आर्नल्ड (E. V. Arnold) ने ऋग्वेद के छन्दों का अध्ययन कर 'वैदिक मीटर" नामक ग्रन्थ में मन्त्रों के काल-निर्णय का भी स्तुत्य प्रयत्न किया है।

'यजुर्वेद-संहिता' और विशेषतः 'तैत्तिरीय-संहिता' का सम्पादन प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान् डॉ० वेबर ने किया, जिनका सूक्ष्मदर्शी पाण्डित्य सर्वथा प्रशस्य है। इन्होंने 'इन दिश स्तूदियन' नामक शोध-पत्रिका में वैदिक अनुसन्धान-कार्य को अग्रसर करने में पर्याप्त योग दिया। एक अन्य जर्मन विद्वान् श्रोदर महोदय ने १८८१–८६ ई० में 'मैत्रायणी संहिता' का एक वैज्ञानिक संस्करण बड़ी योग्यता से सम्पादित किया। फिर १९००–११ ई० में 'काठक संहिता' का भी एक संस्करण निकाला। ये संहितायें स्वाध्याय मण्डल (औंध) से सात्वलेकर जी ने सम्पादित करके हाल ही में पुनः प्रकाशित कराई हैं।

डॉ० वेबर के सम्पादकत्व में ही १८५५ ई० में 'माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण' का प्रथम संस्करण बर्लिन से प्रकाशित हुआ। 'बोधायन श्रौतसूत्र' का सम्पादन डॉ० कैलेण्ड (W. Caland) ने 'मानव श्रौतसूत्र' का सम्पादन क्नाउएर (Knauer) ने, 'कात्यायन श्रौतसूत्र' का डॉ० वेबर ने, 'आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का डॉ० गार्बे ने बड़ी लगन और योग्यता से सम्पादन किया। जहाँ तक अनुवादों का सम्बन्ध है, यजुर्वेद की 'माध्यन्दिन संहिता' का अंग्रेजी में पद्यानुवाद ग्रिफिथ महोदय ने १८८९ ई० में काशी में किया। डॉ० कीथ (A. B. Keith) ने 'हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज' में 'तैत्तिरीयसंहिता का अत्यन्त प्राञ्जल अनुवाद १९१४ ई० में अमेरिका से प्रकाशित कराया, जिसकी मीमांसा करते हुए अनेक उपयोगी बातों का उल्लेख करने से अनुवादक की विलक्षण विद्वत्ता प्रकट होती है। इगलिङ् महोदय (D. J. Eggeling) ने 'पवित्र प्राच्य-ग्रन्थ-माला' की पाँच जिल्दों में 'शतपथ ब्राह्मण ' का विद्वत्तापूर्ण अनुवाद प्रकाशित कराया।

सामवेद की 'राणायणी-संहिता' का सम्पादन अंग्रेजी अनुवाद के साथ स्टेवेन्सन महोदय ने १८४२ ई० में तथा कौथुम शाखीय 'साम-संहिता' का सम्पादन करके बैन्फी महोदय ने १८४८ ई० में जर्मन अनुवाद सहित प्रकाशित किया। डॉ० वेबर ने १८५८ ई० में 'अद्भुत ब्राह्मण' का अनुवाद सहित सम्पादन किया और उसी समय वंश-ब्राह्मण' का भी सम्पादन कर डाला। डॉ० बर्नेल (Dr. A. C. Burnell) ने १८३७ ई० में 'साम विधान' का प्रकाशन लन्दन में किया। १८७३ ई० में वंश-ब्राह्मण'तथा देवताध्याय ब्राह्मण, का, १८७६ ई० में 'आर्षेय-ब्राह्मण' का तथा १८७७ ई० में 'संहितोपनिषद-ब्राह्मण का संस्करण मंगलौर से प्रकाशित किया। 'जैमनीय ब्राह्मण' का विशेष अंश, अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणियों के सहित डॉ० एर्टल (Dr. H.Oertal) ने सम्पादित किया,जो 'अमेरिकन ओरियेण्टल जर्नल' के सोलहवें वोल्यूम में छपा है। इसी ब्राह्मण का विशेष अंश जर्मन अनुवाद के साथ डॉ० कैलेण्ड ने स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया।

'अथर्ववेद संहिता' का एक संस्करण रॉथ और ह्विटनी ने १८५६ ई० में बड़े अध्यवसाय के साथ प्रकाशित किया। पिप्पलाद शाखा की 'अथर्ववेद संहिता' की एक

प्रति काश्मीर में प्राप्त हुई थी, जिसके आधार पर प्रो० ब्ल्यूम फील्ड तथा डॉ० गार्वे ने हस्तलिखित प्रति का पूरा फोटो लेकर १९०१ ई० में जर्मनी से तीन बड़ी जिल्दों में प्रकाशित किया। भारतीय विद्या की रक्षा के प्रति विशेष ध्यान देने का उदाहरण इस ग्रन्थ के प्रकाशित किये जाने से अधिक पश्चिमी विद्वानों के लिये और क्या हो सकता है? अथर्ववेद के 'गोपथ ब्राह्मण' का नागराक्षरों में एक अत्यन्त रमणीय संस्करण प्रो० गास्ट्रा (Dr. Gaastra) ने लेडन, हालैंड से १९१९ ई० में प्रकाशित किया। 'कौशिक श्रौत-सूत्र' का एक संस्करण ब्ल्यूम फील्ड ने बड़ी विद्वत्ता के साथ छपवाया। 'अथर्ववेद के दो अनुवाद आज उपलब्ध है। ग्रिफिथ का अनुवाद मूल अर्थ को समझने में बड़ा उपयोगी है, जो १८८९-९८ ई० में काशी से प्रकाशित हुआ। अथर्ववेद का दूसरा अनुवाद ह्विटनी (W. H. Whitny) ने किया जिसे लेनमेन (D. L. Lenman ने पूर्ण करके १९०५ ई० में प्रकाशित किया। इसमें अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण भूमिका और टिप्पणियाँ दी हैं जिनसे यह बड़ा उपादेय और प्रामाणिक हो गया है।

———

अध्याय

२

यजुर्वेद

सामान्य परिचय

भारतीय संस्कृति के विशाल प्राङ्गण में वेदों की सत्ता अक्षुण्ण है। उसका साहित्य चिरन्तन है। उसकी सीमा बाँधी नहीं जा सकती है। साधना थकित, चकित सी मौन फिर मुखर सी प्रतीत होती है, क्योंकि चिन्तनशील ऋषि सदैव नये लोक निरावृत करता रहता है, नई भूमि पर उतरता जाता है। इसी पृष्ठ-भूमि के अन्तर्गत 'यजुर्वेद' भी अपनी भूमिका उपस्थित करता है।

यज्ञों का सुचारू रूप से सम्पादन करने में होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा इन चार ऋत्विजों में से अध्वर्यु के लिये 'यजुः संहिता' का संकलन किया गया था। यज्ञों में अध्वर्यु का कार्य किसी देवता विशेष के मन्त्रों का उच्चारण करते हुए किसी क्रिया विशेष का सम्पादन करना होता है। अतः 'यजुः संहिता' अध्वर्यु का स्तोत्र है। यह वेद दो भागों में विभक्त है। (१) कृष्णा यजुर्वेद और (२) शुक्ल यजुर्वेद कृष्ण यजुर्वेद मे मंत्रों तथा विनियोगों दोनों का सम्मिश्रण है, किन्तु शुक्ल यजुर्वेद में केवल यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र ही संगृहीत हैं।

पातञ्जल 'महाभाष्य' में यजुर्वेद की १०० अथवा १०१ शाखाओं का उल्लेख है, किन्तु 'चरण-व्यूह' में केवल ८६ शाखाओं का विवरण प्राप्त होता है। सामान्य रूप से कृष्ण यजुर्वेद की चार और 'शुक्ल यजुर्वेद' की दो शाखायें ही हैं। कृष्ण यजुर्वेद' से कृष्ण यजुर्वेद की चार और 'शुक्ल यजुर्वेद' की दो शाखायें ही प्राप्त हैं। 'कृष्ण यजुर्वेद' की शाखायें (१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायणी, (३) काठक तथा (४) कठ कापिष्ठल नाम से अभिहित की जाती हैं। इनमें 'तैत्तिरीय' प्रसिद्ध व प्रधान है। इसमें सात खण्ड हैं, जो अष्टकों में विभक्त हैं। प्रत्येक अष्टक में कुछ अध्याय हैं, जिन्हें प्रश्न या प्रपाठक कहते हैं। 'कृष्ण यजुर्वेद' के तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय-आरण्यक, तैत्तिरीयोपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद् तथा कठोपनिषद् प्राप्त हैं।

'शुक्ल यजुर्वेद' की दो शाखायें मिलती हैं। (१) काण्व तथा (२) माध्यन्दिन। माध्यन्दिनं ही इसकी प्रमुख संहिता है, जो "वाजसनेयि संहिता" के नाम से प्रख्यात है। इसकी यही संहिता सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसके 'शतपथ ब्राह्मण' 'बृहदारण्यक' तथा 'ईशोपनिषद्' भी प्राप्त है।

यजुर्वेद के ज्ञान का एकमात्र अध्ययन 'वाजसनेयि संहिता' के साधन से होता है। इसका कारण यह है कि यह संहिता समस्त 'यजुर्वेद' की प्रतिनिधि है। इसमें ४० अध्याय हैं, तथा सम्पूर्ण संहिता यज्ञ सम्बधी क्रियाओं एवं विधियों से परिपूर्ण है। ४० अध्यायों में से प्रथम २५ अध्यायों में आर्यों के महान् यज्ञों का सांगोपांग उल्लेख

है। इस दृष्टि से आदिम २५ अध्याय प्राचीन तथा अन्तिम १५ अध्याय अर्वाचीन माने जाते हैं।

यजुर्वेद का वस्तु विषय

विषय विवेचन की दृष्टि में 'यजुर्वेद के आरम्भ के दो अध्यायों में दर्श तथा 'पौर्णमास' इष्टियों से सम्बद्ध मन्त्रों का तथा तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र' एवं 'चातुर्मास्य' के उपयोगी मन्त्रों का संकलन है। चौथे से आठवें अध्याय तक सोमयज्ञ ,पशुयज्ञ, तथा 'वाजपेय यज्ञ' का विधान है। इनमें अग्निष्टोम' का प्रकृतियाग होने के कारण नितान्त विस्तृत विवरण है। सामयागों में 'वाजपेय' तथा 'राजसूय' यज्ञ अन्यतम है। इन दोनों से सम्बन्धित मन्त्र संहिता के नवम तथा दशम अध्यायों में निर्दिष्ट किये गये हैं। तदनन्तर ११ से १८ अध्याय तक 'अग्निचयन' का वर्णन है और इन्हीं के अन्तर्गत 'शतरुद्रीय' होम १६ वें में तथा 'वसोर्धारा' सम्बन्धी मन्त्र १८ वें में निर्दिष्ट हैं। १९ से २१ वें अध्याय तक 'सौत्रामणी' यज्ञ का विधान है। २२ से २५ वें तक 'अश्वमेध' के विशिष्ट मन्त्रों का और २६ से २९वें तक खिल मन्त्रों का निर्देश है। वैसे तो २०वें से २९वें अध्याय तक खिल मन्त्रों का निर्देश मिलता है, जिनमें पूर्व निर्दिष्ट अनुष्ठानों के विषय में नूतन मन्त्र दिये गये हैं।

३० वें अध्याय में 'पुरुषमेध', ३१वें में प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त', ३२ से ३३वें तक सर्व'मेध' ३४ वे में छः मन्त्रों का 'शिवसंकल्प' सूक्त व 'हिरण्यगर्भ सूक्त के कतिपय मन्त्र तथा ३५वें में पितृमेध' सम्बधी मन्त्रों का संकलन है। तदनन्तर ३६ से ३९ वें अध्याय तक 'प्रवर्ग्य' यागों का विशद वर्णन है। ४०वाँ अध्याय 'ईशावास्योपनिषद्' है, जो अर्वाचीन है। यह अन्त में जोड़ा गया है, इसका प्रमाण यह है कि 'कृष्ण यजुर्वेदसंहिता' के मन्त्र 'वाजसनेयि-संहिता' के पूर्वार्द्ध से ही बहुत कुछ मिलते हैं, उत्तरार्द्ध से नहीं। इस प्रकार यज्ञ की विविध विधियों तथा उनके तत्त्वों का विवेचन करने के लिये ही यजुर्वेद की रचना हुई। यज्ञ ही इसका प्रमुख विषय है। इसमें छोटी-छोटी ऋचायें तथा गद्य के छोटे-छोटे वाक्य हैं।[1]

यजुर्वेद की ऋग्वेद से तुलना

(१) यजुर्वेद संहिता आर्यों के अवान्तर कालीन धार्मिक एवं दार्शनिक विचार-परम्परा के लिये आधार-शिला है, जिस पर उनके कर्मकाण्ड का विशाल भवन खड़ा है और ऋग्वेद भाषा एवं भावों की नितान्त प्राचीनता की दृष्टि से पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दोनों ही मतों से अत्यन्त महनीय है।

(२) ऋग्वेद दो क्रमों में विभक्त है—

(अ) अष्टक क्रम—समस्त ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभक्त है प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय होते हैं। कुल मिलाकर ६४ अध्याय हैं और सामान्यतः पाँच-पाँच ऋचाओं वाले २००६ वर्गों में यह ग्रन्थ पूर्ण होता है।

---

1. The यजुर्वेद also serves a litergical purpose. This eollection was made to meet the demand of ceremonial religion.—Whitney.

(ब) मण्डल क्रम—यह क्रम अत्यन्त वैज्ञानिक तथा उपादेय है। इसके अनुसार इसमें ऐतिहासिक क्रम से दश-मण्डल (दशतयी) ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त, ११ बालखिल्य सूक्त, १०५८०½ ऋचायें, १५३८२६ शब्द तथा ४३२००० अक्षर हैं 'यजुर्वेद संहिता' का विभाजन अध्यायों में प्राप्त होता है। इस वेद के प्राय: समस्त ज्ञान के लिये 'वाजसनेयि संहिता' का विवरण अनुशीलनीय है।

(३) ऋग्वेद में ऋचाओं का संग्रह 'होता' नामक ऋत्विज के प्रयोजन के लिये तथा यजुर्वेद के ४० अध्यायों में यज्ञोपयोगी यजुषों का संग्रह 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विज के लिये मिलता है।

(४) ऋग्वेद की ऋचाएँ, प्रार्थना, स्तुति, आवाहन, अर्पण तथा याज्ञिक विषयों से सम्बन्धित हैं और यजुर्वेद संहिता पूर्णत: यज्ञ-सम्बन्धी क्रियाओं व विधियों से परिपूर्ण है।

(५) ऋग्वेद अपने बाद की समस्त संहिताओं का मूल स्रोत है। यजु:, साम व अथर्व तीनों संहिताएँ इसी पर आश्रित हैं। यजुर्वेद का एक भाग ऋग्वेद से ही लिया गया है और शेष तीन चौथाई भाग स्वतन्त्र है। ऋग्वेद से ली गई ऋचाओं में जो परिवर्तन दिखाई देता है, वह उन्हें यज्ञोपयोगी बनाने के लिये किया गया है। यजुर्वेद में प्राप्त होने वाले यजुष ऋग्वेद की ऋचाओं की अपेक्षा अर्वाचीन है। प्राय: ऋग्वेद के पूरे-पूरे सूक्तों का ज्यों का त्यों यजुर्वेद में नहीं ग्रहण किया गया है, अपितु अधिकांश में कुछ मन्त्रों के चरण मात्र लेकर उन्हें यज्ञीय संस्कारों के अनुकूल बना लिया गया है।

(६) यज्ञ की विधियों तथा उनके तत्त्वों का विवेचन करने के लिये ही यजुर्वेद की रचना हुई है। यज्ञ ही उसका प्रमुख विषय है, जबकि ऋग्वेद के वर्ण्य-विषय में देवताओं का ही वर्णन प्रमुख रूप से पाया जाता है।[1]

(७) ऋग्वेद की ऋचायें पद्यबद्ध हैं, तथा साथ ही साथ संगीतात्मक भी हैं, जबकि यजुर्वेद में छोटी-छोटी ऋचायें तथा गद्य के छोटे-छोटे वाक्य हैं। कहीं-कहीं ये गद्य भी संगीतात्मक एवं काव्यमय हो गये हैं।

(८) यजुर्वेद में ऋग्वेद की भाँति देवताओं को आमन्त्रित करके लम्बी-लम्बी स्तुतियाँ भी की गई हैं। इसमें अरणि से अग्नि-उत्पादन का विधान भी वर्णित है। ऋग्वेद में अग्नि प्रकट करने के प्रकार की तुलना अग्नि की उत्पत्ति के प्रकार से की गई है। कहीं-कहीं अथर्ववेद के समान विघ्नकारियों के लिये अभिशापों का भी उल्लेख पाया जाता है। यजुर्वेद में कुछ प्रहेलिकायें भी प्राप्त होती हैं, जिनमें आध्यात्मिक-प्रहेलिकाओं की प्रमुखता।

---

1. "In the Rigveda we have worship in which the adoration addressed to the Gods forms the chief element while in Yajurveda there are the acts of worship like oblation thrown into fire."

—C. K. Raja

(९) पाश्चात्यों के मत से यजुर्वेद को प्रार्थना के विषय से सम्बद्ध गद्य का एक प्रकार कहते हुए यदि अभिचार मन्त्रों का एक अनुष्ठान कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि यजुर्वेद में भूतापसारण और शाप प्रदान के मन्त्र भी ठीक उसी प्रकार से प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार ऋग्वेद में प्रार्थनाओं के मन्त्र प्राप्त हुए हैं।

(१०) यजुर्वेद के संस्कारों एवं यज्ञों का उद्देश्य देवताओं की पूजा करना मात्र नहीं है। अपितु उन देवताओं पर मन्त्रों द्वारा प्रभाव डालकर यजमानों की इच्छा पूर्ण कराने के लिये उन्हें विवश करना भी है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये उन्हें अनेक नामों से पुकारा भी गया है। यद्यपि ऋग्वेद में देवताओं का उल्लेख विविध प्रकार से हुआ है, पर उस समय की भावना ऐसी न थी। इसी 'बहुनाम प्रणाली' के आधार पर आगे चलकर 'विष्णुसहस्रनाम' आदि की रचना हुई। 'तैत्तिरीय' और 'वाजसनेयि संहिता' में ऐसे कितने ही स्थल हैं, जहाँ देवों को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। 'वाजसनेयि संहिता' के २६वें अध्याय में शत-रुद्रीय-प्रार्थना मिलती है। यजुर्वेद के ये प्रार्थना-मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

(११) ऋग्वेद की ऋचाओं में 'जीवन में सहज उल्लास तथा विश्व के नैतिक दृष्टि से नियन्त्रित होने का विश्वास" भरा है। इसमें इस प्रकार की भावनाओं की प्रधानता है जबकि यजुर्वेद की प्रधान यज्ञ करने व कराने में है। इसे 'पौरोहित्य-विद्या' भी कहते हैं।

(१२) शौनक के अनुसार यजुर्वेद की ८६ शाखायें हैं और पतञ्जलि १०१ शाखायें मानते हैं। यजुर्वेद संहिता के दो भाग हैं—

(अ) कृष्ण यजुर्वेद—जिसकी (१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायणी, (३) काठक तथा (४) कापिष्ठल कठ, ये चार संहितायें प्राप्त है। तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक व कापिष्ठल कठ, ये चार ब्राह्मण, 'तैत्तिरीय' व 'मैत्रायणी' नामक दो आरण्यक तथा 'तैत्तिरीय', मैत्रायणीय', 'महानारायण' 'श्वेताश्वतर' एवं कठोपनिषद्' नामक उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से ही सम्बन्धित है ?

(ब) शुक्ल यजुर्वेद—इसकी दों संहितायें (१) काण्व औ (२) माध्यन्दिन, एक ब्राह्मण-ग्रन्थ 'शतपथब्राह्मण' दो आरण्यक काण्ववृहदारण्यक' तथा माध्यन्दिन वृहदारण्यक' तथा उपनिषद्-ईशोपनिषद्' व 'वृहदारण्यकोपनिषद्' उपलब्ध हैं।

ऋग्वेद की शौनक के अनुसार पाँच शाखायें (१) 'शाकला', (२) 'वाष्कला' (३) 'आश्वलायन' (४) 'शाखायन' तथा (५) 'माण्डूकायन' दो ब्राह्मण ग्रन्थ—'एतरेय' व 'कौषीतकि', दो आरण्यक—ऐतरेतय' व 'कौषीतकि' तथा दो ही उपनिषद्—'ऐतरेय' व 'कौषीतकि' 'उपलब्ध हैं।

(१३) विषय-विवेचन के विचार से भी 'ऋग्वेद' यजुर्वेद से भिन्न है। (यजुर्वेद का विषय-विवेचन "यजुर्वेद का सामान्य परिचय" शीर्षक में दिया जा चुका है, उसे यहाँ संलग्न कर लेना चाहिये) ऋग्वेद के वर्ण्य विषय की प्रथम विशेषता में क्रम में तीन श्रेणियाँ हैं—

(अ) द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक एक ही विशिष्ट कुल के ऋषियों द्वारा परिलक्षित प्रार्थनायें संग्रहीत हैं। गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वशिष्ठ ये ऋषि २ से ७ मंण्डल तक के क्रमशः परिद्रष्टा ऋषि हैं ऋग्वेद का वह भाग वंश-मण्डल अथवा Family Book कहा जाता है और समस्त संहिताओं की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है।

(ब) अष्टम मण्डल काण्वों तथा आङ्गिरसों द्वारा परिदृष्ट माना गया है। इसे 'प्रगाथा मण्डल' भी कहते हैं। नवम मण्डल में उन समस्त सोम (पवमान) सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन कर लिया है, जो इसके पूर्व अष्टम मण्डल तक के ऋषियों द्वारा परिदृष्ट थे।

(स) दशम तथा प्रथम मण्डल सबसे बाद के हैं, क्योंकि वे अपनी संहिता के सभी मण्डलों से परिचित हैं। ऋग्वेद में विवाह सूक्त (सूर्या का विवाह) श्राद्ध सूक्त, दान स्तुति (द० म० का १६६ वां) सम्वाद सूक्त (पुरुरवा व उर्वशी, तथा यमयमी) दार्शनिक सूक्त (नासदीय सूक्त, पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, वाक्सूक्त आदि) प्रधानतया उपलब्ध हैं।

ऋग्वेद में जितने भी मण्डल हैं, वे सब ऋषि, देवता या छन्द की एकता पर आश्रित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यजुर्वेद का विषय-विवेचन ऋग्वेद से पूर्णतया भिन्न है।

(१४) ऋग्वेद की दृष्टि पूर्णतः धार्मिक एवं पारलौकिक है, तो यजुर्वेद का निर्माण मुख्यतया धार्मिक एवं साहित्यिक उद्देश्य से हुआ है। यह संहिता उत्तरकालीन ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की आधारशिला है। इसमें यज्ञ सम्बन्धी आवश्यक उपकरणों का मनोरम संग्रह किया गया है। यजुर्वेद का मुख्य उद्देश्य—'पौरोहित्य' है। इसका विशेष महत्त्वपूर्ण अंश गद्यात्मक है, जो सिद्धान्तों से सम्बद्ध है।

धर्म का इतिहास जानने के लिये यजुर्वेद का अध्ययन परमोपयोगी है। इतना अवश्य है कि इसका कुछ भाग क्लिष्ट एवं अस्पष्ट है, किन्तु यजुर्वेद के अध्ययन के बिना ब्राह्मणों एवं उपनिषदों को समझना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। 'यजुर्वेद संहिता' के बिना हम ब्राह्मण में छिपे हुए दार्शनिक तत्त्व को नहीं समझ सकते और उपनिषदों के ज्ञान के बिना हम भारतीयता का स्वाभिमान नहीं रख सकते।' इस कथन के आधार पर 'यजुर्वेद संहिता' भारतीयों के अवान्तर कालीन धार्मिक एवं दार्शनिक विचार-परम्परा के ज्ञान के लिये आधार-शिला कही जा सकती है और ऋग्वेद का महत्त्व तो वैदिक इतिहास में स्वयं सिद्ध है ही, वह चाहे प्राचीनता के विचार से हो अथवा ज्ञान-गरिमा की विपुलता से, किन्तु वह असन्दिग्ध है।

सामवेद

परिचय और विषय—वैदिक संहिताओं में साम का महत्त्व नितान्त गौरवमय माना जाता है। बृहद्देवता का कथन है कि जो पुरुष साम को जानता है वही वेद के रहस्य को जानता है—"सामानि यो वेत्ति स वेदतत्वम्"। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने भी

सामवेद को अपना रूप बतलाया है—"वेदनां सामवेदोऽस्मि"। 'छान्दोग्य' में उद्गीथ को सम्पूर्ण 'सामवेद' का सार बतलाया गया है। 'ऋग्वेद' तथा 'अथर्ववेद' में भी 'सामवेद' की प्रशस्त प्रशंसा की गई है।

'साम' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया प्राप्त होता है—ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान ही वस्तुतः 'साम' शब्द के वाच्य हैं, परन्तु ऋक् मन्त्रों के लिये भी 'साम' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'साम संहिता' का संकलन् 'उद्गाता' के लिये हुआ है। 'उद्गाता' यज्ञ के समय विविध देवताओं के स्तुतिपरक मन्त्रों की आवश्यकतानुसार विविध स्वरों में गाता है। अतः 'साम' शब्द से उन गानों को समझना चाहिये जो विभिन्न स्वरों में ऋचाओं पर गाये जाते हैं।

सामवेद के दो प्रधान भाग हैं—'आर्चिक' तथा गान'। आर्चिक के भी दो भाग—'पूर्वार्चिक' तथा 'उत्तरार्चिक' हैं। पूर्वार्चिक में ६ प्रपाठक हैं, प्रत्येक प्रपाठक में दो खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एक दशति है जिसमें ऋचायें हैं। 'पूर्वार्चिक' को अग्नि, इन्द्र, पवमान तथा अरण्य सम्बन्धी विषयों के अनुसार चार पर्वों में विभक्त किया गया है। 'पूर्वार्चिक' के मन्त्रों की संख्या ६५० हैं।

'उत्तरार्चिक में ९ प्रपाठक हैं। प्रथम पाँच प्रपाठकों में दो-दो भाग हैं तथा अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन भाग हैं। वह विभाग 'राणायनीय' शाखा के अनुसार है। कौथुम' में इन्हें अध्याय कहा जाता है। 'उत्तरार्चिक' के मन्त्रों की सम्पूर्ण संख्या १२२५ है। इस प्रकार दोनों आर्चिकों की संख्या १८७५ है।

यद्यपि सामवेद की ऋचायें ऋग्वेद से संकलित की गई हैं तथापि कुछ ऋचायें नवीन हैं। 'पूर्वार्चिक' के २६७ मन्त्र 'उत्तरार्चिक' में पुनरुद्धृत किये गये हैं। अतः वस्तुतः 'ऋग्वेद' की १५०४ ऋचाएँ 'सामवेद' में उद्धृत हैं। ९९ ऋचाएँ बिल्कुल नवीन है, अतः बहुत कुछ सम्भव है कि ये ऋचाएँ 'ऋग्वेद' की किसी अप्राप्त शाखा से ली गई हैं।

'सामवेद' की एक सहस्र शाखायें थीं जिसकी पुष्टि पतञ्जलि के "सहस्रवर्त्मा सामवेदः' वाले कथन से होती है। 'सामवेद' के गान-प्रधान होने के कारण संगीत की विपुलता तथा सूक्ष्मता की दृष्टि से यह संख्या कल्पित नहीं प्रतीत होती है। 'चरण-व्यूह' तथा 'जैमिनीय' गृह्य सूत्रों के अनुसार 'सामवेद' की १३ शाखाओं के नाम मिलते हैं। इन १३ आचार्यों में से आजकल केवल ३ आचार्यों की ही शाखायें प्राप्त होती हैं—

(१) कौथुमीय, (२) राणायनीय और (३) जैमिनीय। कौथुम तथा राणायनीय शाखा के मन्त्रो की संख्या लगभग बराबर है। यह संख्या क्रमशः १८६९ तथा १८७५ है। इन दोनों में केवल उच्चारण में कहीं-कहीं भिन्नता है। जैमिनीय शाखा में १६८७ मन्त्र हैं।

'चरणव्यूह' के अनुसार 'सामवेद' के समग्र सामों की संख्या आठ सहस्र तथा गायनों की संख्या चौदह सहस्र आठ सौ बीस है।

'सामवेद' के ९ ब्राह्मण—(१) ताण्ड्य, (२) षड्विंश, (३) सामविधान, (४) आर्षेय, (५) दैवत, (६) मन्त्र (उपनिषद्) ब्राह्मण (७) संहितोपनिषद्, (८) वंश तथा (९) जैमिनीय उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'सामवेद' के साथ दो आरण्यक भी सम्बद्ध हैं जो 'छान्दोग्य' तथा 'जैमिनीय' नाम से अभिहित किये जाते हैं। इसके तीन उपनिषद् भी उपलब्ध हैं जिनके नाम क्रमशः छान्दोग्य केन तथा जैमिनीय हैं। सामवेद के सात सूत्र-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। कौथुम संहिता के (१) मशक कल्पसूत्र, (२) लाटयायन श्रौतसूत्र तथा (३) गोभिल गृह्यसूत्र। राणायनीय संहिता के—(१) 'द्राह्यायण श्रौतसूत्र' और (२) 'खादिर गृह्यसूत्र' तथा जैमिनीय संहिता के—(१) जैमिनीय श्रौतसूत्र' एवं (१) जैमिनीय गृह्यसूत्र'। इस प्रकार कुल ७ कल्पसूत्र सामवेद सम्बन्धी प्राप्त हैं।

'सामवेद' में आर्चिकों के अतिरिक्त दूसरा प्रधान भाग गानों का है। सामवेद में (१) वेयगान, (२) अरण्यगान, (३) ऊहगान तथा (४) ऊह्य गानों का समावेश परिलक्षित होता है। सामवेद की समस्त ऋचायें छन्द, छन्दसी या छन्दसिका कहलाती हैं। सामगान के पञ्चभाग होते हैं—(१) प्रस्ताव को प्रस्तोता नामक ऋत्विज गाता है, (२) उद्गद्गीथ को उद्गाता, (३) प्रतिहार को प्रतिहर्ता, (४) उपद्रव को भी उद्गातातथा (५) निधन को प्रस्तोता, उद्गाता तथा प्रतिहर्ता दो ऋत्विज एक साथ मिल कर गाते हैं।

ऋग्वेद के साथ तुलना—वैदिक ऋषि अपने मनोभिलषित भावों को थोडे से ही सुबोध शब्दों में प्रकट करने में समर्थ हैं। परस्पर दो अभिनव वृत्तियों वाले तत्त्वों के उदित होने पर तुलनात्मक जिज्ञासा की जागृति होना स्वाभाविक है। आलोचक का साधारण मापदण्ड उसकी ऊँचाई एवं गहराई की माप कर सकने में समर्थ नहीं है। एक तत्त्व को उच्च तथा दूसरे को निम्न कोटि का सिद्ध कर देना उसकी मनोवृत्ति है। इस दृष्टि से हम 'सामवेद' तथा 'ऋग्वेद' के सूक्ष्म तत्त्वों का उद्घाटन साथ ही उनकी परस्पर तुलना करके अन्तर और समानता प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकते हैं।

वस्तु एवं विषय की दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सामवेद' तथा 'ऋग्वेद' में परस्पर साम्य होते हुये भी पर्याप्त अन्तर है। 'ऋग्वेद 'तात्विक दृष्टि से पूर्णतया पारलौकिक है। ऋग्वेदिक आर्य जाति का चिर प्राचीन स्मारक है जो अपनी श्रेष्ठता के कारण विश्व की अमूल्य निधि है तथा जिसमें प्राचीन आर्य सभ्यता का समूचा रूप निखर उठा है। भारतीय वैदिक के चार समुज्ज्वल रत्नों में से 'ऋग्वेद' को सभी विद्वान् श्रेष्ठतम स्वीकार करते हैं। कवित्वमय स्तोत्र संग्रह रूप 'ऋग्वेद' धार्मिक स्तोत्रों की एक विशाल राशि है, जिसमें विविध देवताओं की विभिन्न ऋषियों ने सुन्दर भावाभिव्यञ्जक शब्दों में स्तुतियाँ की हैं, जो अपनी अभीष्ट की सिद्धि के लिये की है। 'ऋग्वेद' का मुख्य विभाजन मण्डल, अनुवाक्, सूक्तों तथा मन्त्रों द्वारा हुआ है। इसके १० मण्डलों में से प्रत्येक में कई अनुवाक

हैं, प्रत्येक अनुवाक् में कई सूक्त हैं और प्रत्येक सूक्त में कई मन्त्र हैं। द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक 'वंश मण्डल' कहलाते हैं। प्रत्येक मण्डल एक ही ऋषि या एक ही वंश द्वारा परिदृष्ट या परिलक्षित है। इसका संकलन 'होता' ऋत्विक के लिये हुआ है। ऋग्वेद ही सबसे अधिक प्राचीन है क्योंकि अन्य सभी संहिताओं में इसके मन्त्र प्राप्त होते हैं।

शौनक रचित 'चरणव्यूह' में ऋग्वेद की ५ शाखाओं का उल्लेख मिलता है जिनके नाम क्रमशः (१) शाकल (२) वाष्कल (३) आश्वालायन (४) शांखायन तथा (५) मण्डूकायन हैं किन्तु आज केवल शाकल शाखा ही उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त दो ब्राह्मण—(१) ऐतरेय एवं (२) कौषीतकि, दो आरण्यक—(१) ऐतरेय एवं (२) शांखायन या कौषीतकि तथा दो उपनिषद् (१) ऐतरेय एवं (२) कौषीतकि हैं।

इसके विपरीत 'सामवेद' का विषय 'ऋग्वेद' से पूर्णतया भिन्न है। इसकी केवल ७५ ऋचायें ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं, अन्य सभी ऋग्वेद से उद्धृत की गई हैं। संक्षेप में तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से हमें ऋग्वेद एवं सामवेद में निम्न प्रमुख तथ्य उपलब्ध होते है :

(१) ऋग्वेद की दृष्टि पूर्णतया धार्मिक एवं पारलौकिक स्वरूप में अनुप्राणित है। जबकि सामवेद तक विकास होते-होते, दृष्टि लौकिकता की सीमा को प्राप्त हो गई है। दिव्यगान लौकिक स्वरों से मुखरित हो उठे हैं।

(२) ऋग्वेद का संकलन 'होता' ऋत्विक् के लिये हुआ है जिसका कार्य विविध मन्त्रों के साथ देवता का आवाहन करना होता है। इसके विपरीत सामवेद का संकलन उद्गाता ऋत्विक् के लिये हुआ है, जो विविध देवतापरक मन्त्र को विविध स्वरों में गाता है।

(३) सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सामवेद पूर्णतया ऋग्वेद पर ही आश्रित है। उसीकी ललित ऋचाएँ संगीत की योजना करके सामवेद में संगृहीत की गई हैं। केवल ७५ ऋचाएँ उसकी अपनी स्वतन्त्र हैं।

(४) ऋग्वेद में देवताओं की धार्मिक स्तुतियाँ हैं, किन्तु सामवेद में वेयगान, आरण्यगान, ऊहगान और ऊह्यगान सभी सामगान पर ही आश्रित हैं।

(५) विभाजन की दृष्टि से ऋग्वेद में अष्टक, अध्याय, वर्ग, ऋचाएँ अथवा मण्डल, अनुवाक्, सूक्त तथा ऋचाएँ प्राप्य हैं किन्तु सामवेद का विभाजन पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, प्रपाठक व अध्याय के रूप में हुआ है।

(२) ऋग्वेद पूर्णतया आध्यात्मिक तत्त्वों पर आधारित है किन्तु सामवेद गानपद्धति पर अवलम्बित है। संगीत का मूल उद्गम सामवेद से ही हुआ है।

संक्षेप में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए यह हम स्पष्ट कह सकते हैं कि वैदिक ऋषि की विचारधारा सदा अभिनव तत्त्व के अन्वेषण में संलग्न रही है। अतः स्पष्ट है कि उसके द्वारा विरचित दो तत्त्वों का सार कभी एकरूपता से नहीं व्यवस्थित हो

सकता है। उसमें अवश्य अन्तर रहता है। वैदिक ऋषि सदैव ज्ञानरूपी अग्नि की उपासना करते हैं। अतएव उनकी ज्ञानरूपी दृष्टि भी सर्वथा भिन्न तत्त्वों को प्रतिपादित करती रही है। सार यह है कि 'ऋग्वेद' एवं 'सामवेद' दोनों में परस्पर साम्य होते हुए भी वैषम्य है क्योंकि वैदिक-वाङ्मय के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने केवल 'ऋग्वेद' को परिलक्षित करके ही परमतत्त्व की उपलब्धि का साधन नहीं समझा, केवल देवताओं की स्तुतियों तक उनकी क्रियात्मकता सीमित न रह सकी; अपितु उनकी अद्वितीय प्रतिभा का शनैः-शनैः अप्रतिहत गति से विकास होता गया। ज्ञान के क्षेत्र में सर्वथा अग्रणी होकर अपनी सूक्ष्म प्रातिभ दृष्टि के बल पर 'सामवेद' का भी उद्घाटन किया। वस्तु एवं विषय की दृष्टि से दोनों की विचारधाराएँ भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिपादित हुई हैं। तात्त्विक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने के उपरान्त उनके मूल-तत्त्व भी सर्वथा अभिनव शैली पर आधारित प्रतीत होते हैं। अतएव दोनों की तुलना करने पर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि अपने-अपने क्षेत्र में 'सामवेद' एवं 'ऋग्वेद' दोनों ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अथर्ववेद

रचना-क्रम—वैदिक संहिताओं में 'अथर्ववेद का स्थान अत्यन्त वैशिष्ट्यपूर्ण है। यज्ञ के पूर्ण निष्पादन के निमित्त जिन चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है उनमें से अन्यतम ऋत्विज् 'ब्रह्मा' है जिनका सम्बन्ध इसी वेद से है। यज्ञ के सर्वाङ्गीण संस्कार के लिये 'अथर्ववेद' की रचना हुई है। 'गोपथ ब्राह्मण' के अनुसार तीनों वेदों के द्वारा यज्ञ के केवल एक पक्ष का ही संस्कार होता है। ब्रह्मा मन के द्वारा द्वितीय पक्ष का संस्कार करता है। पुरोहित के लिये 'अथर्ववेद' का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि वह राजा के शान्ति एवं पौष्टिक कार्यों का सम्पादन 'अथर्ववेद' के द्वारा ही करता है। इस प्रकार ऐहिक तथा आयुष्मिक दोनों विषयों का प्रतिपादन अथर्ववेद के द्वारा होता है।

'अथर्ववेद' का अर्थ है अथर्वों का वेद अथवा अभिचार मन्त्रों का ज्ञान (The knowledge of magic formulas)। 'अथर्ववेद' के चार प्रमुख नाम अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अंगिरोवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद उपलब्ध होते हैं। इनमें सबसे प्राचीन नाम 'अथर्वाङ्गिरस' है। क्योंकि इस वेद के अधिकतर मन्त्र अथर्वन् तथा अङ्गिरस ऋषियों द्वारा देखे गये थे। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अथर्वन् में रोगनाशक मन्त्र हैं तथा अङ्गिरस् में अभिचार-मरण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण से सम्बन्धित मन्त्र हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में 'अथर्ववेद' की ९ शाखाओं का उल्लेख किया है (नवधाथर्वणो वेदः) जिनमें केवल दो शाखायें ही उपलब्ध हैं—शौनक एवं पैप्पलाद। अथर्ववेद में २० काण्ड, ७३१ सूक्त तथा ५९८७ मन्त्रों का संग्रह है। 'अथर्ववेद' का एक पञ्चमांश लगभग १२०० मन्त्र "ऋग्वेद' के हैं, जो विशेषतः 'ऋग्वेद' के प्रथम, अष्टम तथा दशम मण्डलों से उद्धृत हैं।

'अथर्ववेद' की शौनक तथा पैप्पलाद शाखाओं में से शौनक शाखा का 'गोपथ ब्राह्मण' है। इसका कोई आरण्यक प्राप्त नहीं है। उपनिषदों में अवश्य 'मुण्डक, 'माण्डूक्य' तथा अनेक पिछले उपनिषद् उपलब्ध हैं। पैप्पलाद-शाखा के ब्राह्मण तथा आरण्यक प्राप्त नहीं हैं। 'प्रश्नोपनिषद' अवश्य इसी शाखा से सम्बद्ध है जो प्राप्त नहीं है

विषय-विवेचन—'अथर्ववेद' का विभाजन तीन प्रकरणों में किया जा सकता है—(१) अध्यात्म, (२) अधिभूत तथा (३) अधिदैवत। अध्यात्म प्रकरण में ब्रह्म वर्णन, चतुराश्रम एवं वर्णों का विवेचन किया गया है। अधिभूत प्रकरण में राजा राज्य शासन, संग्राम, शत्रुवाहन आदि विषय आते हैं। अधिदैवत प्रकरण में नाना देवता, यज्ञ तथा काल से सम्बन्धित विषय सामग्री है। इन तीनों प्रकरणों में निम्न लौकिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है :

(१) भैषज्य सूक्त—इन सूक्तों के अन्तर्गत रोगों की चिकित्सा सम्बन्धी मन्त्र, रोगों के लक्षण तथा उनसे उत्पन्न शारीरिक विकारों का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

(२) आयुष्य सूक्त—इनमें स्वास्थ्य एवं दीर्घ जीवन सम्बन्धी प्रार्थनायें हैं। इन मन्त्रों का प्रयोग विशेषतः पारिवारिक उत्सवों में किया जाता है।

(३) पौष्टिक सूक्त—इनमें कृषक, व्यापारी, गडरिये आदि अपनी-अपनी समृद्धि के लिये प्रार्थनायें करते हैं। इन सूक्तों में मकान बनाने के लिये, खेत जोतने और बोने आदि के लिए आशीर्वादपरक मन्त्र हैं।

(४) प्रायश्चित सूक्त—इन सूक्तों में प्रायश्चित-विधान तथा विभिन्न प्रकार के अपराधों के निवारक मन्त्र हैं।

(५) स्त्रीकर्म सम्बन्धी सूक्त—इनमें विवाह एवं प्रेम का निर्देश करने वाले पति-पत्नि में प्रेम उत्पन्न करने वाली प्रार्थनाएँ हैं। गर्भिणी, भ्रूण, नवजात की रक्षार्थ भव्य प्रार्थनाएँ हैं।

(६) राजकर्म सम्बन्धी सूक्त—इन सूक्तों में तत्कालीन राजनैतिक दशा का वर्णन प्राप्त होता है। शत्रुओं को परास्त करने की प्रार्थना, संग्राम तथा उपयोगी साधनों की दृष्टि से अथर्ववेद महत्त्वपूर्ण है।

(७) भूमि सूक्त—इस सूक्त (१२वें काण्ड के प्रथम सूक्त) के ६३ मन्त्रों में मातृ-रूपिणी भूमि की समस्त पदार्थों की जननी तथा पोषिका के रूप में महिमा उद्घोषित की गई है।

(८) याज्ञिक सूक्त—'अथर्ववेद' के अन्तिम भाग में कुछ यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र भी हैं, जिनमें 'ऋग्वेद' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(९) कुन्ताप सूक्त—अथर्ववेद में २०वें काण्ड में कुन्ताप सूक्त हैं। जिनमें यज्ञ सम्बन्धी दान-स्तुति, राजकुमारों के औदार्य की प्रशंसा, पहेलियाँ तथा उनके समाधान हैं।

(१०) दार्शनिक सूक्त—इन सूक्तों में ईश्वर की अद्वैत सत्ता, दार्शनिक शब्द

ब्रह्म, तप, सत्, असत् आदि का वर्णन है । कुछ विद्वान् उन्हें दार्शनिक न कहकर रहस्यवादी सूक्त भी कहते हैं, क्योंकि अथर्व दार्शनिक विचारों का उद्भावक न होकर उपभोक्ता हैं ।

इनके अतिरिक्त अनेक स्फुट विषयों के प्रतिपादक सूक्त भी हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि इस संहिता में लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार की सामग्री का विवेचन किया गया है ।

ऋग्वेद के साथ तुलना

मन्त्रकालीन उस प्रथम उषा से आरम्भ करके उपनिषदों की निशामुखी लालिमा में निलीयमान जिस महायुग को हम वैदिक वाङ्मय से मण्डित पाते हैं उसमें 'ऋग्वेद' एवं 'अथर्ववेद' दोनों सीमाओं के निदर्शक होने से अपना विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । एक अपनी प्राचीनता[1] में अद्वितीय है, अपनी नैसर्गिकता का परिचायक है तो दूसरा अपेक्षाकृत अर्वाचीन होने से ही एक प्रौढ़ व्यवस्थित एवं सुगठित समाज का विधायक प्रतीत होता है । 'ऋग्वेद' के मन्त्रद्रष्टा सरस्वती नदी के तटवासी थे तो 'अथर्ववेद' के ऋषि गङ्गा के किनारे निवास करते थे ।

उक्त दोनों वेदों के तुलनात्मक अध्ययन में विवेचना की सीमाएँ एवं धाराएँ निर्धारित करना आवश्यक है । इस प्रकार 'अथर्ववेद' एवं 'ऋग्वेद' का विहंगावलोकन करने के लिये निम्न अध्ययन धाराओं का अनुशीलन करना अभीष्ट हैं—

(१) कालक्रम, (२) विन्यास-क्रम, (३) विषय-विवचन

वैदिक साहित्य का आदि स्रोत 'ऋग्वेद' अपनी महनीयता का परिचायक वर्णन है । सर्वप्रथम 'वेद' नाम की एक राशि का उल्लेख मिलता था जिसकी वर्णन शैली में मन्त्र हैं—इन मन्त्रों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है ऋक्, यजुस् और साम, जिनसे क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद की व्यवस्था की गई । ऋग्वेद इनमें भी प्राचीनतम है । किसी भी ग्रन्थ अथवा साहित्य का आरम्भिक भाग विभिन्न देवताओं की स्तुतियों एवं मङ्गल वचनों से युक्त होता है । इस दृष्टि से ऋग्वेद केवल स्तुतिपरक मन्त्रों का ही संग्रह है ।

इसके विपरीत अथर्ववेद की प्राचीनता का अनुमान इससे सहज ही लग जाता है कि ऋक्, यजु एवं साम की रचना हो जाने के अनन्तर इसके मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन विषयक मन्त्रों का संगृहीत किया गया और अथर्वन् तथा अङ्गिरस् द्वारा दृष्ट होने के कारण अथर्ववेद नाम की एक अन्य संहिता का प्रादुर्भाव हुआ । संहिताओं के निर्माण काल में मैक्समूलर के अनुसार यदि दो-दो सौ वर्षों का

---

1. "Rigveda is the oldest book in existence."—(Macdonell)

"Rigveda is the pretty vast collection of hymns as its name signifies which presents an evidence of exalted and comprehensive morality." —(Dr R. C. Mazumdar in Ancient India)

भी अन्तर माना जाये तो अथर्ववेद ऋग्वेद से कम से कम छह सौ वर्षों के बाद का होगा।

वस्तु विन्यास—

विन्यास-क्रम के अन्तर्गत उन स्थलों पर विशेष बल दिया जाता है जिससे अध्ययन में सुविधा की वृद्धि हो, इस प्रकार ऋग्वेद का विभाजन वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोणों से दो प्रकार से हुआ है :—

(१) अष्टक-क्रम तथा (२) मण्डल क्रम।

प्रथम के अनुसार समग्र ऋग्वेद आठ अष्टकों और चौसठ अध्यायों में विभक्त है। दूसरे विभाजन के अनुसार ऋग्वेद को दस मण्डलों, पचासी अनुवाकों, १०२८ सूक्तों तथा १०५८०½ऋचाओं में विभक्त किया जाता है।

'अथर्ववेद' का अध्ययन सुलभ बनाने के लिये उसका विभाजन २० काण्डों में हुआ है, जिसके अनुसार समस्त अथर्ववेद में कुल २० काण्ड ४३१ सूक्त तथा ५३८७ मन्त्र हैं।

इस प्रकार परिमाण में 'ऋग्वेद' अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है। इसके अतिरिक्त 'अथर्ववेद' का लगभग पञ्चमांश तो 'ऋग्वेद' से ही उद्धृत है, अतः आकार की दृष्टि से ऋग्वेद' अथर्ववेद से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

शाखाएँ—शौनक के 'चरणव्यूह' में ऋग्वेद की पाँच तथा महाभाष्य में २१ शाखाओं का उल्लेख है किन्तु प्रामाणिक—शाकल, बाष्कल आश्वलायन शांख्यायन तथा माण्डूकायन ये पाँच शाखायें ही हैं।

अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख पतञ्जलि ने किया—(१) पिप्पलाद, (२) शौनकीय, (३) स्तौद या तौद, (४) मौद, (५) जाजल, (६) जलद, (७) ब्रह्मवद, (८) देवदर्श, (९) चारणवैद्य।

विषय-विवेचन—साहित्य की दृष्टि से 'अथर्ववेद' 'ऋग्वेद' का पूरक माना जा सकता है। 'ऋग्वेद' को प्राचीन काव्य का निदर्शन मानना एक स्वतः सिद्ध सत्य है परन्तु वह गौरव 'अथर्ववेद' को भी प्रदान करना चाहिये। 'ऋग्वेद' अधिकांश में आधिदैविक तथा अध्यात्मक मन्त्रों का एक चारु समुच्चय है तो 'अथर्ववेद' आध्यात्मिक तथा आधिदैविक के-साथ आधिभौतिक विषयों पर ग्रथित सिद्ध मनोभावों का एक प्रशंसनीय संग्रह है। साहित्यिक दृष्टि से दोनों में उदात्त भावनाओं से मण्डित तथा मानव हृदय को स्पर्श करने वाले भाव और विचार निहित हैं। ऋग्वेद' आयुष्मिक फल देने वाला है तो 'अथर्ववेद' ऐहिक फल का प्रदाता भी हैं।

'अथर्ववेद' के विचारों का धरातल सामान्य जीवन है तो ऋग्वेद' का विशिष्ट-जनजीवन। होता, अध्वर्यु और उद्गाता मिलकर यज्ञ के केवल एक पक्ष का संस्कार करते हैं जबकि ब्रह्मा मन के द्वारा यज्ञ के दूसरे पक्ष का संस्कार करता है। यज्ञ के दो मार्ग हैं—वाक् और मन।

सृष्टि के आदि में मानव-आवश्यकतायें अत्यन्त सीमित थीं एवं हृदय सदैव

किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत निश्छल, नैसर्गिक संतोष का अनुभव करता था, 'अथर्ववेद तक आते-आते मनुष्य अपने स्वार्थों के प्रति जागृत हुआ।

'ऋग्वेद' की भाँति अथर्ववेदीय समाज बिना किसी स्वार्थ पूर्ति के यज्ञ अथवा स्तुतियाँ नहीं करता था, यज्ञीय कर्मकाण्ड अब याज्ञिक व्यापार का रूप लेने लगा था। 'अथर्ववेद' में अथर्वन् मन्त्रों में रोग एवं रोगनाशक मन्त्र हैं तथा अङ्गिरस मन्त्रों में पीडानाशक तथा राज्यप्राप्ति-परक मन्त्र पाए जाते हैं।

'ऋग्वेद' एवं 'अथर्ववेद' के अन्तर को समझने के लिये हमें उसके विषय के विवेचन की दो धारायें दिखाई देती हैं—

(१) ऐतिहासिक विषय विवेचन।

(२) साहित्यिक विषय विवेचन।

ऐतिहासिक विषय के अन्तर्गत दोनों युगों की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का विवेचन करना आवश्यक है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'अथर्ववेद' को 'ऋग्वेद की' अपेक्षा अधिक समृद्ध एवं सुव्यवस्थित माना जायेगा।

मानव की पीढ़ियों, प्रपीढ़ियों में सुधार एवं सुव्यवस्था बढ़ती गयी। जहाँ बिना किसी नियम, शासन एवं व्यवस्था के नैसर्गिक ढंग से प्रजा का पालन होता था वहाँ अब काल की प्रौढ़ गति ने उसे अनुभव से नियन्त्रण योग्य बना दिया। अथर्ववेद युग राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक ढंग से समृद्ध हो गया था। ऋग्वेद काल की यव की रोटी तथा सोम से ही वैदिक आर्य सन्तुष्ट न हो पाता वह 'अथर्ववेद' में उल्लिखित भाँति-भाँति के व्यञ्जनों का उपभोग करता था। इसके विपरीत 'ऋग्वेद' ऋचाओं में आर्य जाति की जिस मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है उसकी दो प्रमुख विशेषतायें थीं—

(१) जीवन में सहज उल्लास की भावना।

(२) विश्व के नैतिक दृष्टि से नियन्त्रित होने का विश्वास।

साहित्यिक विवेचन में उन सभी विषयों की तुलना करनी होगी जिनके द्वारा उसकी वस्तु पर प्रकाश पड़ता हो।

ऋग्वेद के दस मण्डलों में द्वितीय से लेकर सप्तम मण्डल तक तो षट्ऋषियों तथा उनके वंशजों की विविध देवताओं के प्रति गीयमान स्तुतियों का संकलन हुआ है—जिसमें इन्द्र, अग्नि, सूर्य, विष्णु, वरुण आदि प्रमुख हैं। आठवें मण्डल में कण्व ऋषि द्वारा परिदृष्ट मन्त्रों का संग्रह है तथा नवम मण्डल में सोम या पवमान सम्बन्धी मन्त्रों को एकत्र किया गया है। प्रथम और दशम मण्डल सर्वाधिक अर्वाचीन हैं तथापि अथर्ववेद अथवा अन्य वेदों से पहले के हैं उनमें विविध लौकिक तथा दार्शनिक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। विषय की दृष्टि से इनमें स्तुतिपरक मन्त्रों, दानस्तुति, द्यूतक्रीड़ा, श्राद्ध तथा विवाहसूक्त, दार्शनिकसूक्त संवाद-सूक्त, आदि का प्राधान्य है। संवाद-सूक्तों में यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी तथा सरमापणि संवाद अधिक

रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार अन्य सूक्तों में भी दान की महिमा, द्यूत से हानि, विवाह एवं अन्त्येष्टि संस्कार के विषय में पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है। दार्शनिक सूक्तों में सृष्टि विषयक विचार किया है। कतिपय सूक्तों में विविध लौकिक विषयों का उद्घाटन हुआ है। ऋग्वेद के सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सौन्दर्य-अभिधायक वे मन्त्र हैं जिनमें प्रकृति के विविध रूपों का साक्षात्कार हुआ है। इसमें सूर्य-सूक्त, उषस् के प्रति गीयमान स्तुतियों में तथा पर्जन्य आदि सूक्तों में अत्यन्त रूपवती प्रकृति के सौन्दर्य का बोध हुआ है। इस प्रकार ऋग्वेद के अधिकांश देवता प्राकृतिक शक्तियों में चेतना के आरोप द्वारा उद्भूत हुए दिखाई देते हैं।

उक्त सभी विषय सुन्दर छन्दोमयी वाणी में इस तरह अभिहित हुए हैं जो सहज ही मानव हृदय को आकृष्ट कर लेते हैं।

अथर्ववेद के भी काण्डों में से प्रथम, अष्टम एवं दशम काण्डों में तो ऋग्वेद से उद्धृत मन्त्र ही हैं तथा अन्य काण्डों में वर्णित विषय अन्य वेदों की अपेक्षा नितान्त विलक्षण हैं। इसमें वर्णित विषयों का विभाजन इस प्रकार से किया जाता है—

(१) प्रकरण, (२) अधिभूत एवं (६) अधिदैवत।

अध्यात्म प्रकरण में ब्रह्म (परमात्मा) के वर्णन के अन्तर्गत चारों आश्रमों का भी पर्याप्त निर्देश है। अधिभूत प्रकरण में राजा, राज्यशासन, संग्राम, शत्रुवाहन आदि विषयों का वर्णन प्रस्तुत किया गया। अधिदैवत प्रकरण में नाना देवता, यज्ञ तथा काल के विषय में पर्याप्त ज्ञातव्य सामग्री है। इस प्रकार तीनों प्रकरणों अथवा समग्र अथर्ववेद में भैषज्यकर्मसूक्त, आयुष्यसूक्त, पौष्टकसूक्त, प्रायश्चित्तसूक्त। स्त्री-कर्म सम्बन्धी तथा राजकर्मा सम्बन्धी सूक्तों में विभिन्न लौकिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इसके अतिरिक्त भूमिसूक्त में भूमि को माता मानकर उसके प्रति स्तुति की गई है। इन सूक्तों में संकलित मन्त्रों में शत्रुओं पर विजय पाने के लिये तथा क्लेशदायी दीर्घ रोग निवारण के लिये, नाना अभिचारों का विभिन्न वर्णन मिलता हैं जो अथर्ववेद का मानवशास्त्र के अभ्यासियों के निमित्त एक बहुमूल्य विश्वकोष सिद्ध करता है। जादू टोने का विचार अथर्वयुग की विशिष्ट देन है। शोभन और अशोभन इन दोनों प्रकार के जादुओं का उत्कृष्ट प्रयोग मानव संस्कृति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना है।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'ऋग्वेद' एव 'अथर्ववेद' में यद्यपि कुछ समानतायें हैं तथापि पर्याप्त अन्तर हैं।

वे दोनों एक-दूसरे के पूरक माने जा सकते हैं। वैदिक वाङ्मय के अरुणोदय में प्रतिभा-सम्पन्न एवं समस्त जगत् को प्रकाशित करने वाले सूर्यरूप ऋग्वेद के समक्ष अथर्ववेद रात्रि के तम का विच्छेदक शीतल ज्योत्स्ना वाला चन्द्र प्रतीत होता है। इससे उसका महत्त्व घटता नहीं है। यजुर्वेदीय यज्ञीय कर्मकाण्डों से अभिभूत प्रजा को निश्चय ही अल्पसाधन से मनोरथसिद्धि की अपेक्षा थी। फलस्वरूप जादू टोनों के मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन आदि के मन्त्रों से वे अपने कार्य

की सिद्धि करने लगे। यहीं तन्त्रों का उदय हुआ और वैदिक ज्योतिषियों की अपेक्षा तन्त्र-शास्त्रियों का महत्त्व बढ़ गया। दोनों अपने-अपने स्थानों में महत्त्वपूर्ण हैं चाहे उनमें समानता हो अथवा विषमता।

संक्षेप में ऋग्वेद' एवं 'अथर्ववेद' की तुलना में इतना ही कहा जा सकता है कि 'ऋग्वेद में दिव्य भावना की प्रधानता है तो अथर्ववेद में भौतिकता की प्रधानता है। अथर्व युग तक आते-आते आर्यमनोवृत्ति में संकीर्णरूप में व्यावहारिक तथा उपयोगितावादी बन गई थी।

Prof. S. N. Das Gupta के शब्दों में—

"Atharvaveda is a historical collection of independent contents. A different spirit pervades this Veda, While Rigveda is the pretty vast collection of hymns which is surcharged with the impression of nature in its beautiful tender, terrifie and temptuous aspects produced upon the extremely sensitive minds of Indian people.

From—(An Introduction to Indian Philosophy)

ऋग्वेद के 'ऐतरेय' तथा 'कौषीतकि' ब्राह्मण, 'ऐतरेय' तथा 'शांख्यायन' आरण्यक और ऐतरेय, 'कौषीतकि' तथा वाष्कल मन्त्रोपनिषद्' उपलब्ध हैं जबकि अथर्ववेद की पैप्पलाद और शौनक शाखाओं में से शौनक शाखा का 'गोपथ ब्राह्मण' है। इसका कोई आरण्यक प्राप्त नहीं है शौनक शाखा से ही सम्बद्ध 'मुण्डकोपनिषद्, 'माण्डूक्योपनिषद्' तथा अनेक पिछले उपनिषद् उपलब्ध होते हैं। पैप्पलाद शाखा की संहिता तो पूर्णतः उपलब्ध है किन्तु इसके ब्राह्मण तथा आरण्यक प्राप्त नहीं हैं। 'प्रश्नोपनिषद्' अवश्य इसी शाखा से सम्बद्ध है जो प्राप्त भी है।

पूर्व-वैदिक युगीन संस्कृति

'ऋग्वेद' आर्य-जाति का सर्वप्राचीन स्मारक है जिसमें हमको आर्य-जाति का पूर्ण चित्र प्राप्त होता है। वैदिकयुग की संस्कृति एवं सभ्यता 'ऋग्वेद' की ऋचाओं में मूर्त हो उठी है। वैदिक साहित्य में ऋक् का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'ऋग्वेद' की संस्कृति उस सम्पूर्ण वैदिक युग की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है जो पूर्व-वैदिक युग कहलाता था। उत्तर वैदिक युग की संस्कृति विकास के कुछ पृथक् तत्त्व भी रखती थी। पूर्व-वैदिक युग की सभ्यता पूर्णतः आध्यात्मिक आधार पर आश्रित थी।

विद्वानों की धारणा है कि ऋग्वेद में भारतीय संस्कृति का विकसित रूप प्राप्त होता है। व्यवस्थित समाज का चित्र ऋग्वेद में स्पष्टतः चित्रित है, यह स्वरूप बहुत लम्बे समय तक प्रचलित रहा और सामान्यतः उस युग को ऋग्वेदकालीन समाज के नाम से अभिहित किया जाता है।

संस्कृति का विस्तार—ऋग्वैदिक संस्कृति तथा सभ्यता भारत के एक विस्तृत भू-भाग पर फैली हुई थी। कुभा, क्रमु, गोमती, सुवास्तु नदियों का प्रदेश, पञ्चनद

प्रदेश, सरस्वती और दृषद्वती का ब्रह्मावर्त प्रदेश, यमुना गङ्गा का प्रदेश—ये सब उस संस्कृति से ही व्याप्त थे। इसमें आर्यों के कई समुदाय रहते थे। इनमें गान्धार, मुञ्जावत, अनुदुहा, तुर्वस पुरु, भरत और कुरु-पाञ्चाल प्रमुख थे।

ऋग्वेदकाल में सामाजिक जीवन—ऋग्वैदिक समाज विश्व की समस्त जातियों से अधिक समृद्ध, उन्नत और पूर्ण था। सामाजिक जीवन पितृ-प्रधान परिवार पर आधारित था। परिवार का नेता पिता और उसके न होने पर ज्येष्ठ पुत्र होता था। ऋग्वेद का शुनःशेप का आख्यान इसका प्रमाण है। पारिवारिक अनुशासन कड़ा था। पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र था। गोद लेने की भी प्रथा थी, पर हेय समझी जाती थी। पुत्र न होने पर उत्तराधिकारिणी लड़की होती थी।

वर्ण-व्यवस्था—ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरुष-सूक्त के दसवें मन्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति का वर्णन है। आधुनिक विद्वान् इस मंडल को अर्वाचीन मानते हैं। ऋग्वेद में जाति-प्रथा एक विवाद का विषय है पर यह निश्चित है कि उत्तर वैदिक युग में जाति-प्रथा पूर्ण विकसित और दृढ़ हुई।

डॉ० हाग आदि पाश्चात्य विद्वान् जाति-प्रथा को ब्राह्मण युग की देन मानते हैं, किन्तु अधिकतर विद्वानों की धारणा है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि ऋग्वेद में वंशानुगत हो चुके थे।

ऋग्वेद काल में विवाह का सांस्कृतिक स्वरूप—

ऋग्वेद में सुव्यवस्थित विवाह प्रथा के दर्शन होते हैं। पति एकपत्नी व्रत रखता था। स्त्री एकपति व्रत रखती थी। यौन सम्बन्धी नैतिकता अत्यन्त ऊँची थी। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अनुसार पिता-पुत्री, भाई-बहन का विवाह नहीं हो सकता था। बाल-विवाह पहले नहीं होता था पर कुछ काल के बाद प्रारम्भ हो गया था। विवाह एक अपरिवर्तनीय सम्बन्ध माना जाता था। विवाहोपरान्त लड़की अपने पति के घर ले जायी जाती थी। वहाँ वह आदर के साथ रहती थी। क्षत्रिय लड़कियाँ पति चुनने में स्वतन्त्र थीं। शेष लड़कियों का विवाह पिता की अनुज्ञा से होता था, यद्यपि लड़कियाँ पति के वरण में सम्मति देने के लिए स्वतन्त्र होती थीं।

"पिता यज्ञदुहितुः सेकम् ऋञ्जन" —(ऋक् ३/३१/१)

विधवा विवाह नहीं होता था। केवल दशम मण्डल में एक निःसन्तान विधवा का उसके देवर के साथ विवाह का उल्लेख है। लड़कियाँ अविवाहित भी रह सकती थीं। उदाहरण में घोषा का नाम लिया जा सकता है। सती-प्रथा का उल्लेख नगण्य है। ऋग्वेद काल में विवाह एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। इसका कर्मकाण्ड पहले साधारण और सादा था। लड़कियाँ प्रेमियों का मन जीतने के लिये उत्सवों पर सजाव आदि करती थीं। राजा के कई स्त्रियाँ भी हो सकती थीं।

"पतिं न नित्यं जनयः सनीलाः" —(ऋग्वेद प्रथम मण्डल)

महर्षि याज्ञवल्क्य के दो पत्नियाँ थीं। डॉ० पिशेल और गैल्डनर की यह धारणा कि उस युग में पिता-पुत्री और भाई-बहन का भी विवाह हो जाता था, भ्रमपूर्ण है।

ऋग्वेदकालीन संस्कृति में नारी—ऋग्वेद में गृहिणी गृह-लक्ष्मी मानी गई है। पत्नी के बिना पति यज्ञ नहीं कर सकता था। वह धार्मिक कृत्य में अर्द्धभाग की अधिकारिणी थी।

"अयज्ञियो वै एष योऽपत्नीकः" —(तै० ब्रा०)

नारी का शिक्षा के क्षेत्र में सर्वत्र सम्मान होता था। घोषा, लोपामुद्रा, अपाला आदि ऋग्वेद की मंत्रद्रष्ट्रियाँ हैं। मैत्रेयी, गार्गी आदि दार्शनिक जगत् की रत्न हैं।

सम्पत्ति—पशु, अश्व, गाय, स्वर्ण, आभूषण और दास उस युग में सम्पत्ति समझे जाते थे। वीर पुत्र भी ऋग्वेद में सम्पत्ति माने गये हैं। कुछ दिनों बाद खेत भी सम्पत्ति माने जाने लगे।

ऋग्वेदकालीन शिक्षा—यज्ञों एवं तत्सम्बन्धी वाङ्मय के विकास के कारण, साहित्य को सुरक्षित रखने और उसे शिक्षा का विषय बनाने की ओर ऋषियों का ध्यान गया। संहितायें अध्ययन का विषय बनीं। उस समय शिक्षा का घरेलू अध्यापन कम था। शिक्षक अपने आस-पास के छात्रों को अपने घर पर ही मौखिक पढ़ा देते थे।

ऋग्वेदकाल की नागरिक व्यवस्था (दुर्ग-पर-ग्राम-गृह)

ऋग्वेद युग का समाज कृषीबल और आखेटक था। देश में ग्राम फैले थे, जो रथ्या के द्वारा सम्बन्धित थे। कुछ विशिष्ट वासस्थानों का उल्लेख ऋग्वेद में है।

दुर्ग—वैदिक युग में नगरों की सत्ता के विषय में मतभेद है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में १०० दीवार वाले किलों का उल्लेख दो स्थानों पर प्राप्त होता है। दाशराज्ञ सूक्त में शम्बर के १०० किलों का इन्द्र के द्वारा ध्वस्त किये जाने का वर्णन है।

पुर—वैदिक ग्रन्थों में पुर् और पुर शब्द मिलते हैं। पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार पुर शब्द का अर्थ किला है।

ग्राम—ऋग्वैदिक युग के ग्राम आवश्यक सामग्रियों से पूर्ण और स्वावलम्बी थे। वे आवश्यक खाद्य, पेय और वस्त्रादि पैदा कर लेते थे। तक्षा, कामरि, वासोवाय, कुलाल और भिषक् प्रत्येक गाँव में पृथक्-पृथक् थे। डॉ० श्रोदर के अनुसार वैदिक युग के ग्रामों में नाटकीय संवाद भी होते हैं।

गृह—गृह को सूचित करने वाले शब्द-गृह, आयतन, पस्त्या वास्तु और हर्म्य आदि मन्त्रों में मिलते हैं। घर के निर्माण में, बाँस, मिट्टी, लकड़ी और पत्थर का प्रयोग होता था। घरों में खम्बे भी होते थे। पं० बलदेव उपाध्याय का कहना है कि घरों के चार भाग होते थे—अग्निशाला, हविर्धान, पत्नीनां सदन और सदस्। पशुओं के लिये गोष्ठ होते थे।

घरेलू सामान—ऋग्वेद में तल्प, प्रोष्ठ, वह्य आदि पर लेटी स्त्रियों का उल्लेख है। पात्रों में द्रोण और दृति का उल्लेख है। उरवा तथा स्थाली का पकाने के लिये वर्णन है। मूषल, सूर्प, तितउ, स्थीवि आदि का भी पता चलता है।

भोजन—वैदिक आर्यों का भोजन सीधा-सादा, सात्त्विक और स्वास्थ्यवर्धक होता था। उसमें घी, दूध की प्रचुरता होती थी। यव की रोटी और चावल उस

युग का प्रिय भोजन था। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में क्षीर, दधि और घृत के भोजन में विशेष महत्त्व व्यक्त है। "क्षीरपाकोदनं" "अपूर्व घृतवन्तं" का उल्लेख है। करम्भ एक विशेष खाद्य था। घी से चुपड़ी रोटी का वर्णन दशम मण्डल में है। मांस भोजन भी होता था। "मांस खाना ऋग्वेद में एक साधारण बात थी।" (The Vedic age P 457) ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में केवल गाय को अघ्न्या कहा गया है।

पेय—ऋग्वैदिक युग में सोम सुरा पेय प्रदार्थ थे। "पोतासो युध्यन्ते सुमंदासो न सुरायाम्" से सिद्ध है कि सुरा को लोग निन्द्य मानते थे। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में मुञ्जावत् पर्वत पर सोम वल्ली का उल्लेख है जिसके रस का पान किया जाता था। ऋक् अष्टम मण्डल में सोम की मादकता और उनकी आनन्दप्रद शक्ति का वर्णन है। "अपाम सोममसृता अभूमा"—८/४८/३।

वेश-भूषा—ऋग्वेद में वाससु, वस्त्र, अधोवस्त्र एवं उत्तरीय का उल्लेख है. ऊनी वस्त्र प्रायः भेड़ की ऊन के होते थे, जिसे ऊर्णा कहते थे। परुष्णी की ऊर्णा और गान्धार की भेड़े प्रसिद्ध थीं। "परुष्ण्यां ऊर्णा शून्ध्यवः—(ऋक् ५/५२/९)। सिन्धु को ऊर्णावर्ती भी कहा गया है। सिन्धु प्रदेश ऊनी वस्त्रों का घर था। मुनि लोग अजिन व वल्कल के वस्त्र भी पहनते थे। ऋक् वेद के प्रथम मण्डल में अजिनधारी ऋषियों का उल्लेख है, 'अथर्ववेद' में मृतक के लिये तर्प्य-वस्त्र का उल्लेख है, जिसे विद्वान् लोग रेशमी वस्त्र कहते हैं। वस्त्रों में पेशस् और उष्णीष आदि का उल्लेख है।

आभूषण—पुरुष और स्त्री दोनों अलंकार धारण करते थे। सुवर्ण का निष्क गले में, रुक्म वक्षस्थल में, खीद पैरों में पहनने के आभूषण थे। इन सबका वर्णन ऋग्वेद द्वितीय मण्डल में हैं। "रुक्म वक्षसः, हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः' मणिग्रीव,' आदि शब्द प्रथम मण्डल में आये हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अनुसार "चतुष्कपर्दा युवतीः सुपेशा" स्त्रियाँ चार प्रकार से वेणी सज्जा करती थीं। आपेश, कुम्ब, कुरीर आदि वैदिक पारिभाषिक शब्द हैं जो सज्जा के विशिष्ट नाम हैं।

आमोद-प्रमोद—मनोरंजन जीवन का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। पञ्चम मण्डल में रथ की दौड़ एवं घुड़दौड़ का वर्णन है। दौड़ के लिये वहाँ 'आजि' शब्द आया है। दौड़ के मैदान को काष्ठा कहते थे। जुआ खेलने का द्वितीय मण्डल में वर्णन है। पुरुष और स्त्री दोनों 'आघाटि' बजाकर नृत्य व गान में भाग लेते थे। उस समय ऋग्वेद में तीनों प्रकार के वाद्यों का आविष्कार हो चुका था। दुन्दुभि, कर्करि, वाण (वीणा) और नाली आदि वाद्यों की तथा सप्तस्वरों की पहचान हो चुकी थी।

ऋग्वेद में अनार्य संस्कृति—आर्यों की सभ्यता और समाज के साथ-साथ अनार्यों की सभ्यता व समाज का वर्णन भी ऋग्वेद में है। अनार्यों को ऋक में दास, दस्यु और असुर कहा गया है। कुछ अनार्यों सरदार चमुरि, शम्बर, और वचिन आदि थे। ऋग्वेद में आर्यों और अनार्यों का सांस्कृतिक अन्तर स्पष्ट है। ऋग्वेद में उन्हें शिश्नदेव, मृध्रवाक्, अकर्मन, अदेवयुः अयज्वन् और अव्रत कहा गया है। ऋग्वेद में उनके पुरों और दुर्गों का उल्लेख है। सिन्धुघाटी सभ्यता के अवशेष सम्भवतः अनार्य सभ्यता के ही हैं।

ऋग्वेद में आर्यों और अनार्यों के संघर्ष और अनार्यों के नाश तथा पराजय का वर्णन है। उनकी सम्भु, कीकट, अज, सिगरस और यक्ष आदि जातियाँ थीं। कुछ समय के बाद आर्यों और अनार्यों में सम्बन्ध भी होने लगे थे।

"अनार्यों की सभ्यता भौतिकता में आर्यों से श्रेष्ठ थी। इस बात का प्रमाण सिन्धुघाटी की सभ्यता है। अनार्य सभ्यता से आर्य सभ्यता बहुत दूर तक प्रभावित है। —सरदार के० एम० पनिक्कर।

संक्षेप में ऋग्वेदकालीन संस्कृति एवं सभ्यता के उपर्युक्त चित्र से दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि हमारे समाज की जिस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने परवर्ती काल में लोक में हमारा सम्मान-वर्द्धन किया, उसका यथेष्ट विकास इतिहास के उस प्रारम्भिक युग में ही हो चुका था और दूसरी यह कि भारतीय संस्कृति की जो महत्त्वपूर्ण विशेषता है—उदारता वह उस काल में ही आर्य संस्कृति और अनार्य संस्कृति के मेल-मिलाप के रूप में दिखाई पड़ने लगी थी। इस प्रवृत्ति का तब से निरन्तर विकास होता रहा है और सांस्कृतिक क्षेत्र में धार्मिक सहिष्णुता और मानवीय सहानुभूति जैसे निरूपम आदर्श समय-समय पर हमारे देश के लोगों ने उपस्थित किए हैं, उनकी प्रशंसा विश्व के अनेक विद्वान् आज भी करते हैं।

———

अध्याय

३ ब्राह्मण

वैदिक साहित्य में संहिताओं के पश्चात् दूसरा विशाल साहित्य ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। ग्रन्थ अर्थ में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में ही होता है। 'ब्रह्मन्' (यज्ञ) के व्याख्यापरक ग्रन्थों का नाम 'ब्राह्मण' है। यज्ञों के अनुष्ठान के समय प्रयोग में लाये जाने वाले संहिता भाग के विधि-विधानों का संकलन इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में सुरक्षित है। अतः उत्तर-वैदिक काल के भारतीयों के सम्पूर्ण धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य का ज्ञान संगृहीत रखने के नाते मानव-धर्म के विज्ञान का इतिहास समझने वाले के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों का ज्ञान नितान्त उपादेय ही नहीं आनन्दप्रदायक भी है। पौरोहित्य धर्म का इतिहास जानने के लिये धर्म-विज्ञान का विद्यार्थी ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रयोग अमूल्य प्रमाणों के रूप में कर सकता है।

चारों वैदिक संहिताओं के अपने-अपने 'ब्राह्मण' हैं जिनकी रचना विविध शाखाओं के साथ हुई थी। इस प्रकार शौनक के अनुसार ११०० ब्राह्मण थे तथा पतञ्जलि के अनुसार ११३०, परन्तु काल-कवलित होने के कारण सम्प्रति केवल ९ ब्राह्मण ही उपलब्ध होते हैं।

(i) ऋग्वेद के 'ऐतरेय' और 'कौषितकि' केवल दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं, जो आठ पंजिकाओं में विभक्त हैं। इनमें सोम यज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन तथा 'अग्निहोत्र' एवं 'राजसूय' यज्ञ का भी वर्णन मिलता है। 'कौषितकि' को 'शांखायन' ब्राह्मण भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध विशेष रूप से ऐतरेय ब्राह्मण से ही है।

(ii) जैसा कहा जा चुका है, यजुर्वेद के दो भाग हैं: कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद। इसमें कृष्ण यजुर्वेद का तैतिरीय नामक एक ही ब्राह्मण उपलब्ध होता है। यह वास्तव में तैत्तिरीय संहिता का ही उत्तरकालीन विस्तार है, क्योंकि इस संहिता में ब्राह्मणों का समावेश प्रारम्भ से ही हो गया था। इस ब्राह्मण में 'पुरुषमेध' यज्ञ का वर्णन मिलता है।

शुक्ल यजुर्वेद का प्रमुख एवं प्रसिद्ध 'शतपथ' ब्राह्मण है। इसमें १०० अध्याय हैं। यह ब्राह्मण अन्य सभी ब्राह्मणों में अत्यन्त विख्यात है तथा विषय में भी प्रमुख है। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें हैं: माध्यन्दिन तथा काण्व। दोनों के शतपथ ब्राह्मण उपलब्ध हैं, दोनों में विषय की एकता होने पर भी वर्णन-क्रम में तथा अध्यायों में अन्तर है।

(iii) सामवेद के ४ ब्राह्मण उपलब्ध हैं—(१) ताण्ड्य ब्राह्मण—इसमें २५ अध्याय हैं। यह ब्राह्मण प्राचीनतम ब्राह्मणों में से है। (२) पंचविंश ब्राह्मण—

यह इसी ताण्ड्य ब्राह्मण का विस्तार-मात्र है । (३) साम-विधान ब्राह्मण । (४) जैमिनीय ब्राह्मण । यह ताण्ड्य ब्राह्मण से भी प्राचीन माना जाता है।

(iv) अथर्ववेद का केवल 'गोपथ ब्राह्मण' ही उपलब्ध है । यह ब्राह्मण अत्यन्त नवीन तथा अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा कम महत्वमय है ।

ब्राह्मणों का काल निर्णय—संहिताओं के समान इनका भी समय निर्धारण करना दुष्कर है । इन सबका निर्माण काल ८०० ई० पू० से ५०० ई० तक माना जाता है । 'पंचविंश' एवं 'तैत्तिरीय 'ब्राह्मण वाक्य रचना तथा शब्दकोप को देखते हुए सबसे प्राचीन निर्धारित किये जाते हैं । इनका स्वर संचार भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है । इसके बाद 'जैमिनीय,' कौषीतकि 'ऐतरेय' मुख्य है । इनमें भी 'जैमिनीय' सबसे प्राचीन तथा ऐतरेय नवीन कहा जाता है । इसके बाद 'शतपथ' ब्राह्मण का भी नाम आता है । अन्तिम प्रहर में 'गोपथ' एवं 'साम-विधान' का नाम लिया जाता है।

मन्त्रों और प्रार्थनाओं के साथ याज्ञिक क्रियाओं में सम्बन्ध जोड़ते हुए स्वतन्त्र रूप से यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड की विधियों की व्याख्या तथा विवरण प्रस्तुत करना ब्राह्मणों का प्रधान विषय है । संक्षेप में इन्हें हम यज्ञ-विज्ञान की संहिता कह सकते हैं, जिनमें मन्त्रों, कर्मों तथा विनियोगों की व्याख्यायें निहित हैं । इनमें यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक मीमांसा की गई है । यहां हमें यज्ञ यागादि के कर्मकाण्ड का साङ्गोपाङ्ग विधान पूर्ण रूप में उपलब्ध होता है।

आचार्य—ऋषि तो वे हैं जो मन्त्रों के द्रष्टा हैं किन्तु ब्राह्मणों के द्रष्टा आचार्य कहे जाते हैं । ऐसे आचार्यों के तीन गण प्राप्त होते हैं । (१) माण्डूकेयगण, (२) शंखायनगण, (३) आश्वलायनगण । इनमें ये आचार्य प्रधान होते हैं—कौषीतकि, महाकौषीतकि, भरद्वाज, कहोल, पैङ्गय, महापैङ्गय, सुयज्ञ ऐतरेय, शांखायन, वाष्कल, शाकल, गार्ग्य, सुजातवक्र, शौनक, औदवाह्य, आश्वलायन । साधारणतः शांखायन ब्राह्मण ही 'कौषीतकि' ब्राह्मण माना जाता है किन्तु इस आचार्य-सूची में अलग से तर्पण होने के कारण दोनों आचार्यों का व्यक्तित्व भिन्न ज्ञात होता है । उपर्युक्त आचार्यों में से ऐतरेय, शांखायन अथवा कौषीतकि तो निश्चय ही ब्राह्मणों के द्रष्टा आचार्य हैं । प्रमाणरूप में उनके ब्राह्मण ग्रन्थ आज भी प्राप्त हो रहे हैं । ब्राह्मणों में जितने भी विषय प्राप्त होते हैं सब विधि के ही पोषक हैं या निर्वाहक हैं । प्रधान विषय तो विधि-विधान ही है । ऐसे विषयों को मीमांसा में अर्थवाद कहते हैं क्योंकि इसमें निन्दा या प्रशंसा निहित रहती है । यागोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा और यागनिषिद्ध वस्तुओं की निन्दा होती है । विधि-विधान कोई कल्पनाजन्य वस्तु न होकर युक्तियुक्त तर्क की आधारशिला पर स्थित रहता है । इसी से इनका हेतु या कारण बताना ब्राह्मणों का ही कार्य है । यत्र-तत्र प्रस्तुत अनुष्ठानों की प्रशंसा करके याज्ञिकों की श्रद्धा बढ़ाने के लिये अनुष्ठान में प्रयुक्त पदार्थों की पुष्टि के लिये ही विविध प्राचीन इतिहास और आख्यान भी ब्राह्मणों में मिलते हैं । निरुक्ति जन्य अर्थ से भी ब्राह्मणों में आये हुए वाक्यों का

पुष्टीकरण होता है। इस प्रकार निरुक्ति या निर्वचन का सूत्रपात भी इन्हीं विधियं में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाने से होता है।

केन्द्रबिन्दु तो विधि ही है किन्तु उसकी निरुक्ति, स्तुति, आख्यान और हेतु वचन आदि अनेक विषय घूम-घूमकर आया करते हैं। 'ऋग्वेद' के 'सायण भाष्य' में ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य विषयों में दस वस्तुओं का निर्देश मिलता है, जिनमें विधि ही प्रधान है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु ॥२/१/८

यज्ञीय अनुष्ठानों की गगनचुम्बी विशाल राशि के कारण उनका वास्तविक तत्व समझना दुरूह होने लगा, जिससे अनुष्ठान की कठिनाई को सरल करना अनिवार्य हो गया और सम्भवतः इसीलिये आगे चलकर श्रौतसूत्रों का सूत्रपात हुआ।

विधि-विधानों की विशाल राशि प्रस्तुत करने में 'शतपथ ब्राह्मण प्रतिनिधि माना जाता है। आदिम काण्ड में ही 'दर्श' और 'पौर्णमास' यज्ञों के प्रधान तथा गौण अनुष्ठानों का कथन यागक्रम से ही मिलता है। दूसरे काण्ड में 'आधान, 'पुराधान' 'अग्निहोत्र' और 'उपस्थान, 'आग्रायण' तथा 'दाक्षायण' यज्ञ का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है।

'शतपथ' के आदि की कण्डिका में सहेतुक विधि का निर्देश भी हुआ है। पौर्ण मास इष्टि में दीक्षा लेने वाला व्यक्ति गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्नियों के बीच पूर्व की ओर स्थित होकर जल का स्पर्श करता है। इस स्पर्श का क्या कारण है जल मेध्य अर्थात् यज्ञ के लिये उपयोगी है। असत्य भाषी यज्ञ नहीं कर सकता किन्तु जल के स्पर्श से वह पापहीन होकर मेध्य बनता है, तब दीक्षित होता है

किसी मन्त्र का प्रयोग किस उद्देश्य की सिद्धि हेतु किया जाता है, इसकी युक्तियुक्त व्यवस्था ब्राह्मणों में सर्वत्र मिलती है। मन्त्रों के पदों से विनियोग की युक्ति-युक्तता ब्राह्मण ग्रन्थों ने सिद्ध कर दी है। ब्राह्मणों की आध्यात्मिक एवं अंतरंग व्याख्या के उपरान्त ही विनियोगों की युक्तिमत्ता समझी जा सकती है।

कर्मकाण्ड की विधि विशेष के लिये उपयुक्त होने वाले कारणों के निर्देश को ही हेतु नाम दिया गया है। उदाहरणार्थ "वहिष्यमान स्तोत्र" में पाँचों ऋत्विजों से आगे चलने वाला अध्वर्यु हाथ में दर्भ की मुष्टि लेकर चलता है। 'ताण्ड्य ब्राह्मण' में (६/७/१६–२०) इसके कारण का निर्देश है कि अश्व रूप धारण करके यज्ञ के भाग और दर्भ की मुष्टि दिखाकर उसे लौटा लेने का आख्यान हेतु रूप से प्रस्तुत किया गया है। सच तो यह है कि "हेतु चयन" से अनुष्ठानों के कारण परिचय स्वयं मिल जाता है, जो श्रद्धा के दाय में सहायक होता है।

'अर्थवाद' के विषय में पदार्थों की निन्दा पाई जाती है, यथा—"अमेध्यावैमाषाः

(तै० सं० ५/१/८/१) यज्ञ में उड़द का विधान निषिद्ध है। इसी प्रकार 'ताण्ड्य' में 'अग्निष्टोम' यज्ञ की विशेष प्रशंसा प्राप्त होती है। साथ ही अनुष्ठानों हव्य-द्रव्यों और देवताओं की भी भूरि-भूरि प्रशंसा ब्राह्मणों में प्रायः मिलती है। वस्तुतः 'अर्थवाद' का उपयोग आस्थापूर्वक विधि की पुष्टि के लिये ही होता है।

निरुक्ति या शब्दों की व्युत्पत्ति का निर्देश भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रायः किया जाता है। यह निर्वचन इतना वैज्ञानिक और मार्मिक है कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से उसका विशेष महत्व है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से ये निर्वचन बड़े वैज्ञानिक हैं। आगे आने वाले निरुक्तों में जो शब्दों की व्युत्पत्तियाँ लिखी गयीं, उनका मूल भी इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है।

'शतपथ' और 'ताण्ड्य ब्राह्मण' तो महत्वपूर्ण और उपादेय निरुक्तियों के भण्डार ही हैं। ऐसी निरुक्ति संहिता भाग में भी मिलती है। 'दधि' शब्द की व्याख्या 'तैत्तिरीय संहिता' में इस प्रकार है—'तद्दध्नो दधित्वम्' इसी प्रकार 'अथर्व संहिता' में 'उदक' शब्द की व्युत्पत्ति है—"उदानिषुर्महीरितितस्मादुदकमुच्यते"। संक्षेप में यह निरुक्ति की प्रेरणा संहिताओं से ब्राह्मणों ने प्राप्त की और ब्राह्मणों से प्रभावित होकर निरुक्त-ग्रन्थों की रचना कालान्तर में हुई।

इन ब्राह्मण-ग्रन्थों की विधि में 'अर्थवाद के अन्तर्गत कहीं-कहीं अत्यन्त रोचक आख्यान नितान्त आकर्षक ढंग से वर्णित मिलते हैं। इन आख्यानों का उद्देश्य प्रायः विधि-विधानों के स्वरूप की व्याख्या करना ही होता है। स्वल्पकाय तथा दीर्घकाय दो प्रकार के आख्यान मिलते हैं। प्रथम में वे कथायें आती हैं जो सद्यःविधि की युक्ति-युक्तता प्रदर्शित करती हैं। छोटे आख्यानों में कुछ प्रधान इस प्रकार हैं : 'वाक्' का देवों को त्यागकर जल में और फिर वनस्पति में प्रवेश करना, आदित्य पर स्वर्भानु असुर का आक्रमण तथा अत्रि के द्वारा उस अन्धकार का विघटन, अग्नि मंथन के समय अश्व को आगे रखने का प्राचीन इतिहास 'असुरों तथा देवों के मध्य संग्राम में छोटे आख्यान कहीं गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन करते हैं तो कहीं तात्विक बातों का संकेतमात्र कर देते हैं। उदाहरण के लिये मन और वाणी के बीच कलह के आख्यान में वाणी और मन का मनोवैज्ञानिक झगड़ा प्रस्तुत करते हुए प्रजापति के द्वारा मन की श्रेष्ठता का निर्णय दिया गया है। बृहत्काय आख्यानों में पुरुरवा और उर्वशी का संवाद और शुनःशेप का आख्यान प्रधान है। प्रायः इन आख्यानों का बीज संहिताओं में ही मिल जाता है जिनके आधार पर ब्राह्मणों ने अपनी पद्धति पर तथा पुराणों ने अपने ढंग पर उन्हें विस्तार प्रदान किया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में हमें व्याकरण एवं ज्योतिष आदि विज्ञानों के प्रारम्भिक तत्व मिलते हैं, जो पीछे के काल में स्वतन्त्र वेदाङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों के नाना रूपों तथा विविध अनुष्ठानों आख्यानों, 'कर्म मीमांसा' आदि विविध शास्त्रों के उदय की कथा इत्यादि विषयों का विवेचन प्राप्त होता है।

———

अध्याय

४ आरण्यक

ब्राह्मणों के अन्तिम अंश 'आरण्यक' और आरण्यकों के अन्तिम भाग 'उपनिषद्' हैं। इसी से ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषयों के प्रतिपादक होते हुये भी 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' ब्राह्मणों के ही परिशिष्ट ग्रन्थ माने जाते हैं। यज्ञ, यागादिक गृहस्थ लोग करते थे, तो यज्ञों के गूढ़ एवं लाक्षणिक महत्व का चिन्तन अरण्य के महर्षियों के द्वारा किया जाता था। अतः जब ब्राह्मण धर्म की परम्परा में आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिये चार आश्रमों की व्यवस्था को मान्यता प्राप्त हो गई तब वानप्रस्थियों के लिये आरण्यक-ग्रन्थों के अध्ययन का विधान बन गया। 'बोधायन सूत्र' में 'आरण्यक' को भी ब्राह्मण-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोशकार श्री आप्टे के मत से "आरण्यक ग्रन्थ" एक प्रकार से धार्मिक एवं दार्शनिक लेख है, जो कि ब्राह्मणों से सम्बन्धित है जिनका निर्माण या तो अरण्यों में हुआ या वनों में पढ़ाये जाने के लिये निर्मित हुये। ग्राम और नगर के बाहर अरण्य में पढ़े जाने के कारण इनका आरण्यक नाम पड़ गया। सायणाचार्य ने तो 'तैत्तिरीय आरण्यक' भाष्य में स्पष्ट लिखा है—

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्ययकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रचक्ष्यते ॥६॥

आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञानुष्ठान के नियम तथा कर्मकाण्ड की विधियों की व्याख्या करना नहीं; अपितु यज्ञों के भीतर विद्यमान गूढ़, लाक्षणिक तथा आध्यात्मिक तत्वों की मीमांसा है। प्राण विद्या की महिमा का प्रतिपादन तथा काल के वास्तविक एवं व्यावहारिक रूप का निदर्शन, इनमें बड़े अनूठे ढंग से सम्पन्न हुआ है।

'ऐतरेय आरण्यक' में प्राण का महत्व अनेकशः प्रतिपादित है। यह आकाश प्राण की शक्ति से ही अपने स्थान पर स्थित है, हाथी से लेकर पिपीलिका तक सभी प्राणी 'प्राण ही के बल पर स्थित हैं'—

"सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतानि, आपीपिलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धा नीत्येवं विद्यात्" ॥ २/१/६

इसी आरण्यक में प्राण को अन्तरिक्ष और वायु का पिता कहा गया है। कृतज्ञ पुत्रों की भाँति अन्तरिक्ष और वायु ये दोनों पुत्र भी प्राण की सेवा में रत रहते हैं। प्राणिमात्र का संचरण अन्तरिक्ष के अनुसरण पर होता है तथा दूर स्थानों में कहे गये

शब्दों को अन्तरिक्ष की सहायता से सुन लेता है। इसी प्रकार वायु भी मनोहर सुगन्धि लाकर प्राणों को तृप्त करता है—"प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति, अनुशृण्वन्ति। वायुरस्मै पुष्पं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणं, पितरं, परिचरन्तोऽन्तरिक्षं च वायुश्च।"

यहाँ तक कि सब ऋचायें, सभी वेद, समस्त घोष, सब प्राण रूप में उपास्य हैं—

'सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः एकंव।
व्याहृतिः प्राण ऋच् इत्येव विद्यात्॥" २/२/१२

ऋषियों के रूप में भी प्राण की प्रतिष्ठा की गई है। वह प्राण का भोग्य होने से मित्र है, अतः विश्वामित्र (विश्वं मित्रं यस्य असौ विश्वामित्र) है, देवों में वाम अर्थात् श्रेष्ठ होने से प्राण ही वामदेव है, सब विश्व को पाप से बचाने के कारण प्राण ही अत्रि (सर्वं पाप्मनोऽत्रायत् इति। अत्रिः) हैं, मनुष्य का शरीर गति सम्पन्न होने से वाज है, प्राण शरीर में प्रवेश करके सदा उसकी रक्षा करते हैं, अतः वही भारद्वाज है। वास या निवास का सर्वश्रेष्ठ हेतु प्राण है, अतः वही वसिष्ठ है। अतः प्राण रूप में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की भावना करके उपासना करनी चाहिये, यही प्राणों की ध्यान विधि है।

प्राण की देवतात्मक ध्यान विधि इस प्रकार है कि वाग् में अग्नि देवता का वास है, चक्षु सूर्य है, मन चन्द्रमा है, श्रोत्र दिशायें हैं। इन सब देवताओं की भावना प्राण में ही करनी चाहिये। कहते हैं कि हिरण्यदन् वैद ऋषि ने देवता रूप से प्राणों की उपासना करके विपुल फल प्राप्त किया था।

काल के महत्व का वर्णन तैत्तिरीयारण्यक के आदि में विशद रूप से प्राप्त होता है। इसके तृतीय तथा चतुर्थ अनुवाक् में ऋतुओं के स्वरूप का बड़ा वैज्ञानिक एवं मार्मिक वर्णन मिलता है, जैसे—वर्षा ऋतु में नेत्ररोग की उत्पत्ति तथा पाण्डु रोग के प्रसार का वर्णन है, जैसा कहा जा चुका है कि आरम्भिक अनुवाकों में तो काल की अखण्डता बड़ी विदग्धतापूर्वक प्रतिपादित हुई है। व्यावहारिक जगत् में पल, मुहूर्त, दिवा रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि अनेक खण्डों में विभक्त होने पर भी अनन्त काल एक रूप, एकाकार और अखण्ड ही रहता है। यहाँ काल की तुलना एक अक्षय्य स्रोत वाली महानदी से की गई है, जिसे अनेक सहायक नदियाँ मिलकर पुष्ट करती हैं। काल की दशा भी वैसी ही विस्तीर्ण एवं व्यापक है—

नदीव प्रभवात् क्वचित् अक्षय्यात् स्पन्दते यथा।
तां नद्योभिः समायान्ति सोरः सती न निवर्तते॥ (तै० आ० १/२)

संहिताओं और ब्राह्मणों की भाँति आरण्यक भी ११३० थे, किन्तु जैसे सब संहितायें तथा ब्राह्मण प्राप्य नहीं हैं, उसी भाँति आज केवल सात ही आरण्यक, उपलब्ध हैं—(१) ऐतरेयारण्यक, (२) शाङ्खायनारण्यक, (३) तैत्तिरीयारण्यक, (४) मैत्रायणीयारण्यक या चरक शाखा का बृहदारण्यक, (५) माध्यन्दिन बृहदारण्यक, (६) काण्वबृहदारण्यक और (७) तलवकार आरण्यक या जैमिनीयोपनिषद् आरण्यक।

यद्यपि वाचस्पति गैरोला ने अपने बृहद्इतिहास में छान्दोग्यारण्यक नाम से एक आठवाँ आरण्यक भी गिनाया है किन्तु उसका कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया।

ऐतरेय आरण्यक—यह ऋग्वेद के 'ऐतरेय ब्राह्मण' का परिशिष्ट भाग है इसमें ५ आरण्यक हैं। प्रथम में महाव्रत है द्वितीय के तीन अध्यायों में उक्थ या निष्केवल्य शस्त्र, प्राण विद्या तथा पुरुष की मीमांसा है। संहितोपनिषद् नामक तृतीयारण्यक में पद और क्रम-पाठों का वर्णन तथा स्वर और व्यञ्जन के स्वरूपों का स्पष्टीकरण है। चतुर्थारण्यक में महाव्रत के पाँचवें दिन प्रयोग में आने वाली कुछ महानाम्नी ऋचायें दी हैं। पाँचवे आरण्यक में निःकैवल्य शस्त्र का विवेचन हैं। इनमें से आदि के ३ आरण्यकों के रचयिता ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पंचम के शौनक हैं। इसके प्रथम भाष्यकार सायण और दूसरे शङ्कर हुगे हैं।

शाङ्खायन आरण्यक—ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक शाङ्खायन है। इसमें १५ अध्याय हैं जिनमें तृतीय से षष्ठ अध्याय तक 'कौषीतकि' नाम का प्रसिद्ध उपनिषद् है। छठे अध्याय में काशी, मत्स्य, उशीनर, विदेह और कुरु-पाञ्चाल प्रदेशों का निर्देश है। त्रयोदश अध्याय में 'बृहदारण्यक' तथा कुछ अन्य उपनिषदों से अनेक उद्धरण मिलते हैं। इसके भाष्य भी सायण तथा शङ्कर कृत उपलब्ध हैं।

बृहदारण्यक—यह शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस विपुलकाय आरण्यक में आत्म-तत्व की विशद विवेचना मिलती है। इसी से कुछ लोग इसे भ्रमवश प्राचीन-तम् उपनिषद् मानने लगते हैं। इसमें छह अध्याय है। याज्ञवल्क्य की उदात्त अध्यात्म विद्या से यह आरण्यक ओत-प्रोत है। काण्व शाखा के बृहदारण्यक पर भी सायण, शंकर और रंग-रामानुज ने प्रामाणिक भाष्य लिखे हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक—इसके दस प्रपाठक या अरण हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रपाठक के आदिम पद के अनुसार निम्नलिखित हैं—(१) भद्र-प्रपाठक में आरुणक केतु नामक अग्नि तथा उसके लिये इष्टकाचयन का वर्णन है। (२) सहवै-में स्वाध्याय, पञ्च महायज्ञ तथा गंगा यमुना के मध्य देश का गौरवपूर्ण वर्णन है। (३) चित्ति—में 'चातुर्होत्र चित्ति' के उपयोगी मन्त्रों का वर्णन है। (४) युज्यते—में प्रवर्ग्य में प्रयुक्त मन्त्रों का संग्रह तथा कुरुक्षेत्र और खाण्डव का भौगोलिक वर्णन है। (५) देववै—में यज्ञीय संकेत उपलब्ध होते हैं। (६) परे—में पितृमेघ के मन्त्रों के साथ 'ऋग्वेद' के अनेक मन्त्र उद्धृत हैं। (७) शिक्षा, (८) ब्रह्मविद्या, (९) भृगु नाम के प्रपाठक हैं। (१०) नारायणीय में—खिलकाण्ड मानी जाने वाली 'नारायणीयोपनिषद्' है। इस आरण्यक में पाराशर्य व्यास का नाम आया है। कश्यप का अर्थ सूर्य किया गया है—"कश्यपः पश्यको भवति। यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्—१—८ ८—"।

तलवकार आरण्यक—इसमें चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में अनुवाक भी है। चौथे अध्याय के दसवें अनुवाक में 'केन उपनिषद्' है।

अथर्ववेद का कोई आरण्यक प्राप्त नहीं है।

उपनिषद्

ब्राह्मण-ग्रन्थों के यज्ञ विधानों में गृहस्थाश्रम के योग्य आधिभौतिक कर्ममार्ग का वर्णन है। आरण्यकों में होत्र, महाव्रत आदि करने वाले वानप्रस्थियों के योग्य कर्मकाण्ड की लाक्षणिकता के साथ ज्ञानकाण्ड का अद्भुत समन्वय हुआ है, क्योंकि यहाँ कर्म मानसिक हो जाते हैं, जब कि उपनिषदों में संन्यासियों और महर्षियों के चिन्तन योग्य उदात्त अध्यात्मज्ञान एवं ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन है। यहाँ कर्म भी आत्मिक रह जाते हैं, यद्यपि आत्मा कर्म से निर्लिप्त रहता है।

उपनिषदों का सीधा सम्बन्ध संहिताओं से भी है, फिर भी उन्हें ब्राह्मण साहित्य का आलोचना ग्रन्थ माना जाता है। उपनिषद् आरण्यकों के ही विशिष्ट अंग हैं किन्तु वेदों का अन्तिम सार-संग्रह होने से उन्हें वेदान्त की उपाधि प्राप्त है। भारतीय तत्वज्ञान के प्रामाणिक स्रोत होने के नाते, इनमें मानवमात्र के ऐहिक सुख और आमुष्मिक मंगल के मूलमन्त्र निहित हैं। भारतीय दर्शन की ज्ञान-गरिमा के सच्चे प्रतीक ये उपनिषद् ही हैं, जिन्हें वैदिक धर्म की प्रस्थानत्रयी में प्रधान स्थान प्राप्त है। 'गीता' और 'ब्रह्मसूत्र' तो वस्तुतः उन्हीं पर आश्रित हैं। तप, त्याग और वैराग्य-प्रधान बौद्ध, जैन आदि दर्शनों पर भी उपनिषद् का ऋण स्पष्ट लक्षित होता है।

जब पुरोहितों के द्वारा यज्ञों के विधि-विधान में सब भोगों की प्राप्ति के निमित्त पशुहिंसा जैसे स्थूल व्यापारों को प्रधानता दी जाने लगी तब प्रतिक्रिया रूप में तत्व चिन्तक मनीषियों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों के भोगवाद के विरुद्ध वेदान्त के अध्यात्म ज्ञान का उद्घाटन किया। किन्तु कुछ लोगों का यह मान बैठना नितान्त भ्रान्त प्रतीत होता है कि उपनिषदों का सूत्रपात अब्राह्मणों ने ही किया। यद्यपि राजन्यवर्ग ने उसमें समुचित योग दिया पर 'ईशोपनिषद्' आदि का उद्घाटन ऋषियों तथा आचार्यों ने ही किया।

उप + नि + √सद् (विशरणे) धातु से 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'सदलृ विशरणगत्यवसादनेषु' के आधार पर 'सद्' का अर्थ नष्ट होना, पाना या जानना अथवा शिथिल होना होता है। 'उपनिषद्' की ब्रह्मविद्या अविद्या का नाश करती है, यह विशरण का अर्थ हुआ। ब्रह्म की प्राप्ति या उसका ज्ञान करा देती है, यह गति का अर्थ हुआ। आवागमन के दुःख को शिथिल कर देती है, यह अवसादन का अर्थ हुआ। यहाँ पर उपनिषदों का साधारण अभिप्राय ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष से है।

'मुक्तिकोपनिषद्' में १०८ उपनिषद् गिनाये गये हैं जिनमें से १० ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं। १९ शुक्लयजुर्वेदः के और ३२ कृष्णयजुर्वेद के उपनिषद् है। १६ उपनिषद् सामवेद से और ३१ अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं। मद्रास से जो साठ उपनिषद् प्रकाशित हुए हैं, उनमें वे चार उपनिषद् भी हैं जिनका अनुवाद दाराशिकोह के आदेश पर सतरहवीं शताब्दी में फारसी भाषा में किया गया था। जिन दश उपनिषदों पर

श्रीशंकराचार्य ने भाष्य लिखा है, वे प्राचीनतम और प्रामाणिक हैं। उनके नामों का क्रम इस प्रकार है—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयञ्च छान्दोग्यं बृहदारण्यकदशं ॥

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद का 'कौषीतकि उपनिषद्' शुक्ल यजुर्वेद का 'श्वेताश्वतर' और कृष्ण यजुर्वेद का 'मैत्रायणी' भी प्राचीन उपनिषदों में गिने जाते हैं। उपर्युक्त १३ उपनिषद् विशेष महत्त्वमय हैं। इनमें वेदान्त तत्व का सम्यक् प्रतिपादन लक्षित होता है। अन्य उपनिषद् वैष्णव, शाक्त, शैव तथा योग विषयों से सम्बद्ध हैं और अधिकांश देवता-परक होने से तान्त्रिक माने जाते हैं। अतः अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं।

डासन नामक जर्मन विद्वान् ने उपनिषदों को चार वर्गों में बाँटा है—

(१) जिन उपनिषदों का गद्य ब्राह्मण-ग्रन्थों के गद्य के समान सरल और प्राचीन है, उनमें 'ऐतरेय' 'कौषीतकि' 'बृहदारण्यक' 'तैत्तिरीय' 'छान्दोग्य' और 'केन' ये छह उपनिषद् आते हैं। डासन के मत से ये सर्वाधिक प्राचीन हैं।

(२) जिन उपनिषदों का पद्य सरल और प्राचीन है, उनमें 'ईश', 'श्वेताश्वतर,' 'कठ,' और 'महानारायण' ये भी प्राचीन उपनिषद् माने हैं।

(३) 'मैत्रायणी', 'प्रश्न' और 'माण्डूक्य' ये तीन पश्चात् कालीन गद्योपनिषद् गिनाये हैं।

(४) सांख्य-वेदान्त उपनिषद्, योग उपनिषद्, सामान्य उपनिषद्, शैव उपनिषद्, शाक्त उपनिषद् और वैष्णव उपनिषद् विशेषतः तान्त्रिक उपासनामय होने से 'आकर्षण उपनिषद्' कहे जाते हैं, जिन्हें 'डासन' ने सबसे बाद का माना है। किन्तु हमारे मत में गद्य उपनिषदों की अपेक्षा सभी पद्य उपनिषदों का बाद का मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता 'ईशोपनिषद्' जो 'यजुःसंहिता' का ही भाग है, उन गद्य उपनिषदों के बाद का कैसे हो सकता है तत्तत् ब्राह्मण-ग्रन्थों के अवशिष्टांश हैं। इस दृष्टि से सब पद्य-उपनिषद् पश्चात्कालीन नहीं हैं।

डॉ० 'रानाडे' और 'वेलवेलकर' ने 'ऐतरेय', 'कौषीतकि', ईश, 'कठ', 'तैत्तिरीय', 'छान्दोग्य', 'केन', 'प्रश्न' और 'मुण्डक' उपनिषदों को प्राचीन माना है। द्वितीय श्रेणी में 'श्वेताश्वतर', 'मैत्रायणीय' और 'माण्डूक्य' रखे गये हैं, तथा 'वाष्कल', 'छागलेय', 'आर्षेय' और 'शौनक', उपनिषद् जो हाल ही में प्राप्त हुये हैं, तृतीय श्रेणी में माने हैं।

यद्यपि इस श्रेणी के विभाजन के तर्क सर्वथा अकाट्य नहीं हैं फिर भी उपनिषदों की काल निरूपण की दिशा में इसे हम विद्वानों का सप्रयत्न मानते हैं।

चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदों में वैदिक देवताओं के अतिरिक्त अनाम एवं अरूप ब्रह्म को ही विश्व का स्रष्टा और नियन्ता प्रतिपादित किया गया है। बाद के उपनिषदों में क्रमशः विष्णु, शिव आदि को उस परम पद का अधिकारी बताया है। इस दृष्टि से 'ऐतरेय', 'ईश', 'तैत्तिरीय', 'बृहदारण्यक',

'छान्दोग्य', 'प्रश्न', मुण्डक', और 'माण्डूक्य' सर्वप्राचीन उपनिषद् सिद्ध होते हैं। इसके उपरान्त सर्वप्रथम 'कठोपनिषद्' विष्णु को परमपद पर प्रतिष्ठित करता है, जबकि अन्य कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् महादेव को इस महनीय पद का अधिकारी मानते हैं। महेश्वर का महत्व निर्धारित करने से ही 'श्वेताश्वतर', 'कठ' के पश्चात् काल का है। हमें यह उक्ति युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। 'मैत्रायणीय उपनिषद्' तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश को देवत्रयी का गौरवदान करने से ही 'श्वेताश्वतर' के बाद की रचना सिद्ध होती है। छान्दोग्यादि उपनिषदों में सांख्य-सिद्धान्त का निर्देश नहीं है। 'कठ' में गुण, महत्, अव्यक्त और पुराण का उल्लेख उपलब्ध होता है। 'श्वेताश्वतर' में ऋषि 'प्रसूत', 'कपिल, प्रमाणम्' वाली उक्ति से साँख्य के प्रवक्ता कपिल ऋषि प्रधान ज्ञेय और ज्ञ का वर्णन भी मिलता है। अतः श्री वैद्य को 'श्वेताश्वतर', 'कठ' की अपेक्षा अर्वाचीन प्रतीत होता है। 'मैत्रायणीय' में तो सांख्य सिद्धान्त का विशद वर्णन विस्तार-पूर्वक मिलता है। अतः यह 'श्वेताश्वतर' से बाद की रचना प्रतीत होती है।

इस प्रकार 'ईश' उपनिषद् तो प्राचीनतम हैं क्योंकि यह 'यजुर्वेद संहिता' का ही चालीसवां अध्याय है। इसके अतिरिक्त 'ऐतरेय', 'बृहदारण्यक,' 'तैत्तिरीय', 'छान्दोग्य', 'प्रश्न', 'मुण्डक' और 'माण्डूक्य' को हम प्राचीनता की प्रथम श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि ये सब अपने-अपने वेदों के आरण्यकों के अंश हैं। अतः निःसंदेह प्राचीन हैं। इसके उपरान्त 'कठ' और 'श्वेताश्वतर' का समय आता है, और उसके भी पश्चात् 'कौषीतकि' और 'मैत्रायणीय' गिनाये जा सकते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से उपनिषदों में मध्य-देश के कुरु-पाञ्चाल से लेकर विदेह तक का वर्णन हुआ है। इस समय गान्धार एक दूरस्थ प्रदेश हो जाता है। ज्योतिः तथ्यों के आधार पर लोकमान्य तिलक ने 'मैत्रायणीय' उपनिषद् का समय वि० पू० १९ वीं शताब्दी माना है। इस प्रकार उपनिषदों का प्रारम्भिक काल कम से कम वि० पू० २५ वीं शताब्दी होना चाहिए। इसे विद्वद्वर बलदेव उपाध्याय ने भी स्वीकार किया है। अपने वैदिक साहित्य में श्री रामगोविन्द त्रिवेदी भी इस मत के पोषक प्रतीत होते हैं।

सतरहवीं शताब्दी में सर्वप्रथम दाराशिकोह की प्रेरणा से उपनिषदों का प्रथम भाषान्तर फारसी भाषा में किया गया था। दाराशिकोह १६४० ई० में जब काश्मीर की यात्रा पर गया तब वहीं उसने उपनिषदों की महिमा सुनी। उसने स्वयं फारसी अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि 'कुरान' का अध्ययन करने से उसे अनेक अनुद्-घाटित रहस्यों की सूचना मिली। उन्हीं के उद्घाटन के लिये उसने 'इञ्जील,' 'बाइबिल' आदि अनेक ग्रन्थों का अनुशीलन किया, किन्तु उसकी उत्कण्ठा शान्त न हुई, और अन्त में उपनिषदों से अद्वैत तत्व का रहस्य उद्घाटित हुआ। उसके अनुसार 'उपनिषद्' दैवी रहस्यों के भण्डार हैं। काशी के विद्वानों की सहायता से उसने 'सिर्रे अकबर' (महान् रहस्य) नाम से फारसी में उपनिषदों का अनुवाद प्रस्तुत किया। उसका कहना है 'कुरान' में 'किताबिम मक्नुनिन' (रहस्यमय किताब) शब्द के द्वारा

उपनिषद् का उल्लेख किया है। भूमिका के अन्त में उसने संस्कृत के लगभग १०० पारिभाषिक शब्दों का फारसी अनुवाद दिया है। तब ५० उपनिषदों का अनुवाद प्रस्तुत किया है। इस अप्रकाशित अनुवाद की भाषा सरल और रुचिकर शैली में मिलती हैं। इनमें 'वाष्कल', 'आर्षेय', 'छागलेय' आदि अर्वाचीन उपनिषदों के अनुवाक प्राप्त होते हैं। दारा को उसके पिता ने काशी का शासक नियुक्त किया था। वहीं उसने पण्डितों की सहायता से यह अनुवाद कराया था जो दिल्ली के मंजिल निगम नामक स्थान पर १६५७ ई० में समाप्त किया था।

इस अनुवाद को वर्नियर नाम का फ्रांसीसी यात्री फ्रांस ले गया और 'आक्वेंतोलदूपेरां' नामक यात्री ने एक अन्य प्रति से मिलाकर उस फारसी अनुवाद का एक अनुवाद फ्रेंच भाषा में और दूसरा लैटिन भाषा में 'अउपनेटवट' नाम से १८०१ ई० और १८०२ ई० में प्रकाशित कराये। इसे ही पढ़कर 'शापेनहॉवर' जैसे जर्मन दार्शनिक ने अपने ग्रन्थों में 'उपनिषद्' के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख किया। वह तो उपनिषदों को जीवनकाल में ही नहीं अपितु मृत्युपर्यन्त शान्ति प्रदान करने वाला साधन मानते हैं।

विषय-विवेचन

ऋग्वेदीय उपनिषद्—

(१) **ऐतरेय उपनिषद्**—'ऐतरेय आरण्यक' के द्वितीय आरण्यक में चतुर्थ से लेकर छठे अध्यायों तक का नाम 'ऐतरेय उपनिषद्' है। इसके तीन अध्यायों में क्रमशः सृष्टि, जीव और ब्रह्म, इन तीन तत्त्वों का विवेचन है। प्रथम अध्याय के दो खण्ड हैं, जिनमें सृष्टितत्त्व की मार्मिक विवेचना है। द्वितीय और तृतीय अध्याय एक ही खण्ड के अन्तर्गत हैं। मानव-शरीर ही पुरुष के हेतु यथेष्ट आयतन बताया गया है, जिनके विविध अंगों में देवताओं ने प्रवेश किया है। फिर परमात्मा उसकी मूर्ध सीमा को विदीर्ण करके प्रविष्ट होता है और जीव भाव को प्राप्त होकर प्राणियों के साथ तादात्म्य रखता है। तब गुरुकृपा से ज्ञान होने के पश्चात् सर्वव्यापी शुद्धस्वरूप प्रत्यक्ष होता है और 'इन्द्र' की संज्ञा मिल जाती है। अन्तिम अध्याय में 'प्रज्ञान' को विशेष महत्त्व दिया गया है, जिससे यह उपनिषद् आदर्शवाद का प्रतिपादक और पोषक सिद्ध हो जाती है और सबसे प्राचीन मानी जाती है।

(२) **कौषीतकि**—इस उपनिषद् में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में पितृयान और देवयान का विशद वर्णन है, जबकि द्वितीय अध्याय में विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्त मिलते हैं। तृतीय अध्याय में भी दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। इसमें प्रतर्दन इन्द्र से ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्राप्त करते हैं। इसके अन्त में प्राणतत्व का बड़ा उदात्त और विशद वर्णन है। प्राण जीवन का तत्त्व पहले है उसके बाद चैतन्य का तत्व है। जगत् के समस्त पदार्थों का कारण यही प्राण है जो आत्मा का प्रतीक प्रतिपादित हुआ है। सभी प्राणवर्ग मन्त्रवत् उसके हाथ में घूमा करते हैं। आकार की दृष्टि से इसका स्थान 'बृहदारण्यक' और 'छान्दोग्य' के बाद है।

यजुर्वेदीय उपनिषद्—

(३) बृहदारण्यक—यह उपनिषद् जैसा बृहत्तम, विशाल और प्राचीनतम है, वैसे ही तत्वज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त गम्भीर और प्रामाणिक है। इसमें छह अध्याय हैं। इस 'उपनिषद्' के सर्वस्व दार्शनिक याज्ञवल्क्य हैं। इसमें सृष्टि और ब्रह्म पर विचार किया गया है। उनकी उच्च अध्यात्म शिक्षा से यह व्याप्त है। प्रथम अध्याय में छह ब्राह्मण हैं जिनमें मृत्यु के द्वारा समस्त पदार्थों के ग्रसन का, प्राणों की श्रेष्ठता-परक रोचक आख्यायिका का तथा सृष्टि-परक सिद्धान्तों का विवरण है। द्वितीय अध्याय में भी छह ब्राह्मण हैं। आरम्भ में अहंकारी गार्ग्य और शान्त प्रकृति के काशीराज अजातशत्रु का वृत्तान्त है। चतुर्थ ब्राह्मण में कात्यायनी और मैत्रेयी को अपना धन विभक्त करके याज्ञवल्क्य के वन-गमन का वर्णन है। यहीं मैत्रेयी के प्रति उनका दिव्य दार्शनिक सन्देश सुनाई देता है। तृतीय अध्याय में याज्ञवल्क्य जनक की सभा में अनेक ब्रह्मवादियों को परास्त करके निरुत्तर कर देते हैं। यहाँ तो वैदेह महाराज जनक केवल उदासीन श्रोता हैं, किन्तु चतुर्थ अध्याय में वह भी महर्षि से तत्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त करते हैं। पाँचवें अध्याय में नीति-विषयक, परलोक-विषयक, दार्शनिक तत्वों का निरूपण है। छठे अध्याय में प्रवाहण, जैवल, श्वेतकेतु, आसनेय से पञ्चाग्नि विद्या की सूक्ष्म विवेचना करते हैं। वास्तव में याज्ञवल्क्य सिद्धान्तवादी ही न थे अपितु तत्वज्ञान को व्यावहारिक जीवन में उतारने वाले उपदेशक भी थे। 'आत्मा' वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि (बृहदारण्यक)' ४/५/६। याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त उपदेश का व्यावहारिक तत्वज्ञान का ज्वलन्त प्रमाण है, जो 'बृहदारण्यक' की अध्यात्म शिक्षा का मूलाधार माना जाता है।

(४) श्वेताश्वतर—इसमें शैवधर्म का गौरव प्रतिपादित हुआ है। दूसरे अध्याय में प्राचीन दृष्टि से योग का निरूपण है। तीसरे से पाँचवें तक शैव एवं सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है। अन्तिम अध्याय में गुरुभक्ति को देवभक्ति का रूप माना गया है—'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ'। यह उस युग की रचना है जब साँख्य को वेदान्त से अलग नहीं किया गया था। उपनिषद् का सांख्य सेश्वर था और साँख्य का ईश्वर प्रधान पर शासन रखता था। वेदान्त का मायावाद अभी पल्लवित न हो पाया था। इसमें 'अमृताक्षरं हरः' (१/१०) जैसी उक्तियों में शिव परमात्म-तत्व के रूप में अनेकशः स्वीकृत हुये हैं। यह 'उपनिषद्' सांख्य और वेदान्त में आदिकाल का सूचक है।

(५) मैत्रायणीयोपनिषद्—इसमें सात प्रपाठक हैं और पूरा उपनिषद् स्थान-स्थान पर नाममात्र के पद्य के साथ गद्यात्मक ही है। ७वें प्रपाठक में 'ईश' तथा 'कठ' के दो-दो उद्धरण प्राप्त होते हैं। अतः उनकी अपेक्षा वह अर्वाचीन है। इसमें सांख्य के तत्वयोग के ६ अंग और हठयोग के सिद्धान्तों का वर्णन है, जो दर्शनों का विकास समझने के लिये नितान्त उपयोगी और आवश्यक है।

(६) ईशोपनिषद्—यह 'वाजसनेयि शाखा' की 'यजुर्वेद संहिता, का ४०वाँ अध्याय है। ग्रन्थ के आदिम शब्द 'ईश' को ग्रहण करके इसका नामकरण हुआ है। इसके १८ पद्यों में कर्मोपासना का रहस्य-ज्ञान की दृष्टि से खोजा गया है। इसमें कर्मसंन्यास का पक्ष न लेकर यावज्जीवन निष्काम भाव से कर्म करते रहने का निर्देश किया गया है। इसमें ब्रह्म के स्वरूप के साथ ही साथ विद्या और अविद्या तथा सम्भूति और असम्भूति का मर्म समझाया गया है।

(७) कठ उपनिषद्—कृष्ण यजुर्वेद की 'कठ' शाखा का यह उपनिषद् अद्वैत ज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके दो अध्यायों में से प्रत्येक में तीन वल्लियाँ हैं। इसका प्रारम्भ 'वाजश्रवस' के सर्वहुत यज्ञ में किये जाने वाले गो-दान से होता है। प्रधानतः इसमें 'वाजश्रवस' के पुत्र 'नचिकेता' की कथा है, जिसका संकेत 'तैत्तिरीय में भी मिलता है। विशेष आग्रह करने पर यमराज नचिकेता को आत्म-तत्व सम्बन्धी अद्वैत ज्ञान का मार्मिक उपदेश देते हैं। एक ही नित्य और चेतन ब्रह्म प्राणि-मात्र की आत्मा में निस्यूत है और उसी का दर्शन शान्ति का सच्चा साधन है। अतः उसी नित्य, शुद्ध, मुक्त आत्मा को प्राप्त करना चाहिये जो अणु से भी अणुतर तथा महान् से भी महत्तर है तथा जीव की हृदयरूपी गुहा में स्थित है। निष्काम पुरुष इन्द्रियों के प्रासाद से आत्मा के उस महत्व को देखकर शोकरहित हो जाता है (१-२-२०) न तो यह आत्मा वेदाध्ययन से, न मेधा से न अधिक श्रवण से प्राप्त हो सकता है। साधक जिस आत्मा का वरण करता है उस आत्मा से ही वह प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा उसके सामने अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। यह आत्मा न वाणी से, न मन से और न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है। उसकी सत्ता स्वीकार करने वालों के अतिरिक्त वह किसी को उपलब्ध नहीं हो सकता (२-३-१२) जब सम्पूर्ण हृदय स्थित कामनायें छूट जाती हैं, उस समय मर्त्य प्राणी अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है। सम्पूर्ण शास्त्रों का इतना ही आदेश है कि जिस समय जीवन में हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, उस समय यह मरणधर्मा अमर हो जाता है (२-३-१४-१५) जीव के हृदय देश में स्थित यह अन्तरात्मा अंगुष्ठमात्र पुरुष रूप में स्थित है। मूँज से सींक के समान उसे धैर्यपूर्वक शरीर से पृथक् करने का अनुभव करें और उसे शुद्ध तथा असृत रूप समझें (२-३-१७)।

(८) तैत्तिरीयोपनिषद्—'तैत्तिरीयारण्यक' का सप्तम प्रपाठक 'सांहिती उपनिषद्' ही यहाँ 'शिक्षावल्ली' के नाम से उपनिषद् का आदिम भाग है और आरण्यक के आठवें तथा नवें प्रपाठक अर्थात् 'वारुणी उपनिषद्' में 'ब्रह्म नन्दवल्ली' तथा 'भृगुवल्ली' के रूप में प्रसिद्ध है। इस प्रकार यह उपनिषद् अपने आरण्यक के ३ प्रपाठकों (७,८,९) का बना है। ब्रह्मविद्या की उपलब्धि की दृष्टि से प्रधानता 'वारुणी उपनिषद्' की है, किन्तु चित्त शुद्धि और गुरुकृपा की उपलब्धि हेतु साधन रूपा 'शिक्षावल्ली' गौणरूप से प्रयुक्त है। इसमें उपासना के कई प्रकार और गुरु-

शिष्य सम्बन्धी शिष्टाचार का यथेष्ट वर्णन हुआ है। शिक्षा के प्राचीन आदर्श का सच्चा परिचय ११वें अनुवाक में स्नातक के निमित्त आवश्यक शिक्षाओं के संग्रह रूप में एकत्र मिलता है। ब्रह्मविद्या का निरूपण ब्रह्मानन्दवल्ली में है। भृगुवल्ली में पञ्चकोष-विवेचन नामक ब्रह्मप्राप्ति का विशेष साधन वरुण और भृगु के संवाद में निर्दिष्ट है।

सामवेदीय उपनिषद् :—

(९) छान्दोग्य—इसमें आठ प्रपाठक या अध्याय हैं, जिनमें से अन्त के तीन अध्याय अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। प्राचीनता और गम्भीरता की दृष्टि से इसका स्थान बहुत ऊँचा है। प्रथम अध्याय में "शौव उद्गीथ" जो भौतिक स्वार्थ की दृष्टि से यज्ञ तथा सामगान करने वालों के ऊपर बड़ा मार्मिक व्यंग्य है। तृतीय अध्याय में देव मधु के रूप में सूर्य की उपासना, गायत्री का वर्णन तथा घोर आंगिरस के द्वारा देवकी-पुत्र कृष्ण को अध्यात्म शिक्षा देने का वर्णन है। अन्त में अण्ड से सूर्य के जन्म का विवरण मिलता है। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" (३/१४/१) यह महावाक्य अद्वैतवाद का बीजमंत्र है। चौथे अध्याय में रैक्व का दार्शनिक तथ्य, सत्यकाम जाबाल और उसकी माता की व्यथा और सत्यकाम जाबाल से उपकोशल को ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि का विशद वर्णन है। पंचम प्रपाठक में प्रवाहण जैबल के दार्शनिक सिद्धान्त और कैकय अश्वपति का सृष्टिपरक विवेचन हैं, जिनमें छह दार्शनिकों के सिद्धान्तों का समन्वय है। षष्ठ प्रपाठक में महर्षि आरुणि के ऐक्य-प्रतिपादक सिद्धान्तों का निरूपण है। यह आरुणि छान्दोग्य के सर्वमान्य दार्शनिक हैं। "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" यह आरुणि की अध्यात्म शिक्षा का मूलमंत्र है। सातवें प्रपाठक में आत्मविद्या की शिक्षा लेने महर्षि सनत्कुमार के पास आते हैं। अन्तिम प्रपाठक में आत्मोपलब्धि के व्यावहारिक उपायों की ओर संकेत करने वाली इन्द्र और विरोचन की कथा दी गई है।

(१०) केन उपनिषद्—इसका आदिम पद है—'केनेषितं पतति'। अतः आरम्भिक शब्द 'केन' को लेकर इस उपनिषद् का नामकरण हुआ है। क्योंकि सामवेद की 'तलवकार शाखा' से यह सम्बद्ध है, अतः इसे 'तलवकार उपनिषद्' भी कहते हैं। इसमें चार खण्ड हैं : प्रथम खण्ड में सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म के अन्तर का निरूपण है। द्वितीय खण्ड में ब्रह्म के रहस्यमय रूप का संकेत मिलता है। तृतीय और चतुर्थ खण्डों में उमा हैमवती का रोचक आख्यान देकर ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता और अन्य देवताओं की अल्प-शक्ति सम्पन्नता का स्पष्ट निदर्शन हुआ है।

अथर्ववेदीय उपनिषद्—

(११) प्रश्नोपनिषद्—इसमें ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा रखने वाले छह ऋषि महर्षि पिप्पलाद के पास जाकर उनसे अध्यात्म विषय पर अपने प्रश्नों के उत्तर पूछते हैं। अतः प्रश्नों के उत्तर रूप में सम्पादित होने के कारण ही इसका 'प्रश्न उपनिषत्' नाम बड़ा सटीक और संगत है। अध्यात्म-जगत् की जटिल समस्याओं से

निस्यूत प्रश्नों के उत्तर, पिप्पलाद ऋषि निर्मल विवेचना करते हुये, तत्वज्ञान से सुलझाकर बड़ी उदात्त प्रणाली में व्यक्त कर देते हैं । प्रश्न इस प्रकार हैं:— (१) प्रजा की उत्पत्ति का स्थान । (२) प्रजाओं को धारण करने वाले देवता कितने हैं और कौन इन्हें प्रकाशित करता है, फिर सर्वश्रेष्ठ कौन है ? (३) प्राणों की उत्पत्ति, उनके शरीर में आने तथा उत्क्रमण करने—जैसे आवश्यक किन्तु किठिन प्रश्न । (४) स्वप्नावस्था, जागरण और स्वप्न-दर्शन आदि पर मनोरम प्रश्न । (५) ओंकार की उपासना और उससे सभी लोकों की विजय । (६) षोडष-कलापूर्ण पुरुष की विवेचना । इन प्रश्नों के उत्तर अध्यात्म जगत् की सूक्ष्म समस्याओं की समीक्षा करते हुये जिस उदात्त गम्भीरता एवं सुन्दर प्रणाली से प्रस्तुत किये गये हैं, वे सब महर्षि पिप्पलाद के गहन तत्वज्ञान के प्रकाशक हैं। इस जगत् की प्रतिष्ठा का मूलाधार अक्षर-ब्रह्म ही है । यही 'प्रश्नोपनिषद्' का सार तत्व है ।

(१२) मुण्डक उपनिषद्—इसमें ३ मुण्डक हैं और प्रत्येक मुण्डक के दो खण्ड हैं । 'अथर्ववेद' का यह उपनिषद् मुण्डनयुक्त व्यक्तियों के लिये बना है । इसमें ब्रह्मा अपने बड़े पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं । अभिप्राय यह है कि यज्ञानुष्ठान, जो अस्थिर प्लव के समान हैं, उनसे संसार का संवरण कैसे सम्भव हो सकता है ? कर्मठ लोग यज्ञानुष्ठान, इष्टापूर्त आदि के द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त करके भी अन्ततो गत्वा पृथ्वी पर आते हैं । सारांश यह है कि कर्मकाण्ड की हेयता और उसके विविध दोषों का निर्देश करते हुए ब्रह्म-ज्ञान की ही श्रेष्ठता सिद्ध की गई है । इसी उपनिषद् का 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (३-१-१) वाला प्रसिद्ध मन्त्र द्वैतवाद का मेरुदण्ड माना जाता है । इसमें ब्रह्मज्ञ के ब्रह्म में लीन होने की दशा की उपमा नदियों के समुद्र में विलीन होने से दी गई है। 'मुण्डकोपनिषद्' इस कारण भी अर्वाचीन है कि इसमें सांख्य और वेदान्त के कतिपय तत्वों का प्रभाव लक्षित होता है ।

(१३) माण्डूक्योपनिषद्—यद्यपि आकार में छोटा है, किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । केवल १२ खण्डों या वाक्यों वाला यह उपनिषद् चतुष्पाद् आत्मा की बड़ी मार्मिक समीक्षा प्रस्तुत करता है । इसमें ओंकार की अत्यन्त मार्मिक व्याख्या के दर्शन होते हैं । ओंकार में मात्रा तो तीन होती हैं, किन्तु चतुर्थ अंश अमात्र होता है । आत्मा, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा शिव इन चार, रूपों का होता है, क्योंकि चैतन्य की चार ही अवस्थायें हो सकती हैं:— जागृत, स्वप्न सुषुप्ति तथा तुरीय । वास्तव में आत्मा का शुद्ध रूप अन्तिम चैतन्य भी होता है । इस पर गौडपादाचार्य की चतुःखण्ड वाली 'माण्डूक्यकारिका' मायावादी वेदान्त को प्रतिष्ठित करने वाली कड़ी है ।

उपनिषदों का अन्तःसार ग्रहण करने के लिये सभी वेदों का प्रतिनिधित्व करने वाले उपरोक्त त्रयोदश उपनिषदों की विवेचना पर्याप्त है । वेद के अन्तिम

उदात्त ज्ञान का निरूपण करने के नाते इन्हें वेदान्त नाम दिया जाना सर्वथा सार्थक एवं युक्तियुक्त है।

उपनिषदों के विकास के विषय के अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इनके दार्शनिक विचारों का श्रीगणेश 'ऋग्वेद' के ही सूत्रों में हो जाता है, जिनमें देवताओं के प्रति संदेह प्रकट किया गया है। इन दार्शनिक विचारों का उदय सर्वप्रथम राजन्य वर्ग में पाया जाता है। ये ही नृपति पुरोहितों को उपनिषद् का ज्ञान सिखाते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। 'कौषीतकि ब्राह्मण' के राजा प्रतर्दन, 'शतपथ ब्राह्मण' के राजा जनक, 'बृहदारण्यक' के अश्वमति, कैकेय आदि ऐसे नृपति हैं जो पुरोहितों को उपनिषद् के दार्शनिक ज्ञान की शिक्षा भी देते हैं। बौद्ध और जैन सम्प्रदाय भी इन्हीं दार्शनिक विचारों के फलस्वरूप पल्लवित हुये, जिनके प्रवर्तक क्षत्रिय ही हैं।

उपनिषद् वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ियाँ माने जाते हैं, इनका ऐतिहासिक क्रम प्रायः इस प्रकार उपलब्ध है—

(१) ऋग्वेद के उपनिषद्—'ऐतरेय' एवं 'कौषीतकि'।

(२) यजुर्वेद के उपनिषद्—कृष्ण यजुर्वेद के 'तैत्तिरीय' और 'मैत्रायणी' तथा शुक्ल यजुर्वेद के (माध्यन्दिन और काण्व) बृहदारण्यक' उपनिषद् हैं।

(३) सामवेद के उपनिषद्—'छान्दोग्य' तथा 'केनोपनिषद्' हैं।

उपर्युक्त ६ उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन हैं जिनमें वेदान्त के सिद्धान्त अपने मूल रूप में विद्यमान हैं। कुछ उपनिषद् इनके उपरान्त भी लिखे गये हैं, जो प्रायः इस प्रकार हैं—

(१) कठोपनिषद्—यह कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है।

(२) श्वेताश्वतरोपनिषद्—यह भी कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

(३) महानारायण उपनिषद्—यह भी कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है।

(४) ईशोपनिषद्—यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है और वाजसनेयि संहिता के अन्त में स्थित है। यह शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है।

(५) मुण्डकोपनिषद्—यह गद्य-पद्य दोनों में ही है, इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

(६) प्रश्नोपनिषद्—यह भी गद्य-पद्य में प्राप्य है, एवम् अथर्ववेद का ही रूप है।

उपर्युक्त छह 'उपनिषदों' में यद्यपि वेदान्त के सिद्धान्तों का ही विवेचन है परन्तु इसके साथ ही सांख्य और योग के सिद्धान्तों की भी विस्तृत समीक्षा प्राप्य है। स्वामी शंकराचार्य ने १२ उपनिषदों को ही प्राचीन माना है किन्तु इसके अतिरिक्त 'मैत्रायणी' तथा माण्डूक्य-उपनिषद्' भी प्रामाणिक हैं।

उपनिषदों में वर्णित सिद्धान्त :—

(१) ब्रह्म सिद्धान्त—उपनिषदों के सभी सिद्धान्त ब्रह्म तथा आत्मा पर आधारित हैं। यह ब्रह्म ही उपनिषदों में आत्मा माना गया है। यह 'ब्रह्म' शब्द वेदों

में प्रार्थना अथवा जादू आदि के सिद्धान्त के अर्थ में आया है । इस ब्रह्म शब्द को श्रद्धा तथा ईश्वरतत्व का रूप प्रदान किया गया है । उपनिषदों में आकर इस ब्रह्म को सविशेष तथा निर्विशेष रूप प्रदान किया गया है ।

(२) आत्म सम्बन्धी सिद्धान्त—उपनिषदों में शाण्डिल्य का आत्मा सम्बन्धी यह मत दिया गया है कि आत्मा अमर है, आत्मा ही ब्रह्म है । इसी आत्मा में सारा ब्रह्माण्ड निहित है । "तत्वमसि" सिद्धान्त से भी यही उपलब्ध होता है । इसके अनुसार आत्मा व परमात्मा तथा संसार एवं ब्रह्म की एकता वर्णित है । 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इन्द्र तथा विरोचन की कथा में आत्मा के स्वरूप को जानने की ओर संकेत है । 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी के सम्वाद के अन्तर्गत आत्मा की अजरता, अमरता एवम् उसकी एकरूपता का वर्णन अत्यन्त रोचक ढंग से मिलता है । यहाँ ब्रह्म तथा संसार को भी आत्मा के अन्तर्गत ही बतलाया है ।

(३) प्राण सिद्धान्त—समस्त इन्द्रियों में प्राण की महत्ता सर्वोपरि मानी गई है । 'छोन्दोग्योपनिषद्' में एक वार्ता आई है, जिसमें प्राण को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है । यह विषय मनोविज्ञान से सम्बन्धित है परन्तु इसका भी बड़ा रोचक एवं स्वाभाविक वर्णन उपनिषदों में मिलता है । वहाँ यह प्राण ही आत्मा माना गया है ।

(४) आवागमन का सिद्धान्त—बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राण को आत्मा बतलाते हुये आवागमन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । यह आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती रहती है । यही सिद्धान्त का सार है ।

(५) कर्मसिद्धान्त—बृहदारण्यकोपनिषद् में आर्तभाग तथा याज्ञवल्क्य का जो सिद्धान्त आया है उसमें कर्म-सिद्धान्त का विवेचन करते हुये यह स्पष्ट किया गया है कि मृत्यु के उपरान्त पार्थिव शरीर के समस्त अंश पाँचों तत्वों में मिल जाते हैं, केवल कर्म यहाँ रहते हैं । अतएव कर्मों द्वारा ही मनुष्य उच्च एवं नीच हो जाता है । इसमें चरित्र पर अधिक बल दिया गया है ।

नैतिक सिद्धान्त—उपनिषदों में अल्पसंख्या में नैतिक सिद्धान्त भी मिलते हैं । यथा 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में प्रजापति ने सारे देवताओं और राक्षसों को तीन शब्दों का उपदेश दिया था । ये नैतिक सिद्धान्त इसीलिये रखे गये थे कि मानव बुरे कर्मों से बचा रहे और सत्य आत्मा का पता लगाकर ब्रह्म के स्वरूप को पहचान सके ।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में ब्रह्म व आत्मा का सम्यक् विवेचन हुआ है । कुछ लोगों ने उपनिषदों के वैराग्य सम्बन्ध विचारों को भारतीय निराशावाद कहा है, क्योंकि वे सांसारिक सुखों में भी दुःख मानते हैं । परन्तु ऐसा समझना सर्वथा भ्रममूलक है, क्योंकि उपनिषदों में आत्मा को आनन्दस्वरूप माना गया है । इन उपनिषदों का आगे चलकर बड़ा महत्व माना गया है । बादरायण के 'वेदान्तसूत्र' इन्हीं के आधार पर लिखे गये । शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों की आधारशिला भी ये ही हैं । अतएव उपनिषद् सर्वोत्तम मानवीय ज्ञान

के भण्डार है और हजार वर्षों के उपरान्त भी चिर-नवीन ज्ञान के प्रतिपादक हैं। मानव इतिहास के अध्येताओं के लिये मानव विचारों का सुन्दर रहस्य जैसा उपनिषदों में मिल सकता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

उत्तर-वैदिकयुगीन संस्कृति

उत्तर वैदिक युग को हम संहिता काल के उपरान्त ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों के रचनाक्रम तक ही मानते हैं। ऋग्वैदिक संस्कृति में जो सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि स्थितियों का वर्णन हो चुका है, उससे संहिता-काल का पता लगता है। इधर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों के अनुशीलन से कर्म, उपासना एवं ज्ञानकाण्ड की विधाओं तथा प्रक्रियाओं से सारी सामाजिक व्यवस्था अनुप्राणित दिखाई देती है। इनके यथाक्रम विकास के साथ सभ्यता एवं संस्कृति में भी धार्मिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों की छाया में सतत परिवर्तन दिखाई देता है।

पूर्व-वैदिक युग में आर्यों के राज्य और उनकी सभ्यता का विस्तार पञ्चनद से पूर्व की ओर सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के मध्य भाग तक की भूमि तक ही सीमित था। अब इस सभ्यता का केन्द्र कुरुक्षेत्र हो गया था। यज्ञों की कर्मभूमि का स्थान कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि ने ले लिया था। आर्यों ने कुरु-पाञ्चाल के साथ मध्य देश तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। इस समय की विद्याओं और कलाओं का केन्द्र सम्मिलित कुरु-पाञ्चाल राज्य ही था, किन्तु गंगा के प्रवाह में भी यज्ञाग्नियाँ प्रतिबिम्बित हो उठी थीं। अथर्वन् और अंगिरस के अभिचार तथा तन्त्रादि के प्रयोग भी ख्याति प्राप्त कर रहे थे।

इस समय भी कई प्रकार के राज्य प्रचलित थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, भौज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, सामन्त पर्यायी' सार्वभौम आदि राज्यों का उद्देश-कथन हुआ है। इस काल में राजा का पद पैतृक अधिकार बन गया था। नृपतिगण कतिपय नियंत्रणों के रहते हुए भी स्वच्छन्द हो चले थे। राज्याभिषेक के समय उसे धर्मानुसार प्रजा-पालन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। समिति, सभा और मंत्रिमण्डल के प्रभाव में रहने के अतिरिक्त अभी उसके निर्वाचन का सिद्धान्त भी नष्ट नहीं हुआ था।

शासन व्यवस्था भी नियन्त्रित थी। मन्त्रियों की सहायता से ही नृप राज्य शासन करता था। इनका पद और अधिकार परम्परा से अथवा जनपद से अनुमोदित था। मन्त्रिमण्डल में निम्नलिखित सदस्य होते थे—

पुरोहित, राजन्य, महिषी, (प्रियरानी) परित्यक्ता रानी, सूत (बन्दीजन), सेनानी, ग्रामणी, संग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष), क्षत्रि (राजप्रासाद-रक्षक) भागदुघ् (राजकर लेने वाले अधिकारी) आदि। इनके अतिरिक्त प्रान्तपति या न्यायाधीश के रूप में रथपति था। राज्यों में अपराध बहुत कम होते थे। शासन व्यवस्था उत्तमकोटि की थी। शेष राजनैतिक व्यवस्था ऋग्वैदिक काल के समान थी।

सामाजिक स्थिति—पूर्व-वैदिक काल में जिन वर्गों तथा व्यवसायों की उन्नति हुई थी, वे तरल अवस्था में ही थे। उत्तर-वैदिक काल में उन्हें स्थायित्व प्रदान किया गया। ऋग्वेदकालीन वर्ण गुण-कर्म घर आश्रित थे। जो अब जन्म के आधार पर पैतृक हो चुके थे। वर्ण एक सामाजिक व्यवस्था थी, जिस पर, जन्म पर, आश्रित रहने वाली आदिम संस्था, जाति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होने लगा था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में ब्राह्मण वर्ण सोमपायी, अदायी, अव्यवसायी, स्वेच्छानुसार गति वाला, भ्रमणशील तथा राजाश्रयी माना गया है। वैश्य को राजा कभी भी बाहर निकाल सकता था, शूद्र भी सदा दण्ड्य था, किन्तु ब्राह्मणों के लिये ऐसा कोई दण्ड-विधान नहीं बना था। धार्मिक कृत्यों पर तो ब्राह्मणों का पूर्ण अधिकार था, राजाओं पर उनका समुचित प्रभाव था।

वर्ण और आश्रम—सामाजिक-संगठन वर्ण पर आश्रित था, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण तो ऋग्वैदिक काल में भी थे, किन्तु अब इन वर्णों के कई उपविभाग हो गये थे। ब्राह्मण में पुरोहित, मन्त्री, शिक्षक, उपदेशक आदि, क्षत्रिय में राजवंश, राजपुरुष, शासक, सैनिक आदि, वैश्य वर्ण में कृषक, व्यापारी, उद्योगपति आदि तथा शूद्र में दास, नौकर, कर्मकार, रथकार आदि विविध उपविभाग हो गये थे। भारतीय समाज में जातियाँ तो पहले भी थीं, अब उनमें भी कई उपजातियाँ बन गई थीं।

इस युग में वर्ण के साथ आश्रम व्यवस्था का भी विकास होना स्वाभाविक था। समाजशास्त्रियों ने वेदों के (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्) का अध्ययन करने योग्य क्रमशः जीवन के चार भाग करके ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास नाम के चार आश्रम बनाये जिनका विकास, जीवन के पुरुषार्थ रूप-धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की क्रमशः प्राप्ति के लिये अपने आप हुआ।

सामाजिक अध्ययन—सामाजिक संस्थाओं में गतिशीलता थी, यद्यपि रूढ़िवाद अपनी जड़े जमाने लगा था। इस समय कर्मकाण्ड की प्रधानता होने से समाज में ब्राह्मणों का सम्मान सर्वाधिक था। यों तो सभी वर्णों और जातियों में विविधता थी किन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों का तथा वैश्य-शूद्रों का परस्पर निकट सम्पर्क स्थापित हो चला था। क्रमशः समाज के ऊँचे तथा निचले स्तरों में भेद आ चला था। शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार सगोत्र विवाह वर्ज्य था, यहाँ तक कि दो या तीन गोत्रों को छोड़कर विवाह विहित माना जाता था। अब सवर्ण विवाह प्रचलित हो चले थे किन्तु अन्तर्जातीय विवाह भी सम्भव था।

इस समय पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा कृषि में समुचित विकास हो चुका था। हल की माप क्रमशः बढ़ गई थी। पहले हलों के कर्षण में कम बैलों का प्रयोग किया जाता था किन्तु अब चौबीस बैलों के द्वारा कर्षित होने वाले हल का वर्णन मिलता है। कर्षण, वपन, कतन और मर्दन इन चारों प्रक्रियाओं का वर्णन 'शतपथ ब्राह्मण' में क्रमशः मिलता है। कृषि में गोमय की उर्वरक (खाद) का भी उल्लेख है। खाप-पान, वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद और व्यापार आदि में प्रायः ऋग्वेद

के काल का ही प्रभाव चला आ रहा था। स्त्रियों के कार्य प्रायः रंगाई करना, डलिया बनाना, चटाई बुनना तथा कढ़ाई तक ही सीमित न रहकर उच्च शिक्षा प्राप्त करने तथा वाद-विवाद में भाग लेना भी था। गार्गी और मैत्रेयी जैसी दार्शनिक विदुषियों का राजर्षि जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ के लिये उद्यत होना जिसका ज्वलंत प्रमाण हैं।

धार्मिक-स्थिति—पूर्व वैदिक काल में धार्मिक जीवन अत्यन्त सरल था। वेद की पूजा-पद्धति में आत्म-समर्पण और भक्ति-भावना का प्राधान्य था किन्तु उत्तर वैदिक काल में मनुष्य ने प्रकृति से किञ्चित् स्वाधीन होकर अहंकारपूर्वक अपनी शक्ति को पहिचाना। अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये देवताओं को वश में करना चाहा। समाज वेद-मन्त्रों की ओर फिर उन्मुख हुआ किन्तु इस बार वेदवाद के साथ कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। देवगण प्रायः सूर्य वैदिक काल के ही बने रहे किन्तु कुछ देवताओं की मान्यता में उत्कर्ष और अपकर्ष भी लक्षित होने लगे। वरुण और इन्द्र की प्रधानता का ह्रास हुआ तथा प्रजापति, विष्णु, और शिव विशेष महत्त्व के अधिकारी हो गये। अब तक मनुष्य जीवन और जगत् की समस्याओं के संघर्ष में आ चुका था जिनका उत्तर वह प्रत्यक्ष जगत् में ही ढूँढ़ रहा था। अब चिन्तनशील मनुष्य अन्तर्मुख होकर आत्मतत्व में डूबकर समाधान पाने में सक्षम और समर्थ होने लगा। इसी गहन चिन्तन के प्रसादस्वरूप आरण्यकों एवं उपनिषदों में दार्शनिक तथ्यों और सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ। ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड में बाह्य आडम्बर तो था, किन्तु उसमें नीति के सिद्धान्त निहित थे। पंच महायज्ञों और तीन ऋणों की परिकल्पना की जा चुकी थी।[1] सत्य, आर्जव, यम, नियम, मैत्री, करुणा, मुदिता आदि का महत्त्व माना जा चुका था।

उत्तर वैदिक कालीन धर्म की विशेषता यह थी कि यज्ञों के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिये गये थे, जिनका सूत्रपात उपनिषद् काल से ही हुआ था। 'मुण्डकोपनिषद्' में यज्ञ को फूटी और अदृढ़ नौका के समान माना गया है। उस समय राजन्यवर्ग ज्ञानकाण्ड की ओर अग्रसर हो रहा था। अमरत्व की प्राप्ति, मुक्ति. कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त विशेष मान्य बन रहे थे।

स्त्रियों की स्थिति में भी अन्तर आ गया था। उनकी स्थिति इस युग के अन्त तक बहुत गिर चुकी थी। उन्हें शूद्र तुल्य समझा जाने लगा था ('स्त्रीशूद्रावनधीयेताम्) कर्मकाण्ड की जटिलता के कारण पत्नी पति के साथ समूची यज्ञ-प्रक्रिया में भाग नहीं ले सकती थी। उनकी कतिपय क्रियाओं का सम्पादन पुरोहित करने लगे थे। ऋतु धर्म के कारण भी उन्हें अपावन समझा जाता था। साथ ही आर्य लोग अनार्य

---

१. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा ् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी तदवदानैरेवावदयते तदबुदाना—नामवदानव्वम्। तै० सं० ६·३·१०।

स्त्रियों से विवाह सम्बन्ध करने लगे थे और अनार्य स्त्रियाँ यज्ञ-कार्य के लिये सर्वथा अयोग्य थीं। यह समझकर शास्त्रकारों ने उनसे अधिकार छीनने का उपक्रम कर लिया था। अब उन्हें वैदिक अध्ययन में अनधिकारी बनाकर उनका बाल विवाह किया जाने लगा था। यद्यपि गार्गी और मैत्रेयी जैसे पूर्वोक्त अधिकांश स्त्री-रत्नों को इसी समय की विभूतियाँ कहा जाता है। इन्हें अपवाद कहकर टाला नहीं जा सकता। भिन्न रूचिर्हि लोकः मानकर निभाया जा सकता है। आशय यह है कि यज्ञ यागादिक में भाग लेने का अधिकार स्त्री से छीना नहीं गया था। योग्य और अयोग्य का प्रश्न अवश्य महत्त्व पा चुका था।

वेदाङ्ग

वेद के स्वरूप तथा अर्थ के संरक्षण के लिये ही 'वेदांग साहित्य' का सूत्रपात हुआ। ये षट् वेदाङ्ग वेद के वास्तविक अंग या भाग न होकर वेद के अध्ययन और रक्षण में सहायक मात्र हैं। 'मुण्डकोपनिषद्' के आदि में ही आचार्य परम्परा के उल्लेखोपरान्त महागृहस्थ शौनक के पूछने पर महर्षि अंगिरा ने विद्या के दो प्रकार बतायें हैं—परा और अपरा—द्वेविद्ये वेदितव्ये·····परा चैवापरा च ॥४॥" अक्षर ब्रह्म के प्रतिपादक उपनिषद् तो परा-विद्या के रूप हैं तथा चार वेद और षट् वेदाङ्ग अपरा विद्या के अन्तर्गत आते हैं। षट् अंगों का क्रम इस प्रकार है—(१) शिक्षा में वेद-मन्त्रों के यथेष्ट उच्चारण की विवेचना है, तो (२) कल्प में वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञ के अनुष्ठान का विशद वर्णन। (३) व्याकरण वैदिक शब्दों के रूपों का सच्चा ज्ञान कराता है तो (४) निरुक्त उन शब्दों का निर्वचन करके उनकी व्युत्पत्ति खोल देता है। (५) छन्द का विषय वैदिक छन्दों की मीमांसा है और (६) ज्योतिष यज्ञ के अनुष्ठानार्थ उचित काल-निर्णय का निर्देश करता है।

मन्त्र संहिताओं के आविर्भाव से भारतीय ज्ञान-विकास के इतिहास का आरम्भ हुआ है तो षड् वेदाङ्गों के निर्माण में इस विकास-क्रम में एक नये युग का उदय होता है। इतिहास में यह 'उत्तर वैदिक युग" के नाम से विख्यात है। इस काल में वैदिक शिक्षा-दीक्षा, आचार-विचार और रीति-व्यवहार की प्रतिष्ठा की गई थी। 'पाणिनीय शिक्षा' में छन्द को वेद भगवान् के चरण, कल्प को हाथ, व्याकरण को मुख, शिक्षा को नासिका, निरुक्त को कान और ज्योतिष को नेत्र कहा गया है।

शिक्षा

जैसा कहा जा चुका है, शिक्षा वेदाङ्ग वेद भगवान् का घ्राण है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उस विद्या का नाम शिक्षा है, जो स्वर, वर्ण, मात्रा आदि के उच्चारण-प्रकार का उपदेश दे। जैसा सायण ने 'ऋग्वेद भाष्य-भूमिका' में लिखा है--

"स्वर वर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा"

(सायण, ऋ० भा० भू० पृष्ठ ४६)

वैदिक प्रणाली की शिक्षा-दीक्षा में पहले किसी मन्त्र का उच्चारण गुरु स्वयं

करता है, फिर शिष्य सुनकर उसका अनुकरण करके स्वयं वैसा ही उच्चारण करता है । इसलिये वेद को 'अनुश्रव' कहते हैं । अनु=पश्चात्, श्रूयते यः सः अनुश्रवः अर्थात् जो गुरु द्वारा उच्चारित होने के बाद सुना जाय । वेद के लिखित रूप का पाठ करने वाले प्राचीनकाल में निन्दा के पात्र समझे जाते थे । वेद का शुद्ध उच्चारण करने के लिये उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—इन तीनों स्वरों को समझना नितान्त आवश्यक है । 'उदात्त' का उच्चारण उच्च स्वर से और 'अनुदात्त' का उच्चारण मन्द स्वर से किया जाता है । उदात्त और अनुदात्त के मध्य की अवस्था का प्रतिनिधित्व 'स्वरित' करता है । पाणिनि के—"उच्चैरुदात्तः । नीचैरनुदात्तः । समाहारः स्वरितः इन शब्दों में तीनों 'स्वरों' का लक्षण निर्दिष्ट है ।

वेद में नियम यह है कि प्रत्येक शब्द में एक न एक स्वर 'उदात्त' अवश्य होता है तथा शेष स्वर 'अनुदात्त' होते हैं । इन्हीं में से एक 'अनुदात्त, 'उदात्त' के बाद वाला, 'स्वरित' हो जाता है । वेद में स्वर-विज्ञान का अनुशीलन बड़े गम्भीर ढंग का मिलता है । बात यह है कि वेद में शब्द के एक होने पर भी स्वर-भेद से उसके अर्थ में अन्तर आ जाता है और स्वर में साधारण त्रुटि हो जाने से भी अर्थ का अनर्थ हो सकता है । इसलिये वेद में स्वरों की प्रधानता है । इस विषय पर 'पाणिनीय-शिक्षा' में स्पष्ट निर्देश है—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

(पा० शि० श्लोक ५२)

आज से २२०० वर्ष पूर्व महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उच्चारण के सम्बन्ध में वैदिक गुरु का संकेत किया है जो—

"उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते चेत् खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटिकां ददाति" (महाभाष्य) शिष्य को दण्ड के साथ उच्चारण सिखाते थे ।

उपनिषद् काल में शिक्षा—'तैत्तिरीय उपनिषद्' की प्रथम वल्ली में शिक्षा-सिद्धान्त का निर्देश हुआ है—"वर्णः स्वरः मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः, इत्युक्तः शिक्षाध्यायः" तैत्ति० १/२ । इसका तात्पर्य यह है :

(i) वर्ण—वर्णमाला अथवा अक्षरों से तात्पर्य है । इनकी संख्या पाणिनीय शिक्षा में ६३ या ६४ दी गई है ।

(ii) स्वर—उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित हैं ।

(iii) मात्रा—(स्वर-उच्चारण-समय) इसके ह्रस्व. दीर्घ तथा प्लुत तीन प्रकार हैं ।

(iv) बल—(स्थान और प्रयत्न) स्थान ८ है तथा प्रयत्न २ हैं—

बाह्य एवं आभ्यन्तर । बाह्य प्रयत्न (१) विवार, (२) संवार, (३) श्वास

(४) नाद, (५) घोष, (६) अघोष, (७) अल्पप्राण, (८) महाप्राण, (९) उदात्त, (१०) अनुदात्त, (११) और स्वरित ११ प्रकार का तथा आभ्यन्तर ४ प्रकार का होता है—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत ।

(v) साम—(साम्य अर्थात् दोष शून्य माधुर्यादि गुण से युक्त उच्चारण) पाणिनि के अनुसार अच्छे पाठक के ये गुण हैं—

"माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यलयसमर्थञ्च षडेते पाठकाः गुणाः ।।" पा० शि० ३२ ।।

अधम पाठक के लक्षण ये हैं—

'गीती, शीघ्री, शिरः कम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ।।' पा० शि० ३३ ।।

इनके अतिरिक्त निन्दनीय पाठों का निर्देश इस प्रकार किया है—

"शकितं भीतमुत्कृष्टम् अव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसिगतं तथा स्थान-विवर्जितम् ।। पा० शि० ३४ ।।
उपांशु, दष्टं, त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं, ग्रस्तपदाक्षरञ्च, वदेन्नदीनं न तु सानुनास्यम् ।। पा० शि० ३५ ।।

(iv) सन्तान—(संहिता अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि)

संहिता जहाँ होगी, वहीं पदों में संधि होती है । यथा—"वायो आयाहि' में दो स्वतन्त्र वैदिक पदों का यदि एक साथ उच्चारण होता है तो संधि के कारण परिवर्तन हो जाता है । सन्धिजन्य रूप 'वायवायाहि' होगा ।

प्रत्येक वेद की पृथक् 'शिक्षा' है, क्योंकि प्रत्येक के उच्चारण में कुछ न कुछ पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है । यथा—यजुर्वेद में मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण 'ख' के रूप में होता है, जबकि ऋक् आदि वेदों में शुद्ध मूर्धन्य 'ष' उच्चारित होता है । यों तो शिक्षा ग्रन्थ पाणिनीय, याज्ञवल्क्य, वासिष्ठी, पाराशरी आदि अलग से विद्यमान है किन्तु सामान्यतः 'प्रातिशाख्य' ही शिक्षा के प्राचीनतम प्रतिनिधि ग्रन्थ है । संहिताओं की प्रत्येक शाखा का अपना पृथक् 'प्रातिशाख्य' है । यथा— ऋक् प्रातिशाख्य, 'वाजसनेयी प्रातिशाख्य', तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, साम प्रातिशाख्य,' 'अथर्व प्रातिशाख्य 'आदि । इनमें उच्चारण, सन्धि, ह्रस्व का दीर्घ विधान आदि विषयों का सम्यक् प्रतिपादन मिलता है ।

कल्पसूत्र—'कल्प' का अर्थ है, वेद विहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र शिक्षा का सम्बन्ध मन्त्रों का यथेष्ट उच्चारण करने के नाते संहिता भाग से है, तो कल्प-सूत्र ब्राह्मण-भाग की सहायक रचना है । दोनों का उदय धार्मिक आवश्यकता से हुआ है, क्योंकि यज्ञ के समय विधि के मन्त्र का शुद्ध उच्चारण करना शिक्षा सिखाती है तो विविध याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों और उनकी विधि का निर्देश कल्पसूत्रों में मिलता है । वस्तुतः संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वेदों को ११३० शाखाओं से गुणित होकर गगनचुम्बी राशि

के रूप में अध्ययनाध्यापन की दृष्टि से दुस्साध्य हो गये तथा यज्ञ की विधियों का भी अखण्ड जगड्वाल चतुर्दिक व्याप्त हो गया। उस समय संक्षिप्तातिसंक्षिप्त प्रणाली में अधिक से अधिक मन्त्रों और विधियों का निर्देश करते हुए कतिपय चुने हुये अक्षरों वाले शब्दों का प्रयोग करके ऋषियों ने सूत्र-शैली का आविष्कार किया। अतः कल्पसूत्रों का प्रयोजन यज्ञ की विधियों को अधिकाधिक संक्षिप्त और व्यवस्थित करना ही लक्षित होता है। वस्तुतः कल्प से तात्पर्य है—विधि, नियम, न्याय, कर्म और आदेश आदि।

ये कल्पसूत्र ४ प्रकार के हैं—

(१) श्रौत-सूत्र—श्रौतयज्ञों के विधि-विधानों का वर्णन करने वाले सूत्रग्रन्थ।

(२) गृह्यसूत्र—जो कल्पसूत्र गृह्याग्नि में सम्पादित होने वाले संस्कारों एवं गृह्य-महोत्सवों का वर्णन करते हैं वे गृह्यसूत्र कहलाते हैं।

(३) धर्मसूत्र—जिन कल्पसूत्रों में धर्म, आचार-विचार, न्याय तथा तत्कालीन प्रथाओं का विवेचन प्राप्त होता है, उन्हें धर्ममूत्र कहते हैं। इनमें समाज एवं वर्णाश्रम की मीमांसा के साथ राज्य-शासन, कर-निर्धारण, दण्डविधान आदि की समुचित व्यवस्था की हुई मिलती है।

शुल्वसूत्र—शुल्व का अर्थ 'मापक' होता है। यज्ञशाला की रचना के लिये यज्ञवेदी तथा यज्ञकुण्ड के निर्माण के हेतु यथेष्ट नियम शुल्वसूत्रों में प्राप्त होते हैं। इन नियमों में प्राचीन भारतीय ज्यामिति के तत्वों तथा गणनाओं के सिद्धान्त निहित हैं।

ये 'कल्पसूत्र' वेदाङ्ग के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, जो वैदिक साहित्य से साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण उसके अत्यन्त सन्निकटवर्ती माने जाते हैं। कल्प-सूत्रकारों ने चौदह श्रौतयज्ञ, सात पाकयज्ञ, पाँच महायज्ञ और सोलह संस्कार इस प्रकार बयालिस कर्मों का निर्देश किया है। १४ श्रौत या वैदिक यज्ञों में से सात हविर्यज्ञ हैं तथा सात सोम यज्ञ। अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढ़पशुबन्ध तथा सौत्रामणि—ये सातों चरु-पुरोडाश के द्वारा हवि से सम्पादित होने के नाते हविर्यज्ञ कहलाते हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय तथा आप्तोर्याम—इन सातों में सोमरस की प्रधानता रहती है अतः इन्हें सोमयज्ञ कहते हैं। आश्वलायन, लाट्यायन आदि श्रौतसूत्रों में इन चौदह यज्ञों का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

गृह्यसूत्रों के यज्ञ नित्यकर्म हैं, अतः उन्हें पाक या प्रधान यज्ञ भी कहते हैं। गृह्यसूत्रकारों ने गृह्य या पाक यज्ञों के सात प्रकार माने हैं। (१) पितृ-यज्ञ या पितृ-श्राद्ध, (२) पार्वण-यज्ञ, जो पूर्णिमा और अमावस्या को किया जाता है। (३) अष्टका यज्ञ, आजकल इसमें बड़ा रूपान्तर हो गया है। (४) श्रावणी यज्ञ आज भी प्रचलित है। (५) आश्वयुजी यज्ञ, आश्विन में किया जाता है जो लक्ष्मीपूजन का रूप धारण कर चुका है। (६) आग्रहायणी यज्ञ, अगहन मास में किया जाता है, जो

नवान्न के रूप में अनुकल्पित हो चुका है और (७) चैत्री यज्ञ—चैत्र में किया जाता है, जो बड़ा रूपान्तर प्राप्त कर चुका है।

चौदह श्रौत और सात गृह्य यज्ञों के अतिरिक्त धर्म-सूत्रों में—देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और मनुष्य यज्ञ—इन पांच महायज्ञों का विवरण प्राप्त होता है। देवयज्ञ, हवनादि कर्म हैं। भूतयज्ञ बलिरूप में अन्न आदि के दान करने को कहते हैं। पितृयज्ञ पिण्डदान तथा तर्पण हैं। ब्रह्मज्ञ, वेदों के अध्ययनाध्यापन या मन्त्रपाठ का अभिधान है और मनुष्य यज्ञ अतिथि को अन्न आदि देता है। ये पाँचों महायज्ञ आज भी अपने मौलिक रूप में प्रचलित है।

गृह्य एवं धर्मसूत्रों में षोडश संस्कारों का समुचित विवरण प्राप्त होता है। वे संस्कार है—गर्भाधान, पुंसवन या पुत्र जन्मानुष्ठान, सीमन्तोन्नयन या गर्भवती स्त्री का केश-विन्यास, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, वेदाध्ययन काल का महानाम्नी व्रत, महाव्रत, उपनिषद् व्रत, गोदानव्रत, समावर्तन या पठन के अन्त का स्नान विशेष, विवाह और अन्त्येष्टि। धर्मसूत्रकार गौतम अन्त्येष्टि और निष्क्रमण को संस्कार नहीं मानते, अतः चौदह संस्कार ही स्वीकार करते हैं वह चत्वारिंशत कर्मवादी कहे जाते हैं। साधारणतः सोलह संस्कारों की मान्यता स्वीकार की जाती है।

कल्पसूत्रों का विवरण इस प्रकार है :

ऋग्वेदीय कल्पसूत्र—(श्रौतसूत्र)

'ऋग्वेद' से सम्बद्ध आश्वलायन और 'शांखायन' नामक दो श्रौत ही विख्यात हैं। अब 'कौषीतकि श्रौतसूत्र' के अंश भी प्रकाशित होने लगे हैं। इनमें 'होता' के द्वारा प्रतिपाद्य विषयों को लक्ष्य करके यज्ञों का अनुष्ठान वर्णित है। 'आश्वलायन श्रौतसूत्र में बारह अध्याय हैं। इन सभी में वैदिक यज्ञों का विवरण प्राप्त होता है 'ऐतरेय ब्राह्मण' तथा 'आरण्यक' में जिन यज्ञों का विस्तृत विवरण हुआ है, संक्षेप में उन्हीं के विधान आदि का निरूपण 'आश्वलायन श्रौतसूत्र' का विषय है। इस पर गार्ग्यनारायणि की संस्कृतवृत्ति मिलती है। शांखायन श्रौत्रसूत्र में अठारह अध्याय हैं। इसमें दर्शपूर्णमास, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध यज्ञों का विवरण मिलता है। इसके अन्तिम दो अध्याय बाद के जोड़े हुये कहे जाते हैं, अन्यथा इसकी शैली ब्राह्मण-ग्रन्थों से साम्य रखती है। हिलेब्रांट ने १८१८ ई० में इसका एक सुन्दर संस्करण निकाला है। ये दोनों श्रौतसूत्र 'बाइब्लोथिका इण्डिका' में छपे हैं।

उपर्युक्त दोनों श्रौतसूत्रों में सम्बद्ध ऋग्वेद के दो गृह्यसूत्र प्रसिद्ध हैं।

(१) आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा (२) शांखायन गृह्यसूत्र। तीसरा कौषीतकि गृह्यसूत्र भी हाल में मद्रास से छपा है।

'आश्वलायन गृह्यसूत्र' चार अध्यायों में विभक्त हैं, प्रथम अध्याय में उपनयन विवाह आदि संस्कारों तथा पशुयज्ञ, चैत्ययज्ञ आदि यागों का वर्णन है। द्वितीय में श्रावणी, आग्रहायणी, आश्वयुजी, अष्टका, गृहनिर्माण तथा गृहप्रवेश का निरूपण है।

इसी में ऋग्वेद के विविध मण्डलों के ऋषियों के नामों के अतिरिक्त सुमन्त, जैमिनी वैशम्पायन, पैल, व्यास तथा सूत्र-ग्रन्थों के आचार्यों एवं भाष्यकारों के नामों का उल्लेख है। तृतीय अध्याय के दूसरे खण्ड में वेदाध्ययन के विशिष्ट नियमों का उल्लेख है। इसमें आपद् तथा युद्धकाल के कर्मों का भी विवरण है। चतुर्थ अध्याय में श्राद्ध आदि का वर्णन है।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य के मत से इस गृह्यसूत्र की रचना ईसा से १२०० वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

इस गृह्यसूत्र पर गार्ग्यनारायणि, कुमारिल भट्ट तथा हरदत्त मिश्र की वृत्ति, कारिका और व्याख्या उपलब्ध है। इसका प्रकाशन ए० एफ० स्टेंसलर ने दो भागों में किया है।

'शांखायनगृह्यसूत्र, में छह अध्याय हैं। इसकी रचना सुयज्ञ ने की थी। प्रथम अध्याय में विविध संस्कारों तथा गृह्यकर्मों का वर्णन है। द्वितीय में उपनयन के साथ ब्रह्मचर्य आश्रम का विवरण है। तृतीय में स्नान, गृहनिर्माण, गृहप्रवेश, वृषोत्सर्ग, आग्रहायणी और अष्टका का वर्णन है। चतुर्थ में श्राद्ध आदि कर्मों तथा चैत्री आदि यज्ञों का उल्लेख है, पाँचवें तथा छठे अध्यायों में कतिपय प्रायश्चितों का निरूपण हुआ है।

कौषीतकि गृह्यसूत्र—'कौषीतकि श्रौतसूत्र' तो अब तक प्रकाशित नहीं हो सका, किन्तु शाम्भव्य द्वारा रचित गृह्यसूत्र प्रकाशित हैं। इसमें पाँच अध्याय हैं। विवाह संस्कार के वर्णन से ग्रन्थ का आरम्भ होता है। जात शिशु के संस्कारों का परिचय देकर इसमें उपनयन का विस्तृत वर्णन किया गया है। वैश्वदेव और कृषिकर्म के उपरान्त श्राद्ध के वर्णन से ग्रन्थ का उपसंहार होता है। 'शांखायन गृह्यसूत्र के साथ इसका पर्याप्त साम्य तथा वैषम्य है। आदि में समानता है और अन्तिम अंश में विषमता।

वसिष्ठधर्मसूत्र—यह ऋग्वेद का धर्मसूत्र है। इसमें तीन अध्याय हैं आदि में साधारण विधि आर्यावर्त की सीमा और विवाह पद्धतियों का वर्णन है, फिर जातियों के कर्त्तव्य का निर्देश। वेदपाठ की आवश्यकता, स्त्रियों के कर्त्तव्य, सदाचार, ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ, भिक्षुधर्म, अतिथि सेवा, स्नातक धर्म, खाद्य विचार, राजकीय विधि तथा उत्तराधिकार का निरूपण है। १८ वें अध्याय में निषाद आदि मिश्र जातियाँ, १९ वें में राजधर्म, २० वें से २८ वें तक प्रायश्चित्त तथा २९ वें तथा ३० वें अध्याय में दान दक्षिणादि वर्णित है। 'आश्वलायन' तथा शांखायन 'धर्मसूत्रों की नितरां उपलब्धि नहीं होती।

परशुरामकल्पसूत्र—यह भी ऋग्वेदीय कल्पसूत्र माना जाता है जो उमानन्द की पद्धति के साथ दो भागों में बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

विष्णुधर्मशास्त्र—यह कौषीतकि शाखा से सम्बद्ध है। इसका मूलरूप

३०० वि० पू० के लगभग बना और सप्तम शताब्दी तक इसके विषय का परिवर्धन होता रहा।

यजुर्वेदीय कल्पसूत्र—शुक्ल यजुर्वेद का विशाल 'कात्यायन श्रौतसूत्र, माध्यन्दिनी शाखा से सम्बद्ध, २६ अध्यायों में उपलब्ध है। आदि के १८ अध्यायों में 'शतपथ ब्राह्मण' के नौ काण्डों के योगक्रम का अनुवर्तन है, शेष में श्रौत्रामणि अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का विवरण दिया गया है। व्रात्यों के वर्णन में मगध के ब्राह्मबन्धुओं का भी उल्लेख है। इस पर कर्काचार्य का पाण्डित्यपूर्ण भाष्य उपलब्ध है।[1]

'पारस्करगृह्यसूत्र' भी शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसके प्रथम काण्ड में विवाह, गर्भाधान से अन्नप्राशन तक का वर्णन है। द्वितीय में चूडाकर्म, कृषि, प्रारम्भ, उपनयन, पंच महायज्ञ, श्रावणी कर्म आदि हैं। तृतीय में गृह-निर्माण श्राद्ध आदि का विवरण है इसके पाँच प्रसिद्ध भाष्यकार हैं—कर्क, जयराम, गदाधर, हरिहर तथा विश्वनाथ। 'कातीय श्राद्ध सूत्र' कात्यायन की रचना है। इसकी नौ कण्डिकाओं के सूत्रों में श्राद्ध का विस्तृत वर्णन हुआ है।

एक शुल्वसूत्र भी कात्यायन रचित काशी से प्रकाशित हुआ है। इसकी सात कण्डिकाओं में से प्रथम में परिभाषा है, जहाँ वेदि निर्माण, चतुरस्रादि क्षेत्र, चित्ति आदि निरूपित हैं। इसमें वैदिक युगीन ज्यामिति विद्या का निरूपण हुआ है।

कृष्ण यजुर्वेद के (१) 'बौधायन श्रौतसूत्र,' (२) आपस्तम्ब, (३) हिरण्यकेशी, (४) वैखानस, (५) भारद्वाज और (६) मानव श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं। इनमें से अन्तिम का सम्बन्ध मैत्रायणी शाखा से है शेष का तैतिरीय शाखा से सम्बन्ध है। इनमें से बौधायन तथा आपस्तम्ब शाखाओं के श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्व—ये चारों सूत्र-ग्रन्थ समग्र रूप से प्राप्त होते हैं, जो परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

'बौधायन श्रौतसूत्र' उन्नीस प्रश्नों का ग्रन्थ है। इसे डा० कैलेण्ड ने सम्पादित और प्रकाशित किया है जो 'बाइब्लोथिका इण्डिका, में छपा है। गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ मैसूर से भी प्रकाशित हुआ है। 'बौधायन गृह्यसूत्र' में चार प्रश्न है। यह गवर्नमेंट ओरियन्टल लाइब्रेरी संस्कृत सीरीज से छपा है। यहीं से 'बौधायन धर्मसूत्र' भी चार प्रश्नों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम प्रश्न में ब्रह्मचर्य, शुद्धाशुद्ध विचार, मिश्रजाति, राजविधि और अष्टविध विवाह का वर्णन है। द्वितीय में प्रायश्चित्त उत्तराधिकार, स्त्रीधर्म, गृहस्थधर्म, श्राद्ध आदि वर्णित हैं। तृतीय में कर्तव्यों, व्रतों और प्रायश्चित्तों का तथा चतुर्थ में काम्य सिद्धियों का विवरण है।

आपस्तम्ब का पूर्ण कल्पसूत्र तीस प्रश्नों में विभक्त है। आदि से चौबीस प्रश्नों का श्रौतसूत्र है। अट्ठाइसवें और उन्तीसवें प्रश्नों में धर्मसूत्र हैं और तीसवाँ सूत्र शुल्व सूत्र है। 'आपस्तम्ब श्रौतसूत्र' मुख्यतः तैत्तिरीय ब्राह्मण से सम्बद्ध हैं। इसमें

---

१. चौखम्बा संस्कृत सीरिज काशी से प्रकाशित।

ब्राह्मणोचित यागविधानों का यथेष्ट वर्णन मिलता है।'आपस्तम्ब गृह्यसूत्र' तेईस खण्डों का है, जिसमें ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा शास्त्र-शिक्षा, गृह-नर्माण, उपनयन, विवाह, समावर्तन, सीमन्तोन्नयन, श्रावणी, अष्टका आदि तेईस विषयों का प्रतिपादन हुआ है। काशी संस्कृत सीरीज में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। 'विण्टरनिट्ज' ने भी टिप्पणियों सहित इसे शुद्ध रूप में छपवाया है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र—इसमें ब्रह्मचर्य, शास्त्र-विचार, भोजन-विचार तथा प्रायश्चित्त आदि विषयों का प्रतिपादन हुआ है। 'उज्जवला' नामक व्याख्या सहित यह धर्म-सूत्र 'गवर्नमेंट 'ओरियन्टल हिन्दू सीरीज' में दो भागों में छपा है। 'आपस्तम्ब परिभाषासूत्र कर्पदिस्वामी के भाष्य और हरदत्त की व्याख्या सहित प्रकाशित हो चुका है। योरुप में इस वेद का 'पितृमेध सूत्र' भी 'डच' भाषा में छपा है।

'हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र' 'आपस्त ब श्रौतसूत्र' के आधार पर ही बना है। इसे 'सत्याषाढ सूत्र भी कहते हैं। वैयजन्ती आदि व्याख्याओं के साथ 'आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली' में यह छह भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका गृह्यसूत्र भी छप चुका है।

'भरद्वाज[1] कल्पसूत्र' भी तैत्तिरीय शाखा का है। 'भरद्वाज श्रौतसूत्र' की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं।

'भरद्वाज गृह्यसूत्र' को जे० डब्ल्यू सालोमन ने सम्पादित करके १९१३ ई० में छपवाया है। मैत्रायणी शाखा का 'वाराह गृह्यसूत्र' 'गायकवाड़ संस्कृत सीरीज' में छपा। 'मानव श्रौतसूत्र' का सम्बन्ध भी मैत्रायणी शाखा से है। इसके आदि के पाँच अध्यायों का सम्पादन डा० वनाउपर' ने १९०० ई० में 'सेन्टपीटर्सबर्ग' से प्रकाशित किया है। यहीं से 'मानव-गृह्यसूत्र' का प्रकाशन 'डा० वनाउपर' ने ही किया है। इधर अष्टावक्र भाष्य सहित 'गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज' से भी प्रकाशित हुआ है। इसका मुख्य 'शुल्व सूत्र' भी प्राप्त है।

श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार' मानव धर्मसूत्र' उपलब्ध नहीं है।[2] किन्तु 'रामगोविन्द त्रिवेदी' ने अपने 'वैदिक सहित्य' में इसे 'जे० एम० गिल्डनर' के द्वारा प्रकाशित माना है।[3] कठशाखा' काठक गृह्यसूत्र 'डा० कैलेण्ड' ने प्रकाशित किया है।

सामवेदीय कल्पसूत्र—सामवेद का 'आर्षेय' या मशक' कल्पसूत्र जो इस वेद का प्राचीनतम कल्पसूत्र है, 'डा० कैलेण्ड' ने १९०८ ई० में जर्मनी से प्रकाशित किया था। इसमें सामगानों के विशिष्ट स्थानों में विनियोग का वर्णन है यह 'पञ्चविंश ब्राह्मण' के योग क्रम से सम्बद्ध है। 'लाट्यायन श्रौतसूत्र,' में इसका निर्देश किया गया है। 'सामवेद' की कौथुम शाखा' से सम्बद्ध 'लाट्यायन श्रौतसूत्र,'

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ २९३।
२. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ सं० २९७।
३. वैदिक साहिप्य पृष्ठ सं० १९५।

राणायनीय शाखा' से सम्बद्ध 'द्राह्यायण श्रौतसूत्र' तथा जैमिनी शाखा से सम्बद्ध 'जैमिनीय श्रौतसूत्र' ये तीनों ही एकत्रित हो चुके हैं। कौथुम शाखा का 'गोभिल गृह्यसूत्र' पूर्णता और प्राचीनता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें 'साम संहिता' के अतिरिक्त 'मन्त्र ब्राह्मण' के मन्त्र भी उद्धृत मिलते हैं। 'राणायनीय शाखा' का 'खादिर गृह्यसूत्र' रुद्रस्कन्द की टीका के साथ 'गवर्नमेंट ओयिन्टल लाइब्रेरी संस्कृत सीरीज' से प्रकाशित हुआ है। 'जैमिनीय गृह्यसूत्र' सुबोधिनी टीका और टिप्पणियों सहित बृहद् भूमिका के साथ 'डॉ० कैलेण्ड' ने छपवाया है।

सामवेद का 'गौतम धर्मसूत्र' २८ अध्यायों में विभक्त है। इसमें उपनयन, ब्रह्मचर्य, भिक्षु, वैखानस और गृहस्थ धर्म वर्णित हैं। इसमें गौतम ने ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, देव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच इन आठ प्रकारों के विवाह का भी उल्लेख किया है। साथ ही साथ इसमें आपत्तिकालीन वृत्तिसमूह, स्नातक धर्म, जातीय धर्म, राजधर्म, वेदपाठ, उत्तराधिकार आदि का वर्णन है। 'मस्करी भाष्य' सहित यह भी 'गवर्नमेंट ओरियन्टल लाइब्रेरी संस्कृत सीरीज' से प्रकाशित हुआ है।

अथर्ववेदीय कल्पसूत्र—'वैतान श्रौतसूत्र' प्राचीनता एवं मौलिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार इसका निर्माण २००० ई० पू० है। 'गोपथ ब्राह्मण' तथा 'कात्यायन कल्पसूत्र' का इस पर विशेष प्रभाव लक्षित होता है। 'अथर्ववेद' के एकमात्र 'कौशिक गृह्यसूत्र' में १४ अध्याय हैं। प्राचीन भारतीय यातुविद्या से सम्बद्ध अनुपम सामग्री तथा वैद्यकशास्त्र की औषधियों का विशद वर्णन है। इसे मारिस ब्लूम फील्ड ने शुद्ध रूप में प्रकाशित किया है। कुछ लोगों का मत है कि 'वैखानस गृह्यसूत्र' भी 'अथर्ववेद' की शौनक शाखा से सम्बद्ध है। केवल पैप्पलाद शाखा का कोई-कोई कल्पसूत्र प्राप्त नहीं होता है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, वसिष्ठस्मृति, पराशरस्मृति आदि अनेक स्मृतियों की रचना का सूत्रपात इन कल्पसूत्रों से ही हुआ है। हिन्दुओं के समस्त संस्कार, राजधर्म, दाम्पत्यधर्म, दायभाग, संस्कार जाति विवरण और प्रायश्चित्त इन कल्पसूत्रों पर आश्रित हैं। इसी से इनका महत्व है।

कल्पसूत्रों का रचनाकाल—कल्पसूत्रों का निर्माणकाल ७०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक स्थिर किया जाता है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी के 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (४-३-१०५) में कल्पसूत्रों की प्राचीन तथा नवीन दो श्रेणियों का उल्लेख है। तथा 'काश्यपकौशिभ्यामृषिभ्योणिनिः' (४-३-१०३) में काश्यप और कौशिक कल्पसूत्रों का भी वर्णन है। आश्वलायन तथा कात्यायन के गुरु गृहपति शौनक पाणिनि से कुछ पूर्ववर्ती माने जाते हैं। पाणिनि का समय ६०० ई० पू० निश्चित ही है। डा० जाली ने 'गौतम धर्मसूत्र' का समय ६०० ई० पू० तथा डा० बूलर ने 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' का काल ४००० ई० पू० माना है।

व्याकरण

वेद मन्त्रों को सुरक्षित रखने के साथ व्याकरण उनके गूढ़ अर्थों को व्यक्त करता है। इसी से वह वेद पुरुष का मुख ("मुखं व्याकरणं स्मृतम्" च० ध्यू०) माना गया है। इसीलिये वेदाङ्गों में व्याकरण मुख्य है। 'ऋक् संहिता' में [४–५८–६] व्याकरण का रूपक वृषभ से बाँधा गया है क्योंकि वह कामनाओं की पूर्ति करने वाला शास्त्र है। इसके चार सींग है—नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात। भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल इसके तीन चरण हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं और सात विभक्तियाँ ही सात हाथ हैं। यह उरु, कण्ठ और सिर तीन स्थानों में बांधा गया है। मनुष्यों में यह महान् देव प्रवेश पाये हुये हैं। आचार्य वररुचि ने शब्द-शास्त्र के अध्ययन के प्रधान रूप से ५ प्रयोजन बताये हैं—(१) रक्षा, (२) ऊह, (३) आगम, (४) लघु तथा (५) असन्देह। 'रक्षा' से अभिप्राय व्याकरण के अध्ययन से वेद की रक्षा करना है। 'ऊह' का अर्थ नये-नये पदों की कल्पना से है। 'आगम' का अभिप्राय है कि स्वयं श्रुति ही व्याकरण के अध्ययन में प्रमाणभूत है। 'लघु' का अर्थ है कि व्याकरण ही वह लघु उपाय है जिसके आश्रय से वेदों के रहस्य का उद्घाटन हो सकता है। 'असन्देह' का आशय है कि वैदिक शब्दों के विषय का सन्देह व्याकरण से निराकृत किया जा सकता है।

उपर्युक्त पाँच प्रयोजनों के साथ पतञ्जलि ने अन्य तेरह (१३) प्रयोजनों का उल्लेख भी किया है। कुछ ये हैं—१. अपभाषण—शब्दों के अशुद्ध उच्चारण को दूर करना। २. दुष्ट शब्द—अशुद्ध शब्दों के प्रयोग से जो अनर्थ होते हैं उनसे बचना। ३. अर्थज्ञान—वेद के अर्थज्ञान के लिये व्याकरण जानना आवश्यक है, तभी शब्द-ज्ञान सफलता प्राप्त करता है। ४. धर्मलाभ— शुद्ध शब्दों के प्रयोग से कुशल व्यक्ति धर्मलाभ करता है। ५. नामकरण–गृह्यसूत्रों के अनुसार उत्पन्न हुए शिशु का नामकरण दशवें दिन करना चाहिये। नामकरण के कुछ नियम हैं, जैसे नाम कृदन्त होना चाहिये, तद्धितान्त नहीं। व्याकरण का अनुशीलन करने वाला ही इन सूक्ष्म तथ्यों से परिचित हो सकता है। 'गोपथ-ब्राह्मण' में [१–२४] व्याकरण शब्द के प्रयोग के साथ धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, लिंग, वचन. विभक्ति, प्रत्यय, उपसर्ग, स्वर, मात्रा, निपात आदि व्याकरणशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का वर्णन मिलता है।

वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके अर्थ समझने के लिये प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना उत्तर वैदिक काल में ही की जा चुकी थी। इन्हें हम उस युग का व्याकरण ग्रन्थ कह सकते हैं क्योंकि इन ग्रन्थों के मूल सूत्र ब्राह्मणों और कल्प-सूत्रों में मिलते हैं। संक्षेप में प्रातिशाख्यों के विषयान्तर्गत वर्ण-समाम्नाय, पदविभाग, संधिविच्छेद, स्वर-विचार, पाठ-विचार और उच्चारण भेद आते हैं।

'वर्ण समाम्नाय' के अन्तर्गत स्वर-व्यञ्जनों पर विचार तथा उनके उच्चारण आदि की विवेचना की जाती है। पद-विभाग में प्रगृह्य संज्ञा, अवग्रह तथा उसके नियम व अपवाद आते हैं। सन्धि-विच्छेद में अच्, हल् और विसर्ग आदि सन्धि के नियम दिये हैं। स्वर-विचार में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का

परिचय कराकर उनका भेद समझाते हुये आख्यात स्वरों पर प्रकाश डाला गया है। पाठ-विचार में संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ, रथ-पाठ, शिखा-पाठ आदि के भेद प्रदर्शक नियम दिये गये हैं। उच्चारण विचार में वृद्ध, अवृद्ध प्रश्लेष, विश्लेष, गत, अगत, उच्च, निम्न, कृष्ट, अकृष्ट, संकृष्ट आदि ध्वनिभेदों का विशद वर्णन है।

११३० में से आज वैदिक शाखाओं की भाँति 'प्रातिशाख्य' भी अत्यल्प संख्या में प्राप्त हैं। उपलब्ध प्रातिशाख्यों में ऋक्-प्रातिशाख्य', 'तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य', 'शुक्ल यजु-प्रातिशाख्य', 'साम-प्रातिशाख्य' तथा 'अथर्व-प्रातिशाख्य' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। 'ऋक्-प्रातिशाख्य' में तीन काण्ड है। प्रत्येक काण्ड छह पटलों में विभक्त हैं। इन पटलों में १०३ कण्डिकायें हैं। विष्णु पुत्र इसके प्रथम भाष्यकार है।[1]

शौनक रचित 'ऋक् प्रातिशाख्य' में अगस्त्य-व्याकरण का उल्लेख हुआ है। स्पष्ट है कि ऋक् प्रातिशाख्य' से पूर्व अगस्त्य ने अपने व्याकरण की रचना की थी। तंजोर भंडार के सूचीपत्र में हस्तलिखित प्रतियों के अन्तर्गत ग्रन्थ संख्या ४७१२ के रूप में भी 'अगस्त्य-व्याकरण का उल्लेख मिलता है। जहाँ तक अगस्त्य की ऐतिहासिकता का सम्बन्ध है—महाभारत के आदिपर्व में द्रोणाचार्य स्वयं कहते हैं, "प्राचीनकाल में अग्निवेश नामक मेरे गुरु ने धनुर्वेद अगस्त्य से सीखा था।" ऋषि अगस्त्य की सर्वतोमुखी प्रतिभा का पता उनके आयुर्वेदज्ञ[2] होने के साथ वास्तुशास्त्र विषयक एवं पक्षिशास्त्र विषयक "पंचपक्षिशास्त्र[3] ग्रन्थों के देखने से लग जाता है। इस प्रकार अगस्त्य को महाभारतकालीन ऐतिहासिक पुरुष मानना संगत प्रतीत होता है।

यहाँ तक वैदिक व्याकरण का वर्णन हुआ। लौकिक संस्कृत के व्याकरण का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है। 'अष्टाध्यायी' से पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। जो परवर्ती व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये, उनमें से कोई भी सर्वांगीणता तथा सार्वभौमिकता की दृष्टि से 'अष्टाध्यायी, की सर्वप्रियता को प्राप्त नहीं कर सका। 'अष्टाध्यायी' में यत्र-तत्र यद्यपि वैदिक संस्कृत से सम्बद्ध भी पर्याप्त सूत्र हैं किन्तु प्रधानतः इसे लौकिक संस्कृत का व्याकरण-ग्रन्थ माना जाता है। यही 'वेदाङ्ग व्याकरण का भी प्रतिनिधित्व करता है।

शाकटायन (ऋक्-तन्त्र, पृष्ठ ३) के अनुसार व्याकरण का कथन ब्रह्मा ने बृहस्पति से, बृहस्पति ने इन्द्र से, इन्द्र ने भरद्वाज से, भरद्वाज ने ऋषियों से तथा ऋषियों ने ब्राह्मणों से किया। इसी से इस शास्त्र को 'अक्षर समाम्नाय' कहते हैं। व्याकरणरूपी महार्णव का महत्व प्रतिपादित करते हुये पतञ्जलि अपने महाभाष्य में लिखते हैं,। "बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्च अध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः,

---

१. ऋक्-प्रातिशाख्य १/२

२. ब्रह्मवैवर्त पुराण, अ० १६

३. तंजोर भण्डार का सूचीपत्र, ग्रन्थ संख्या ११४८९—९२.

अन्तं च न जगाम।" बृहस्पति जैसे वक्ता और इन्द्र जैसे श्रोता दिव्य सहस्र वर्षों तक शब्द महार्णव को पार न कर सके। ऐन्द्र व्याकरण को सत्ता को उपमन्यु ने' 'काशिका' वृत्ति की तत्व-विमर्शिनी व्याख्या में और वररुचि ने ऐन्द्र निघण्टु के आरम्भ ही में स्वीकार किया है। वोपदेव ने तो संस्कृत के मान्य व्याकरण-सम्प्रदाओं में प्रथम स्थान इन्द्र को दिया है। डॉ० वर्नल का कथन है कि तमिल भाषा में आदिम व्याकरण 'तोलकप्पिय' में 'ऐन्द्र व्याकरण' से विशेष सहायता ली गई है। इससे स्पष्ट है कि कभी 'ऐन्द्र व्याकरण' विद्यमान और प्रसिद्ध था।

महर्षि पाणिनि ने उससे सहायता लेकर लगभग ४००० अल्पाक्षर सूत्रों में देवभाषा का ऐसा वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत कर दिया कि पूर्ववर्ती सभी व्याकरण-ग्रन्थों पर अन्धकार सा छा गया। पाणिनि का ग्रन्थ अध्यायों में विभक्त है, इसी से उसका 'अष्टाध्यायी' नाम सर्वथा संगत है। पाणिनि के पश्चात् संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले नवीन शब्दों की व्याख्या करने के लिये ही ई० पू० चतुर्थ शतक में कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की। फिर पतञ्जलि ने ई० पू० द्वितीय शतक में विषय की व्यापकता और विचार की गहनता के साथ पाणिनीय सूत्रों पर महाभाष्य का निर्माण किया। व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा प्रस्तुत करने में 'महाभाष्य-बेजोड़ ग्रन्थ-रत्न है इसमें पतञ्जलि ने कथोपकथन की मनोरञ्जक शैली मे नितान्त प्राञ्जल, परिमार्जित एवं साहित्यिक गद्य का प्रयोग किया है। इस प्रकार पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि व्याकरणशास्त्र के ये ही 'मुनित्रय, माने जाते हैं।

अनेक व्याकरण-ग्रन्थ आज लुप्त हो चुके हैं। महिष व्याडिकृत एक लक्ष श्लोकों का 'संग्रह, प्राप्त नहीं है। पाणिनीय परम्परा में रचे गये ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों में वामन तथा जयादित्य की काशिका वृत्ति (षष्ठशतक) जितेन्द्र बुद्धि का 'न्यास' (७०० ई०) तथा 'भट्टोजिदीक्षित' के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों को प्रक्रिया के नवीन क्रम से निबद्ध किया। भट्टोजिदीक्षित के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं-(१) सिद्धान्त कौमुदी, (२) शब्द-कौस्तुभ और (३) मनोरमा व्याकरण के क्षेत्र में कई अन्य सम्प्रदायों का भी उदय हुआ, जैले—कालाये, चान्द्र, जैनेन्द्र, हैम और सारस्वत आदि। किन्तु इन पर भी पाणिनि का प्रभाव पाया जाता है।

निरुक्त

'निरुक्त, यास्क की रचना है। जिनका स्थिति-काल ७०० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। 'निरुक्त, में यह समझाया गया है कि कौन-सा शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में क्यों रूढ हो गया है। इसमें वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्ण-नाश, धातु का उसके अर्थातिशय के साथ योग इन विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च दौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगास्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्॥

इससे स्पष्ट है कि व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान के साथ 'निरुक्त' का विशेष सम्बन्ध है। क्योंकि शब्दज्ञान एवं शब्द व्युत्पत्ति के साथ इन तीनों का ही सम्बन्ध

है। वेद के मन्त्रों का अर्थ समझने के लिये पहले उनका व्युत्पत्ति-परक अर्थ जान लेना आवश्यक होता है। संक्षेप में 'निरुक्त, का विषय कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बताना है। जो कठिन एवं दुरूह शब्द व्याकरण की पकड़ के बाहर थे उनका अर्थ-ज्ञान करने के लिये ही 'निरुक्त' की रचना हुई थी।

'निरुक्त' से भी पूर्व एक 'निघण्टु, नामक ग्रन्थ था, जिसमें वेद के कठिन शब्दों की तालिका क्रमबद्ध-रूप से संकलित थी। यह 'निरुक्त' से सर्वथा भिन्न एक वैदिक शब्द-कोष था जिस पर यास्क ने 'निरुक्त' नाम से भाष्य लिखा। यद्यपि ये दोनों अलग ग्रन्थ हैं किन्तु विषय-साम्य के कारण सायणाचार्य ने 'ऋग्वेद भाष्य' के उपोद्घात में लाक्षणिक रूप से 'निघण्टु' को भी 'निरुक्त' ही कहा है। यास्क ने 'नावैयाकरणाय' कहकर अवैयाकरण के लिये 'निरुक्त' को दुरूह और दुर्बोध माना है। वस्तुतः 'निरुक्त' व्याकरण शास्त्र के चरमोत्कर्ष का परिचायक है।

'निघण्टु' की टीका होने के नाते वेदज्ञों में 'निरुक्त' का स्थान बहुत ऊँचा है। कुछ लोग 'निघण्टु' को भी यास्क की रचना मानते हैं। किन्तु 'महाभारत' (मोक्ष धर्म पर्व अ० ३४२, श्लोक ८६-८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस 'निघण्टु' के रचयिता हैं। 'निघण्टु' में पाँच अध्याय हैं। आदि के तीन अध्यायों को "नैघण्टुक काण्ड" कहते हैं। चतुर्थ अध्याय "नैगम काण्ड' है और पञ्चम अध्याय 'दैवत काण्ड' नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम काण्ड में पृथ्वी आदि के बोधक विविध शब्दों का संग्रह है। द्वितीय 'ऐकपदिककाण्ड' भी कहलाता है। 'नैगम' का अभिप्राय है कि इनके प्रकृति प्रत्यय का यथेष्ट अवगमन नहीं होता। तृतीय 'दैवत काण्ड' में देवतावाचक शब्दों का संकलन है।

निघण्टु युग के उपरान्त निरुक्तों का समय आता है। यास्क ने अपने 'निरुक्त' में बारह निरुक्तकारों के नाम और मत निर्दिष्ट किये हैं। जो इस प्रकार हैं—(१) आग्रायण, (२) औदुम्बरायण, (३) औपमन्यव, (४) और्णवाभ, (५) कात्थक्य, (६) क्रोष्टुकि, (७) गालव, (८) गार्ग्य, (९) तैटीकि, (१०) वार्ष्यायणि, (११) शाकपूणि तथा (१२) स्थौलाष्ठीवि। इनके बाद के १३वें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं। उपर्युक्त द्वादश निरुक्तकारों में से 'शाकपूणि' का मत अधिक उद्धृत किया गया मिलता है 'बृहद्-देवता' में और पुराणों में भी इनके मत का निर्देश हुआ है। इन्हें यास्क के विरुद्ध मत वाला कहा गया है।

आजकल यास्क का 'निरुक्त' ही इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि है। इसमें 'परिशिष्ट' के दो अध्याय मिलाकर कुल १४ अध्याय हैं। ग्रन्थ के आदि में यास्क ने निरुक्त के सिद्धान्त का वैज्ञानिक निरूपण किया है। इनके समय में वेदार्थ का अनुशीलन विविध दृष्टिकोणों से किया जाता था। जैसे—(१) आधिदैवत (२) अध्यात्म, (३) आख्यान समय, (४) ऐतिहासिक, (५) नैदाना, (६) नैरुक्त, (७) परिव्राजक, (८) याज्ञिक आदि। अवान्तरकालीन वेद के भाष्यकारों पर यास्क का सबसे अधिक प्रभाव लक्षित होता है। सायणाचार्य ने यास्क की ही पद्धति का अनुसरण करके वेद के भाष्यों में अत्यन्त अधिक सफलता प्राप्त की। आधुनिक

भाषा-वेत्ताओं को भी यास्क की प्रक्रिया ही मान्य है। भाषा का मूल धातु ही है। इस तथ्य का उद्घाटन यास्क ने ३००० वर्ष पूर्व ही कर दिया है। आधुनिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान तो मूलतः इस तथ्य पर टिका हुआ है। उदाहरणार्थ- 'यत् सर्पत् तत् सर्पिः' इस प्रकार 'सर्पिष' (घी) की व्युत्पत्ति गमनार्थक सृप् धातु से निष्पन्न होती है। ऐसी युक्तियाँ देकर' यास्क ने समस्त नामों को धातुज सिद्ध कर दिया हैं। 'निरुक्त' के प्राचीन टीकाकार दुर्गाचार्य है परन्तु ये आद्य टीकाकार नहीं हैं। इन्होंने अपने टीका-ग्रन्थ में 'निरुक्त' की एक 'निरुक्त वार्तिक नाम की प्राचीन टीका का उल्लेख किया है, जो आज उपलब्ध नहीं है। कुछ लोग दुर्गाचार्य को कश्मीर देशीय तथा अन्य लोग गुजरात निवासी मानते हैं। कहते हैं कि जीवन के उत्तर-काल में ये संन्यासी हो गये थे। इनका स्थिति काल छठी शताब्दी के लगभग माना जाता है। वेदों के ये मर्मज्ञ थे, इनका परिचय 'दुर्गवृत्ति' से मिलता है। इस वृत्ति में 'निरुक्त' की बड़े विस्तार के साथ व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस वृत्ति के आधार पर समग्र 'निरुक्त' का शाब्दिक रूप खड़ा किया जा सकता है। दुर्गाचार्य के अतिरिक्त वर्वर स्वामी, स्कन्दमहेश्वर और वररुचि ने भी निरुक्त परटीकायें लिखी हैं।

पाणिनि ने 'गणपाठ' में निरुक्त' पद का निर्देश किया है, साथ ही 'अष्टाध्यायी के "यास्कादिभ्यो गोत्रे" (१/४/६३) सूत्र में 'यास्क' पद की सिद्धि प्रदर्शित की है। यास्क के 'निरुक्त' में उद्धृत गार्ग्य, गालव आदि कुछ नैरुक्तों को पाणिनि ने गण-पाठ में वैयाकरणों के रूप में उद्धृत किया है। पतञ्जलि के समय में 'निरुक्त' एक व्याख्यात्मक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'निघण्टु' के तीन काण्डों को ही यास्क ने अपने 'निरुक्त' में १२ अध्यायों में प्रकट किया है। 'निघण्टु' के 'नैघण्टुक काण्ड' को 'निरुक्त' के आदिम तीन अध्यायों में, 'नैगम काण्ड' को चार से छः अध्यायों तक तथा 'दैवत काण्ड' को ७ वें से बारहवें अध्याय तक विभक्त कर दिया है। 'निरुक्त' यद्यपि स्वयं एक भाष्य-ग्रन्थ है किन्तु स्थान-स्थान पर वह अत्यन्त दुरूह और दुर्बोध हो गया है। और उसका पाठ भी परम्परा से प्राप्त नहीं होता है। विक्रम से बहुत पूर्व 'निरुक्त' की व्याख्या करने की ओर विद्वानों का ध्यान जा चुका था जैसा कि (अष्टाधायी' के ४/३/६६ सूत्र के) 'महाभाष्य' में पतञ्जलि में स्पष्ट कर दिया है। "शब्दग्रन्थेषु चैषा प्रसूततरा गतिर्भवति। निरुक्तं व्याख्यायते। व्याकरणं व्याख्यात इत्युच्यते। न कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायत इति।"

छन्द

इसका लक्षण 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः" अर्थात् जो अक्षर का परिमाण है वह छन्द कहलाता है। "सर्वानुक्रमणी" में बताया है, कि आचार्य यास्क ने 'छन्दस की व्युत्पत्ति छद् धातु (ढकना) से बतलाई है तथा छन्दों के 'छन्द से कहे जाने का रहस्य यही है कि वे वेदों के आवरण हैं—ढकने वाले साधन हैं।[1] दुर्गाचार्य ने भी

१. छन्दांसि छादनात्—नि०, ७/१९

इसी अर्थ के लिये यह वाक्य प्रयुक्त किया है—"यदेभि रात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यत तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।"[1]

वेद मन्त्रों के उच्चारणार्थ छन्दज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । बिना छन्दज्ञान मन्त्र निष्फल रहता है ।[2] छन्द वेद का पाँचवाँ अंग है । वेद के मुख्य छन्दों के नाम संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं । अतः सिद्ध है कि इसकी उत्पत्ति वैदिक युग में हो गई थी ।

इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ पिंगलाचार्य द्वारा रचित 'छन्दःसूत्र' है । जो सूत्र शैली में है तथा आठ अध्यायों में बंटा है । सात अध्यायों में वैदिक छन्दों का तथा अन्तिम अध्याय में लौकिक छन्दों का वर्णन है । इसकी प्रसिद्ध व्याख्या हलायुधकृत 'मृतसंजीवनी, अनेक स्थानों से अब तक प्रकाशित है ।[3]

'कृष्ण यजुर्वेद' तथा 'अथर्ववेद के कतिपय गद्यांशों के अतिरिक्त अधिकांश संहिताएँ छन्दोमय हैं । 'सामवेद' का सम्पूर्ण भाग छन्दोबद्ध है । मन्त्रों का प्रधान कार्य मर्मस्पर्शी भावाभिव्यक्ति द्वारा उपास्य देवता को प्रसन्न करना है । अतः छन्दों की विशेष महत्ता है पाणिनीय शिक्षा' के अनुसार छन्द वेद के पाद हैं—'छन्द पादौ तु वेदस्य ।"

वैदिक छन्दों से ही लौकिक छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है । लौकिक छन्दों में ४ चरण होते हैं, किन्तु वैदिक छन्दों का ऐसा विधान नही है, वेदों में तो दो पादों से लेकर ५ पादों वाले छन्द मिलते हैं । प्रधान वैदिक छन्दों के पादों तथा उनमें अक्षरों की संख्या इस प्रकार है—

क्रम छन्द		प्रथमपाद	द्वितीयपाद	तृतीयपाद	चतुर्थपाद	पञ्चमपाद
१. गायत्री	अक्षर	८	८	८	—	—
२. उष्णिक्	,,	८	८	१२	—	—
३. पुरउष्णिक्	,,	१२	८	८	—	—
४. अनुष्टुप्	,,	८	८	८	८	—
५. बृहती	,,	८	८	१२	८	—
६. सती बृहती	,,	१२	८	१२	८	—
७. पंक्ति	,,	८	८	८	८	—
८. प्रस्तार पंक्ति	,,	१२	१२	८	८	८
९. त्रिष्टुप्	,,	११	११	११	११	—
१०. जगती	,,	१२	१२	१२	१२	—
११. ककुप्	,,	८	१२	८	—	—

१. 'छान्दोग्य उपनिषद्' में पाठभेद से प्रयुक्त वाक्य समानार्थी है ।

२. सर्वानुक्रमणी १/१

३. सीतानाथ भट्टाचार्य ने बंगलानुवाद कर कलकत्ता से प्रकाशित किया ।

कात्यायन के द्वारा 'ऋग्वेद' के प्रत्येक मन्त्र के छन्द का निर्देशन 'सर्वानुक्रमणी' में दिया गया है। प्रातिशाख्यों में भी (विशेषकर 'ऋक्प्रातिशाख्य, में) छन्द का विवेचन किया गया है। छन्दों के अन्य अवान्तर भेदों के रूप संहिताओं में प्राप्त होते हैं। वैदिक छन्दों में अक्षरो के गौरव-लाघव पर ध्यान न देकर उनकी गणना पर विचार किया गया है। पिङ्गल के ग्रन्थ में लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकार के छन्दों का विवेचन हुआ है।

कभी-कभी वैदिक छन्दों के पादाक्षरों के समसंख्यक होने पर भी पाद में अनियमितता आ जाती है अर्थात् अक्षर कम या अधिक हो जाते हैं, इसे कम (१ अक्षर या अधिक को) क्रमशः 'निचृत' और भुरिक' कहते हैं। जैसे गायत्री में ८ × ३ = २४ अक्षर होते हैं। यदि २३ ही हों तो वह 'निचृत् गायत्री' कही जायेगी। यदि २५ अक्षर उसमें हैं तो वह 'भुरिक गायत्री' होगी। इसी प्रकार २ अक्षरों की अधिकता वाले छन्द को 'स्वराट्' तथा 'हीनता' वाले को विराट्' कहेंगे अर्थात् २२ अक्षरों की गायत्री 'विराट् गायत्री' तथा २६ अक्षरों की 'स्वराट्' 'गायत्री' कही जायेगी।

'सर्वानुक्रमणी[1]' के अनुसार' पादपूर्णार्थ क्षैप्र, संयोग, (यकार तथा वकार का संयोग) तथा सन्धिपूर्ण एकाक्षर को अलग कर देना चाहिये।

उदाहरणार्थ—(१) वकार का अलग करना = त्वम् > तुअम्।

(२) रेफ का अलग करना—'त्वं ह 'त्यदिन्द्रः' का उच्चारण—'तुअं ह त्यदिन्दरः होगा।

(३) यण् सन्धि द्वारा यकार तथा वकार यदि हो तो उसे मिलाकर मूल दोनों अक्षरों का उच्चारण करना चाहिये। जैसे 'पिबाति सोम्यं मधु को पाद-पूरणार्थ 'पिबाति सोमिअं मधु' पढ़ेंगे।

(४) गुण अथवा वृद्धि स्वर को दो स्वरों में अलग किया जाता है, जैसे—ज्येष्ठ > ज्ययिष्ठ।

(५) लुप्ताकार (एकार ओकार के आगे को) पुनः रखकर उच्चारण करना। जैसे—'इन्द्र बाजेषु नोऽवं' में 'नोऽव' को 'नो अव' पढ़ेंगे।

(६) दीर्घाकार (सन्ध्युत्पन्न आकार) को २ अक्षरों में बदल लेना चाहिये। जैसे—'आद्याद्या' को 'अद्य अद्य'।

'ऋग्वेद' में कात्यायन के अनुसार छन्दों की संख्या इस प्रकार है। गायत्री—२४६७, उष्णिक्—३४१, अनुष्टुप्—८५५, बृहती १८१, पंक्ति ३१२, त्रिष्टुप् ४२५३, तथा जगती १३५८ है। वैदिक संहिताओं के महत्वपूर्ण छन्द त्रिष्टुप्, गायत्री, शम्बरी (१४ × ४) अतिशम्बरी (१५ × ४), अष्टि (१६ × ४), अत्यष्टि (१७ × ४) आदि विविध छन्द हैं। एकपदा ऋचाएँ केवल छह हैं और नित्य द्विपदा १७ ऋचाएँ है।

---

१. "पादपूरणार्थं क्षैप्रसंयोगैकाक्षरी भावान् व्यूहेत", सर्ग ३/६।

जैसा कि पूर्व भाग में हम लिख चुके हैं—वैदिक छन्दों से ही लौकिक छन्दों का विकास हुआ है ! श्रुति-माधुर्य तथा संगीतमय आरोह-अवरोह के आधार पर ही संस्कृत कवियों ने इन छन्दों में गौरव-लाघव के आधार पर अक्षरों को नियमित कर दिया है । अनुष्टुप् के आविष्कर्ता आदिकवि वाल्मीकि प्रसिद्ध हैं, किन्तु अन्य छन्दों के आविष्कर्ताओं के विषय में हम कुछ नहीं जानते ।

जैसे विकास क्रमाधार पर त्रिष्टुप् छन्द से इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा आदि एकादशाक्षर प्रधान छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है । जगती से 'वंशस्थं आदि द्वादशाक्षर छन्द तथा शम्बरी से वसन्ततिलका की उत्पत्ति स्वभावतः जान पड़ती है । इसी प्रकार अन्य छन्दों की भी उत्पत्ति वैदिक छन्दों से हुई है—ऐसा समझना चाहिये । लौकिक संस्कृत की दृष्टि से वैदिक संस्कृत के शब्दरूपों तथा छन्दों में सामान्य नियम का अभाव है । अतः वैदिक छन्दों के अनुकरण में अनियमितता आ गई है । आज पिङ्गलाचार्य के अतिरिक्त अन्य छन्दःशास्त्र के आचार्यों की 'छन्दःशास्त्र' विषयक कोई भी कृति उपलब्ध नहीं है । सम्भवतः अनुसंधान की सतत साधना से कोई भविष्य में कुछ छन्दःशास्त्र विषयक सामग्री खोज निकाले, तभी संस्कृत वाङ्मय का कल्याण हो सकेगा ।

वेदाङ्ग ज्योतिषः—आज जो 'वेदाङ्ग ज्योतिष' अन्तिम वेदांग के रूप में हमें उपलब्ध है, उसके दो पाठ मिलते हैं । (प्रथम) 'ऋग्वेद-ज्योतिष' में छत्तीस श्लोक हैं और (द्वितीय) 'यजुर्वेद ज्योतिष' में चवालिस श्लोक हैं । दोनों के श्लोकों में पर्याप्त समानता है किन्तु उनकी पाठ व्यवस्था में अन्तर । 'डा० शाम शास्त्री' ने जिस संस्करण का सम्पादन किया है उसमें ४४ श्लोक ही हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि यजुर्वेदीय पाठ में बाद के टीकाकारों ने कुछ श्लोकों को अपनी ओर से जोड़ दिया है । अन्य विद्वानों की धारणा है कि आज जो दो पुस्तिकायें प्राप्त हो रही हैं, वे किसी विलुप्त बृहद् ग्रन्थ के अवशिष्टांश मात्र हैं । इनकी सूत्र शैली अत्यन्त संकेतात्मक है । 'वेदाङ्ग ज्योतिष' को समझने के लिये ज्योतिष शास्त्र के गम्भीर एवं गहन ज्ञान की आवश्यकता है । अनेक पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने 'वेदाङ्ग ज्योतिष' पर टीकायें प्रस्तुत की हैं । इनमें प्राचीनतम 'सोमाकर' है । बाद में एक ओर वेबर, ह्विटनी, विलियम जोन्स, कोलब्रुक, मैक्समूलर, डेविस् और थीबो ने टीकायें लिखीं तो दूसरी ओर शंकर बालकृष्ण दीक्षित, कृष्ण शास्त्री, गोडबोले, जनार्दन बाला जी मोडक, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, और डॉ० आर० शामशास्त्री प्रमुख टीकाकार हुये ।

वेद की प्रवृत्ति यज्ञपरक है और यज्ञ-याग के हेतु समय शुद्धि की अपेक्षा रहती है । कोई यज्ञ-विधान संवत्सर से सम्बद्ध है तो कोई ऋतुपरक होता है । 'तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम अध्याय में कहा गया है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत ग्रीष्मे राजन्य आदधीत शरदि वैश्य आदधीत' । ब्राह्मण वसन्त में, क्षत्रिय ग्रीष्म में,

वैश्य शरद ऋतु में अग्नि का आधान करें। साथ ही प्रातः और सायं अग्निहोत्री के लिये दुग्ध या घृत से अग्नि में हवन करने का विधान है—'प्रातर्जूहोति सायं जुहोति'। इसी प्रकार यज्ञ की सफलता के लिये उचित नक्षत्र की भी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार मयूर की शिखा उसके सिर पर रहती है, सर्प की मणि मस्तक पर रहती है, उसी प्रकार षड्ङ्गवेद में ज्योतिष को शीर्षस्थानीय माना गया है—'यथा शिखा मयूराणाम् नागानाम् मणयो यथा। तद्वद्वेदांगशास्त्राणाम् गणित मूर्धनि-स्थितम् (वे० ज्यो ४) ज्योतिष वेद-पुरुष का नेत्र कहा गया है। ज्योतिष ज्ञान से हीन मनुष्य वैदिक कार्यों का यथेष्ट अवलोकन नहीं कर सकता।

'आर्ष ज्योतिष' एवं 'याजुष ज्योतिष' दोनों में कहा गया है कि ग्रन्थकार ने ज्योतिष का ज्ञान 'लगध' नामक किसी महात्मा से प्राप्त किया था। 'कालज्ञान प्रवक्ष्यामि, लगधस्य महात्मनः' (ऋक् ज्योतिष श्लोक नं० २) यजुर्वेद ज्योतिष'। श्लोक ४३)। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' में जिस अक्षांश का वर्णन है, उसके आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि महात्मा 'लगध' उत्तर काश्मीर अथवा अफगानिस्तान के निवासी थे। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' में ही वर्णित 'विषुवत्स्थिति' के आधार पर उसका रचना काल १२०० ई० पू० माना जाता है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' में वर्णित उद्गमन स्थिति के अध्ययनोपरान्त 'लोकमान्य तिलक' ने उसका रचनाकाल १२०० या १४०० ई० पू० के आस-पास स्थिर किया है। जोन्स के मतानुसार इसकी रचना ११८१ ई० पू० और 'कोलब्रुक के मत से १३९१ ई० पू० ठहरती है। सर्वप्रथम 'वेदाङ्ग ज्योतिष' का ज्ञान पितामह ब्रह्मा को प्राप्त हुआ, उन्होंने अपने पुत्र वसिष्ठ को उसकी दीक्षा दी। विष्णु ने वह ज्ञान सूर्य को दिया और वही ज्ञान 'सूर्य-सिद्धान्त के नाम से विख्यात हुआ। सूर्य ने यह सिद्धान्त 'मय' को दिया, जो वसिष्ठ सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उधर पुलिश ने स्वनिर्मित एक सिद्धान्त गर्ग आदि मुनियों को प्रदान किया। कहते हैं कि सूर्य ने शाप-ग्रस्त अवस्था में यवन जाति में उत्पन्न होकर 'रोमक' सिद्धान्त का सूत्रपात किया। आगे चलकर ज्योतिषशास्त्र संहिता, गणित और जातक इन तीन भागों में विकसित हुआ। विश्वविख्यात भारतीय ज्योतिर्विदों में आर्यभट्ट, बराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य जैसे विद्वानों का उदय हुआ जिन्होंने अपने अद्भुत सिद्धान्तों का सूत्रपात करके ज्योतिषशास्त्र की श्रीवृद्धि की। इनकी रचनाओं पर आगे विचार किया जायेगा।

सूत्रकालीन संस्कृति

सूत्रकालीन संस्कृति का स्वरूप—सहस्रों संहिताओं, ब्राह्मणों, अरण्यकों और उपनिषदों की गगनचुम्बी राशि देखकर चिन्तनशील मानव ने जब समूचे वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में व्यक्तियों को असमर्थ पाया, तब कम से कम अक्षरों एवं पदों में अधिक से अधिक विचारों और भावों को भरने के लिये एक नवीन शैली का सूत्रपात किया। यह थी सूत्र[1] शैली। प्रायः विद्वज्जन वैदिक साहित्य के बाद के

---

१. लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरं पदानि च।
सर्वेषां सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥

साहित्य को तीन रूपों में विभक्त करते हैं—सूत्र इतिहास और स्मृति। इस प्रकार के साहित्य-सृजन का श्रीगणेश आठ सौ ईसवीं पूर्व ही हो चुका था, जिसका अध्ययन हिन्दू, बौद्ध एवं जैन सभ्यता को समझने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

किसी विषय को जिह्वाग्र करने की सुविधा के लिये अत्यन्त संक्षिप्त वाक्यों में किया हुआ संग्रह अपनी विशेषता रखता है। यह साहित्य षड्वेदाङ्ग के रूप में प्रसिद्ध हैं, जिसमें तत्कालीन समाजिक, धार्मिक, पारिवारिक एवं राजनीतिक स्थिति का संकेत पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

(क) सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था—पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का सूत्र रूप में ही, किन्तु पाणिनि के अतिरिक्त ऋषियों ने कल्पसूत्रों (श्रोत, गृह्य, शुल्व, तथा धर्मसूत्रों) में तत्कालीन संस्कृति एवं सभ्यता का विधिवत् एवं स्पष्ट चित्रण किया है। गृह्यसूत्रों में तत्कालीन पारिवारिक जीवन का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है। उपर्युक्त ग्रन्थों में गृहस्थ के जन्म से लेकर मृत्यु तक के षोडश संस्कारों (गर्भाधान, जातकर्म, पुंसवन, उपनयन आदि), आठ प्रकार के विवाहों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। मनु ने अपने ग्रन्थ 'मनुस्मृति' अष्ट प्रकार के विवाहों की व्याख्या इस प्रकार की है:—

ब्राह्मो दैवस्तथा आर्षः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः॥

अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच आदि में आठ प्रकार के विवाह होते हैं। इनमें प्रथम चार शुभ और अन्तिम चार अशुभ माने जाते थे। प्रत्येक गृहस्थ को पंचमहायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा अतिथि यज्ञ) का अनिवार्य रूप से अनुष्ठान करने का प्रमाण मिलता है। स्त्रियों को गृहसंस्कार तथा श्रौतसूत्रों के वैदिक विधानों का अधिकार तो था, किन्तु उत्तराधिकार तथा संस्कारों के सम्बन्ध में उन्हें कोई स्वतन्त्रता प्राप्त न थी। अन्य बातों में उनकी स्थिति उत्तर वैदिककाल के समान थी। अपने तथा माता के छः गोत्री को छोड़कर विवाह किया जाता था।

(ख) वर्ण-व्यवस्था—सूत्रकाल में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप अत्यन्त जटिल एवं कठोर हो गया था। अन्तर्जातीय विवाह तथा पारस्परिक भोज आदि का प्रचलन नहीं हुआ था। जाति-व्यवस्था, जातीय विवाह, स्पृश्यास्पृश्य आदि के विचार लोगों में अत्यन्त गहराई से घर कर गये थे। इस काल जैसी कट्टरता प्राचीनकाल में नहीं थी। ऋषि पराशर द्वारा रचित गृह्य-सूत्र में एक ब्राह्मण का उल्लेख पाया जाता है, जिसने शूद्रा स्त्री के साथ विवाह किया था, किन्तु उसकी सन्तान को द्विज नहीं माना गया। चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का स्पष्ट एवं पृथक्-पृथक् उल्लेख इन सूत्र-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण को अध्ययनाध्यापन, यजन-याजन, प्रतिग्रह आदि का अधिकार था। क्षत्रियों को प्रजापालन, सैन्य-संगठन, कर-प्राप्ति का अधिकारी कहा गया है। वैश्य को कृषि, वाणिज्य, गो-रक्षा आदि का अधिकारी बताया गया है और शूद्र को नम्रता,

सत्य और पवित्रता का अभ्यास तथा तीनों वर्णों की सेवा करने का अधिकार दिया गया। यह सब होने पर भी उस समय शूद्रों का अनादर न था। सेवा-कार्य करने के योग्य न रहने पर भी स्वामी उनकी रक्षा करता था।

वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में मानव-जीवन को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में बाँट दिया गया था। उस समय धार्मिक नियन्त्रण कठोर हो जाने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को इन आश्रमों के अनुसार ही जीवन-यापन करना पड़ता था। आश्रम प्रथा के अनुसार शिक्षा अनिवार्य थी। शेष सामाजिक विधान उत्तर वैदिक काल की भाँति था, जो किंचित् दृढ़ हो गया था।

जहाँ तक धार्मिक व्यवस्था का सम्बन्ध है, उस पर भी उत्तर वैदिक युग का पर्याप्त प्रभाव था। यज्ञ यागादिक प्रचलित थे। यद्यपि उनकी प्रतिक्रिया में बौद्धों और जैनों आदि का संघर्ष कुछ प्रबल हो गया था। मन्दिरों और विहारों में व्यक्तिगत और सामूहिक प्रार्थनायें होती थीं। शेष अवस्थायें सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत कही जा चुकी हैं।

राजनीतिक व्यवस्था—पाणिनी के ग्रन्थ में इस युग के राज्यों को 'जनपद' कहा गया है। उन्होंने ऐसे २७ राज्यों का उल्लेख किया है, जिनमें केकय, कम्बोज, गान्धार, कुरु, पाञ्चाल, मद्र, अंग, बंगादि उल्लेखनीय हैं। इन प्रदेशों के नृपति जनपति नाम से प्रसिद्ध थे और राज्यों के नागरिक जानपद कहलाते थे। जहाँ तक देशभक्ति का सम्बन्ध हैं, जनता अपने राज्य और राजा के प्रति पूरी श्रद्धा और भक्ति के साथ अपने कर्तव्य के पालन में जागरूक थी। शासन प्रबन्ध की दृष्टि से उपर्युक्त जनपदों में विश, नगर, ग्राम आदि विभाग वैदिक काल की ही भाँति विद्यमान थे। मुखिया के नाम पर भी कभी-कभी ग्रामों के नाम रख दिये जाते थे। प्रायः राजनीतिक व्यवस्था उत्तर वैदिककाल के समान थी।

न्याय-प्रणाली 'सूत्रकार' गौतम के अनुसार वेद, धर्मशास्त्र, स्मृति और उपवेदों के मार्ग पर अग्रसर हो रही थी। नृप स्वतन्त्र रूप से नियम बनाने का अधिकारी न था। विविध जातियों के प्रधान व्यक्ति ही धर्म नियम बनाते थे। राजा का कर्तव्य जहाँ वर्णों, आश्रमों और जनपदों की देखभाल तथा रक्षा करना था, वहीं राजा को उपज का दशम, अष्टम या षष्ठ भाग प्राप्त करने का अधिकार भी था। मास में एक दिन बिना दिये कुछ लोगों से श्रमदान लिया जाता था। यह तथ्य उस समय की बेगार प्रथा की ओर संकेत करता है।

उत्तराधिकार के सम्बन्ध में पुत्र के स्थान पर ६ गोत्र और पीढ़ी तक के सपिण्डों को उत्तराधिकार प्राप्त करना विहित था। इस अवस्था में कन्या भी उत्तराधिकार की अधिकारिणी थी। प्रधानतः ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकार प्राप्त होता था। दण्ड-विधान सरल और कठोर दोनों ही प्रकार का प्रचलित था। चोर, व्यभिचारी और छल या धोखे से आक्रमण करने वाला बड़े अपराध करने का दण्ड पाता था। ब्राह्मणों को एसे अपराधों से अन्धा तक कर दिया जाता था। शूद्रों की सम्पत्ति हरण कर ली जाती थी।

———

अध्याय

५ लौकिक साहित्य

(रचनात्मक साहित्यक-खण्ड)

रामायण और महाभारत

'रामायण' और 'महाभारत' भारतीय संस्कृति और सभ्यता के जीते जागते दो स्मृति-चिह्न हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' भारतीय इतिहास की कल्पना के ऐसे सोपान हैं, जो विश्वास को बल प्रदान करते हैं। ये दोनों लौकिक संस्कृत-साहित्य के प्रमुख आकर ग्रन्थ हैं।

इन दोनों में प्रधान कथानक अपना स्वयं है, फिर भी बहुत-सी कथायें दूसरी जुड़ गई हैं। इस दृष्टि से 'महाभारत' विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनके विषय में निश्चित बात कह सकना कठिन है, फिर भी ये अपने किसी भी रूप में बहुत पुराने हैं। प्राचीन काल में इन्हें पंचम वेद तक कहा जाता था। इससे ज्ञात होता है कि मौलिक रूप में ये बहुत प्राचीन हैं। जब दोनों ग्रन्थ लिपिबद्ध हुये, उससे बहुत पहले लोग कौरव-पाण्डव एवं रामकथा सम्बन्धी गाथायें गाते रहे होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ये कई शताब्दियों में रची जाने वाली कविताओं एवं वीर स्तुतियों के ऐसे अनेक संग्रह हैं, जिनमें समय-समय पर नाना प्रकार के प्रक्षेपों का समावेश होता रहा है।

रामायण:—

'सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥"

—त्रिविक्रम भट्ट

संस्कृत साहित्य में बाल्मीकिकृत रामायण 'आदिकाव्य' समझा जाता है तथा महर्षि बाल्मीकि आदिकवि माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से बिंधे हुये क्रौञ्च के लिये विलाप करने वाली क्रौञ्ची का करुण क्रन्दन ऋषि ने सुना—तो अकस्मात् उनके मुख से यह श्लोक निकल पड़ा :—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्" ॥

तत्पश्चात् महर्षि के समक्ष प्रभु परमेष्ठी प्रकट हुये और उन्होंने रामचरित लिखने का आदेश दिया।

कहते हैं बाल्मीकि का जीवन विविध विषम संघर्षों का केन्द्र था। प्राचीन मान्यता के अनुसार बाल्मीकि राम के समकालीन हैं, जो त्रेतायुग में हुये। त्रेतायुग की सीमा ८६७१०० ई० पूर्व निश्चित होती है।

बाल्मीकि—बाल्मीकि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं जा सकता। फिर भी किम्वदन्ती है कि व्याध बाल्मीकि था तो ब्राह्मण-पुत्र, किन्तु डाकुओं का सहवास प्राप्त करके वह एक भयंकर डाकू हो गया था और ब्राह्मणत्व के संस्कार उसमें समाप्तप्राय हो गये थे। अनगिन प्राणियों का वध करके उसकी क्रूरता का ठिकाना नहीं रहा था। एक बार जिस मार्ग में, वह प्राणियों के वध का अकाण्ड ताण्डव किया करता था, उसी मार्ग से होकर देवर्षि नारद निकल पड़े। बाल्मीकि ने देवर्षि को एक वृक्ष से जकड़ कर बांध दिया, किन्तु उनके कहने से वह इस बात पर तैयार हो गया कि घर वालों से जाकर यह पूछ आवे कि कोई उसके पाप में भाग लेगा या नहीं।

माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि सबने धन में भागीदार होना तो स्वीकार किया, किन्तु पापाचरण में अपना कोई भाग न माना। व्याध के नेत्र खुल गये। वह नारद जी के चरणों में आकर गिर पड़ा और शरण माँगी। देवर्षि ने उसे राम-नाम की महिमा बताई, किन्तु देवर्षि को यह ऐसा शिष्य मिला था, जो राम का नाम बोल भी न सकता था। भला नारद जी हार कैसे मान लेते? उन्होंने उसे 'मरा-मरा' जपने का उपदेश दिया। दस्यु जप में पूर्णतः लीन हो गया और 'मरा' शब्द का शीघ्रता से जाप करते-करते उसके मुख से अनायास ही 'राम-राम' निकलने लगा। अनेक वर्षों तक यही क्रम चला। उसके शरीर के ऊपर दीमकों ने बाँबी (बल्मीक) सी बना ली। भगवन्नाम के उल्टे जाप से ही वह परम पावन हो गया। अन्त में सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा स्वयं वहाँ आये, उसे दीमकों की बाँबी से निकाला और आदिकवि होने का गौरवमय वरदान प्रदान किया। आदि जीवन का दस्यु ही आदिकवि महर्षि बाल्मीकि कहलाया।

उपर्युक्त क्रौञ्चवध के प्रसग में क्रौञ्ची के करुण रोदन से मर्माहत और दयार्द्र होकर जब बाल्मीकि के मुख से अनायास ही लौकिक संस्कृत का प्रथम अनुष्टुप् (जो ऊपर लिखा जा चुका है) निकला, उसी से लौकिक-संस्कृत-काव्य का प्रथम सूत्रपात हुआ, क्योंकि उसे सुनकर ही ब्रह्मा ने प्रकट होकर 'राम-कथा' लिखने का आदेश दिया था।

बाल्मीकिकृत रामायण में मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम का वर्णन है। इसकी वर्तमान प्रति में सात काण्ड हैं, जिनमें कुल २४००० श्लोक हैं। 'रामायण' के कई संस्करण पाये जाते हैं, जिनमें अनेक पाठ-भेद हैं। इनमें से चार मुख्य हैं—(१) दाक्षिणात्य संस्करण, जिसमें बम्बई और मद्रास से प्रचलित एवं प्रकाशित रामायणे गिनी जाती हैं। (२) कलकत्ता से प्रकाशित बंगीय या गौड़ीय सस्करण। (३) होशियारपुर से प्रकाशित पश्चिमोत्तरीय संस्करण। (४) गीताप्रेस गोरखपुर का संस्करण। इनमें से दक्षिणी संस्करण प्राचीन और मौलिक माना जाता है। संस्करणों में भेद होने का कारण है, प्रारम्भ में इनके लिखित रूपों में वैभिन्य या विचित्रता का होना, जो कि स्वाभाविक था।

रामायण में कौशाम्बी, काम्पिल्य, कान्यकुब्ज आदि नगरों एवं कोशल जनपद की राजधानी अयोध्या के अतिरिक्त मिथिला, विशाला आदि स्वतन्त्र राजधानियों का उल्लेख है। न तो उसमें अयोध्या के बौद्ध नाम 'साकेत' का कहीं निर्देश है और न लव की राजधानी 'श्रावस्ती' का वर्णन है। फिर मगध नरेश अजातशत्रु द्वारा ५०० ई० पूर्व बसाये हुये पाटलिपुत्र का उल्लेख उसमें कैसे मिल सकता है? रामायण के विशाला और मिथिला[1] नामक दोनों राज्य बुद्ध के समय तक वैशाली राजतन्त्र में परिणत हो चुके थे। विशाला का तत्कालीन नृप सुमति था। राजा ईक्ष्वाकु के पुत्र विशाल के द्वारा बसाये जाने के कारण ही उसका विशाला नाम पड़ा था। इसी प्रकार मिथिला में उस समय 'सीरध्वज' जनक का राज्य था।

प्रक्षिप्त अंश—कतिपय बेमेल अंशों के आधार पर डॉ० जेकोबी ने अध्योया-काण्ड से युद्धकाण्ड तक केवल पाँच काण्डों को ही बाल्मीकि-कृत माना है। 'रामायण के 'बालकाण्ड' तथा 'उत्तरकाण्ड' में ऋष्यश्रृंग, विश्वामित्र, हनुमान, अहिल्या, रावण, गंगावतरण आदि की कथायें प्रक्षिप्त हैं। प्रधान कथा से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ राम की अवतार के रूप में पूजा की गई है। डॉ० जेकोबी की मान्यता है कि वाल्मीकि ने राम को आदर्श महापुरुष रूप में चित्रित किया है। 'रामायण' के 'बालकाण्ड' में 'रामायण' के कलेवर के विषय में ५०० सर्गों तथा २४००० श्लोकों का उल्लेख है जो उनके अनुसार प्रक्षिप्त अंश होने से विश्वसनीय नहीं है।

लोकप्रिय होने के कारण 'रामायण' में ५०० ई० से निरन्तर कुछ न कुछ प्रक्षेप जुड़ते रहे हैं। जैसा कहा जा चुका है, डॉ० जेकोबी के अनुसार तो प्रारम्भ में रामायण में अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक ही थे। बालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड बाद में जोड़े गये। वस्तुतः उत्तरकाण्ड और बालकाण्ड की शैली से अन्य पाँच काण्डों की शैली में किञ्चिद् भिन्नता है। इन काण्डों में पुनरुक्तिदोष आदि विरोधी बातें अधिक हैं। 'रामायण' के विषय में जो 'महाभारत' में 'रामोपाख्यान' है तथा अन्य संस्कृतियों में जो राम कथायें प्रचलित हैं. उनमें 'उत्तरकाण्ड' की कथा नहीं है। इन दोनों काण्डों में वर्णित घटनायें भी अन्य पाँच काण्डों की भाँति सुसम्बद्ध रूप में नहीं प्राप्त होती है। साथ ही पाँच काण्डों में से अनेक स्थल, दृश्य और कथन मिल गये हैं, जिनका उत्तरदायित्व सूतों और कुशीलवों पर है।

एक वह समय भी आया जब रामायण इतनी प्रसिद्ध और मान्य हो गई कि उसके लिपिक को स्वर्ग का अधिकारी समझा जाने लगा।

विद्वानों की यह धारणा ठीक प्रतीत हो जाती है कि वैदिक संस्कृत के युग में ही लौकिक संस्कृत की रचना आरम्भ हो चुकी थी। दिनकर जी का यह कथन बड़ा सटीक है—'लौकिक संस्कृत किसी वैयाकरण का आविष्कार नहीं कही जा सकती।"

---

१. रामायण, बा० का० ४५-८।

उसके निर्माण के पीछे भी शताब्दियों की लम्बी परम्परा रही होगी, जैसा भाषा-विज्ञान की खोजों से प्रमाणित है।

रामायण की परम्परा—लौकिक संस्कृत में सर्वप्रथम काव्य-रचना करने के कारण ही वाल्मीकि आदिकवि माने गये। इससे उनके पहले अन्य साहित्यिक रचनाओं का अभाव सिद्ध नहीं होता। इस आधार पर लौकिक संस्कृत की कृत्रिम सीमायें नहीं खींची जा सकती। यों तो एक पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार वाल्मीकीय रामायण से बहुत पहले सतयुग में ही भगवान शंकर ने पार्वती जी को एक 'महा-रामायण' सुनाई थी। इसमें तीन लाख पचास हजार श्लोक थे। इसके अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण के कुछ आगे-पीछे के अन्य रामायण-ग्रन्थों के अस्तित्व का पता चलता है, उदाहरणार्थ—नारदकृत 'संवृत-रामायण', अगस्त्य की 'अगस्त्य-रामायण', लोमशकृत 'लोमश रामायण', अत्रि कृत 'सौपद्म-रामायण', सुतीक्ष्णकृत 'मञ्जुल-रामायण', शरभंग कृत 'सौहार्द-रामायण' तथा कुछ अज्ञात लेखकों की 'सौर्य-रामायण', 'चान्द्र-रामायण', 'सुब्रह्म-रामायण' 'मैन्द-रामायण 'रामायण' मणिरत्न', 'सुवर्चस् रामायण', 'श्रावण-रामायण', 'दुरन्त-रामालण', 'रामायण-महामाला' और 'देव रामायण' विशेषतः उल्लेखनीय हैं!

पश्चात् कालीन प्रसिद्ध रामायणों में 'अध्यात्मक-रामायण' तो १४ वीं १५वीं शती के रामानन्द जी की रचना कही जाती है तथा 'अद्भुत-रामायण' का निर्माण-काल उसके भी बाद निश्चित किया जाता है।

बौद्धों का 'दशरथ-जातक' तो पूरा रामाख्यान ही है। डा० जेकोबी तथा फादर कामिल बुल्के[1] ने दशरथ-जातक पर भी रामायण का स्पष्ट ऋण सिद्ध कर दिया है।

प्रथम शती ईसवी के बौद्ध कवि कुमारलात ने भी 'कल्पना-मण्डतिका' में रामायण की कथा का ही पारायण किया है। इसे जेकोबी ने १९१४ ई० में प्रकाशित किया। तीसरी शती के जैन कवि विमलसूरि ने अपनी प्राकृत रचना 'पउमचरिअ' में रामकथा का प्रथम अवतरण करके रामायण के आश्रय से जैन साहित्य को गौरवान्वित किया। हेमचन्द्र की 'जैन-रामायण' (१२वीं शती) जिनदास का 'राम-पुराण' (१५०० ई०) और सोमदेव का 'राम-चरित' (१६वीं शती) एक ही शृंखला की अनेक कड़ियाँ हैं।

रामायण का काल-निर्णय—

भारतीय परम्परा और रामायण के अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर महर्षि वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना राम के राज्य-काल में ही पूर्ण कर ली थी। पार-जीटर का कथन है कि राम १६०० ई० पूर्व में हुए थे, जबकि आधुनिक अनुसन्धान-शास्त्रियों ने महाभारत के द्रोण-पर्व और शान्ति-पर्व तथा अन्य संकेतों के आधार पर

---

१. कामिल बुल्के की 'राम-कथा'

यह अनुमान किया है कि 'वाल्मीकि-रामायण' के पूर्व भी राम-कथा आख्यान रूप में प्रचलित थी और उसी के आधार पर वाल्मीकि ने अपनी 'रामायण' लिखी। उनका कथन है कि आदि में 'रामायण' का कलेवर छोटा था, जो समय की गति के साथ बढ़ता गया। इस कार्य में कई शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं।

यहाँ मुख्यतः 'रामायण' के दो रूपों पर ध्यान एकाग्र करना है। एक तो मौलिक 'रामायण' जो प्रक्षेप रहित वाल्मीकि की प्रामाणिक रचना है तथा दूसरी आज की प्रचलित 'रामायण' जिसमें प्रक्षिप्त अंश भी निहित हैं। इन दोनों के रचना-काल में भी अन्तर है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि 'रामायण' का प्रचलित रूप द्वितीय शताब्दी ई० के पूर्व ही बन चुका था। जहाँ तक मूल 'रामायण' की रचना का सम्बन्ध है, यह बात स्मरण रखने योग्य है कि वाल्मीकि की प्रामाणिक रचना में बौद्ध-धर्म का कोई संकेत नहीं मिलता है। अतः यह रचना बुद्ध से पहले की है, जो ई० पूर्व पाँचवी शताब्दी में अवश्य बन चुकी होगी। डॉ० जेकोबी 'मूल-रामायण' की रचना का समय ८००–६०० ई० पू० मानते हैं, क्योंकि इस समय के निकट परवर्ती लेखक पाणिनि, कौटिल्य, भास और पतञ्जलि 'रामायण' के प्रधान कथानक के पूर्णतया परिचित से लगते हैं। 'मूल-रामायण' में ऐसे अनेक 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं, जो पाणिनि के व्याकरण से मेल नहीं खाते। साथ ही पाणिनि ने 'रामायण' में आये हुये अनेक नामों की व्युत्पत्ति भी बताई है।

यह सर्वथा स्पष्ट है कि यद्यपि महाभारत की भाषा और शैली की अपेक्षा 'रामायण' की भाषा और शैली कहीं अधिक परिमार्जित, परिष्कृत और अलंकृत है, फिर भी यह तथ्य असंदिग्ध रूप से स्वीकार करना पड़ा है कि 'रामायण' की कथा 'महाभारत' की कथा से कहीं अधिक प्राचीन है। अतः साधारण विद्वानों का इस निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक ही है कि 'रामायण' में एक पूर्ववर्ती कथानक को 'महाभारत' से अधिक परवर्ती भाषा और शैली में अंकित कर दिया गया है।

'रामायण' में केवल एक स्थल में गौतम बुद्ध[1] का उल्लेख आया है जो क्षेपक होने से कदापि मान्य नहीं है। वेबर आदि कुछ पाश्चात्य विचारकों की यह धारणा कि 'रामायण' की रचना किसी बौद्ध प्रामाणिक गाथा के आधार पर की गई है, सर्वथा निर्मूल एवं भ्रान्त है। समूची 'रामायण' में बौद्ध-प्रभाव ढूंढने पर भी नहीं मिल सकता। हाँ बौद्ध-धर्म पर 'रामायण' का स्पष्ट प्रभाव सर्वथा प्रमाणित होता है। जब बौद्धों के धर्म-ग्रन्थ 'त्रिपिटक' का संकलन हुआ था तब राम की कथा अवश्य प्रचलित रही होगी। 'दशरथ-जातक' आदि कथाओं में इसके प्रमाण मिलते हैं। प्रथम शताब्दी ईसवी के बौद्ध कवि अश्वघोष के 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' आदि ग्रन्थों में 'रामायण' से मिलते-जुलते अनेक अंश विद्यमान हैं।

---

१. 'यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।'
(२/१०९/३४) यह श्लोक सब प्रतियों में नहीं पाया जाता।

इस प्रकार ऐतिहासिक काल की अरुणोदय वेला में लिखे जाने पर भी 'रामायण' पूर्णतः परिमार्जित, अपूर्व और अद्वितीय ग्रन्थ-रत्न है। आदिकवि का आदिकाव्य होते हुये भी इसमें कवित्व का पूर्ण परिपाक भाषा की स्निग्ध पदशय्या, भावों के सरस आन्दोलन, विचारों की गहन चिन्तनधारा आदि सत्काव्य के सभी गुण और लक्षण एकत्र विद्यमान हैं। इसलिये इतिहास के मर्म-वेत्ताओं को यह बात बड़ी उलझन में डाल दी है कि लौकिक संस्कृत की आदिम रचना इतनी परिपूर्ण, परिपक्व, परिष्कृत और परिमार्जित कैसे बन पड़ी, जो परवर्ती महाकवियों की काव्य-कृतियों से भी कहीं अधिक विकसित और आज भी नवीन प्रतीत होती है।

संक्षेप में रामायण की रचना के विषय में यह कहा जा सकता है कि विद्वानों की प्राचीन परम्परा राम और वाल्मीकि को समकालीन मानने के पक्ष में है। भौगोलिक दृष्टि से रामायण में जिन विविध देशों और द्वीपों का उल्लेख और निर्देश है, वे दूसरी शती ईसवी पूर्व तक के हैं। राम का अवतार-रूप में वर्णन, कुछ लोगों की दृष्टि में बाद का है, किन्तु सामाजिक जीवन का चित्रण छठी शती ई० पू० पूर्व का ही है। रामायण काल की विख्यात अयोध्या का नाम बौद्ध युग में 'श्रावस्ती' हो गया था। स्पष्ट है कि रामायण की मूलकथा बौद्ध-युग के बहुत पूर्व की है। उनकी रचना ही नहीं, क्षेपकों सहित उसकी कलेवर-वृद्धि भी ५०० ई० पूर्व तक हो चुकी थी। जेकोबी भी मूल-रामायण का रचना काल ८००–६०० ई० पूर्व तक मानते हैं। 'रामायण' बौद्ध तथा ग्रीक प्रभावों से सर्वथा अछूती है। उसका अन्तिम संस्करण दूसरी शती ई० पू० तक माना जाता है।

महाभारत

वेदव्यास—'वेदव्यास' नाम को एक उपाधि सूचक माना जाता है, किन्तु 'वदव्यास' एक ऐसे युग-निर्माता महापुरुष हुए, जिन्होंने अनन्त ज्ञान के प्रकाश का वर्गीकरण कर दिया। आदि श्री शंकराचार्य के मत से पुराकालीन वेदाचार्य अपान्तर-तमा (व्यास) नामक ऋषि ही कलियुग और द्वापर के सन्धि काल के भगवान् विष्णु की आज्ञानुसार कृष्णद्वैपायन के नये रूप में पुनः उत्पन्न[1] हुए। कुछ लोगों के मत में व्यास या वेदव्यास किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं, वह एक पदवी है अथवा अधिकार का नाम है[2]। पं० गिरधरशर्मा चतुर्वेदी के अनुसार—जब जो ऋषि, मुनि वेद-संहिता का विभाजन या पुराण का संक्षेप कर ले, वही उस समय का व्यास या वेदव्यास कहा जाता है। किसी समय वसिष्ठ और पराशर भी व्यास हुए। इस अट्ठाइसवें कलियुग के व्यास कृष्ण द्वैपायन हैं। उनके रचित या प्रकाशित ग्रन्थ आज पुराण नाम से चल रहे हैं। कदाचित् यमुना के तट वाले किसी द्वीप में उत्पन्न होने के कारण इनका द्वैपायन नाम पड़ा था, निवास-स्थान उत्तरापथ हिमालय था। बदरिकाश्रम में वेदव्यास का आश्रम था, जिससे सम्बद्ध होने के कारण उनका

---

१. वेदान्तसूत्र भाष्य, ३–३–२।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला।

बादरायण नाम बड़ा सटीक और सार्थक है। बदरिकाश्रम की साधना भूमि में हिमाच्छादित पर्वतमाला से प्रेरणा लेकर वेदों का सम्पादन, शास्त्रों का वर्गीकरण, पुराण आदि लिखने के उपरान्त 'श्रीमद्भागवत' का सृजन करके विपुल वाङ्मय प्रस्तुत किया है। कहते हैं यहीं इन्होंने पैल, वैशम्पायन जैमिनी सुमन्तु नाम के योग्य शिष्यों के सहयोग से चार संहिताओं का संकलन और सम्पादन किया था।

महाभारत—'महाभारत' नाम के आख्यान की रचना उस युग-पुरुष ने तीन वर्षों की निरन्तर साधना से की थी। विद्वानों ने 'महाभारत' को ऐसा महासागर माना है, जिसमें असंख्य ज्ञान-सरितायें मिलकर ऐसी एकप्राण हो गई है कि यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' वाली उक्ति सर्वथा सत्य प्रमाणित हो जाती हैं। एक ओर 'महाभारत' भारत राष्ट्र का आर्ष धर्मग्रन्थ है तो दूसरी ओर वह इतिहास-पुराण और महाकाव्य भी है। भारत की उज्ज्वल ज्ञानप्रथा का यह अमर स्मारक और उच्चादर्शों का मुकुर मनुष्य को भौतिक जीवन की निःसारता दिखाकर मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्त ओर प्रेरित कर देता है। यद्यपि प्रत्यक्षतः इसमें कौरव-पाण्डवों के प्रसिद्ध महायुद्ध का वर्णन है, किन्तु काव्य-शास्त्र के विशेषज्ञों ने इसे शान्त रस प्रधान काव्य ही माना है कुछ लोग उसे एक विश्वकोष या संगह-ग्रन्थ मानते हैं, जो समय-समय पर संकलित, सम्पादित और संशोधित होता गया। इसीलिए प्रत्येक पर्व की पुष्पिका में उसे 'संहिता' कहकर स्मरण किया है।

कथा का मूल रूप—प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् विंटरनिट्ज की धारणा[1] है कि 'महाभारत' का कथानक अपने मूल-रूप में केवल वीर-गीतों में प्रचलित था। उन्हीं वीर गीतों को व्यवस्थित और संशोधित करके वेदव्यास कृष्णद्वैपायन ने 'महाभारत' की रचना की। बाद में सूतों और चारणों ने उसमें अन्य गीत और गाथायें जोड़कर उसके कलेवर में वृद्धि कर दी। ब्राह्मण पुरोहितों ने भी कुछ धार्मिक, सामाजिक, एवं दार्शनिक आख्यानों और ऋषि-वंशों की कथाओं को जोड़कर उसे धर्म-ग्रन्थ का रूप दे डाला। इसके अतिरिक्त साधु सन्यासियों आदि ने उसके उपाख्यानों में त्याग-वैराग्य, दया दाक्षिण्य, क्षमा-उदारता, पशु पक्षी, देव-दानव से सम्बन्धित अनेक बातें जोड़कर और भी बढ़ा दिया। महाभारत की पूर्व कथा में कुरु वंश की प्रशंसा थी, बाद में पाण्डवों का प्रभुत्व स्थापित होने पर पाण्डव-वंशीय राजाओं के आश्रित सूत्र-चारणों ने उसमें पाण्डवों की प्रशंसा भर दी। यही उसकी कलेवर वृद्धि का इतिहास है।

वर्तमान महाभारत में १९२३ अध्याय और ९६२४४ श्लोक हैं, जिसमें हरिवंश के खिल पर्व के १२००० श्लोक सम्मिलित हैं। इसमें १८ पर्व और १०० पर्वाध्याय हैं। 'महाभारत' की कथा का प्रवचन प्रधानतः तीन व्यक्तियों ने किया। इसके प्रथम वक्ता कृष्णद्वैपायन व्यास थे। उन्होंने सम्पूर्ण कथा अपने शिष्य वैशम्पायन को सुनाई। वैशम्पायन ने वह कथा जनमेजय के नागयज्ञ में अभिमन्यु के पौत्र जनमेजय

---

१. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर—(विंटरनिट्ज) पृ० १८६.

को सुनाई। तीसरी बार लोमहर्षण (सूत) के पुत्र सौति ने यह महाख्यान शौनकादि ऋषियों को सुनाया, जहाँ से यह कथा लोक विश्रुत हुई।

अपनी असामान्य गुण गरिमा के बल पर ही महाभारत 'पञ्चम वेद' के रूप में स्मरण किया जाता है। इस 'महाभारत' रूपी महासागर से 'गीता, 'विष्णु सहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज' तथा 'गजेन्द्र-मोक्ष' नाम के पाँच रत्नों का उद्गम हुआ है। साथ ही संस्कृत साहित्य के अनेक काव्यों, रूपकों तथा कथाकृतियों का सूत्रपात्र महाभारत के आधार पर ही हुआ है। भास, कालिदास, भवभूति, माघ और बाण जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले कवियों की कृतियों पर महाभारत का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

संक्षेप में महाभारत का वर्तमान प्राप्त रूप, आधुनिक आलोचकों के अनुसार अनेक शताब्दियों का और अनेक लेखकों के कठिन प्रयास का फल है। बाह्य समीक्षा से इसके तीन क्रमिक रूपान्तर प्रतीत होते हैं—(१) जय (व्यास-रचित) (२) भारत (वैशम्पायन-सम्वर्धित) (३) महाभारत, (सौति द्वारा पूर्ण-परिवर्धित)।

विद्वानों का कहना है कि पहले में ८८०० श्लोक, दूसरे में २४००० श्लोक तथा तीसरे में १ लाख श्लोक हैं।

प्रक्षेप—'महाभारत' का आख्यान शतियों तक मौखिक रहा होगा। स्वाभाविक है कि इसमें, बहुत बड़ी मात्रा में, प्रतिप्त अंश मिलते रहे हों। भाषा, शैली, विषय, रचना के वैविध्य आदि इसके प्रमाण हैं।

समय—वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख नहीं हैं। पाणिनि और पतञ्जलि ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पाश्चात्य आलोचक भाषा विज्ञान, शिला-लेखों और साहित्य-ग्रन्थों के प्रमाणों के आधार पर महाभारत को चौथी शती ई० से पूर्व का मानते हैं। चिन्तामणि महोदय का 'महाभारत मीमांसा' में अनुमान है कि महाभारत का वर्तमान रूप ३०० ई० पू० से लेकर १००० ई० तक निर्धारित हो चुका था।

तुलना—(१) 'रायायण' और 'महाभारत' दोनों भारत के प्राचीन पौराणिक ग्रन्थ हैं। देश का जातीय जीवन, जनता के धार्मिक, नैतिक विचार, वंशों और कुलों का क्रमबद्ध अध्ययन, ऐतिहासिक परम्परायें और घटनायें इन कृतियों में उज्ज्वल रूप से चित्रित दिखाई देते हैं। बाल्मीकि और व्यास ने इन दोनों कृतियों में भारतीय साहित्य को अपरिचित विषयवस्तु प्रदान की है।

(२) महाभारत में रामोपाख्यान 'रामायण' की ही कथा पर आश्रित है तथा 'महाभारत' में स्पष्ट रूप से 'रामायण' (वाल्मीकि) का उल्लेख है। अतः यह ज्ञात होता है कि 'महाभारत' में रामोपाख्यान 'रामायण' से ही ग्रहण किया गया है। 'रामायण' में कहीं भी 'महाभारत' की कथाओं का उल्लेख नहीं हुआ है। यह 'रामायण' की प्राचीनता का दूसरा प्रमाण है।

(३) दोनों ग्रन्थ अनुमानतः चारणों के गीतों से प्रादुर्भूत हुए होंगे। छन्द,

कथायें, वंशावलियाँ उपमायें, श्लोक, श्लोकोक्तियाँ और लोकोक्तियाँ बहुत कुछ, एक दूसरे से साम्य रखती हैं।

(४) रामायणकालीन सभ्यता और महाभारतकालीन सभ्यता— इन दोनों में पुरोहितों, अभिजातवंशियों, निम्न वर्गों और सेवकों की जीवनचर्या एक सी प्रतीत होती है।

(५) उपर्युक्त समानताओं पर दृष्टिपात करने के पश्चात् जब हम स्थूल से सूक्ष्म विचार-पद्धति अपनाते हैं, तो अनेक भेद पाते हैं—

(a) रामायण 'लघुकाय और' महाभारत विशालकाय है।

(b) 'रामायण' सुसम्बद्ध और 'महाभारत' असम्बद्ध है।

(c) 'रामायण' एक लेखक की कृति है, 'महाभारत' अनेक लेखकों की कृति है। यही कारण है कि 'रामायण' में एकता है जबकि महाभारत में अनेकता।

(d) 'रामायण' आदर्श-प्रधान है, 'महाभारत' व्यवहार-प्रधान है। 'रामायण' के नायक का पक्ष निर्दोष तथा प्रतिनायक का पक्ष सदा सदोष चित्रित किया गया। है 'महाभारत' में ऐसा नहीं है। 'रामायण' में आदर्श भ्रातृ-प्रेम है तो 'महाभारत' की उत्पत्ति ही भ्रातृ-द्रोह के कारण हुई है।

(e) 'रामायण' में राम का चरित्र ही (मुख्य) है तो 'महाभारत' में अनेक मुख्य चरित्र-चित्रित हैं।

(f) 'रामायण' के समय में पतिव्रता की भावना अति कठोर एवं अति उच्च आदर्शवादी थी, 'महाभारत' के समय में यह उतनी उत्कृष्ट न थी।

(g) इन दोनों कृतियों में संस्कृति का महान् अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'रामायण' में धर्मप्राणता करुणा, भावुकता, सरलता और संयम से युक्त संस्कृति का चित्रण है तो 'महाभारत' में कर्मप्राणता, दर्प, औद्धत्य, उग्रता और तेज संयुक्त संस्कृति का चित्रण मिलता है। 'रामायण' पढ़कर आप यदि शान्तरस की अनुभूति करते हैं तो 'महाभारत पढ़कर वीरत्स के अरण्य में चक्कर खाने लगते हैं, जहाँ 'पदे-पदे विपत्ति' है। जीवन की सफलतायें और असफलतायें एक दूसरे से टकराती है।

(h) राजनीतिक दृष्टि से भी 'रामायण' और 'महाभारत' में महान् अन्तर हैं—

(i) 'रामायण' में वैदेशिक प्रभाव नहीं है जबकि 'महाभारत' में यवनों का पर्याप्त प्रसार हो चुका था। कई विदेशी राजाओं ने भारत युद्ध में भी भाग लिया था।

(ii) 'रामायण' के समय आर्यावर्त विंध्याचल तक था, 'महाभारत' के समय कन्याकुमारी तक विस्तृत हो चुका था।

निम्नलिखित विवेचन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि महाभारत की सभ्यता अशान्त एवं अव्यवस्थित थी, जबकि 'रामायण' की शिष्ट और सुव्यवस्थित थी 'रामायण' की संस्कृति, भाषा, राजनीति और शैली, 'रामायण' को 'महाभारत से प्राचीन सिद्ध करती है। यद्यपि पाश्चात्य आलोचक 'महाभारत' को प्राचीन कहने

का कभी-कभी हठ सा करते प्रतीत होते हैं, किन्तु उन्हें अधोलिखित तथ्यों पर एकाग्र होकर ध्यान देना चाहिये क्योंकि वैज्ञानिक परिवर्तनों की भाँति सांस्कृतिक परिवर्तन भी छिपाये नहीं जा सकते।

रामायण और महाभारतकालीन संस्कृति

रामायण तथा महाभारतकालीन प्राचीन संस्कृति के आदर्शों में पर्याप्त अन्तर है। एक में भाई, भाई के लिये राज्य छोड़कर वन के कष्टों का सहर्ष वरण करता है। दूसरे में राज्य के लिये भाई भाई का घातक शत्रु बन जाता है। रामायणकालीन ब्राह्मण ऋषि या ऋषि-कल्प हैं जबकि महाभारत में वे शस्त्रास्त्र संचालन की शिक्षा-दीक्षा ही नहीं देते हैं, बल्कि योद्धा बनकर रण-क्षेत्र में क्षात्र धर्म का पालन करना भी अपना धर्म समझते हैं। क्षत्रियों का ध्यान युद्ध-विजय की ओर अधिक है, प्रजा की रक्षा करने में उतनी सावधानी नहीं। रामायणकालीन राजा और प्रजा में इतना सौहार्द है कि राम को वन से लौटा लाने के लिये भरत के साथ अवध की सारी प्रजा चित्रकूट तक पैदल जाकर राजा के प्रति अपने निश्छल प्रेम का परिचय देती है। महाभारत में कुन्ती सहित पाँचों पाण्डवों को १३ वर्ष का वनवास होने पर प्रजा का कोई वर्ग सहायक सिद्ध नहीं होता है। साथ ही वे भी रक्षा के लिये अधिक व्याकुल नहीं दिखाई देते।

'रामायण' में शूद्रवर्ण का निषाद राजा को गंगा पार उतारने और ले आने तक ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री न समझकर भरत को राम पर आक्रमण हेतु जाने का भ्रम होने पर, अपने अधिकारी राजा की रक्षा के लिये सपरिवार सन्नद्ध होकर भरत से लड़ने के लिये जाता है किन्तु भ्रमापनयन के बाद वह चित्रकूट तक इनका मार्ग प्रदर्शन भी करता है। महाभारत में शूद्र लोग विद्याओं के ज्ञान में निष्णात होने लगे थे। सूत-कुल में उत्पन्न लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा जनमेजय के नागयज्ञ से जब नैमिषारण्य पहुँचे तो वहाँ कुलपति महर्षि शौनक के बारह वर्षों तक चलने वाले यज्ञ में अनेक ब्रह्मर्षि एकत्र थे। वहाँ पर सूत-पुत्र ने ही अठासी सहस्र शौनकादि ऋषियों को 'श्रीमद्भागवत' सुनाई थी। एकलव्य शूद्र ही था, जिसने धनुर्विद्या में अर्जुन से भी अधिक कौशल दिखाया था। सम्भवतः इसीलिये उसे अपने मानव गुरु द्रोणाचार्य को अपने दाहिने हाथ का अंगूठा गुरु-दक्षिणा में देना पड़ा था।

'रामायण' एवं 'महाभारत' दोनों में ही नटों एवं नर्तकों का वर्णन कई जगह मिलता है। 'नट' 'नाटक' 'शैलूष' शब्दों का प्रयोग आया है। वे लोग गायन एवं नृत्य के साथ में प्रहसन भी किया करते थे।

स्त्रियों की अवस्था—रामायण एवं महाभारत-काल में स्त्रियों को वैदिक-कालीन जैसी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। सीता और दमयन्ती आदि के मुखावगुण्ठन इस बात की ओर संकेत करते हैं, भले ही वह शिष्टाचारवश क्यों न हो? महाभारत में युधिष्ठिर का सैरन्ध्र को विराट के सभाभवन से हटाना भी यही घोषित करता है कि वैदिककाल की अपाला और लोपामुद्रा को सर्वत्र ही जो स्वतन्त्राचरण का अधिकार प्राप्त था, वह महाभारतकालीन स्त्रियों को स्वप्न हो चुका था।

'रामायण' में राम की नैतिकता से रावण की अनैतिकता का सीधा संघर्ष होता है। इसके विपरीत 'महाभारत' में दुर्योधन की अनैतिकता को परास्त करने के लिए कृष्ण पाण्डवों द्वारा नैतिकता व अनैतिकता दोनों का प्रयोग कराते हैं। भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन जैसे वीरों का वध कृष्ण के संकेत मात्र से हो जाता है। पाण्डव जानते हैं कि अनैतिक साधनों का प्रयोग उनसे कराया जा रहा है, किन्तु नैतिक साध्य का निश्चय श्रीकृष्ण के समर्थन से हो जाता है। यही धर्मराज युधिष्ठिर की नैतिक अनैतिकता है, जो सत्यवादी को भी असत्य भाषण के लिये विवश कर देती है।

रामायणकालीन तक्षण तथा वास्तुकला के अवशिष्टांश आज भी राम के जन्म-स्थान के समीप अयोध्या के राजा दशरथ के महल के खम्भे, पार्श्वस्थ एक अन्य स्थान में लगा लिये गये हैं। कसौटी के पत्थर पर अंकित, विविध दृश्य तथा मूर्तियाँ, प्रागैतिहासिक तक्षण-कला की स्पष्ट झलक देते हैं। महाभारत में वास्तु एवं तक्षण के साथ चित्रकला का ऐसा उदात्त सम्मिश्रण मिलता है, जो युधिष्ठिर के यज्ञ में आये हुए दुर्योधन जैसे चतुर व्यक्ति को जल में स्थल और स्थल में जल होने के भ्रम में डाल देता है।

'रामायण' का काल निर्धारण करने में' हमें बहिरंग एवं अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर विचार करना पड़ता है। प्राचीन भारतीय जनश्रुति के आधार पर वाल्मीकि आदिकवि और 'रामायण' आदिकाव्य माना जाता है। वाल्मीकि राम के समकालीन थे। इन्हीं के राजत्वकाल में 'रामायण' की रचना हुई। पार्जिटर ने प्राचीन वंशावलियों के आधार पर उसका समय १६०० ई० पू० सिद्ध किया है।

कई शताब्दियों तक 'रामायण' कुशीलवों द्वारा मौखिक रूप से व्यवहृत होती रही। भास, कौटिल्य तथा पतञ्जलि ने इनका उल्लेख किया है, अथवा वे इससे परिचित हैं। पाणिनि ने 'रामायण' के प्रमुख पात्रों की व्युत्पत्ति समझाई है।

'रामायण' पर बौद्ध व जैन धर्म का कहाँ तक प्रभाव पड़ा ? 'रामायण' में केवल एक स्थान पर बुद्ध का उल्लेख मिलता है। जैकोबी का मत इस विषय में भिन्न है। बौद्ध कवि कुमारलात की 'कल्पना मण्डतिका' में 'रामायण' के सर्ववाचन का उल्लेख है ? बौद्ध कवि अश्वघोष 'रामायण' से परिचित हैं। जैन कवि 'विमल सूरि' 'पउमचरिअ' का आधार रामायण ही है।

'महाभारत' राम कथा से परिचित ही नहीं हैं, अपितु उसके वन-पर्व में रामोपाख्यान का पूर्ण वर्णन है। अतः 'महाभारत' का यदि यह स्वरूप ईसा के बाद बना तो 'रामायण' इसके पहले विद्यमान थीं।

इसके अतिरिक्त 'रामांयण' का अनुशीलन करने पर कुछ तथ्य मिलते हैं।

पाटलिपुत्र (Patana) की स्थापना मगध नरेश (५०० ई०) अजातशत्रु ने की थी। बौद्ध-ग्रन्थों में अयोध्या के स्थान पर कोशल को राजधानी साकेत है। अजातशत्रु ने इसकी रक्षार्थ गंगा एवं सोन के संगम पर किला बनवाया। राम ने इसी स्थान पर गंगा को पार किया, किन्तु इसका उल्लेख 'रामायण' में नहीं है।

भारत का दक्षिण भाग एक विशाल वन-प्रान्त था, जहाँ अनार्य जातियाँ निवास करती थीं। अतः इनके सभ्य, आर्य बनने के पूर्व, रामायण की रचना हो चुकी थी।

सम्पूर्ण 'रामायण' में केवल दो स्थानों पर यवनों का उल्लेख है। इसी आधार पर वेबर (Weber) इसे यूनान से प्रभावित मानता है, परन्तु जैकोबी ने इन्हें प्रक्षिप्तांश प्रमाणित किया है, जो उचित प्रतीत होता है।

उपर्युक्त आधार पर कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'रामायण' का यह स्वरूप ईसा के बाद का नहीं, अपितु उसके पहले का है। यह निश्चित है कि भास और कौटिल्य के पहले 'रामायण' की रचना हुई। अतः 'रामायण' का उपलब्ध स्वरूप ई० पू० दूसरी सदी तक बन चुका था। विन्टरनिट्ज इसका यही रूप मानता है।

'रामायण' में प्रक्षिप्तांशों की बहुलता है, जिन्हें अलग-अलग करना कठिन है। योरोपीय विद्वानों के अनुसार बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त हैं। अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक ही राम महापुरुष रूप में वर्णित हैं। रामायण के बालकाण्ड में उत्तरकाण्ड का उल्लेख नहीं है, अतः अयोध्याकाण्ड तक ही मूल एवं प्रामाणिक अंश माना जाता है। विद्वानों का एक दल (पूना-शोध-संस्थान) 'Poona Research से रामायण का शुद्ध एवं प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत कर रहा है। देखें उसे कहाँ तक सफलता प्राप्त होती है।

अध्याय

६ पुराण

भारतीय साहित्य में 'पुराण' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से ही पाया जाता है। 'अथर्ववेद' (११/७/२४) में समस्त वेदों के साथ 'पुराण' का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है—'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।' 'शतपथब्राह्मण' (१४/३/३/१३) में 'पुराण' को वेद कहा गया है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' पुराण को ऋग्वेद आदि के ही समान 'महाभूत' का निःश्वास मानती है—'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्—(२/४/१०)'। 'छान्दोग्योपनिषद्' (७/१/१) में 'पुराण' को पञ्चम वेद मानकर वेद के समान ही उसकी अध्येतव्यता प्रतिपादित की गई है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल के उत्तर युग में 'पुराण' नाम के एक अनेक ग्रन्थ रहे होंगे (उपर्युक्त पुराणों में 'पुराण' शब्द के एकवचन में उपलब्ध होने से उसके एक ही संख्या में होने की अधिक सम्भावना है) जिनमें उस समय के प्राचीन कथानकों के संकलन के साथ ही तत्कालीन धर्म और संस्कृति तथा वंश-परम्परा आदि का विवरण रहा होगा। कथानकों की पुरातनता के कारण ही इन ग्रन्थों को 'पुराण' नाम से अभिहित किया गया होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि 'मत्स्यपुराण' (५३/४–७) में जिस 'पुराण-संहिता' का उल्लेख पाया जाता है, वह कदाचित् यही वैदिक कालीन 'पुराण' था। परन्तु वर्तमान में वह उपलब्ध नहीं हैं।

सम्प्रति जो पुराण उपलब्ध होते हैं उनकी मुख्य विशेषता उनका पञ्च-लक्षणी होना है। 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार ये पाँच लक्षण निम्नलिखित हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

जिन प्रसिद्ध १८ पुराणों को इनसे अन्वित माना जाता है, उनमें से कतिपय में ही ये प्राप्त होते हैं। फिर भी ये सभी 'पुराण' वैदिक 'पुराण' से भिन्न हैं, यह स्पष्ट है।

पुराणों का रचनाकाल—उपलब्ध पुराणों की संख्या १८ है। इनका रचना-काल क्या है, इस सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। इनके कुछ अंश अत्यन्त प्राचीन हैं और कुछ बहुत बाद के। पुराणों में जिन राजवंशों का वर्णन किया गया है, उनमें हर्ष (छठी शती ई०) के बाद में किसी राजवंश का उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रायः सभी पुराण हर्ष के पहले या उसके कुछ आस-पास ही अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हो चुके होंगे। परन्तु इस सम्बन्ध में भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। वैसे विभिन्न विद्वानों के मत इस सम्बन्ध में इस प्रकार हैं—

लोकमान्य तिलक के अनुसार पुराणों का रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता (गीतारहस्य, पृ० ५६६)। लगभग यही मत पार्जिटर का भी है, जो पाश्चात्य विद्वानों में पुराणों के सबसे बड़े गवेषक माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में डा० हाजरा का अनुसन्धान सविशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी दृष्टि में 'मार्कण्डेय' 'ब्रह्माण्ड', 'विष्णु', 'मत्स्य', 'भागवत', एवं 'कूर्म' पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा काफी प्राचीन हैं। उपर्युक्त पुराणों में भी प्रथम दो 'विष्णु' से प्राचीन हैं तथा शेष का काल इस प्रकार है :—'विष्णु' ४०० ई०, 'वायु' ५०० ई०, भागवत ६००–७०० ई० और कूर्म ७०० ई०। 'अग्निपुराण' के सम्बन्ध में उनका विचार है कि उसकी रचना ८०० ई० के आसपास हुई, यद्यपि उसमें कुछ सामग्री उसके पहले की और कुछ बाद की भी है। डा० सुशील कुमार डे इसे नवम शताब्दी की रचना है और महामहोपाध्याय काणे इसके अधिकांश को ७०० ई० किन्तु काव्यशास्त्रीय अंश को ९०० ई० में रचित मानते है। 'नारदीय पुराण' को दशम शती में रचित बताया जाता है, जबकि कुछ सामग्री इसमें बाद को भी मिलाई गई। ठीक यही बात 'ब्राह्मणपुराण' के सम्बन्ध में भी है। 'स्कन्दपुराण' की अधिकांश सामग्री आठवीं शती की है और कुछ उसके बाद की है। 'गरुडपुराण' निश्चित रूप से दशवीं शती में या उसके बाद लिखा गया। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के सम्बन्ध में धारणा है कि इसकी रचना सातवीं शताब्दी में हो चुकी थी, फिर भी इसका रूप १६वीं शती में मिला।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुराणों की रचना किसी एक काल में नहीं हुई। वास्तव में ये अनेक शताब्दियों के चिन्तन मनन के परिणाम हैं, फिर भी अधिकांश महत्त्वपूर्ण पुराणों की रचना सातवीं शती ई० तक हो चुकी थी इतना निश्चय है।

पुराणों के रचयिता—प्राचीन साहित्य के अनुसार महाभारत सहित समस्त पौराणिक साहित्य की रचना का एकमात्र श्रेय सत्यवती पुत्र वेदव्यास को दिया जाता है। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, पुराणों की रचना हजारों वर्षों तक होती रही है, अतः किसी एक व्यक्ति को इनका रचयिता मानना उचित नहीं होगा। यह संभव है कि भागवत आदि पुराणों में जिस प्राचीनतम 'पुराणसंहिता' की बात कही गई है उसकी रचना वेदव्यास ने की हो और बाद में उनके शिष्यों और प्रशिष्यों ने देश, काल और विषय के अनुसार उसका अष्टादशधा विस्तार किया। इस सम्बन्ध में स्वयं पुराणों में ही संकेत प्राप्त होते हैं। 'शिवपुराण' के अनुसार इस कल्प के अन्त में केवल एक पुराण था जिसे ब्रह्मा ने मुनियों को सुनाया था। बाद में व्यास ने उस पुराणसंहिता को मानवों की सुविधा के लिए अट्ठारह भागों में विभक्त किया (१/२३/३०)। विष्णुपुराण में कहा गया है कि वेदव्यास ने 'पुराणसंहिता' की रचना की थी। उसका उपदेश उन्होंने अपने शिष्य सूतपुत्र लोमहर्षण को दिया।

लोमहर्षण ने उसका ज्ञान अकृतव्रण, सावर्णि और शांशपायन नामक तीन शिष्यों को दिया उन तीनों ने मिलकर तीन और पुराणसंहिताओं की रचना की जिन्हें बाद की शिष्य-परम्परा ने अष्टादश पुराणों और उपपुराणों के रूप में और विस्तृत किया। (३/६/१६, २१)। इससे स्पष्ट है कि व्यास ने केवल मूल 'पुराणसंहिता' की ही रचना की थी। बाद के वर्तमान १८ पुराणों की रचना में उनके शिष्यों-प्रशिष्यों का योगदान रहा है।

पुराणों का परिचय—पुराणों को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जाता है—महापुराण और उपपुराण। इनमें महापुराण वे कहलाते हैं जो उपर्युक्त पाँच लक्षणों अर्थात् सर्ग (सृष्टिज्ञान), प्रतिसर्ग (सृष्टि का फिर से होना), वंश (सृष्टि के प्रारम्भ की वंशावली), मन्वन्तर (विविध मनुओं की समयावधि) और वंशानुचरित (सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं की वंशावली) से युक्त होते हैं। यद्यपि, जैसा कि कहा गया है, उपलब्ध सभी (महा) पुराण इन लक्षणों से युक्त नहीं हैं। ये पुराण निम्नलिखित हैं :—

(१) **ब्रह्मपुराण**—पुराणों के अनुसार इस पुराण की रचना पुराणों में सबसे पहले की गई, इसीलिए इसे 'आदिपुराण' भी कहते हैं। कुछ पुराणों में इसकी श्लोक संख्या १०००० कही गई है और कुछ में १३०००। इसके वर्तमान संस्करण में श्लोकों की संख्या १३७८७ है। इसमें सृष्टिवर्मन, विभिन्न देवों और दानवों के वंश का वर्णन तथा सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं के वर्णन हैं। इस में सूर्य के अतिशय महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए उन्हें शिव से अभिन्न बताया गया है। इसमें कोणार्क के उस सूर्यमन्दिर का उल्लेख हुआ है, जिसका निर्माण १२४१ के पश्चात् हुई है। निश्चय ही यह अंश बाद का जोड़ा हुआ है।

(२) **पद्मपुराण**—यह पुराणों में विशालता की दृष्टि से दूसरा हैं। पुराणों में इसकी श्लोक-संख्या ५५००० बताई गई है, किन्तु बम्बई के संस्करण में केवल ४८००० श्लोक मिलते हैं। इसमें पाँच खण्ड हैं—सृष्टि, भूमि, पाताल, स्वर्ग और उत्तर। मुख्यतया विष्णु के महत्त्व का प्रतिपादक होने पर भी यह त्रिदेवों में एकत्व की भावना को अग्रसर करता है। इसमें राधा को कृष्ण की प्रेयसी के रूप में चित्रित किया है। इसमें शकुन्तला और राम की कथाएं विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जिनको महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और 'रघुवंश' में गृहीत किया है।

(३) **विष्णुपुराण**—पुराणों की दृष्टि में इस पुराण का रचनाक्रम की दृष्टि का स्थान तीसरा है। इसमें २३००० श्लोक बताए गए हैं, किन्तु बम्बई के संस्करण में केवल १६००० श्लोक मिलते हैं। इसमें प्रधान रूप से विष्णु का वर्णन किया गया है, किन्तु विष्णु के किसी व्रत और मन्दिर का उल्लेख नहीं है। इसमें मौर्य वंश का वर्णन मिलता है। विद्वानों की दृष्टि में यही एक ऐसा पुराण है, जिसमें पुराणों के सभी लक्षण मिलते हैं।

(४) **वायुपुराण**—इसका उल्लेख 'महाभारत' और 'हरिवंश' में हुआ है।

बाणभट्ट ने भी इसका संकेत दिया है। इससे इसकी रचना सातवीं शती ई० के पूर्व है, यह स्पष्ट है। वायु के द्वारा कथित होने के कारण इसे वायुपुराण कहते हैं, यद्यपि इसमें मुख्यतः शिव का वर्णन प्राप्त होता है। इसीलिए इसे कतिपय लोग 'शिवपुराण' का एक अंश कहते हैं, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। इसमें गुप्तवंश और साम्राज्य का विशेष वर्णन प्राप्त होता है।

(५) श्रीमद्भागवत—महत्त्व की दृष्टि से पुराणों में 'श्रीमद्भागवत' का स्थान निश्चय ही अप्रतिम है। शुकदेव ने इसे निगम तक का गिरा हुआ फल माना है। वैष्णवों में इसका महत्त्व प्रस्थानत्रयी जैसा ही है। पश्चात् कालीन सम्प्रदायों के प्रवर्तन में इसका विशेष महत्त्व है। इसमें विष्णु के चौबीसों अवतारों, विशेषकर कृष्ण की बाल-लीलाओं का विशद वर्णन प्राप्त होता है। इसकी भाषा और शैली साहित्यिक है। इसमें राधा का वर्णन प्राप्त नहीं होता। इसमें श्लोकों की संख्या १८००० है जो बारह स्कन्धों और लगभग ३०० अध्यायों में विभक्त है।

(६) नारदीयपुराण—इसमें विष्णु की महिमा का प्रतिपादन किया गया है और 'पुराण' के मुख्य विषयों का स्पर्श तक नहीं किया गया है। इसके दो खण्डों में से पूर्वखण्ड में १२५ अध्याय और उत्तरखण्ड में २५ अध्याय हैं। इसमें वर्ण, आश्रम, पाप और पुण्य आदि का वर्णन विशेष रूप से किया गया है।

(७) मार्कण्डेयपुराण—पुराणों में इसकी श्लोक संख्या ९००० बताई गई है, किन्तु इस समय इसमें ६९०० श्लोक ही प्राप्त होते हैं। यह पुराणों में सबसे कम साम्प्रदायिक और रोचक होने के साथ-साथ प्राचीनतम भी माना जाता है। इसमें इन्द्र, ब्रह्मा, अग्नि और सूर्य को प्रधानता मिली हुई है।

(८) अग्निपुराण—यह कुछ दृष्टियों से पुराणों में अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसमें तत्कालीन प्रायः सभी विषयों का वर्णन किया गया मिलता है, इसलिये यह पौराणिक विश्वकोश कहलाता है। इसमें १५००० श्लोक मिलते हैं। इसकी रचना ९००० ई० के आसपास हुई बताई जाती है।

९) ब्रह्मवैवर्तपुराण—इसके चार—ब्रह्म, प्रकृति, गणेश और कृष्णजन्म खण्डों में १८००० श्लोक पाए जाते हैं। इसके प्रथम खण्ड में सृष्टि रचना और दूसरे खण्ड में प्रकृति रूपी दुर्गा, पार्वती और राधा आदि का वर्णन है। अन्य खण्डों के विषय स्पष्ट हैं। इसके अनुसार श्रीकृष्ण ही सर्वोच्च देवता हैं।

(१०) वाराहपुराण—यह विष्णु को प्रधान मानने वाला पुराण है। इसमें भगवान् विष्णु के वाराह (सूकर) अवतार का वर्णन विशद रूप में किया गया है। यद्यपि इसके सृष्टि और वंशानुक्रम आदि का उल्लेख है, तथापि पुराण के अन्य विषयों की चर्चा नहीं है। इसमें नागेश और नचिकेता के उपाख्यान के साथ-साथ श्राद्ध और प्रायश्चित्तादि धर्मशास्त्रीय विषयों का भी निरूपण किया गया है।

(११) स्कन्दपुराण—शिव के पुत्र स्कन्द के महत्त्व का प्रतिपादक होने के कारण इसे 'स्कन्दपुराण' कहते हैं। विशालता की दृष्टि से यह सबसे बड़ा पुराण है।

पुराणों के अनुसार इससे ८१११० श्लोक होने चाहिए, किन्तु वर्तमान में ८१००० श्लोक मिलते हैं। यह ग्रन्थ सनत्कुमारीया, सूत, ब्राह्मी, वैष्णवी, शांकरी तथा सौरी इन छह संहिताओं में बँटा है। संहिताओं के क्रम से ही इसमें तत्तत देवताओं के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु शंकर और उनके पुत्र स्कन्द के महत्त्व को सर्वाधिक बताया गया है।

(१२) **लिङ्गपुराण**—यह एक शैवपुराण है। इसमें भगवान् शिव की लिङ्ग पूजा का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें भी 'पद्मपुराण' के समान राधा का वर्णन प्राप्त होता है।

(१३) **वामनपुराण**—इस वैष्णव पुराण के प्रारम्भ में विष्णु के वामनावतार का वर्णन मिलता है। फलतः इसका उक्त नाम है। इसमें लिङ्ग पूजा और शिव-पार्वती विवाह का भी वर्णन है। इसमें ९५ अध्याय और १०,००० श्लोक मिलते हैं। इसमें पुराणों के सभी विषयों का प्रतिपादन नहीं मिलता।

(१४) **कूर्मपुराण**—पुराणों के अनुसार प्रारम्भ में इसमें ब्राह्मी, भागवती, गौरी और वैष्णवी—ये चार संहिताएं और १७००० श्लोक थे, किन्तु वर्तमान में इसकी ६०० श्लोकों वाली ब्राह्मी संहिता ही मिलती है। इसमें विष्णु के कूर्म अवतार के साथ-साथ शिव के अवतारों का भी वर्णन किया गया है, साथ ही विष्णु और शिव तथा लक्ष्मी और पार्वती को परस्पर अभिन्न माना गया है। इसमें अग्निदेव द्वारा सीता की रक्षा की कहानी भी है, जो रामायण में नहीं है।

(१५) **मत्स्यपुराण**—इसमें विश्वप्रसिद्ध जलप्लावन की घटना और विष्णु के मत्स्यावतार का विशद वर्णन है। इसमें सभी विषयों का वर्णन मनु और मत्स्य के प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है। यद्यपि यह एक वैष्णव पुराण है तथापि शैवधर्म से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का भी विशद वर्णन करता है। इसकी आन्ध्र राजाओं की वंशावली पर्याप्त विश्वसनीय मानी जाती है।

(१६) **गरुड़पुराण**—यह वैष्णव पुराणों में अन्यतम है। इसके प्रथम खण्ड में विष्णु से सम्बद्ध व्रतों और तीर्थों आदि के साथ-साथ ज्योतिष, व्याकरण, छन्दस् और रत्नपरीक्षा आदि का भी वर्णन मिलता है जबकि इसके उत्तर खण्ड में, जिसे प्रेतकल्प भी कहा जाता है, शरीरत्याग के उपरान्त आत्मा की स्थिति, नरक-यात्रा, मार्ग और नरक की यातनाओं के साथ-साथ आत्मा के पुनर्जन्म का भी वर्णन मिलता है। इसका 'रायामाहात्म्य' महत्त्वपूर्ण है।

(१७) **ब्रह्माण्डपुराण**—इस पुराण को माहात्म्यों, स्तोत्रों और उपाख्यानों का एक ऐसा संग्रह माना गया है, जो 'पुराण' कम ही प्रतीत होता है। 'अध्यात्म-रामायण' इसी का एक अंश है, जो पार्वती और शिव के संवाद के रूप में लिखा गया एक सुन्दर रामकाव्य है। इसमें अद्वैततत्त्व और रामभक्ति को मोक्ष का साधन और राम को परब्रह्म का अवतार माना गया है।

(१९) **भविष्यपुराण**—प्रतीत होता है कि इसमें और आपस्तम्बधर्मसूत्र में

उल्लिखित भविष्यपुराण में कुछ अन्तर है, क्योंकि उक्त धर्मसूत्र में उल्लिखित श्लोक इसमें नहीं मिलता। इसमें अधिकतर भावी घटनाओं का भविष्यवाणी के रूप में वर्णन किया गया है। इसके अधिकांश में ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध कृत्यों, व्रतों और तीर्थों आदि के वर्णन के साथ-साथ कुछ आख्यान भी आए हैं, जिनमें नागपञ्चमी से सम्बद्ध सर्पाख्यान भी है। इसमें कुछ ऐसे पदार्थों का उल्लेख मिलता है, जिनका अस्तित्व भी उस युग में नहीं मिलता।

कतिपय विद्वान् 'देवीभागवत' को भी महापुराणों में ही गिनते हैं और 'श्रीमद्भागवत' को उपपुराण। परन्तु अधिकांश पुराणों ने 'श्रीमद्भागवत' को ही महापुराण ही माना है। फलतः 'देवीभागवत' को उपपुराण ही मानना चाहिए। इसमें देवी (दुर्गा) से सम्बद्ध स्तोत्रों और आख्यानों का मनोरम उपन्यास है।

कतिपय विद्वान् 'योगावशिष्ठ' को भी इन्हीं पुराणों की कोटि में सन्निविष्ट करने का प्रयास करते हैं, यद्यपि पुराणों की सूची में इसका उल्लेख नहीं मिलता। यह एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें छह खण्ड और छह सौ बहत्तर सर्ग हैं। इसके सम्बन्ध में डा० सूर्यकान्त का कथन है[1] "भारतीय दर्शनशास्त्र का यह प्रभूत विश्वकोश है। इसकी विपुलता, विदग्धता, सूक्ष्मदर्शिता और गहनता वर्णनातीत है। अध्यात्म विषय विवेचन की दृष्टि से दूसरी रचना इसकी जोड़ की नहीं है। भारतीय वाङ्मय की यह अनुपम विधि अपनी जैसी आप है। इसका कर्त्ता वाल्मीकि को बताया गया है।"

उपपुराण—जो 'पुराण' 'महापुराण' नहीं माने जाते उन्हें 'उपपुराण' कहा जाता है, यद्यपि कई उपपुराण महापुराणों की अपेक्षा भी काफी बड़े हैं। इनकी संख्या लगफग ३० बताई जाती है और उनके रचयिता भी वेदव्यास माने जाते हैं। डॉ० सूर्यकान्त के अनुसार 'उपपुराण' निम्नलिखित हैं—(१) सनत्कुमार, (२) नरसिंह, (३) बृहन्नारदीय. (४) शिवधर्म, (५) दुर्वासस्, (६) कपिल, (७) मानव, (८) उशनस्, (९) वारुण, (१०) कालिका, (११) साम्ब, (१२) नन्दिकेश्वर, (१३) सौर, (१४) पाराशर, (१५) आदित्य, (१६) ब्रह्माण्ड, (१७) माहेश्वर, (१८) भागवत (देवी पुराण को महापुराण माने जाने की स्थिति में), (१९) वाशिष्ठ, (२०) कौर्म, (२१) भार्गव, (२२) आपि, (२३) मुद्गल, (२४) कल्कि, (२५) देवी, (२६) महानागवत, (२७) बृहद्धर्म, (२८) परानन्द, (२९) पशुपति तथा (३०) हरिवंश।

इनमें 'हरिवंश' 'महाभारत' के परिशिष्ट के रूप में मान्य है।

इन उपपुराणों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे ग्रन्थ पाए जाते हैं, जिनके साथ 'पुराण' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, किन्तु जिनका पुराणों की सूची में कोई उल्लेख नहीं मिलता। ऐसे ग्रन्थों में 'विष्णुधर्मोत्तर' और 'नीलमत' के नाम सविशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम में काश्मीरी वैष्णव धर्म और दूसरे में राजा

---

१. संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, पृ० १३५।

नील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए काश्मीर के इतिहास को प्रस्तुत किया गया है।

जैनपुराण—उपर्युक्त वैदिकधर्मावलम्बी पुराणों और उपपुराणों के अतिरिक्त जैन पुराणों की भी एक लम्बी सूची संस्कृत में मिलती है। किन्तु ये 'पुराण' वैदिक पुराणों के समान पञ्चलक्षणी होने के कारण पुराण नहीं कहलाते, बल्कि इसलिए 'पुराण' कहलाते हैं, क्योंकि इनमें महापुरुषों के महान् और पुरातन चरित्रों का उपन्यास किया गया है—'पुरातनं पुराणं स्यान्तन्महन्महदाश्रयात्।' वास्तव में जैन-पुराण केवल पुराने कथानक को उपन्यस्त करने के कारण ही 'पुराण' हैं, अन्यथा वे काव्य के अधिक निकट हैं। उनकी शैली पुराणों और काव्य के बीच की है। इन जैन पुराणों की संख्या २४ बताई जाती है, जिनमें आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण और उत्तरपुराण विशेष प्रसिद्ध हैं। 'आदिपुराण' में जैनों के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का पूरा चरित्र बड़ी ही प्राञ्जल भाषा और शैली में निबद्ध है। इसमें ४७ सर्ग हैं तथा इसके रचयिता आचार्य जिनसेन हैं। इसका रचनाकाल लगभग सातवीं शती ई० है। 'उत्तरपुराण' इसी 'आदिपुराण' का उत्तरार्द्ध है। इसका प्रारम्भ ४८ वें सर्ग से होता है। इसमें दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर तक का चरित वर्णित है। इसके रचयिता आचार्य गुणभद्र हैं। 'पद्मपुराण' और 'हरिवंशपुराण' में क्रमशः 'रामायण' और 'महाभारत' की कहानी को जैन दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। हेमचन्द्र को 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र' यद्यपि नामतः पुराण नहीं है, तथापि उसको पुराण ही समझना चाहिए। इसमें २४ तीर्थङ्करों, १२ चक्रवर्तियों, ९ वासुदेवों, ९ शुक्ल बलों और ब्रह्मद्विषों का वर्णन बड़ी उदात्त शैली में किया गया है।

पुराणों का महत्त्व—अत्यन्त प्राचीनकाल से ही पुराणों के महत्त्व को स्वीकारा गया है। प्राचीन भारतीय उन्हें वेदों का पूरक और कभी-कभी तो वेदों से अभिन्न भी मानते रहते हैं। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' कहकर उन्होंने पुराणों को वेदों के अर्थज्ञान में प्रमुख साधन माना है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों का महत्त्व उनकी दृष्टि में क्या और क्यों था?

किन्तु आज पुराणों का महत्त्व अन्य कई दृष्टियों से भी है। वे भारतीय इतिहास, धर्म, सभ्यता और संस्कृति के विश्वकोश है। इन्हें जानने का सर्वाधिक विश्वनीय साधन पुराण ही हैं। उन्होंने हमारे देश के विभिन्न राजवंशों की जो वंशावलियाँ दी हैं, वे हमारे राजनैतिक इतिहास की प्रमुख सामग्री हैं। यद्यपि आधुनिक काल के प्रारम्भ में कतिपय विद्वान् इन्हें केवल कपोलकल्पना मानकर कोई विशेष महत्त्व नहीं देते थे, किन्तु जब कुछ विद्वानों ने पुराणों में वर्णित सामग्री के आधार पर कुछ ऐतिहासिक तथ्यों को सिद्ध कर दिखाया तो उन्हें भी पुराणों की प्रामाणिकता पर विश्वास करना पड़ा। पुराणों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए जिन विद्वानों ने अथक प्रयत्न किया उनमें पाश्चात्य विद्वान पार्जिटर और भारतीय

विद्वान् डॉ० हाजरा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त डॉ० स्मिथ, जायसवाल, अल्तेकर, डी० आर० भण्डारकर और मजूमदार के प्रयास भी इस दिशा से श्लाघनीय रहे हैं। इन लोगों ने यह सिद्ध किया कि 'विष्णुपुराण' मौर्यवंश के मत्स्य पुराण आन्ध्र वंश के तथा वायुपुराण गुप्तवंश के प्रारम्भिक राजाओं की प्रभूत और विश्वसनीय सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय विद्वानों ने पुराणों की वंशावलियों को आधार मानकर, भारतीय इतिहास को भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और दूसरे लोगों ने उनके प्रयास को सराहा है। सच तो यह है कि पुराण का यदि सह और वैज्ञानिक अनुशीलन किया जाए तो वह भारतीय इतिहास, सभ्यता और संस्कृति की विलुप्त कड़ियों को प्रकाश में लाने में भी समर्थ हो सकते हैं। संक्षेप में उनका महत्त्व यह है—

१. पुराणों ने अपने समय की भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अक्षुण्ण रखा है। कहीं-कहीं इनमें प्राग्वैदिक प्रथाओं का भी चित्रण हुआ है।

२. पुराण वेदों के अर्थ और भाव की ही सरल भाषा और शैली अभिव्यक्त करते हैं, इससे वेदों के अर्थज्ञान में अब उनसे सहायता मिलती है।

३. पुराणों में जिस सभ्यता और संस्कृति का चित्रण हुआ है वह प्रायः यहाँ के शासक वर्ग की है। इससे तत्तत् काल के शासकों सभ्यता आदि का ज्ञान सरलता से किया जा सकता है।

४. कतिपय पुराणों की भाषा और शैली साहित्यिक है, इसलिए उनका साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्व है।

५. पुराणों में प्रायः सभी भारतीय दर्शनों के तत्त्व बिखरे पड़े हैं। इसलिए उनके आधार पर लुप्त दार्शनिक धाराओं का उद्धार किया जा सकता है।

६. पुराणों में प्रस्तुत कतिपय राजवंशों की वंशावलियों इतिहास के लिए बड़े काम की सिद्ध हुई हैं। इनके अभाव में मौर्य, गुप्त और आन्ध्र वंश के राजाओं के वृत्त प्रस्तुत नहीं किए जा सकते थे।

७. पुराणों में पर्याप्त मात्रा में भौगोलिक सामग्री प्राप्त है। यदि इसके आधार पर भारत और उसके आस-पास के देशों के भूगोल पर काम किया जाये तो काफी सफलता मिल सकती है। केप्ट नामक विद्वान को नील नदी के उद्गम स्थल का पता पुराणों के आधार पर ही लगाया था।

८. पुराणों में हिन्दुओं की समस्त कलाओं विधाओं और शास्त्रों की जानकारी प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार केवल इनके ही आधार पर समस्त भारतीय वाङ्मय के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यद्यपि पुराणों में कई स्थल पर आपस में विरोध और वैषम्य भी मिलता है, किन्तु वैज्ञानिक बुद्धि को इनका निराकरण करने और सत्य को प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं है।

———

अध्याय महाकाव्य

(पूर्वपीठिका)

७

संस्कृत भाषा तथा साहित्य

"संस्कृत नाम दैवी वाक्"—संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं का शिरोमुकुट, समग्र उदात्त एवं उज्जवल विचारों की मनोरम मञ्जूषा, प्राचीन भारत के साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन की कमनीय कुंजिका तथा पुरुषार्थ चतुष्ट्य (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का निर्मल मुकुर हैं। इस भूवलय पर सर्वाधिक प्राचीन कहीं जाने की अधिकारिणी भाषा, यही आर्यों की गीर्वाण-वाणी है। वह हमारे देश भारत की एक अमूल्य एवं अद्वितीय निधि है।

संस्कृत, संसार की सभी भाषाओं में श्रेष्ठ है। संसार के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद की ऋचाओं का दर्शन, अभिव्यञ्जन और उच्चारण सर्वप्रथम इसी भाषा में हुआ था। आध्यात्मिक रहस्यों से ओत-प्रोत उपनिषदों की व्यंजना इसी देववाणी में हुई थी। पुराण, धर्मशास्त्र आदि का प्रणयन इसी भाषा में किया गया था।

भारत को सभी प्रान्तीय भाषाओं की आदि-जननी संस्कृत ही है। प्रत्येक प्रादेशिक भाषा संस्कृत के समृद्ध साहित्य से अपने को सम्पन्न, सम्वर्धित, संवर्तित एवं अनुप्राणित कर रही है। तमिल, तैलगू और मलयालम जैसी द्रविड़ भाषाओं पर भी इस भाषा का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है।

"संहितस्य भावः साहित्यम्" में सहित शब्द के दो अर्थ हैं :—

(१) साथ होना और

(२) हितेन सह सहित अर्थात् हित के साथ होना।

पहिले अर्थ के अनुसार शब्द और अर्थ, विचार और भाव की पारस्परिक अनुकूलता के साथ सह-भाव ही साहित्य है।[1] कविकुलगुरु कालिदास ने अपने

---

१. "शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या '

—काव्यमीमांसा, अध्याय २ पृष्ठ ५ (राजशेखर)

"न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते।
सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्।
साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्॥

—व्यक्तिविवेक व्याख्या, पृष्ठ ३६ (राजानक रुय्यक)

"साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः॥"

—वक्रोक्तिजीवितम् १/१७१ राजानक कुन्तक)

रघुवंश महाकाव्य के मंगलाचरण में शब्द और अर्थ के संयोग को अपने इष्ट पार्वती और परमेश्वर (शिव) के संयोग का उपमान बनाया है।[1]

दूसरे अर्थ के अनुसार साहित्य वही है जिससे मानव हित का सम्पादन हो। "विदधातीति हितम्" अर्थात् जिससे कुछ बने, कुछ लाभ हो, उसे हित कहते हैं।

साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में किया जाता है। व्यापक अर्थ में अंग्रेजी भाषा (का लिटरेचर) शब्द सभी प्रकार की गद्य-पद्यात्मक पत्र-पत्रिकाओं एवं ग्रन्थों को सन्निविष्ट करता है। जैसे बीमा कम्पनी का साहित्य दवाओं का साहित्य, दार्शनिक साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य, गद्य-साहित्य, काव्य-साहित्य आदि। अक्षरों (लेटर्स) का विस्तार ही लिटरेचर है। अरबी में साहित्य को अदब कहते हैं। अदब का अर्थ है आदर, शिष्टता। साहित्य शिष्टतापूर्ण होने के कारण ही अदब कहलाता है।

इस व्यापक अर्थ में साहित्य समग्र वाङ्मय का पर्याय है।

साहित्य शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में काव्य नाटक आदि के लिये होता है। व्यापक अर्थ में साहित्य के दो विभाग किये जा सकते हैं :—

एक काव्य[2] और दूसरा शास्त्र[3]

काव्य रसात्मक होता है और शास्त्र ज्ञान-प्रधान है। थामस डी. क्विन्सी ने ऐसा ही विभाग किया है—लिटरेचर ऑफ पावर" (काव्य) तथा लिटरेचर ऑफ नौसेन (शास्त्र) :—

"दी फंक्शन ऑफ दी फर्स्ट इज टू टीच, दी फंक्शन ऑफ दा सेकंड इज टुमूव"

राजशेखर ने साहित्य-विद्या को पञ्चमी विद्या कहा है[4] जो मुख्य चार विद्याओं[5] (पुराण, न्याय, मीमसा तथा धर्मशास्त्र) का निष्यन्द है।

---

१. "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥" —रघुवंश (१–१)

२. काव्य के रूप, पृष्ठ ४ (गुलाबराय)

३. काव्य के रूप, पृष्ठ ४ (गुलाबराय)

४. "पञ्चमी साहित्य विद्या इति यायावरीयः सा हि चतसृणां विद्यानामपि निष्यन्दः"
—काव्यमीमांसा, अध्याय ३, पृष्ठ ४ (कविराजशेखर),

५. अथ चत्वार्युपांगानि वेदानां संप्रचक्षते।
धर्मशास्त्रं पुराणं च मीमांसा न्यायविस्तरः॥
—साहित्यदर्पण भूमिका, पृष्ठ ६

बिल्हण ने काव्य रूपी अमृत को साहित्य-समुद्र के मन्थन से उद्भूत होने वाला कहा है[1]।

प्राचीनकाल से ही साहित्य शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में अधिकतर काव्य के पर्यायवाची अर्थ में प्रचलित है[2]। महान् व्याकरणाचार्य भर्तृहरि ने भी साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य के लिये किया है[3]।

'साहित्य संगीतकला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।' संस्कृत काव्य-साहित्य का रूप व्यापक है। इसके अन्तर्गत महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य, गद्य-साहित्य ऐतिहासिक काव्य, नीति काव्य, चम्पू और कथा साहित्य इन सभी का समावेश हो जाता है। अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि शास्त्रीय साहित्य भी इसकी सीमा से परे नहीं है।

साहित्य किसी देश की राष्ट्रीय संस्कृति तथा जातीय भावनाओं का प्रतीक होता है। संस्कृत साहित्य भारत का राष्ट्रीय गौरव है। हमारा संस्कृत साहित्य हमारी संस्कृति का निर्मल दर्पण है। संस्कृत साहित्य में हमें अपने गौरवमय अतीत की झांकी देखने को मिलती है। साहित्य परा तथा अपरा विद्याओं का महनीय कोष है। प्राचीनता की दृष्टि से यह अद्वितीय है। व्यापकता की दृष्टि से वह सर्वांगीण है। इसमें पुरुषार्थ चतुष्टय का सांगोपांग विवेचन किया गया है। कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र तथा गणित, व्याकरण, कोष, अलङ्कार, संगीतदर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, विज्ञान, स्थापत्य तथा पशु-पक्षी सम्बन्धी अनेक लक्षण-ग्रन्थ कुछ लोगों की इस धारणा को निर्मूल सिद्ध करते हैं कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्म-ग्रन्थों का ही प्राचुर्य है। वस्तुतः प्राचीनकाल से ही भारतीय विद्वानों की रुचि न केवल पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि अथवा श्रेयः शास्त्रों की ओर ही रही है, अपितु लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति अथवा प्रेयः-शास्त्रों की ओर भी रही है। अपितु लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति अथवा प्रेयः-शास्त्रों की ओर भी रही है। जर्मन विद्वान् विन्टरनित्ज लिखते हैं :

'लिटरेचर (साहित्य) अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है, वह संस्कृत में वर्तमान है। धार्मिक और ऐतिहासिक (सेकुलर) रचनायें, महाकाव्य,

---

१. साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्याइव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति॥
विक्रमाङ्कदेवचरित १/११

२. व्याकरण मीमांसा तर्कसाहित्यापकर्षे चतुर्षु, शास्त्रेपूपयोगात्।
अभिधावृत्तिमातृका पृष्ठ २१ (मुकुल भट्ट)।
विना न साहित्यविदा परत्र गुणः कथञ्चित प्रथते कवीनाम्।
श्रीकण्ठचरित १२ (महाकवि मंखक)

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास प्रथम भाग भूमिका पृष्ठ ३।
—(कन्हैया लाल पोद्दार)

भर्तृहरि, नीतिशतक, श्लोक १२

लिरिक, नाटकीय और नीति सम्बन्धी कविता, वर्णनात्मक और वैज्ञानिक गद्य सब-कुछ इसमें भरा पड़ा है।

संस्कृत-साहित्य-रचना की अजस्र एवं अविच्छिन्न परम्परा उसकी अपनी विशेषता है। धार्मिकता, सभ्यता तथा कला की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा गौरवशाली है। संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों की संख्या उनके अधिकांश नष्ट हो जाने पर भी ६०,००० से ऊपर है। इसका साहित्य इतना सरस हृदयावर्जक एवं कमनीय है कि रसास्वादन के लिये उसके ग्रन्थों का अनुवाद प्रायः सभी विदेशी भाषाओं में अबाध गति से होता जा रहा है। विदेशी विद्वान् उसके साहित्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं।

काव्य तथा महाकाव्य

काव्य क्या है[1]? उसमें प्रयोजन क्या हैं? आदि प्रश्नों की जटिलता में न पड़कर यहाँ हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि कोई तो रसात्मक वाक्य का काव्य कहते हैं और किसी की दृष्टि में रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। मम्मटाचार्य तो उसकी ओर भी व्यापक परिभाषा देते हुये लिखते हैं[2]:—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि[3]।

उनकी दृष्टि में यशःप्राप्ति, धन-लाभ, व्यवहार-ज्ञान, अनिष्ट-निवारण, शान्तिजन्य आनन्द तथा पत्नी के से मृदुल उपदेश ही काव्य के प्रयोजन हैं। वह (काव्य) पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का साधन है। काव्य आनन्दमूलक होता है। रस के द्वारा ही काव्य की आनन्दमयता निष्पन्न होती है। राजानक कुन्तक ने तो काव्य को पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति से भी अधिक माना है। काव्यानन्द को ही ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यतेरसः ॥
रजस्तमोभ्यामस्पृष्ठम् मनः सत्त्वमिहोचते,

—विश्वनाथ कविराज साहित्यदर्पण (८/२–३)

---

१. डॉ० भोलाशंकर व्यास 'संस्कृत कविदर्शन' पृष्ठ १ (आमुख)

२. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ १ (भूमिका)

३. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्, साहित्यदर्पण १/३ (कविराज विश्वनाथ)

४. रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—रसगंगाधर (काव्यमाला १२, पृष्ठ ४) पंडितराज जगन्नाथ।

५. काव्यप्रकाश १/३

६. काव्यं यशसेअर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

काव्यप्रकाश १/३ (मम्मटाचार्य)

काव्य के दो मुख्य भेद हैं—

(१) दृश्य[1] और (२) श्रव्य[2]।

दृश्य काव्य का अभिनय किया जाता है। वह नेत्रों के द्वारा हृदय को आह्लादित करता है। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक आते हैं। रूपक के दस भेद निम्नलिखित हैं—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥

श्रव्यकाव्य के दो भेद हैं—

(१) रूपात्मक और (२) वास्तवात्मक।

रूपात्मक भेद के अन्तर्गत गद्य-पद्य और चम्पू आते हैं। वास्तवात्मक भेद के अन्तर्गत महाकाव्य तथा मुक्तक आ जाते हैं।

पाश्चात्य समीक्षा में काव्य के दो विभाग किये गये हैं—

(१) विषयीगत (सबजैक्टिव) और (२) विषयगत (आबजैक्टिव)।

विषयीगत काव्य को प्रगीत काव्य (लिरिक) अथवा भाव-प्रधान कहा गया है और विषयगत काव्य का महाकाव्य (एपिक) में तादात्म्य किया गया है। प्रगीत काव्य को वैणिक गीत और दूसरे प्रकार को अनुकृत (महाकाव्य जिसका प्रतिनिधि रूप है) या प्रकथनात्मक (नैरेटिव) कहा गया है। एपिक या महाकाव्य के दो प्रकार हैं—

(१) एपिक आफ ग्रोथ (विकसनशील महाकाव्य) और

(१) एपिक आफ आर्ट (अलंकृत महाकाव्य)।

काव्य का यह विभाग युग के बतलाये हुये अन्तर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) और बहिर्मुखी (एक्ट्रोवर्ट) प्रकारों के अनुकूल बैठता है। अन्तर्मुखी वे लोग होते हैं, जो अपने को ही मुख्यता देकर संसार से उदासीन रहते हैं और बहिर्मुखी वे लोग होते हैं, जो अपनी अपेक्षा संसार की अधिक परवाह करते हैं। अन्तर्मुखी गीति-काव्य अधिक लिखते हैं और बहिर्मुखी अनुकृति काव्य की ओर प्रवृत्त होते हैं। निम्नांकित चक्रों से उपर्युक्त काव्य का विभाजन स्पष्ट हो जायेगा—

---

१. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव··· ··· ··· ॥
—साहित्यदर्पण १/२ (कविराज विश्वनाथ)

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीतिं कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥
—काव्यालंकार १/२ (भामह)

२. चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥—वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ ५।

३. दशरूपक १/१ (धनंजय)।

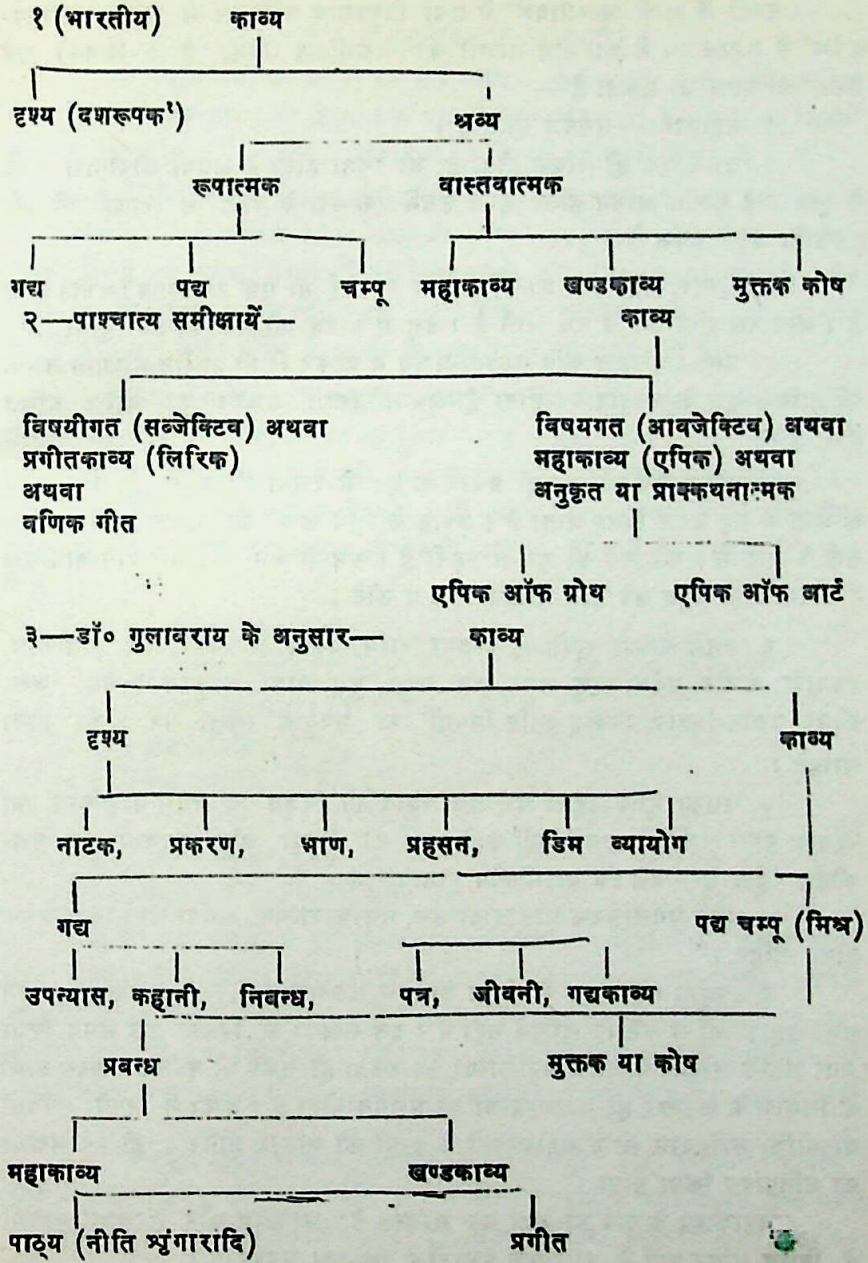

१—सिद्धान्त और अध्ययन—पृष्ठ २२ (डॉ० गुलाबराय) २—काव्य के रूप० २१।

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में तथा विश्वनाथ कविराज ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को लेखनीबद्ध किया है । जिनको इस प्रकार बतलाया जा सकता है—

१. महाकाव्य—सर्गबद्ध होता है ।

२. उसमें एक ही नायक होता है, जो देवता होता है अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है । उसमें एक वंश के बहुत से राजा भी हो सकते हैं, जैसे रघुवंश में ।

३. शृंगार, वीर और शान्त, रसों में से कोई भी एक रस मुख्य (अंगी) होता है । अन्य रस गौण रूप से रखे जाते हैं । इस में नाटक की सब सन्धियाँ होती हैं ।

४. उसका वृत्तान्त कवि-कल्पना-प्रसूत न होकर किसी प्राचीन आख्यान अथवा ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर होता है अथवा किसी सज्जन का चरित्र वर्णित होता है :

५. प्रत्येक सर्ग की एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है, किन्तु सर्ग के अन्त में वह बदल दिया जाता है । प्रवाह के लिये छन्द की एकता वांछनीय है । सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की सूचना रहती है । कम से कम आठ सर्ग होने आवश्यक हैं । सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिये और न छोटे ।

६. उसमें सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, नगर, वन, समुद्र, युद्ध, यात्रा, अभ्युदय, विजय, जल-क्रीड़ा, उद्यान-विहार, विवाह आदि विषयों का उपयुक्त स्थलों पर वर्णन होना चाहिये ।

७. उसका मुख्य उद्देश्य धर्म तथा न्याय की विजय एवं अधर्म व अन्याय का विनाश होना चाहिये । उसमें कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का गुण-कीर्तन रहता है—जैसे कि बाल्मीकीय रामायण में ।

८. उसमें मंगलाचरण आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक, अथवा वस्तु-निर्देशात्मक होना चाहिये ।

ये उपर्युक्त महाकाव्य के लक्षण सामान्य लक्षणमात्र [२], जिनका अक्षरशः पालन सभी महाकाव्यों में कदापि सम्भव नहीं हैं । इन लक्षणों का विधान उस समय किया गया जबकि संस्कृत में अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी क्योंकि लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के अनन्तर ही लक्षण-ग्रन्थों का प्रणयन होता है । दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकि, कालिदास आदि महाकवियों के ग्रन्थों को आधार मानकर ही इन लक्षणों का प्रतिपादन किया होगा ।

महाकाव्य के रूप का जहाँ तक सम्बन्ध है; भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में विशेष अन्तर नहीं है, हाँ उसके प्रकारों में भिन्नता अवश्य है ।

---

१. (परिच्छेद प्रथम १४–१९ श्लोक) । २. (षष्ठ परिच्छेद ३१५—३२४)

महाकाव्य के अभ्युदय के उपकरण

(१) महाकाव्यों का प्रारम्भिक रूप मौखिक था। संस्कृत तथा विश्वसाहित्य के इतिहास में महाकाव्य का प्रारम्भिक रूप मौखिक भावनाओं के रूप में था जिनकी परम्परा सहस्रों वर्षों से समाज में विद्यमान थी, परन्तु वह ग्रन्थों के रूप में न थी।[1]

वाल्मीकि, व्यास, होमर और वर्जिल ने अपने इन ग्रन्थों के लिए प्राचीनकाल से मौखिक रूप में चले आते अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का दाय समेटकर उसको समृद्ध एवं क्रमशः सम्बद्ध किया। इन ग्रन्थों की प्रायः समग्र सामग्री और विशेष रूप से उनका प्रधान विषय-वस्तु उनके निर्माण से पहले की है। वे पूर्वागत कथायें रामायण आदि ग्रन्थों में अपनी सिद्धावस्था में प्राप्त हो गयी है।

बहुत प्राचीन समय में सामूहिक नृत्य गीतों के द्वारा मनुष्य अपने धार्मिक उत्सवों का आयोजन किया करता था। कालान्तर में यही गीत नृत्य आराधना के रूप में स्मरण किये जाने लगे। यही आख्यान गीत ऋग्वेद के संवाद-सूक्त हैं[2] इन सूक्तों में कथोपकथन का प्राधान्य है और इसी कारण इन्हें संवाद-सूक्तों की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसे संवाद-सूक्त ऋग्वेद में लगभग २० हैं। इनमें से कुछ ये हैं—

(१) यम-यमी (१०/११)
(२) पुरूरवस्-उर्वशी (१०/९५)
(३) अगस्त्य-लोपामुद्रा (१/१७९)
(४) इन्द्र-अदिति (४/१८)
(५) इन्द्र-इन्द्राणि (१०/८६)
(६) सरमा-पणि (१०/५१—३)
(७) इन्द्र-मरुत् (१/१६५/;७०)
(८) सूर्या-सूक्त (१०/८५) आदि

निरुक्तकार यास्क[3] ने इन संवाद-सूक्तों को आख्यान संज्ञा दी है। जर्मन विद्वान् डॉ० ओल्डेनबर्ग ने भी इन संवाद-सूक्तों को आख्यान के रूप में देखा है। इनके अनुसार ये संवाद-सूक्त प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं। इनकी दृष्टि में ऋग्वेद-कालीन आख्यान गद्य-पद्यात्मक थे[4] मैक्समूलर, सिल्वाँलेवी, हट्स, श्रोदर आदि विद्वानों नेइन संवाद-सूक्तों को एक प्रकार के नाटक कहा है। विन्टरनित्ज इन संवाद-सूक्तों

---

१. डब्ल्यू० एम० डिक्सन 'इंगलिश एपिक पोयट्री एण्ड हीरोइक पोयट्री,' पृष्ठ २७ का उद्धरण तथा वाचस्पति गैरोला—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८३२।

२. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग, १ (एम० विन्टरनिट्ज) पृष्ठ१००

३. निरुक्त (११/२५) पृष्ठ ७९४–९५।

४. ओल्डन बर्ग—'आख्यान हीम इन ऋग्वेद'

को प्राचीन लोग-गीति-काव्य (बैलड) अथवा भारत के प्राचीन वीरगाथा काव्य मानते हैं।[1] उनके अनुसार इन्हीं संवाद-सूक्तों से अवान्तर काल में महाकाव्य व नाटकों का विकास हुआ।

दि एपिक डेवेलप्ड फ्राम दि नरेटिव, दि ड्रामा एरोज फ्राम दि ड्रेमेटिक एलीमेन्टस् आफ दि ऐन्शेन्ट बैलड।[2]

महाभारतकार ने आख्यान उपाख्यान-कथन, आख्यायिका, पुराण और इतिहास इन सभी शब्दों को प्रायः समान अर्थ में ही प्राचीन कहानी के रूप में किया है।[3]

इन सम्वाद-सूक्तों के कथानक भारतीय साहित्य में प्रायः उपलब्ध होते हैं। ये महाभारत, पुराणों व बौद्ध साहित्य में भी दृष्टव्य है। एक ही संवाद-सूक्त का भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में वर्णन आया है। उदाहरणार्थ—पुरुरवा-उर्वशी का संवाद-सूक्त ऋग्वेद (१०/९५) शतपथ ब्राह्मण (११/५/१), कृष्ण यजुर्वेद के काठक भाग, बोधायन श्रौतसूत्र, महाभारत के हरिवंश, विष्णुपुराण, कथासरित्सागर तथा विक्रमोर्वशीय में उपलब्ध होता है। इस प्रकार, ये संवाद-सूक्त महाकाव्य व नाटक के आधार हैं। उनके वर्णनात्मक तत्वों से महाकाव्य का व नाटकीय तत्वों से नाटक का विकास हुआ है।[4]

(२) इन संवादात्मक आख्यानों को पहले गाथा, नाराशंसी कहा जाता था। परन्तु अपनी महती ख्याति के कारण कुछ ही समय के अनन्तर उन्हीं को इतिहास और पुराण कहा जाने लगा। वेदों में देव-स्तुतियों के अतिरिक्त प्राचीनकाल के राजाओं की स्तुतियाँ भी उपलब्ध होती हैं। इन्हीं को नाराशंसी कहते हैं। स्थान-स्थान पर ऋषियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं के जीवन-चरित्रों का वर्णन किया है, जिनमें उनके द्वारा प्रदत्त गानों का पूर्ण विवरण उपलब्ध होता है। ऐसे दान-सम्बन्धी मन्त्रों को दान-स्तुति की संज्ञा दी गई है। ऋग्वेद में श्यायाव नामक ऋषि ने अपने आश्रयदाता राजा तरन्त और उनकी विदुषी रानी शशी-यशी के दान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

'अथर्ववेद' में महाराज परीक्षित के राज्यकाल में प्रजा के सुख-समृद्धि की मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है।[5] ऋग्वेद के समय की बहुत सी ऐसी गाथायें हैं, जिनमें किसी प्राचीन ऐतिहासिक राजा के विषय में किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख मिलता है। राजा हरिश्चन्द्र सम्बन्धी ऐसी ही एक गाथा 'ऐतरेय ब्राह्मण' के शुनःशेप वाले कथानक में ऋग्वेद के आदिम वरुण-सूक्त की भूमिका को पल्लवित करने के लिये प्रस्तुत की गई है।[6]

---

१. विन्टरनिट्ज के 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' पृष्ठ (१०१)

२. वही पृ० १०२—३

३. हापकिन्स की "दि ग्रेट एपिक आफ इण्डिया", (पृष्ठ ५०)

पृ० १०२–३

४. विन्टरनिट्ज "ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर" (पृष्ठ १०२–३)

५. बल्देव उपाध्याय (वैदिक कहानियाँ—पृष्ठ ९६)

६ वही पृष्ठ १२७

दान-स्तुतियों से सम्बन्ध रखने वाले २२ सूक्तों का उल्लेख कात्यायन ने अपनी 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' में किया है। आधुनिक शोधकों की दृष्टि में ६८ सूक्तों में दान-स्तुतियों का उल्लेख है।[1] तुलनात्मक व्याख्याओं के आधार पर इनमें से अनेक तो दान-स्तुति के आभास मात्र हैं।

डॉ० विन्टरनिट्ज[2] ने इनकी संख्या ४० गिनाई है। इन दान-स्तुतियों के स्वरूप तथा तात्पर्य समझने में विद्वानों में मतभेद है किन्तु यह तथ्य तो सर्वमान्य है कि परवर्ती साहित्य पर इन दान-स्तुतियों और संवाद-सूक्तों का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है।

उत्तर पीठिका

काव्यधारा का उद्भव तथा विकास—मानव आनन्द का उपासक है, वह आजीवन आनन्दोपलब्धि के अनुसंधान में लगा रहता है। भावुक हृदय को काव्य में आनन्द प्राप्त होता है। अतः वह काव्य की 'नवनवोन्मेषशालिनी' सृष्टि के लिये सदैव उत्कण्ठित रहता है। उसके रागात्मक सम्बन्ध की व्यञ्जना जब किसी रसमय रूप में प्रकट होती है, तभी काव्य-साहित्य का उद्गम होता है। मम्मट के अनुसार कविता 'ह्लादैकमयी' होती है—

"नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमावधती भारती कवेर्जयति॥"

काव्य के आनन्द का हेतु रस होता है, जिसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'रसो वै सः' के आधार पर रस को साक्षात् ब्रह्म माना है। इस प्रकार लौकिक एवं अलौकिक आनन्द ने रस में समवाय सम्बन्ध स्थापित किया है। काव्य में प्रवृत्ति यश, अर्थ आदि गौण कारणों से भी होती हैं। विश्व में आर्य जाति के प्राचीनतम साहित्य का स्मारक 'ऋग्वेद' आनन्दानुभूति की अभिव्यञ्जना है। विश्वनाथ के मत में रागात्मक वाक्य ही काव्य कहलाता है—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"—साहित्यदर्पण

पण्डितराज जगन्नाथ—रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को ही काव्य कहते हैं—"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।" काव्यप्रकाशकार मम्मट के मत में 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवनलंकृती पुनः क्वापि'—उस शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं, जो दोष रहित एवं गुणयुक्त हो, चाहे अलंकार कहीं न भी हो।

भेद

जैसा कहा जा चुका है लेखक के मत से काव्य के दो भेद हैं—"दृश्यश्रव्यत्व-भेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्॥' (१) दृश्यकाव्य, (२) श्रव्यकाव्य। दृश्यकाव्य के अन्तर्गत रूपकों का विवेचन आता है। श्रव्यकाव्य के तीन भेद हैं—

---

१. डॉ० मणिलाल पटेल—भारतीय अनुशीलन,
२. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (पृष्ठ ११५)

(१) पद्यकाव्य, (२) गद्यकाव्य और (३) चम्पू, जिसमें गद्य, पद्य दोनों का प्रयोग होता है। पद्यकाव्य के पुनः ३ उपभेद हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य एवं मुक्तक-काव्य। गद्य काव्य के भी दो प्रमुख उपभेद हैं—कथा और आख्यायिका। यहाँ केवल महाकाव्यों का विवेचन होगा *।

महाकाव्य के प्रमुख तत्त्व--(२) सानुबन्ध कथा, (२) वस्तु-वर्णन, (३) भाव-व्यञ्जना और (४) संवाद हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्यों को अनेक वर्गों में विभक्त किया है। उनमें प्रमुख वर्ग दो हैं—

(१) विकसित महाकाव्य, (२) कलापूर्ण या अलंकृत महाकाव्य।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत होमर-के० इलियड और औडिसी (Hlied & Odyssey) तथा रामायण और महा..रत आदि आते हैं तथा द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत वर्जिल का एनीड (Anneid) शिशुपालवध तथा रघुवंशादि हैं।

महाकाव्य की उत्पत्ति तथा विकास—संस्कृत-काव्य की प्रथम रम्य रश्मि

महाकाव्य के लक्षण—साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने महाकाव्य के निम्न-लिखित लक्षण बतलाये हैं:—

* सर्गबन्धोमहाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्तो गुणान्वितः॥
एकवंशभवाः भूपाः कुलजाः बहवोऽपि वा।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः,।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्,
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः॥
नाति स्वल्पानातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन् दृश्यते॥
सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्,।
सन्ध्या सूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासराः॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः॥
रणप्रयाणोपायममन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेयं कथया सर्गनाम तु॥ (६/३१५–३२५)

सबसे पहले 'ऋग्वेद' में चमकती है। उसमें हमें अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिनमे उनके रचयिता, प्रार्थना के स्तर को त्याग कर कवि-प्रतिभा का भी यथेष्ट परिचय देते हैं। डा० ओल्डनबर्ग ने ऋग्वेद में ९० से अधिक ऐसे सूक्त ढूंढे हैं, जिन्हें वह 'आख्यान सूक्त' कहते हैं। उनके विचार से ये भारतीय महाकाव्यों के अति प्राचीन रूप हैं। यद्यपि प्रो० मैक्समूलर ने इसका खण्डन किया है, किन्तु विंटरनिट्ज का कहना है कि ये सूक्त नाटक व महाकाव्य दोनों के आदि स्रोत हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुछ स्थलों पर तथा इतिहास-पुराण काल के 'सुपर्णाध्याय' नामक आख्यान में भी काव्य-की आभा, स्पष्ट परिलक्षित होती है। वस्तुतः संस्कृत का आदि महाकाव्य वाल्मीकिकृत 'रामायण' ही है। यहीं हमें उस काव्य-धारा का उद्गम मिलता है, जो भास कालिदास, अश्वघोष, भारवि तथा माघ आदि के विभिन्न स्रोतों में विभक्त होकर संस्कृत-काव्य-कानन को चिरकाल से सींचती चली आई है। 'रामायण' की भाँति 'महाभारत' में कहीं-कहीं काव्य-शैली लक्षित होती है, किन्तु उसका मुख्य विषय काव्य नहीं है अपितु इतिहास है। 'काव्यालंकारसूत्र' (रुद्रटकृत) के प्रमुख टीकाकार नमिसाधु लिखते हैं कि स्वयं पाणिनि (४०० ई० पू०) ने दो काव्यों की रचना की थी—(१) 'पातालविजय,' (२) 'जाम्बवतीविजय'। पतञ्जलि अपने 'महाभाष्य' में (१५० ई० से पूर्व) काव्य-साहित्य से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं। एक ओर वे अपना परिचय महाभारत से प्रकट करते हैं। तो दूसरी ओर वे 'कंसवध' और 'बालि-वध' नामक नाटकों का निर्देश करते हैं। यद्यपि 'महाभाष्य' में इन रचनाओं का केवल उल्लेख मात्र मिलता है, किन्तु इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी के बहुत पहले, काव्य-साहित्य की समस्त शाखाओं (दृश्य, श्रव्य आदि) का उद्भव हो चुका था। उनकी प्रमुख धाराओं का प्रसार भी प्रारम्भ हो गया था।

ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास के अनेक शिलालेख मिलते हैं, जिनकी भाषा एवं शैली से यह स्पष्ट पता चलता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक काव्य-साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। रुद्रदामन् कृत 'गिरनार' वाला शिला-लेख जो १५० ई० में लिखा गया, अलंकृत काव्य-शैली का नमूना है। उसके 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्य' वाले दीर्घ समास से यह विदित होता है कि उसका लेखक किसी प्राचीन अलङ्कार-शास्त्र से परिचित रहा होगा। लगभग उसी समय के पुलुमायी के नासिक वाले प्राकृत-शिल्प लेख से भी यह बात सिद्ध होती है। प्रयाग के अशोक-स्तम्भ पर खुदी हरिषेणकृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति-शैली से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काव्य-क्षेत्र के विकास का आरम्भ उससे पहले ही हो चुका था। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि काव्य की अजस्र धारा, अखण्ड रूप से एवं अबाध-गति से प्रवाहित होती चली आ रही है। यदि कालिदास को हम अश्वघोष से पूर्व का प्रमाणित कर देते हैं, तो महाकाव्यों की उत्पत्ति ईसा से १०० वर्ष पूर्व सिद्ध हो जाती है।

(१) कालिदास

महाकवि चूड़ामणि, संस्कृत कवि-मण्डली मण्डन, समृद्ध साम्राज्य के वैभव, ऐश्वर्य, शान्ति एवं सुव्यवस्था के प्रतीक, भारतीय संस्कृति के महान् व्याख्याता, संस्कृत को विश्व-साहित्य के मूर्धन्य स्थान दिलाने वाले कालिदास का स्थान महाकाव्यों के रचयिताओं में प्रत्येक दृष्टि से महान् और अग्रगण्य है। उनके स्थितिकाल का प्रश्न भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त जटिल और विवादग्रस्त विषय रहा है।

भारतीय जनश्रुति के आधार पर कालिदास महाराज विक्रमादित्य के नौ रत्नों में से थे, इस बात की पुष्टि कालिदास के नाटकों से हो जाती है। अपने द्वितीय नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' के नाम के द्वारा तथा उसमें प्रयुक्त कतिपय उक्तियों द्वारा, कालिदास स्पष्टतया अपने आश्रयदाता सम्राट विक्रमादित्य की ओर संकेत करते हैं। अतः कालिदास के स्थितिकाल का प्रश्न सम्राट विक्रमादित्य के स्थितिकाल से पूर्णतया सम्बद्ध है। 'कथासरित्सागर' जो प्रथम शताब्दी ई० की गुणाढ्यकृत 'बड्ढकहा' (बृहत्कथा') पर आश्रित है, परमार वंश के विक्रमादित्य का वर्णन प्रस्तुत करती है। वह उज्जयिनी के राजा थे जिनके विषय में अनेक लोक-कथायें गढ़ी गई थीं। इन्हीं विक्रमादित्य ने शकों को उनके प्रथम आक्रमण में पराजित करके इस क्रान्तिकारी घटना के उपलक्ष्य में प्रथम शताब्दी ई० पूर्व ही 'मालवगण स्थिति' नामक सम्वत् का प्रवर्तन किया था जो आगे चलकर विक्रम सम्वत् नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कालिदास प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व में विद्यमान थे। (इस विषय पर अगले पृष्ठ में विशद् रूप से विचार किया जायेगा)।

कुमारसंभव—विश्व-साहित्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक चेतना जगाने वाले महाकवि कालिदास की लेखनी से 'रघुवंश' तथा कुमारसम्भव' नामक दो महाकाव्य प्रकट हुए। अपनी सुकुमार भावव्यञ्जना, उदात्त एवं कोमल कल्पना तथा प्राञ्जल पदविन्यास के बल पर 'कुमारसम्भव' आधुनिक रुचि को विशेष स्पृहणीय है। यह काव्य कालिदास की कला का कमनीय निदर्शन है। कालिदास की वर्णनाशक्ति, कुमारसम्भव में मृदुल मनोहर रूप में प्रस्फुटित हुई है। कहीं वसन्त का स्निग्ध सुहावना वर्णन है, कहीं विवाहित सौख्यों का सर्जन प्रसार पा रहा है और कहीं प्रियतम की वियोगजन्य ज्वाला चित्त को व्याकुल और संसार को शून्य किये दे रही है। इसके १७ सर्गों में शिव-पार्वती के विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा तारकासुर के वध की कथा का वर्णन है। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि 'कुमारसम्भव' में आरम्भ के आठ सर्ग ही कालिदास के रचे हुये हैं, क्योंकि मल्लिनाथ ने आरम्भ के आठ सर्गों पर ही टीका लिखी है। किन्तु अन्य आलोचकों का कहना है कि अन्तिम ९ सर्गों के बिना 'कुमारसम्भव' में महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण नहीं घटित हो पाते। इन सर्गों की भाषा तथा शैली भी प्रारम्भिक सर्गों में प्रयुक्त भाषा से भिन्न नहीं है। विशेष आपत्ति का कारण तो कुमारसम्भव का ८ वाँ सर्ग है, जिसमें शिव-पार्वती की

रतिक्रीड़ा का वर्णन है। किन्तु यह सर्ग भी वामन के समय (८०० ई०) में विद्यमान था। इसलिये ऐसा कोई बहिरंग प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जो इन सर्गों को कालिदास की रचना न सिद्ध करता हो।

'कुमारसम्भव' के आरम्भ में हिमालय का सश्लिष्ट एवं बिम्बग्राही वर्णन, तीसरे सर्ग में वसन्त के आगमन पर वनश्री की आभा, चौथे सर्ग में रति-विलाप, पाँचवें सर्ग में वटुवेशधारी शिव तथा तपस्विनी पार्वती का सम्वाद—ये विषय बहुत ही उत्कृष्ट एवं प्रसादपूर्ण शैली में अंकित किये गये हैं। शब्द की लक्षणा शक्ति भी इसमें प्रस्फुटित हुई है। प्रायः यहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनित हो उठा है। काम-वासना को बिना जलाये सच्चे स्नेह की उपलब्धि नहीं हो सकती, बिना तपस्या के स्नेह कभी प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। यही इस काव्य का अमर सन्देश है। किसी मार्मिक भाव को अंकित करते समय स्पष्ट शब्दों में न कहकर अनूठी व्यञ्जना के सहारे कवि उस भाव की ओर सूक्ष्म संकेत मात्र कर देता है:—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ कु० ६४८

पर्वतराज हिमालय के पास महर्षि अंगिरा जी शिवजी के लिये पार्वती जी की मंगनी का निवेदन करते हैं, तब समीप ही स्थित पार्वती की मनोदशा का मार्मिक चित्रण हुआ है। यहाँ एक भी अलंकार नहीं है किन्तु कवि ने कमल-पत्रों की गिनती करने से पार्वती की लज्जाशीलता, आनन्दोद्रेक तथा अन्तः प्रेम केवल गोपन की प्रवृत्ति से ध्वनित होते हैं।

रघुवंश—कालिदास के सब काव्यों में ही नहीं, अपितु समस्त संस्कृत साहित्य में 'रघुवंश' का अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है। इसके १९ सर्गों में सूर्यवंश के राजाओं का यशोगान किया गया है। पहले के ९ सर्गों में राम के चार पूर्वजों—दिलीप, अज, रघु और दशरथ—का वर्णन है। १० से १५ सर्गों तक राम के चरित्र का मनोज्ञ चित्रण है तथा अन्तिम चार सर्गों में राम के वंशजों का वर्णन मिलता है। इसमें कालिदास की पूर्ण प्रगल्भता, परिपक्व प्रज्ञा और प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय मिलता है। १९ सर्गों में ऐसे प्रशस्त एवं रुचिर काव्य की सृष्टि करना, अनुरूप एवं उपयुक्त घटनाओं का स्वाभाविक रूप से समावेश करना, आकर्षक चरित्र-चित्रण और विशद वर्णनों से उसकी शोभा में वृद्धि करना और समग्र ग्रन्थ में रस व्यंजना तथा शैली का उचित समन्वय करना—ये सब कार्य कवि की सर्वातिशायिनी प्रतिभा के ही द्योतक हैं। इन्दुमती का स्वयंवर, अज का विलाप, राम तथा सीता की विमान यात्रा, निर्वासित होने पर लक्ष्मण द्वारा सीता का सन्देश भेजना, शून्य अयोध्या का, उसकी अधिष्ठात्री देवी द्वारा, कुश के स्वप्न में वर्णन—इनमें से प्रत्येक घटना इतनी स्वाभाविक और रस-स्निग्ध शैली में वर्णित हुई है कि पाठक पर वह अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। आदर्शों की अनुपम सृष्टि के लिये, रम्य और

ललित कथोपकथन के लिये, सरस एवं स्पष्ट-भाव-व्यंजना के लिये 'रघुवंश' कालिदास की कीर्ति पताका को निरन्तर प्रस्फुटित करता रहेगा। अपूर्व आदर्शों की अनुपम सृष्टि, रम्य एवं उदात्त कथोपकथन, सुबोध भाषा एवं सुस्पष्ट भाव-व्यंजना तथा मधुर रसोत्पत्ति के लिये कालिदास अद्वितीय हैं।

कालिदास की शैली—कालिदास की रचनाओं में अद्भुत सृष्टि नैपुण्य एवं अपूर्व मौलिकता उनके कथानक को अत्यन्त मनोहर रूप प्रदान कर देते हैं। कालिदास की शैली में प्रसाद की स्निग्धता, भावों की गरिमा, रस का माधुर्य, अर्थ का सौष्ठव, पदों की सरस शय्या एवं अलङ्कारों का मंजुल तथा स्वाभाविक प्रयोग आदि सभी श्रेष्ठ काव्य की विशिष्टतायें वर्तमान हैं। उनकी प्रसादपूर्ण ललित और परिष्कृत शैली वैदर्भी रीति का प्रतिनिधित्व करती है—"वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।' वैदर्भी रीति का लक्षण है :—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥

मधुर (माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले) वर्णों की ललितपद शय्या वाली असमासा या अल्पसमासा शब्द रचना वैदर्भी रीति में होती है। कालिदास की भाषा स्वाभाविक एवं सहज सुन्दर है, क्लिष्टता और कृत्रिमता के परिहार से वह अत्यन्त सरल, सुबोध तथा मधुर है। किसी भाव को चित्रित करते समय कालिदास उसे वर्णनात्मक शब्दों में कहने की अपेक्षा व्यंजना के द्वारा उसकी ओर सूक्ष्म संकेत कर देना अच्छा समझते हैं। कतिपय चुने हुये शब्दों में किसी भी दृश्य की रम्य झांकी प्रस्तुत कर देना उनकी कला का मर्म है। यह शब्दलाघव नित्य नूतन चित्रों की रसमयी सृष्टि करने में सर्वथा समर्थ है। इनकी वर्णना में नाद सौन्दर्य एवं वर्ण-विन्यास सर्वत्र यथेष्ट रूप में सम्पन्न हुये हैं।

कालिदास ने अपनी कविता में अलंकारों का प्रयोग बड़ी मर्मज्ञता से किया है। अनावश्यक अलंकारों के भार से कहीं भी रस आक्रान्त नहीं होने पाया है। अनुप्रास का प्रयोग तो उनकी कविता में अनायास ही सर्वत्र दिखाई देता है, किन्तु कहीं भी कृत्रिमता नहीं आने पाई, यथा—'यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच', 'प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि' तथा 'गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश'। अन्तिम उदाहरण में ओजगुणयुक्त शब्दों में धेनु की गुरुता की अपूर्व व्यंजना हो रही है। रसभंग की आशंका से कवि ने यमक का प्रयोग कदाचित् ही किया है, जैसे—'वधायवध्यस्य शरं शरण्यः।' क्लिष्टता या कृत्रिमता की आशंका से कवि ने श्लेष का प्रयोग भी कम ही किया है, यथा—द्वितीय सर्ग के दूसरे श्लोक में 'पांसु' का अर्थ धूलि है तथा दोष भी है। शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों पर कवि ने विशेष ध्यान दिया है। स्वभावोक्ति में तो वे सिद्धहस्त ही हैं, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास एवं निदर्शना आदि के प्रयोगों में उन्होंने बड़ी व्यापक दृष्टि अपनाई है।

कालिदास की उपमाये तो बेजोड़ हैं। उनमें दिव्यता, सुबोधता और सरसता सर्वत्र दिखाई देती है। राजा दिलीप और सुदक्षिणा के बीच में नन्दिनी वैसी ही सुशोभित हो रही है जैसे दिन और रात के मध्य में रक्तवर्णा सन्ध्या विराजती है—'दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या।' सच्ची बात तो यह है कि अनुरूप उपमान का चयन करने में कालिदास की प्रतिभा अद्वितीय है। पत्तों के कपोलों की सी ताम्रवर्ण की नन्दिनी के साथ रूपक बांधते हुये कवि सूर्य की प्रभा को उपमान रूप में ग्रहण करते हुये 'प्रभा पतंगस्य मुनेश्च धेनुः' कहकर कृतकृत्य हो गया है। उपमान के अपूर्व चयन का दूसरा उदाहरण उस स्थल पर है जहाँ धनुर्धर राजा धेनु के आर्त्तनाद से आकृष्ट होकर अकस्मात् पाटलवर्ण की नन्दिनी पर बैठे हुये सिंह को देखता है 'अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्।' गैरिकमय टीले की शिखर भूमि पर फूले हुये लोध्र नामक वृक्ष की भाँति, घनी सटाओं वाले सिंह को नन्दिनी को दाब कर बैठे देखकर, राजा के हृदय में जो प्रतिक्रिया का भाव आया उसकी व्यंजना उपर्युक्त उपमान से ही हो जाती है।

प्रकृति के क्षेत्र से एक समूचा दृश्य-खण्ड कवि ने अप्रस्तुत योजना की प्रणाली के द्वारा प्रस्तुत किया है।

चित्त को विस्मयान्वित करने वाले अपूर्व दृश्यों के अंकित करने में कालिदास को विशेष सफलता मिली है। अद्भुत चित्रों के प्रस्तुत करने में जो चमत्कार दिखाई देता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। दिलीप के द्वारा नन्दिनी के स्थान पर अपने शरीर का उपहार प्रस्तुत किये जाने पर शिवजी का किंकर सिंह विहसित मुद्रा में अपनी दंष्ट्राओं की किरणों से गिरिगह्वरों के सूचीभेद्य अन्धकार को खण्ड-खण्ड करते हुये राजा का उपहास सा करता दिखाई देता है—

अथान्धकार गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।

अन्धकार के वक्ष में दंष्ट्राओं की तीव्र किरणों के प्रवेश से खण्डशः अन्धकार के विचलित होने का समूचा वैज्ञानिक चित्र कालिदास की प्रकृति-वर्णन-परक सूक्ष्म वाली शैली का बड़ा अद्भुत एव सटीक उदाहरण है।

प्रकृति के अनुपम चित्रकार कालिदास

कालिदास प्रकृति के प्रवीण कवि हैं। उनके काव्यो में प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर और रमणीय चित्रण प्राप्त होता है। उनकी अन्तरात्मा सदैव प्रकृति में रमती है। उन्होंने प्रेम और सौन्दर्य का जो उन्मुक्त चित्रण किया है, उनकी रंगभूमि प्रकृति की गोद ही है। उनकी प्रतिभा प्रकृति के क्षेत्र में अपनी नवनवोन्मेषशालिनी मूर्ति को जागृत रखती है और उनकी पीयूषवर्षिणी उक्तियाँ प्रकृति के रस से ही रसवती हैं। इसके साथ ही उनके प्रकृति-वर्णन में एक विशेषता भी है। उन्होंने प्रकृति के जो चित्र उपस्थित किये हैं, उनमें अपनी लेखनी से मानो प्राण फूंक दिये हैं। "उनके प्रकृति-वर्णन में निरीक्षण की नवीनता, सहृदयता की सरसता तथा कल्पना की कमनीयता पाई जाती है।"

मानव जीवन के साथ प्रकृति जीवन का तादात्म्य स्थापित करना कालिदास की अपनी विशेषता है। सच बात तो यह है कि कालिदास के काव्यों में प्रकृति एक अपरिहार्य उपादान है। मनुष्य प्रकृति की ममतामयी गोद में ही शान्ति-लाभ करता है।

कवि ने प्रकृति का चित्रण कई रूपों में किया है। सौन्दर्य के कवि कालिदास ने सौन्दर्य का मूल अधिष्ठानप्रकृति को ही स्वीकार किया है और उसी के माध्यम से सौंदर्य का उन्मीलन भी किया है। उन्होंने प्रकृति का आलंकारिक रूप में भी (रूपकात्मक) चित्रण किया है। उन्होंने प्रकृति को चेतन रूप में स्वीकार किया है, जिस पर मनुष्य के क्रियाकलापों का प्रभाव पड़ता है। पीठिका के रूप में भी उन्होंने प्रकृति का वर्णन किया है, जो विभिन्न भावों के उद्दीपन का हेतु बनती है। इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मक पद्धति पर प्रकृति का उल्लेख और कहीं-कहीं उसका शुद्ध चित्रण भी किया गया है। चाहे जिस रूप में हो, प्रकृति का मानव जीवन से जो सम्बन्ध है, वह उनकी दृष्टि में अक्षुण्ण है और उसे वे कभी भूलते नहीं हैं।

उनके समस्त काव्य—रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, ऋतुसंहार इत्यादि में प्रकृति का मनोरम चित्रण प्राप्त होता है। नन्दिनी दिलीप की परीक्षा के लिये जब "गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश" तभी से कथानक में तीव्रता का संचार हुआ है। हिमगिरि की गुहाओं से कालिदास को विशेष अनुराग है। 'कुमारसम्भव' की रंगस्थली भी तो "देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" ही थी।

प्रकृति के पुजारी कालिदास आश्रमस्थ और व्रतधारी राजा दिलीप को भी प्रकृति से इस प्रकार सम्बद्ध करते हैं, जिससे मानव की कृत्रिमताविहीन सुन्दरता निखर उठती हैं। लताप्रतानों से अपने दीर्घ केशों को ग्रथित करके दिलीप जिस समय वन में विचरण करता है, उस समय प्रकृति भी वृक्षों से मिल उसका अभूतपूर्व स्वागत करती है और उन्मत्त पक्षियों का कलरव वरुण के समान उस राजा का स्तवन-बन जाता है—

पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानाम,
आलोकशब्दं वयसां विरावैः॥ (रघु० २–९)

नई-नई नन्हीं-नन्हीं लतायें दिलीप का पौरकन्याओं के समान स्वागत करती हैं और उपचार की खीलों की भांति अपने पुष्पों को उस पर बिखेर देती हैं—

अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैः।
आचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ (रघु० २–१०)

इन वृक्षों और लताओं की तो बात ही क्या, अपनी क्रीड़ास्थली में दिलीप के आगमन से वनदेवियाँ भी प्रसन्न हो उठी हैं। तभी तो वायु से परिपूर्ण रन्ध्रों वाले बांसों के मुख से वंशी का काम लेते हुये वे दिलीप का यशोगान करने लगती हैं—

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ।। (२–१२)

ऐसे अवसर पर भला पवन ही क्यों पीछे रह जाय ? पर्वतीय झरनों के हिमशीकरों से शीतल और वन्यवृक्षों के पुष्पों से सुगन्धित होकर वह भी आचारपूत दिलीप की सेवा करता है—

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ।। (२–१३)

सारांश यह कि प्रकृति अपने सम्पूर्ण दलबल के साथ दिलीप के स्वागत में रत है । दिलीप ही क्यों—प्रकृति की रमणीय गोद में क्रीड़ा करने वाले प्रत्येक मानव को प्रकृति यों ही ग्रहण करेगी, क्योंकि मानव प्रकृति का सबसे प्रिय प्राणी है ।

यह तो हुई प्रकृति की प्रतिक्रिया । मानव का प्रतिनिधित्व करने वाला दिलीप भी इन प्राकृतिक दृश्यों में अपने मन को रमा हुआ पाता है । वन में जब सन्ध्या समय वह गाय को लेकर आश्रम को लौटता है तो उसकी दृष्टि इन मनोरम दृश्यों में ही संयुक्त है—

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि, श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ।। (२–१७)

वनों को श्यामायमान करनें वाले तीनों चित्रखण्ड अपनी-अपनी विशेष विचित्रता रखते हैं । इस प्रकार मानव और प्रकृति के सम्बन्ध को कालिदास ने अत्यन्त ही मधुर रूप में देखा है और मानव जीवन पर प्रकृति के प्रभाव को अपनी प्रतिभा के बल पर इस प्रकार प्रदर्शित किया है, जो उनके वर्णन-कौशल का परिचायक है ।

कालिदास ने अनेक बार प्रकृति का रूपकात्मक अथवा आलङ्कारिक चित्रण भी किया है । उनके अलंकारों—चाहे वे रूपक हों, चाहे उपमा या उत्प्रेक्षा—में उपमान रूप में प्रायः हमें प्रकृति के विभिन्न उपादान ही दृष्टिगोचर होते हैं । नारी के सौन्दर्य के वैशिष्ट्य का प्रदर्शन करते समय उन्हें रति, रम्भा, उर्वशी या तिलोत्तमा की उतनी याद नहीं आती, जितनी "किसलयराग" और 'कोमल विटपों" की । जब उन्हें किसी गूढ़ और क्लिष्ट वर्णन का स्पष्टीकरण अभिप्रेत होता है या किसी विरोध को सुलझाना होता है अथवा मार्मिक कवियों का उन्मीलन करना होता है, तो वे अलंकार के व्याज से प्रकृति का ही निर्देश करते हैं । उदाहरण के लिये राजा दिलीप द्वारा अनुगत और उनकी रानी सुदक्षिणा द्वारा स्वागतीकृत नन्दिनी, जिसके सम्मुख सुदक्षिणा और पश्चात् दिलीप हैं, दोनों के बीच ऐसी प्रतीत हो रही है मानो दिवस और रात्रि के बीच में संध्याकाल हो—

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन, प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुः दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ।। (२–२०)

यथेष्ट उपमान के चयन से ही कवि की सूझ का पता लग जाता है । इसी

प्रकार लाल रंग की नन्दिनी के ऊपर बैठा हुआ वह सिंह ऐसा दिखाई देता है मानो मेरू के पहाड़ की कुक्षि में फूला हुआ लोध्र का वृक्ष—

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ।।

प्रकृति के पदार्थों का चेतनीकरण कालिदास में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। अंग्रेजी का कवि वर्डस्वर्थ प्रकृति के प्रति अपने इसी प्रकार के विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण अतीव प्रसिद्ध हो गया। उसका सा Personification या चेतनीकरण अंग्रेजी के अन्य कवियों में कम प्राप्त होता है। किन्तु इसके इस प्रकार के वर्णनों का कालिदास के वर्णनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने वाला विद्यार्थी स्वतः ही जान जाता है कि कालिदास ने उसे इस क्षेत्र में बहुत पीछे छोड़ दिया है। उनकी प्रकृति केवल चेतन और अनुभूतिशील ही नहीं है, वह प्रतिक्रियात्मिका भी है। अपने चतुर्दिक् होने वाले व्यापारों को देखकर वह भी उनसे पूर्णतः प्रभावित होती है और यह प्रभाव उसकी प्रतिक्रियाओं से स्पष्टतया व्यक्त भी हो जाता है। शकुन्तला की विदाई के अवसर पर मृगियाँ अपने कवलीकृत दर्भों को उगल देती हैं और मयूरी नृत्य का परित्याग कर देती है। इसके पूर्व भी उसकी सज्जा के लिये वृक्षों ने विभिन्न वस्तुयें प्रदान की हैं। सुख, विलास और क्रीडाओं से भरी हुई अलकापुरी में विलासिनियों को सभी मण्डन कल्पवृक्ष से ही प्राप्त होते हैं। कालिदास ने जिस किसी भी पात्र के चरित्र में विशेष उत्कृष्टता का समावेश करने की इच्छा की है, उसे प्रकृति की ही गोद में ला बैठाया है। प्रकृति उसका स्वागत करती है, उसे सम्भाषण करती हुई प्रतीत होती है। सर्वत्र वह चेतन ही है। रघुवंश के द्वितीय सर्ग में दिलीप जब आश्रम से निकलकर गोचारण के लिये प्रस्थान करता है, तो ९वें से १४वें श्लोक तक प्रकृति का जो आनन्दमय वातावरण उसका स्वागत करता है, वह जागरूक प्रकृति की प्रतिक्रिया का ही ज्वलन्त उदाहरण है।

प्रकृति का शुद्ध चित्रण कालिदास में अपेक्षाकृत कम देखने को मिलता है, आश्रमों, तीर्थ-स्थलों और गंगा-यमुना का संगम जैसे पवित्र स्थानों के वर्णन में कालिदास ने अपनी भावनाओं को नियन्त्रित रखा है और प्रकृति के शुद्ध चित्रण अर्थात् कवि की स्वतन्त्र अथवा अनारोपित अथवा भावनाओं से अमिश्र चित्रण को लक्ष्य बनाया है। शकुन्तला और रघुवंश तथा कुछ दूर तक कुमारसम्भव में हिमालय का शुद्ध चित्रण प्राप्त होता है। मेघदूत में अलका का तथा रामगिरि का भी वर्णन करते समय बहुत दूर तक प्रकृति के निरपेक्ष चित्र उन्होंने खींचे हैं।

संक्षेप में, निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि कालिदास प्रकृति के अनन्य पुजारी हैं। प्रकृति के प्रति उनका-सा भावुक हृदय अन्यत्र कम पाया जाता है। उन्होंने प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं के, उसके विविध रूपों के, उसकी विभिन्न प्रतिक्रियाओं के विचित्र चित्र खींचने में जो अद्भुत सफलता प्राप्त की है, उसके कारण उन्हें निःसंकोच प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार कहा जा सकता है। साथ ही उनका-सा वर्णन-कौशल भी अन्यत्र दुर्लभ है।

विस्मय और कुतूहलमय चित्राङ्कन

आश्चर्यजनक वातावरण के अन्तर्गत कालिदास जब आकाश से पुष्पवृष्टि कराते हैं तो निकट भविष्य में होने वाली किसी अलौकिक सिद्धि की सूचना मिलती है, यथा पञ्चम सर्ग में जैसे ही प्रियंवद अपने गज शरीर को त्यागकर गन्धर्व शरीर धारण करता है कि अपनी सामर्थ्य से प्राप्त कल्पवृक्ष के पुष्पों की वर्षा कुमार अज पर कर देता है—

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ।

इसके उपरान्त ही कृतज्ञता प्रकट करते हुये अज से गन्धर्वसमोहन अस्त्र स्वीकार करने का प्रस्ताव रखता है । कुमार सहर्ष उसे स्वीकार भी कर लेते हैं ।

द्वितीय सर्ग में भी ऐसी ही विस्मयपूर्ण घटना होती है जब दिलीप नन्दिनी को बचाने के लिये अपना शरीर मांस-पिण्ड की तरह सिंह के सामने फेंक देते हैं । दिलीप को जब यह आशा होती है कि कुम्भोदर उछल कर उनके ऊपर आक्रमण करेगा, ऐसे असमंजस के समय आकाश से दिलीप पर पुष्पों की वर्षा होती है । इसके उपरान्त ही नन्दिनी की प्रसन्नता से दिलीप की मनोकामना पूर्ण हो जाती है ।

उपर्युक्त दोनों प्रसंगों में यह अन्तर है कि (द्वि० स०) दिलीप की पराजय के बाद पुष्पवृष्टि से सिद्धि मिली है, जब (पं० स०) कि अज को यह सम्मोहनास्त्र-प्राप्ति रूपी सिद्धि विजय के उपरान्त प्राप्त हुई है, जिसमें उल्लास है, गौरव है और उन्नतोन्मुख कान्ति है । धीरे से प्रत्यञ्चा खींचकर निवृत्तमात्र करने के लिये अज ने जो हल्का बाण छोड़ा था, उससे ऐसे मदोन्मत्त गजराज का शरीर छोड़ देना भी जितना विस्मयोत्पादक है उतना ही अज की असाधारण शक्ति का व्यंजक भी है ।

अज के मन में इन्दुमती का स्वयंवर देखने की उत्सुकता तो है पर स्वयं कुछ कह नहीं सकते । विस्मय भरी भावना उद्वेलित होती है । यद्यपि भोजराज के दूत ने अज को विशेष रूप से आमन्त्रित करने के लिये अपने नृप का आग्रह प्रकट किया है, फिर भी अज का हृदय दोलायित रहता है । नायक की अवस्था कौमार तथा यौवन के उस सन्धिस्थल की ओर संकेत करती है जब शरीर तथा मुख में विचित्र कान्ति आ जाती है—

"तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ॥"

ऐसी दशा में पग-पग पर नियन्त्रण रहना आवश्यक है । यद्यपि गुरु-मुख से विधिपूर्वक विद्या प्राप्त कर चुके हैं । राजलक्ष्मी भी धीर स्वभाव की कन्या के समान अज का वर्णन करने के लिये पिता की आज्ञा पाने को लालायित है । रघु राजलक्ष्मी के स्वामी हैं और पिता भी, क्योंकि उन्होंने ही राजलक्ष्मी का रक्षण किया है और उस रूप में उपार्जन भी । किन्तु इस स्थल पर साभिलाष लक्ष्मी भी—'धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष''—बड़े असमंजस की दशा में है । यहाँ 'पितु' शब्द से जिस पवित्रता

की व्यंजना हो रही है, वह नायक और नायिका दोनों के रक्षण की भावना लक्षित करती है। प्रयोग विस्मयावह सा है पर बड़ा पावन है, बड़ा सटीक है। इधर रघु के पास क्रथकैशिकों का जो दूत, कुमार को इन्दुमती के स्वयंवर में भाग लेने के हेतु ले जाने के लिये आता है, उसके साथ महाराज राजकुमार रघु को ससैन्य भेज भी देते हैं।

मार्ग में राजसी विलास, उद्यानों के वितानों में निवास करते हुये, नर्मदा के तट पर अज ने अपनी श्रमित सेना का पड़ाव डाल दिया, जहाँ जलकणार्द्र पवन के झोंकों में करञ्जक के पादपों की पांति झूम रही थी।

अब कवि एक विचित्र और आश्चर्यजनक दृश्य अंकित करना चाहता है। मार्ग का सबसे बड़ा कुतूहल सामने आ रहा है। एक ऐसा मदोन्मत्त बनैला हाथी जिसके पानी में डुबकी लगाते समय, मधुमक्खियाँ जल की सतह के उपर मंडरा रही थी, अकस्मात् जल के ऊपर उछला। गण्डस्थलों का समस्त मद धुल चुका है, किन्तु उसकी मदावस्था "भ्रमरैर्भ्रमद्भिः" से सूचित होती है।

बाह्य प्रकृति का चित्रण करते-करते कवि अन्तःप्रकृति का भी निरीक्षण कर लेता है। यद्यपि जल में अवगाहन करने से उसके दोनों दाँतों में लगा हुआ गेरू तो धुल गया है किन्तु उसमें से नीचे की ओर बनी हुई नीली दरारों की पंक्तियों से यह प्रकट होता है कि ऋक्षवान् पर्वत का चट्टानों से वप्रक्रीड़ा के समय टक्करें लेने से गज के दन्त कुण्ठित हो गये हैं। इससे हाथी के अकूत बल, क्रीड़ा-प्रियता, मदावस्था और उन्मत्तता ध्वनित होती है। कवि का प्रधान संकेत उसी ओर है। तदनन्तर तट की ओर सन्तरण करते हुए गज के अत्यन्त वेग से अपनी सूंड को फैलाने और समेटने में स्वभावोक्ति व्यञ्जित होती है, साथ ही बड़ी-बड़ी उत्ताल तरंगों को काटता हुआ वह गज बन्धन-स्थान की अर्गलाओं को विदीर्ण करने का दृश्य प्रस्तुत कर रहा है—

"बभौ सः भिन्दन्बृहतस्तरंगान्
वार्यर्गलाभंग इव प्रवृत्तः ॥

यहाँ उपमान की उपयुक्तता एवं सटीकता पर कुछ न कहकर हम देखते हैं कि सेवार की मञ्जरियों के जालों को छाती से अपने आप कर्षित करता हुआ वह पर्वत सा विशाल हाथी तट पर पहुँचा भी न था कि उससे पहले ही उससे उत्पीड़ित जल-राशि तट पर पहुँच गई—शुद्ध प्रकृति वर्णन है, जो मानसी दृष्टि के सम्मुख एक भीषण किन्तु आकर्षक चित्र अंकित कर देता है—

शैलोपम शैवलमञ्जरीणां
जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः,
सरित्प्रवाहस्तटमुत्संसर्प ॥४६॥

ओजगुण की व्यञ्जना करने वाली सानुप्रास पदावली गज के गौरव की स्पष्ट घोषणा कर रही है। यही प्रणाली आगे और भी प्रदीप्त होती है। उस अद्वितीय गज के मस्तक का मद जल में घुस गया था, किन्तु अज के सेना के हाथियों को देखकर वह गज फिर तमतमा उठा और उसके गण्डस्थलों से पुनः मद प्रवाहित होने लगा—

"पुनर्विदीपे मदवद्विनश्रीः।"

ऐसे ओजःपूर्ण प्रयोग कवि को बहुत प्रिय है, जिनसे अकस्मात् किसी अपूर्व गौरव की अभिव्यक्ति होती है। भावी संघर्ष की ओर संकेत हो रहा है, मानो आगामी दृश्य की भूमिका बनाई जा रही है।

कालिदास का काल-निर्णय

श्री के० एस० राम स्वामी शास्त्री ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कालिदास' में लिखा है—"कालिदास का युग भारतीय इतिहास की उलझी हुई समस्याओं में से एक है, यद्यपि इस प्रश्न पर एक शताब्दी से भी अधिक समय से पाश्चात्य और पूर्वीय विद्वान् विचार करते रहे हैं[1]।" इसके अतिरिक्त प्रोफेसर मैक्समूलर ने भी संस्कृत विद्वानों एवं टीकाकारों के विभिन्न मतों तथा उनकी अनिश्चयात्मक भाषा के आधार पर कोई मत स्थिर करना लगभग असम्भव बतलाया है।[2] श्री जी० सी० झाला ने लिखा है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत, विभिन्न तर्कों और उनके द्वारा निश्चित किये हुये विभिन्न परिणामों ने इस समस्या को और भी उलझा दिया है[3]।

कालिदास के समय के विषय में जो विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं वे उन्हें दो सहस्र वर्ष अर्थात् ८वीं शती ई० पू० से लेकर १२वीं शती ई० के बीच का मानते हैं। शंकराचार्य के समय-सम्बन्धी, विवाद से भी अधिक प्रसार कालिदास के समय की समस्या को प्राप्त हुआ।

कालिदास के ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर हमें उनके ऊपर 'श्रीमद्भगवद्गीता का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिये कुछ उद्धरण लिये जा सकते हैं: —

१. गीता के पन्द्रहवें अध्याय का १८वाँ श्लोक "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" और रघुवंश के तीसरे सर्ग का ४९ वाँ श्लोक 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः"।

२. गीता के छठे अध्याय का १९ वाँ श्लोक 'यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता। और कुमारसम्भव के छठे सर्ग का ४२ वाँ श्लोक 'निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्।

---

१. Kalidas—Volume I

२. India—What can it teach us ? page 13 footnote.

३. Kalidas—A Study.

इसी प्रकार के अनेक उद्धरणों से सिद्ध होता है कि कालिदास 'भगवद्गीता' से बहुत अधिक प्रभावित थे। अतः गीता के समय से बहुत पश्चात् ही उनका समय निर्धारित करना चाहिये।

एम० हिप्पोलाइट फशि ने कालिदास को ८वीं शती ई० पू० का माना है। उनका कथन है कि कालिदास अवश्य ही राजा अग्निवर्ण के पुत्र के राज्यकाल में रहे होंगे क्योंकि रघुवंश के अन्तिम सर्ग में इस राजा के वर्णन के साथ ही ग्रन्थ को समाप्त कर दिया गया, किन्तु यह कोई सबल प्रमाण नहीं। 'विष्णुपुराण' में अग्नि वर्ण के पश्चात् २७ राजाओं का वर्णन प्राप्त होता है। कालिदास के ग्रन्थ में अग्नि वर्ण के पश्चात् का वर्णन न मिलने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि कालिदास उसके समकालीन थे।

कुछ विद्वानों ने ११वीं शती के धारा नरेश भोज से कालिदास का सम्बन्ध स्थापित किया किन्तु जैन शाकटायन, नृपतुंग, जिनसेन, वामन, हेमचन्द्र इत्यादि ने कालिदास के पद उद्धृत किये हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि कालिदास का राजा भोज के समय से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ये सभी विद्वान् भोज से बहुत पूर्व के हैं। डॉ० भाऊदाजी ने विक्रम तथा भोज को एक ही मानकर समझौता करने का प्रयास किया है किन्तु वह भी अप्रामाणिक ही है।

"उत्तररामचरित" के प्रसिद्ध लेखक भवभूति ने अपने एक दूसरे नाटक "मालती-माधव" में कालिदास के शाकुन्तल का उल्लेख किया है। भवभूति ८वीं शती के कवि हैं। अतएव कालिदास का निश्चय ही इससे पूर्व होना सिद्ध होता है।

आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में शाकुन्तल के प्रथम अङ्क के २०वें श्लोक को उद्धृत किया है—'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः"। बाणभट्ट ने भी 'हर्षचरित' की भूमिका "निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु। प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते"। इत्यादि के द्वारा कालिदास का पूर्वत्व सिद्ध किया है। ह्वेनसांग के आधार पर हर्ष और हर्ष के आधार पर बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित हो चुका है।

पुलकेशिन् द्वितीय के 'ऐहोल शिलालेख' में भी रविकीर्ति ने अपने आश्रय-दाता पुलकेशिन् की प्रशंसा और यशोवर्णन के अन्तर्गत कालिदास का उल्लेख किया है--

येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिनाजिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदास-भारविकीर्तिः।

इस शिलालेख की तिथि ६३० ई० है। अतएव कालिदास इसके पूर्व ही सिद्ध होते हैं।

हरप्रसाद शास्त्री का विचार है कि कालिदास यशोधर्मदेव धर्मवर्धन (छठी शताब्दी ई०) के दरबार में थे। श्री राजकुमार चौबे ने कालिदास को स्कन्दगुप्त तथा कुमारगुप्त का समकालीन इसलिये माना है कि उन्होंने कुमार तथा स्कन्द शब्दों

का प्रयोग किया है। आश्चर्य है कि चौबे जी ने रघु और दिलीप के शब्दों के प्रयोग के आधार पर कालिदास को उनका समकालीन न बताया।

डॉ० भाऊदाजी, डॉ० भण्डारकर और प्रोफेसर मैक्समूलर भी छठी शताब्दी ई० के समर्थक हैं किन्तु बाण के द्वारा कालिदास का उल्लेख जिन शब्दों में हुआ है उससे यही सिद्ध होता है कि कालिदास बाण से बहुत पहले हुए थे। यह समय छठी शताब्दी नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विद्वानों ने छठी शताब्दी के समय की कल्पना 'ज्योतिर्विदाभरण' के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर की है—

धन्वन्तरिक्ष पणकामरसिंहशंकु—
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

अमरसिंह का काल उन्होंने ४१४ ई० से ६४२ ई० के बीच का माना है किन्तु वास्तव में 'ज्योतिर्विदाभरण' को ही एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करने में अनेक आधुनिक विद्वानों को आपत्ति है और उन्होंने इस ग्रन्थ को सर्वथा अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है।

मैकडानल ने कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के काल में ला बैठाया जब कि कालिदास ने गुप्त राजाओं का किञ्चिन्मात्र भी वर्णन नहीं किया। प्रत्युत अग्निमित्र को अवश्य उन्होने अपने एक नाटक का नायक बनाया है।

प्रो० पाठक का कथन है कि अपने नायक के यश को अत्यन्त प्रखर रूप में चित्रित करने की अभिलाषा के कारण कालिदास ने रघु के द्वारा हूणों की विजय का वर्णन किया जो ५ वीं शती में भारत में आये थे। इस प्रकार कालिदास ने तिथि-क्रम की भूल करने के साथ-साथ स्वतः यह सिद्ध कर दिया है कि वह स्कन्दगुप्त के समकालीन थे। महाशय मनमोहन चक्रवर्ती ने भी इसी सिद्धान्त के आधार पर कालिदास को ४९० ई० में विद्यमान माना है, किन्तु इन लोगों ने एक महत्वपूर्ण प्रमाण को सर्वथा भुला दिया। जैसा कि श्री के० एम० रामस्वामी शास्त्री ने लिखा है, 'हूण राजाओं का उल्लेख महाभारत में भी हुआ है। हूणों ने बैक्ट्रिया में और उसके बाहर भी तीसरी शताब्दी ई० पू० से लेकर पहली या दूसरी शताब्दी ई० तक एक अत्यन्त शक्तिशाली साम्राज्य का उन्नयन किया इसलिये पहली शताब्दी ई० पू० का कवि भी हूणों के विषय में पूर्ण ज्ञान रख सकता है और केवल इस आधार पर कालिदास को पाँचवीं शताब्दी का मानना युक्तिसंगत नहीं है।

कालिदास ने 'कुमारसम्भव' के सप्तम सर्ग में 'जामित्र' शब्द का प्रयोग किया है। जैकोबी (Jacobi) महाशय का कहना है कि 'जामित्र' शब्द यूनानी शब्द Diometron का अपभ्रंश है जिसे भारतीयों ने यूनानियों से आर्यभट्ट के समय में सीखा होगा। अतएव कालिदास को आर्यभट्ट से पश्चात् चौथी शताब्दी ई० का

मानना चाहिये। किन्तु 'जामित्र' शब्द की व्युत्पत्ति तो इसे संस्कृत का ही शब्द सिद्ध करती है—जामिं दुहितरं त्रायत इति जामित्रम्। सम्भव है 'जामित्र शुद्धि' से तिथि का अभिप्राय रहा हो। मल्लिनाथ ने 'जामित्र' को लग्न से सतावाँ ग्रह बताया है। दूसरे यदि हम उपर्युक्त शब्द को मूलतः ग्रीक शब्द मान भी लें, तो कोई आवश्यक नहीं कि भारत में उसका आगमन आर्यभट्ट के ही समय में हुआ हो। सेल्यूकस निकेटर अथवा सिकन्दर के आक्रमण के समय ही वह भारत में आ गया हो, ऐसा भी तो सम्भव है। यूनानी इतिहासकारों का कथन है कि सिकन्दर के आक्रमण दल के साथ पण्डित तथा कलाविद् भी रहते थे।

,जामित्र' तथा 'उच्च' आदि पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के आधार पर कीथ ने कालिदास को चौथी शती ई० का माना है। उनका कथन है कि 'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव' में कालिदास द्वारा ग्रहों के प्रभाव का उल्लेख तथा 'उच्च' एवं 'जामित्र' आदि पारिभाषिक शब्दों का उनके द्वारा प्रयोग यह सिद्ध करता है कि उन्होंने ऐसे विचारों तथा शब्दों को ग्रीक से ग्रहण किया होगा और इस प्रकार के स्थलों के अध्ययन से कालिदास के लिये ३५० ई० से पूर्व का समय नहीं निर्धारित किया जा सकता।' कीथ भारतीय-साहित्य से अत्यधिक परिचित विद्वान् हैं। किन्तु संभवतः ऐसा लिखते समय वह भूल गये कि 'उच्च' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में रामायण में भी हुआ है तथा ग्रह-विज्ञान का सूक्ष्म ज्ञान भारतीयों को ग्रीकों के साथ उनके परिचय के बहुत पूर्व ही हो चुका था। "जामित्र" शब्द के विषय में बहुत पूर्व ही कहा जा चुका है।

प्रो० लैसेन का कथन है कि 'कालिदास अवश्य ही ईसा की दूसरी शती में हुए होंगे और वह समुद्रगुप्त के दरबार में रहे होंगे क्योंकि शिलालेखों में इस सम्राट् का उल्लेख 'कवियों का मित्र' के रूप में हुआ है।" किन्तु समुद्रगुप्त के समकालीन तथा उसके पश्चात् के भी अनेक राजागण यह उपाधि धारण करते रहे हैं। फिर यह भी आवश्यक नहीं है कि कालिदास के ही कारण समुद्रगुप्त को यह उपाधि प्राप्त हुई है।

'मेघदूत' का "दिङ्नागानां पथि हरिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्" इत्यादि पद्य प्रसिद्ध है। इसके आधार पर कुछ लेखकों ने कालिदास को दिङ्नाग का समकालीन माना है जो प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक था और वसुबन्धु का शिष्य था। दिङ्नाग के समकालीन होने के नाते कालिदास को ये लोग छठी शती ई० का मानते हैं। किन्तु दिङ्नाग की तिथि स्वयं अभी अनिश्चित है, कुछ लोग उसे छठी शती ई० और कुछ लगभग ४५० ई० मानते हैं। कीथ के अनुसार वह १०० ई० के पश्चात् नहीं हुये। दूसरे, दिङ्नाग का उल्लेख केवल श्लेष के आधार पर सिद्ध होता है और नहीं कहा जा सकता कि कालिदास का अभिप्राय अवश्य ही बौद्ध दिङ्नाग का उल्लेख करना रहा होगा। तीसरी यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि इतिहास में अवश्य ही एक से अधिक दिङ्नाग हुए हैं—कुन्दमाला का लेखक दिङ्नाग जो मंगलाचरण

में ही 'हरेम्ब' और 'शिव' की प्रशंसा करता है और वसुबन्धु का दार्शनिक शिष्य बौद्ध दिङ्नाग एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते। इस प्रकार इस प्रमाण की तथ्यहीनता स्वतः सिद्ध है।

इसी विषय में कुछ विद्वानों ने कालिदास को अश्वघोष के पश्चात् का मानकर उनका काल-निर्णय किया है और उन्हें दूसरी या तीसरी शती ई० का माना है। अश्वघोष और कालिदास के समरूप पद्य प्रसिद्ध हैं। इन लोगों का कथन है कि "कालिदास ने ही अश्वघोष के भावों को अधिक मांजकर और अपेक्षाकृत सुन्दर भाषा में उपस्थित किया है। यह एक पश्चाद्वर्ती कवि द्वारा ही संभव है।" किन्तु यह कोई आवश्यक तथ्य नहीं। "मेघदूत" जैसा उत्कृष्ट काव्य है, उसके पश्चात् उसी के अनुसरण पर लिखे हुए अनेक काव्यों में कोई भी वैसा न हो सका, यह सुविदित है।

अन्य तथ्य भी हैं, जो कालिदास को अश्वघोष का पूर्ववर्ती सिद्ध करते हैं। अश्वघोष ने जिस क्लिष्ट तथा वैलक्षण्यपूर्ण भाषा-चमत्कार का प्रदर्शन किया है, वह बाद के समय की वस्तु हैं। उदाहरण के लिए 'भी' धातु का प्रयोग देखिए—

यत्र स्म भीयते ब्रह्मा, कैश्चित्कैश्चिन्न भीयते।
काले निभीयते सोमो, न चाकाले प्रभीयते॥

यह प्रवृत्ति बुद्धचरित के एक पद (११—७०) में तीव्रतम रूप में अभिव्यक्त हुई है, जहाँ 'अव' धातु का प्रयोग नौ विभिन्न अर्थों में हुआ है।

कालिदास की कृतियाँ इस वैयाकरणिक व्यायाम (Grammatical Parade) से सर्वथा अछूती हैं। इस प्रवृत्ति का विकास समय बीतने के साथ होता गया। कालिदास इससे पूर्व के हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से इस प्रकार के अनेक सिद्धान्तों का खण्डन हो जाता है, जो कालिदास को अनेक विभिन्न समयों का सिद्ध करते हैं। अब दो प्रमुख सिद्धान्त रह जाते हैं जिनका अब तक या तो सर्वथा उल्लेख नहीं हुआ है या नाममात्र को हुआ है। वे हैं—(१) कालिदास को गुप्तकाल में उत्पन्न मानने वाला मत, और (२) प्रथम शती ई० पू० में विक्रमादित्य के आश्रय में कालिदास को मानने वाला मत। ये दोनों ही सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक के पक्ष में विद्वानों ने अनेक प्रमाण दिये हैं।

गुप्तकालीन मत—अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल, गुप्त युग में कालिदास ने जन्म लिया होगा। श्री समृद्धि से पूर्ण, धर्म तथा नीति एवं साहित्य तथा कला के विकास के इस पावन युग में ही कालिदास ने भी अपनी कीर्तिकौमुदी का प्रसार किया था, ऐसा उनका विश्वास है। शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले, 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करने वाले तथा मालव संवत् को विक्रम संवत् के नाम से प्रचलित करने वाले चन्द्रगुप्त को उसका आश्रयदाता माना जाता है। ये विद्वान् जिन दूसरे प्रमाणों का आश्रय लेते हैं, वे ये

हैं—(१) 'कुमारसम्भव' की रचना सम्भवतः कुमारगुप्त के समय में हुई होगी, (२) कालिदास ने 'गुप्' धातु का बार-बार प्रयोग किया है, (३) हरिषेण की प्रयाग वाली प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विजय का वर्णन 'रघुवंश' के रघु के विजय-वर्णन से पर्याप्त साम्य रखता है, (४) इन्दुमती के स्वयंवर-वर्णन में 'चन्द्रमसैव रात्रिः' 'इन्दुं नवोत्थानम्' इत्यादि के द्वारा चन्द्रगुप्त का ही उल्लेख है, (५) "मालविकाग्निमित्र" वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय और प्रभावती गुप्ता के विवाह के अवसर पर लिखा गया होगा, (६) इसी नाटक में वर्णित अश्वमेध यज्ञ संभवतः समुद्रगुप्त द्वारा कृत अश्वमेध यज्ञ होगा।

प्रथम शती ई० पू० का मत—भारतवर्ष की लोक-परम्परा में कालिदास को 'विक्रमादित्य' का आश्रित माना जाता है। परमारवंशावतंस, महेन्द्रादित्य का पुत्र, प्रसिद्ध शैव और उज्जैन का प्रसिद्ध राजा यह विक्रमादित्य भारत के जन-गण में प्रचलित अनेक लोककथाओं का समादृत नायक है। लोककथाओं को भी सम्पूर्णतः भुलाया नहीं जा सकता। वस्तुतः इतिहास की दृष्टि से भी उनका विशेष महत्व हुआ करता है।

यह तो सर्वथा सन्देह से परे विषय है कि कालिदास ने स्थान-स्थान पर विक्रम का उल्लेख किया है। इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि वे विक्रम के समय में हुए थे किन्तु यह विक्रम कौन था और कब हुआ इसी विषय में सम्पूर्ण मतभेद है। इतिहास में अनेक ऐसे राजा हुए है जिन्होंने विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की है। प्रायः इन सभी विक्रमों के साथ विभिन्न विद्वानों ने कालिदास का सम्बन्ध स्थापित किया है। यह निश्चय हो जाने पर कि यह विक्रम कौन था और कहाँ तथा कब हुआ ? कालिदास के विषय में भी प्रामाणिक निर्णय दिया जा सकता है।

प्रायः देखा जाता है कि बड़े राजा और सम्राट् उपाधि-स्वरूप जो नाम धारण करते हैं, उस नाम का कोई इतना अधिक लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति अथवा राजा पहले हो चुका होता है कि प्रस्तुत राजा के कर्मों की महानता का अप्रस्तुत राजा के महान् कर्मों से सादृश्य होने के कारण लोग उसे उपाधि-स्वरूप वह नाम प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ—रोम में सीजर इतना प्रसिद्ध हुआ कि वहाँ के पश्चाद्वर्ती अनेक राजाओं ने सीजर की उपाधि धारण की। इस प्रकार भारत में कोई मूल 'विक्रमादित्य' उतना प्रसिद्ध हुआ होगा कि पश्चात् के अनेक राजाओं, यहाँ तक कि सुप्रसिद्ध गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी उसके नाम को उपाधिस्वरूप धारण करने में अपना गौरव समझा।

गुप्तकाल तथा उसके पश्चात् भी जितने उक्त उपाधिधारी राजा हुये, उनमें से 'विक्रमादित्य' किसी का नाम नहीं था, केवल उपाधि था। कालिदास ने जिस विक्रम का उल्लेख किया है, वह वही व्यक्ति है, जिसका मूल नाम ही 'विक्रमादित्य' था, उपाधि नहीं। अनेक हठी इतिहासकार आज भी मूलतः 'विक्रमादित्य' नामधारी किसी राजा का ऐतिहासिक अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु फिर भी जिस

प्रकार वत्सराज उदयन की ऐतिहासिकता में लोगों का सन्देह था, यह सन्देह भी बहुत कुछ वैसा ही है। भारतीय साहित्य में जिस प्रचुरता से उदयन और विक्रम का उल्लेख मिलता है, उसके कारण उसकी ऐतिहासिकता में कोई विवाद न होना चाहिये। विन्सेन्ट स्मिथ और एड्गर्टन इत्यादि ने भी स्वीकार किया है कि इस प्रकार के एक राजा की स्थिति उस समय (प्रथम शती ई० पू० में) सम्भव है।

विक्रमादित्य—यह 'विक्रमादित्य' वस्तुतः उज्जैन का वह शासक था, जो सोमदेव के 'कथासरित्सागर' की अनेक कथाओं (देखिये लम्बक छ तरंग ५) का नायक है। यह "कथासरित्सागर" गुणाढ्य द्वारा पैशाची में लिखित 'बृहत्कथा पर आधारित है। 'बृहत्कथा' अप्राप्य है। गुणाढ्य प्रथम शती ई० में हुआ था। गुणाढ्य के अतिरिक्त 'हाल' ने भी अपनी 'गाथासप्तशती' में जो प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित है 'विक्रमादित्य' की दानशीलता का उल्लेख किया है। 'गाथासप्तशती' का ६५वां पद इस प्रकार हैं—

संवाहणसुहरसतोसिदेण देन्तेण लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणसिक्खअतिस्सा॥
संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः॥ (संस्कृतच्छाया)

मि० विन्सेन्ट स्मिथ ने 'हाल' का समय ६८ ई० माना है। हालकृत इस श्लोक से यह सिद्ध हो जाता है कि 'विक्रमादित्य' उसके समय तक अपने दान के लिए इतना अधिक प्रसिद्ध हो चुका था। गुणाढ्य ने भी उसका वर्णन एक पराक्रमी, दानी, शौर्यपूर्ण और प्रजारञ्जक लोकनायक के रूप में किया होगा, जैसा कि 'बृहत्कथा' के संस्कृत रूपान्तर 'कथासरित्सागर' के उसके चित्रण से स्पष्ट हैं। इस प्रकार प्रथम शती ई० के कवि के लिये नायक रूप में प्रयोज्य विक्रमादित्य अवश्य, ही उक्त समय से कम से कम एक शती पूर्व अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दी में हुआ होगा, निश्चित हो जाता है। गुणाढ्य के लगभग १०० वर्ष पूर्व विक्रम सम्वत् का प्रारम्भ ५७ ई० पू० में हुआ था। 'विक्रमादित्य' शकों को पराजित करके यह सम्वत् चलाया होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। इसलिये उसे 'शकारि' कहा जाता है।

इस 'विक्रमादित्य' नामधारी राजा को 'विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय से अभिन्न मानने के भ्रम का कारण संभवतः यह है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी शकों को हराया था। वस्तुतः ई० सन् से १५० वर्ष पूर्व, उत्तर-पश्चिम से शक लोग भारत में आये थे। यहाँ पर उनकी दो शाखाओं का पता चलता है। एक शाखा के लोगों ने मथुरा में अपना अधिकार स्थापित किया और वहाँ वे "क्षत्रप" नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके सिक्कों से उनका ई० सन् से १०० वर्ष पूर्व तक पता चलता है। दूसरी शाखा के लोग काठियावाड़ की तरफ गये और वे पश्चिमी क्षत्रप कहलाये। इन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय ने परास्त किया था। परन्तु इन शकों की पहली शाखा का, जो कि मथुरा की ओर गई थी, ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी के प्रारम्भ के बाद,

क्या हुआ ? इसका कुछ भी पता नहीं चलता । सम्भवतः उन्हें ई० सन् से ५८ वर्ष पूर्व के निकट इसी 'शकारि' विक्रमादित्य ने हराया हो और इसी घटना की यादगार में उसने अपना संवत् भी प्रचलित किया हो ।"

इस प्रकार गुणाढ्य और इस विक्रम के समय में अधिक अन्तर न होने के कारण उसके वर्णनों के मूल में जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उन्हें सत्य मानना होगा। स्वयं 'बृहत्कथा' अप्राप्य है सही, किन्तु उसके आधार पर लिखित 'कथासरित्सागर' में लिखा है कि 'विक्रमादित्य' उज्जैन का सम्राट् था और परमार वंश के महेन्द्रादित्य का पुत्र था। कालिदास का मित्र और आश्रयदाता यही विक्रमादित्य था, यह उन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है जिनमें कालिदास ने महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य का उल्लेख किया है।*

'कथासरित्सागर' में लिखा है कि 'विक्रमादित्य' वस्तुतः शिव का गण था, जो म्लेच्छों के दमन के लिये पृथ्वी पर भेजा गया था, जिसने ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान किया और वेद-विरोधी सम्प्रदायों की ज्योति को धूमिल कर दिया। वह कट्टर शैव था और संभवतः इसी ने उज्जैन के प्रसिद्ध महा-कालमन्दिर का निर्माण कराया था।

गुप्त सम्राट् स्वयं वैष्णव थे। उनके दरबार में कालिदास, जो स्वयं कट्टर शैव थे, रहे होंगे, यह कम संभव है। इसी शैव विक्रम के दरबार में उनका होना तथ्यों के अधिक अनुकूल है।

कालिदास की भाषा में अनेक प्रयोग ऐसे मिलते हैं जो पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास के समय तक पाणिनीय व्याकरण को अपने प्रतिद्वन्द्वी व्याकरणों की अपेक्षा वह वरीयता नहीं प्राप्त हुई थी, जो तीसरी या चौथी शती में उसे प्राप्त हो गई थी। अत्यन्त प्राचीन शब्दों का प्रयोग भी यही सिद्ध करता है।

सूर्यवंश में उत्पन्न राजाओं को ही अपने अधिकतर काव्यों का नायक बनाने का कारण भी हमारी समझ में भली-भाँति आ जाता है, जब हम यह सोचते हैं कि परमार वंश की स्थापना स्वयं आदित्य द्वारा हुई थी। इसके अतिरिक्त रघुवंश में रघु और दिलीप का वर्णन 'कथासरित्सागर' के विक्रम और महेन्द्रादित्य के वर्णनों से पर्याप्त साम्य रखता है।

इस प्रकार उक्त अनेक प्रमाणों तथा उनके साथ ही 'मालविकाग्निमित्र' के अन्तर्गत प्रमाणों से, मेघदूत के तीसवें पद्य में वत्सराज उदयन के विषय में उज्जैन में प्रचलित सामान्य जनश्रुति के उल्लेख इत्यादि से भी यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास प्रथम शती ई० पू० में मालवा तथा उज्जैन पर शासन करने वाले इसी विक्रमादित्य के समय में उत्पन्न हुये थे।

---

*पं० विश्वेश्वर नाथ रेऊ।

रघुवंश की संस्कृति—

रघुवंश महाकाव्य में वर्णाश्रम धर्म अपने निर्मल रूप में व्यवस्थित दिखाई देता है। वशिष्ठ और वरतन्तु जैसे ब्राह्मण विविध विद्याओं के अध्ययन में संलग्न रहते हैं। दिलीप और रघु जैसे गुरुभक्त क्षत्रिय नृपति विश्व-विजय में समर्थ तथा प्रजा के रक्षणार्थ निरत हैं। वैश्य वर्ग गो-सेवा और कृषि के द्वारा विदेशों से व्यापार करके देश को समृद्ध करने में लगा है। राज-दरबारों में चारों वर्णों का पारस्परिक सहयोग दीख पड़ता है। रघु और राम के राज्याभिषेक के वर्णन, इन्दुमती व सीता के स्वयंवरों के दृश्य चारों वर्णों के सम्मिलित प्रयत्नों पर प्रकाश डालते हैं। सुदक्षिणा, अरुन्धती और सीता जैसी पतिव्रता स्त्रियों को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं। ये सब उच्च शिक्षा प्राप्त विदुषियाँ थी। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि बालक-बालिकाओं को आश्रम में उच्च शिक्षा देने के साधन विद्यमान थे।

ब्रह्मचारी लोग गुरुओं के पास आश्रम में रहकर विविध विद्याओं और कलाओं की शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरु की सेवा करके लोग शिक्षा-शुल्क से मुक्त हो जाते थे। प्रायः शिक्षण-शुल्क से मुक्ति पाये विद्यार्थी भी गुरुदक्षिणा देने के लिये उत्सुक रहा करते थे। ऐसा ही एक शिष्य कौत्स, वरतन्तु नामक गुरु को, चौदह विद्याओं के बदले चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें देने के लिये सम्राट् रघु के पास धन याचनार्थ आता है। आश्रम के गुरुजनों एवं शिष्यों की आवश्यकता-पूर्ति करना गृहस्थी का धर्म था और शासन सब प्रकार से उनकी रक्षा करता था। ये आश्रमवासी भी पसई या तिन्नी के चावलों और श्यामाकादि धन्यों का छठा भाग राजा को कर-रूप में देने के लिये जलाशयों के तटों पर रख देते थे। वहाँ से राज-कर्मचारी ले जाकर राजकोष में जमा कर देते थे। वानप्रस्थ और यती लोग इन आश्रमों में ही रहते थे। जहाँ आने वाली पीढ़ी के गृहस्थ तैयार किये जाते थे।

अतिथि-सत्कार का विशेष महत्त्व था। ब्राह्मणों को यज्ञ-यागादि में प्रभूत दक्षिणादि दी जाती थी। विश्व विजय करने के उपरान्त चक्रवर्ती रघु ने अपने 'विश्व-जित् 'यज्ञ में सम्पूर्ण सम्पत्ति ऋत्विजों को दान में दे दी थी। ऐसी विषम परिस्थिति में कौत्स अपने गुरु को दक्षिणा देने के लिये रघु के पास आता है। फिर भी रघु-मिट्टी के थाल में ही पूजन सामग्री रखकर विधिवत् उसका अभिवादन कर अग्नि-शाला में टिका लेते हैं। दो-तीन दिन के भीतर उनकी कामना पूर्ण करने का वचन देते हैं। रघु को सबसे अधिक चिन्ता तो यह है कि—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा, रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे, माभूत् परीवादनवावतारः ॥रघुवंश (५/२३)

गुरुदक्षिणा का इच्छुक, वेदों, का पारंगत कोई विद्वान् रघु के समीप अपनी याचना के पूर्ण न होने से किसी अन्य दाता के पास गया, पहली बार यह कलंक मेरे नाम पर न लगने दो।

कुछ समय पूर्व वरतन्तु से उनके आश्रम के लता-पादपों, फलों, जलाशयों एवं

प्राणियों के क्षेम-कुशल सम्बन्धी प्रश्न करके रघु अपना राजा का होना सार्थक सिद्ध कर चुके हैं।

यहाँ अतिथि-सत्कार का आदर्श-रूप (अतिथिदेवोभव) कालिदास के हाथों पड़कर निखर चुका है।

कालिदास द्वारा चित्रित पात्रों के चरित्र अपूर्व एवं आदर्श होते हुए कठोर जगत् के निर्मम आघातों से उत्पन्न विविध संवेदनाओं से परिचित हैं। अब हम उदाहरणस्वरूप छात्रों की सुविधा के लिए निम्नांकित पंक्तियों में रघुवंश महाकाव्य के कतिपय तेजस्वी पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत करते हैं।

दिलीप—कालिदास ने रघुवंश के प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में ही सूर्यवंश के लोगों के जिन गुणों और विशिष्टताओं का वर्णन किया है, वे मानो दिलीप को उन समस्त गुणों से विभूषित अथवा उनका आश्रय-स्थान सिद्ध करने के लिये पीठिका के रूप में संगृहीत हुये हैं। द्वितीय सर्ग में उसका चित्रण मुख्यतः अथवा सर्वथा एक व्रती के रूप में हुआ, जहाँ संयम और नियम मूर्तिमान् होकर उसमें समाविष्ट हो गये हैं।

पुत्र की कामना से वसिष्ठ के समीप आये हुये राजा दिलीप को जब वह गोचारण व्रत धारण करके नन्दिनी की सेवा और उसके द्वारा उसे प्रसन्न करने की आज्ञा देते हैं तो वह सहर्ष उसे स्वीकार करके दूसरे ही दिन से उक्त प्रकार से उसकी सेवा में संलग्न हो जाता है। उसकी पत्नी सुदक्षिणा भी इस कार्य में सहायक है।

समस्त द्वितीय सर्ग में दिलीप का चित्रण एक गो-सेवक के रूप में हुआ है। उनके विभिन्न गुणों का भी प्रकटीकरण प्रकारान्तर से होता गया है। यद्यपि वह प्रजानामधिप' हैं फिर भी 'यशोधनः' हैं। वह सिंह से प्रार्थना करते हैं कि वह उनके भौतिक शरीर को आहार रूप में ग्रहण कर ले, किन्तु उनके यशः शरीर के प्रति दयालुता प्रदर्शित करे—

> किमर्प्याहिस्यस्तव चेन्मतोऽहं, यशः शरीरेभव मे दयालुः।
> एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां, पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥

दिलीप अद्वितीय वीर है। वह अपने शरीर की रक्षा वन्य-पशुओं से करने में स्वयं समर्थ है, उन्हें अंगरक्षकों की आवश्यकता नहीं है; (Armers) की आवश्यकता नहीं—"न चान्यततस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनो प्रसूतिः।"

मुनि की यज्ञ-धेनु की रक्षा के जिस वन के दुष्ट जीवों को शिक्षा देता हुआ वह 'अधिज्यधन्वा' वरुण सदृश प्रतीत होता है। वन के वृक्ष, लतायें, पशु-पक्षी भी अपने को उसके बीच पाकर कृतकृत्य मानते हैं और उसका स्वागत करते हैं। वृक्ष पक्षियों के कलरव से उसकी जयध्वनि कराते हैं और लतायें पौरकन्याओं की भाँति उस पर आचार-लाजों को विकीर्ण करती हैं।

धनुष-धारण किये रहने पर भी उसके अन्तस्तल का दयाभाव हरिणियों को

प्रकट हो ही जाता है। वे उस पर आँखों से निहार कर अपने नेत्रों का सुख प्राप्त कर लेती हैं।

वन में पहुँचकर भी दिलीप गाय की सेवा में ही रत रहता है। वह जब बैठती है, तब बैठता है और वह जब चलती है तो चलने लगता है। जल की इच्छा होने पर जल पिलाता है और छाया के समान उसका अनुगमन करता है।

बाईसवें दिन दिलीप की परीक्षा होती है। 'सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैः' ऐसा समझ कर वह प्रकृति की, हिमालय की शोभा को देखने में लीन हो जाता है। इसी समय नन्दिनी को मायावी सिंह दबोच लेता है। बाण निकालने पर भी बाण चिपक कर रह जाता है, यद्यपि सिंह स्पष्ट कह देता है--

अलं महीपाल तव श्रमेण, प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्ष्यं, न तद्यशः शस्त्रभृताम् क्षिणोति ॥

तत्पश्चात् राजा यह जान लेते हैं कि यह सिंह नहीं है बल्कि शिव का गण है।

सिंह-दिलीप के वार्तालाप से राजा की कुछ चारित्रिक विशेषयायें परिलक्षित होती हैं। एक तो उनकी कर्त्तव्यपरायणता है। वह प्रत्येक सम्भव तर्क द्वारा यह प्रस्तुत करना चाहता है कि सिंह उसके शरीर को आहार बनाकर नन्दिनी को बचा दे क्योंकि इसके बाद उसके जीवन में रह ही क्या जायेगा। वह अपने प्राणों से नन्दिनी का मूल्य अधिक समझता है, वास्तव में उचित भी है क्योंकि वह एक महान् राजा है। उसके लिये तो कर्तव्य-निष्ठा का सिद्धान्त सदैव मूर्तिमान रहता है। यद्यपि सिंह उसे 'विचार मूढः' तक कह डालता है। दूसरी उसकी चारित्रिक विशेषता है-- यशः प्रियता। प्राण देकर भी वह प्रसन्न है, किन्तु कर्त्तव्य-विमुख नहीं होना चाहता, भौतिक शरीर देकर उसे यशःशरीर की रक्षा करनी है।

राजा के वाक् चातुर्य्य का भी यहाँ पता चल जाता है वह प्रत्येक सम्भव तर्क द्वारा यही स्वीकार करवाता है कि उसका शरीर सिंह को स्वीकृत हो। अपनी नम्रतापूर्ण बातों से उसे वह अनुकूल कर ही लेता है।

उसके धैर्य एवं नम्रता का भी परिचय हमें तब मिलता है जब नन्दिनी प्रसन्न होकर दिलीप को संतान-प्राप्ति के लिए दुग्ध पीने की आज्ञा देती है। इस स्थल पर वह ऐसा कहता है, जो एक धीरोदात्त चरित्र के लिए सर्वथा उपयुक्त है—

"वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषं, ऋषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिलीप का चित्रण यशःप्रिय, नम्र, कर्त्तव्य-परायण और सर्वप्रिय वीर के रूप में हुआ है। उसका चरित्र-चित्रण करने में कालिदास ने विशेष कुशलता का प्रदर्शन किया है।

रघु—महाप्रतापी रघु को उसके पिता दिलीप ने जब युवराज पद पर नियुक्त किया था तो सौवां अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ करके उसकी पूर्ति के लिए अश्व छोड़ा था।

इस अश्व का रक्षक रघु को नियुक्त किया था। अश्व इन्द्र के द्वारा पकड़ लिया गया और यह देखकर रघु ने इन्द्र पर बाण मारकर इन्द्र की बांह बेध दी तथा उसका 'इन्द्रध्वज' भी काट डाला। यह देख इन्द्र ने आहत होकर अपना वज्र रघु पर चलाया, रघु उससे आहत होते हुआ भी पराङ्मुख नहीं हुआ। इस वीरता को देख इन्द्र प्रसन्न हो कर बोला 'मेरे वज्र को तुम्हारे अलावा अभी तक किसी ने सहन नहीं किया, अतः अब अश्व के अतिरिक्त जो चाहो मांग लो 'रघु ने कहा कि मेरे पिता जी बिना सौवां यज्ञ किये ही उसके फल के 'भागी' हो जायें। रघु की इच्छा पूर्ण हुई और वह 'तथास्तु' कहकर चल दिये। दिलीप ने पुत्र को हृदय से लगाकर उसे राज्य-सिंहासन पर बिठाकर स्वयं तपस्या करने वन में चले गये। इससे रघु के अद्वितीय वीरत्व का आभास होता है।

महाराज रघु की राज्य-शासन प्रणाली की सफलता तथा न्यायपूर्ण प्रजा-पालन के कारण लक्ष्मी-सरस्वती दोनों ही उन्हें प्राप्त हो गई थीं। दिग्विजय के लिए प्रस्थान करके रघु ने कलिंगों, पाण्ड्यों, पारसियों, हूणों और कम्बोजवासियों को सहज ही परास्त कर दिया। वह कैलाश पर्वत पर चढ़ गये तथा पर्वतीय तोपों से अनेक स्थानों को जीतकर 'प्राक् ज्योतिष' की ओर बढे। वहाँ के स्वामी ने आत्म-समर्पण करके उनका स्वागत किया। तत्पश्चात् वह अयोध्या को लौट आये और पुष्कल-दक्षिणा ऋत्विजों को देकर 'विश्वजित्' यज्ञ सम्पादित किया।

महाराज रघु जब अपनी प्रभूत सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान में दे चुके थे तब ऐसी विषम परिस्थिति, में, वरतन्तु से सम्पूर्ण (१४) विद्याओं का अध्ययन करने के बाद, कौत्स गुरुदक्षिणा देने के लिए १४ करोड़ स्वर्ण मुद्रायें राजा रघु से लेने आये। महाराज रघु 'वीतहिरण्मयत्वात्' मिट्टी के पात्र में पूजन सामग्री रखकर कौत्स की अगवानी के हेतु बढ़े। कौत्स के गुरु की कुशल तथा 'कायेन', 'वाचा' 'मनसा' तप के विषय में, छह श्लोकों में बड़े मार्मिक ढंग से प्रश्न किये। इससे उनकी प्रजा-वत्सलता एवं राज्य की रक्षा में उत्सुकता व्यक्त होती है। इसके पश्चात् अति नम्र शब्दों में कहते हैं कि आपके आने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ, आप क्या चाहते हैं? यह आज्ञा करें, क्योंकि मेरा मन इस विषय में अति उत्कण्ठित है। इससे रघु की दानशीलता एवं उदारता प्रकट होती है। यद्यपि रघु के हाथ में मृत्पात्र देखकर कौत्स निराश होते हैं, किन्तु यशोधन रघु यहाँ यह कब सहन कर सकते हैं कि उनके द्वार से कोई अचानक लौट जाय (५/२४)। वह कौत्स से केवल २–३ दिन रुकने का आग्रह करते हैं, अग्निशाला में और विलम्ब के लिये क्षमा माँगते हैं। इसी बीच वह वचन पूरा करने के लिए उससे कहते हैं। कौत्स की अभीष्ट-सिद्धि के लिए साहसी रघु कुबेर पर आक्रमण करने का संकल्प मात्र ही नहीं करते हैं, बल्कि रथ को (५/२७,२६) शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करके रात्रि को उसी में शयन करते हैं।

कुबेर रघु की वीरता से परिचित हैं। अतएव वह रात्रि में रघु के राजकोष में स्वर्ण राशि की वृष्टि कर देते हैं। भले ही कौत्स इसे स्वीकार न करें। यहीं एक

अतीव सुन्दर दृश्य कवि ने उपस्थित किया है और यह दिखाया है कि रघु और कौत्स दोनों ही एक दूसरे से न्यून नहीं हैं अपने-अपने क्षेत्र में—साथ ही अन्य अयोध्या-वासियों को श्रेष्ठ निदर्शन देते हैं—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी,
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥५/३१ ॥

इस प्रकार हम रघु के चरित्र में युद्धवीर, दयावीर और दानवीर का सच्चा स्वरूप पाते हैं ।

कौत्स—कौत्स एक गुरुभक्त ब्राह्मण कुमार है । वह महर्षि वरतन्तु के आश्रय में रहकर १४ विद्याओं का अध्ययन करता है । वह इतनी लगन और निष्ठा के साथ गुरु का सेवक रहा है कि गुरु-दक्षिणा के स्थान पर गुरु उसकी सुश्रूषा को ही स्वीकार कर लेते हैं । उसके बारम्बार प्रार्थना करने पर भी गुरु-दक्षिणा नहीं चाहते । किन्तु 'निर्वन्ध संजातरुषा' होकर उन्होंने चौदह विद्याओं के पढ़ाने के उपलक्ष्य में १४ करोड़ स्वर्ण मुद्रायें गुरु-दक्षिणा के रूप में लाने का आदेश दिया । कौत्स स्वयं इस दक्षिणा को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ हो महाराजा रघु के पास जाता है ।

कौत्स ऐसी विकट परिस्थिति में महाराज रघु के सम्मुख उपस्थित होता है । उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति यज्ञ में ऋत्विजादिकों को दान में दे दी है । केवल मृत् पात्र से उसकी अतिथि-सपर्या करते हैं । इतने से ही वह राजा की निर्धनता का पूर्ण अनुमान लगा लेते है । राजा के आने का प्रयोजन पूछने पर कितने वाक्-चातुर्यपूर्ण कौशल से कहता है—

भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते,
पूर्वान्महाभाग तयातिशेषे ।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस
त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥५/१४॥

उसने आगे कहा—चक्रवर्ती होते हुए विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान करके देवताओं द्वारा दी हुई कलाओं की क्षय वाले चन्द्रमा की भाँति निर्धन होते हुए आप तो 'श्लाघ्यतर' ही हैं । किन्तु गुरु-दक्षिणा देने के लिये अभीष्ट द्रव्य प्राप्त करना मेरा प्रयोजन है । अतएव मैं किसी दूसरे के पास जाऊँगा क्योंकि चातक-पक्षी जल-रहित मेघ से जल की याचना नहीं करता है । फिर मैं तो मनुष्य हूँ इतना कहकर वह लौट ही रहे थे कि रघु ने पूछा कि कौन और कितनी वस्तु गुरु-दक्षिणा में आप चाहते हैं, तो उन्होंने कहा कि मेरे गुरु जी ने मेरी दरिद्रता का ध्यान न करके कह दिया—

"कोटीश्चतस्रोदशचाहरेति"

आपकी अवस्था देखकर मुझे कुछ कहने का साहस नहीं रहा। अतएव अब अन्यत्र जाना उचित है। इस पर राजा ने २–३ दिन अग्निशाला में रुकने को कहा तथा प्रयोजन सिद्ध करने का वचन दिया। कौत्स तब ठहर गया। इधर रघु के आक्रमण करने के भय से कुबेर ने रघु के राजकोष में स्वर्ण-मुद्राओं की वृष्टि करवा दी। रघु ने कौत्स को बुलाकर सम्पूर्ण धनराशि लेने को कहा किन्तु कौत्स ने केवल उतना ही स्वर्ण ग्रहण किया जितना उन्हें गुरु-दक्षिणा में देय था। विनम्र महाराज रघु को हाथ से स्पर्श करते हुए इस प्रकार आशीर्वाद देवर धन ऊँट व घोड़ियों पर लदवाकर प्रस्थान किया—

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं, श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते।
पुत्रंलभस्वात्मगुणानुरूपं, भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥ ५/३४ ॥

इस प्रकार कौत्स एक सच्चे गुरुभक्त, स्पष्टवादी, निर्भीक वक्ता, चौदह विद्याओं में पारंगत एवं कठिन से कठिन परिस्थिति में सफलता प्राप्त करने वाले एक नैष्ठिक ब्राह्मण के रूप में चित्रित हुए हैं।

(२) अश्वघोष

ईसा की प्रथम शताब्दी में यह महाकवि कनिष्क की राजसभा में पण्डित और राजकवि थे। संस्कृत के बौद्ध कवियों में अश्वघोष का स्थान सबसे ऊँचा है। इन्होंने बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की कड़वी औषधि को मधु के साथ काव्य के माध्यम से फैलाने के लिये 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' नामक महाकाव्यों की रचना की है।

'सौन्दरानन्द' उनका प्रथम महाकाव्य है। इसमें १८ सर्ग हैं। इसमें बुद्ध के उपदेश से उनके छोटे भाई नन्द अपनी प्रिय पत्नी सुन्दरी तथा सांसारिक सुखों को त्यागकर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेते हैं, पर वास्तव में कवि का उद्देश्य रोचक काव्य शैली द्वारा जनता को बौद्ध धर्म के उच्च सिद्धान्तों को समझाना तथा ऐहिक भावों का त्याग करवाकर पूर्ण वैराग्य की ओर उन्मुख करना था। इस महाकाव्य में प्रयुक्त शैली वैदर्भी है। इसमें सर्वत्र भाषा की सरलता, भावों की कोमलता तथा वर्णन की सजीवता दर्शनीय है। उदाहरणार्थ—

"तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान् नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः ॥

नन्द की अवस्था का कैसा मार्मिक एवं स्वाभाविक चित्रण है। एक ओर वे बुद्ध के उपदेशों से आकृष्ट हो रहे हैं तो दूसरी ओर उनका पत्नी-प्रेम उन्हें अपनी ओर

---

१. समाप्तविद्येन··· ··· ···पुरस्तात्। ५/२०
२. निर्बन्धसंजात··· ··· ···चाहरेति। ५/२१

खींच रहा है इस अनिश्चय के कारण न तो यहाँ से जा सकते हैं और न रुक ही सकते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि नदी की धारा के विरुद्ध तैरता हुआ हंस न तो आगे ही बढ़ता है और न पीछे ही हट सकता है।

'बुद्धचरित'—अश्वघोष का दूसरा महाकाव्य है, जो कि सचमुच एक कलाकार की कृति है। इसमें २८ सर्ग बताये जाते हैं, किन्तु हमें १७ सर्ग ही आज उपलब्ध होते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में (४०४ ई० का) और एक अनुवाद तिब्बती भाषा में प्राप्त होता है। इसमें गौतमबुद्ध के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। भाषा-शैली की सरलता एवं मधुरता, उपमाओं की सुन्दरता, स्थान-स्थान पर प्राकृतिक वर्णन की सजीवता इत्यादि से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि 'बुद्धचरित' काव्यकार की एक अनोखी कृति है। कथा की उत्कृष्टता के सम्पादन एवं उसके निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। कथा के बीच-बीच में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए गूढ़ दार्शनिक तत्वों को भी काव्य रूप में यत्र-तत्र प्रस्तुत किया गया है जिससे शैली में शिथिलता एवं दुरूहता आ गई है। किन्तु अधिकांश स्थल बड़े मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं। यशोधरा वन में गये अपने पति की चिन्ता में मग्न है—

> शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशितूर्यनिस्वनैः।
> कथं वत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले॥

राज-सुख वैभव की समृद्धि और वनवास की अकिञ्चनता की कैसी मार्मिक तुलना है। 'स्वर्णजटित निर्मल शयन में सोकर प्रबोध-मंगल की मधुर स्वरलहरी सुनकर जगने वाले मेरे व्रती, केवल एक वस्त्रधारी, आज पृथ्वी पर कैसे सोवेंगे" यह चिन्तन नितान्त स्वाभाविक है।

अश्वघोष के काव्यों में शृंङ्गार और करुण से पुष्ट होकर शान्त रस खिल उठा है, तो बौद्ध-संस्कृति का सर्वस्व है।

कालिदास और अश्वघोष के पश्चात् काव्य-शैली में महान् परिवर्तन होने लगा। यह नवीन काव्य-शैली राज-सभाओं में विकसित हुई। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों काव्य में कृत्रिमता की वृद्धि होती गई। इस समय के काव्यों में शृङ्गार वर्णन की ओर विशेष प्रवृत्ति हुई। भाषा में क्लिष्टता और समासों का बाहुल्य हो गया। प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा भाषा, शैली, अलंकार-वर्णन आदि बाह्य रूप-रंग वैदग्ध्य-प्रदर्शन ने ले लिया।

(३) भारवि

महाकाव्यों के रचयिताओं में कालिदास और अश्वघोष के बाद भारवि का स्थान सुरक्षित है। इनका स्थिति-काल ६३४ ई० से पूर्व का है, क्योंकि ऐहोल के ६३४ ई० के शिला लेख में चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय की प्रशस्ति में भारवि का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। 'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' के आधार पर भारवि दक्षिण भारत

के रहने वाले थे और पुलकेशी द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन के सभा-पण्डित थे। भारवि की कीर्ति उनके एकमात्र सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' पर अवलम्बित है। इसका कथानक महाभारत के वन-पर्व से लिया गया है। संस्कृत-महाकाव्यों की बृहत्त्रयी (किरात, माघ और नैषध) में इनका प्रमुख स्थान है। 'किरात' में १८ सर्ग हैं। बीच के कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के लक्षणानुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन करके काव्य का बहुत विस्तार कर दिया है। इसमें वीर-रस प्रधान है तथा अन्य रस गौण हैं। यह काव्य अपने 'अर्थ-गौरव' अर्थात् अल्प शब्दों में विपुल अर्थ के सन्निवेश के लिए प्रसिद्ध है। अलङ्कारों का रुचिर प्रयोग तथा प्राकृतिक वर्णन की स्वाभाविकता, इस काव्य की दूसरी विशेषता है। महाकाव्यों के इतिहास में भारवि अलंकृत काव्य-शैली के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। काव्य को अलंकारों प्रकृति-वर्णनों तथा शाब्दिक चमत्कारों से विभूषित करने की पद्धति के सर्वप्रथम दर्शन 'किरातार्जुनीय में' ही होते हैं इसमें अर्जुन की कठिन तपस्या, सुराङ्गना-विहार तथा किरात और अर्जुन के युद्ध का विशद वर्णन है। 'किरात' का समारम्भ 'श्री' शब्द से होता है—

"श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीं, प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिर द्वैतवने वनेचरः"॥

साथ ही प्रत्येक सर्ग के अन्त के श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस तथ्य से भारवि की अद्भुत वर्णना शक्ति सिद्ध होती है। संश्लिष्ट रूप योजनात्मक कल्पना का प्रयोग निम्न श्लोक में देखिये—

"मुखैरसौ विद्रुमभंगलौहितैः शिखाः पिशंगी-कमलस्य बिभ्रतो।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥"

शरद्काल का मनोहर वर्णन है। शिरीष के पुष्पों से सुकुमार हरे तोतों की पंक्ति मूंगे के टुकड़ों की सी अपनी अरुण चोंचों में धान की पाण्डु रंग की बालियों को लेकर आकाश मे उड़ रही है। हरे, लाल और पीले रंगों की मिलावट से ऐसा लगता है जैसे आकाश में इन्द्र-धनुष उदित हो।

दुर्योधन के प्रति प्रजा की राजभक्ति का कैसा सरल और सुबोध वर्णन हुआ है—

"महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्त्तयः।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥"

ओजस्वी, मानधनी, धनाढ्य, धनुर्धर युद्धवीर योद्धागण अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी तटस्थ भाव से रहकर केवल दुर्योधन का हित करने के लिये कटिबद्ध है।

मल्लिनाथ ने भारवि के काव्य को नारिकेल फल की भाँति ठीक ही बतलाया है जिसका बाह्य रूप कठोर, विषम एवं रूक्ष होता है, किन्तु अन्तस् में मृदु मधुर द्रव्य के समान काव्य का मनोज्ञ रस निहित रहता है—

"नारिकेलफल संमितं वचो भारवेः सपदितद्विभज्यते ।
स्वादयन्नुरसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

अप्सराओं की क्रीड़ा तथा उनके अर्जुन को मोहित करने के प्रसंग में पुनरुक्ति दोष आ गया है, जो अन्तिम चार सर्गों के विस्तृत युद्ध-वर्णन में बहुलता से मिलता है। फिर भी दोष कम हैं और गुण अधिक हैं।

कथानक लघु होने पर भी कवि ने उसे कमत्कार, कमनीयता और व्यापकता से समन्वित कर दिया है। इस अलंकृत वर्णन-शैली का अनुसरण भारवि के बाद के कवियों ने बहुलता से किया है।

भारवि द्वारा अंकित संस्कृति—

'किरातार्जुनीय' लिखते समय भारवि का उद्देश्य सम्भवतः अपने युग की प्रवृत्ति की तृप्ति करना था। एक श्रेष्ठ कवि कहलाने के लिये उस युग में किसी न किसी महाकाव्य की रचना करना आवश्यक समझा जाता है। इस महाकाव्य की रचना से 'महाभारत' को उपादान रूपेण ग्रहण किया गया है। व्यास के परामर्श से शक्ति-संचयार्थ, पाशुपति अस्त्र की प्राप्ति हेतु अर्जुन द्वारा तपस्या, उन्हीं दिनों में उनके द्वारा किरातवेशधारी शिव से युद्ध और उनकी वीरता से प्रसन्न शिव से वर के रूप में पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति—महाभारत के वनपर्व की यह घटना ही किरातार्जुनीय के कथानक का मूल तत्त्व है। 'महाभारत' एक विशालकाय महाकाव्य है जिसमें विविध पात्रों के जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण समाविष्ट है। कौरवों-पाण्डवों के जन्म से लेकर महाभारत युद्ध तक तथा अन्य घटनाओं, नैतिक उच्चादर्शों को चित्रित करने का ध्येय रखकर भारवि ने इसकी रचना की। इसमें तत्कालीन सांस्कृतिक मूल्यों, मान्यताओं, अवधारणाओं तथा गतिविधियों के संकलन का स्पष्ट चित्रण हुआ है।

इस महाकाव्य के अध्ययन से हमें भारतीय संस्कृति के विशिष्ट चित्र के दर्शन होते हैं। इसमें उस यथार्थवादी प्रवृत्ति का पूर्वाभास मिलता है जिसका माघ के काल तथा परवर्त्ती युग में उत्तरोत्तर विकास होता गया। दुर्योधन के राज्य की व्यवस्था की यथार्थ परिस्थितियों, तदन्तर्वर्ती छिद्रों एवं दुर्बलताओं का ज्ञान करने के लिये पाण्डवों ने जो दूत भेजा था उसने लौटकर जो बताया उससे यह ध्वनित होता है कि तब केवल सिद्धान्त रूप में संयम, नियम, सच्चरित्रता, तपस्या, त्याग विद्यमान थे।

वर्णाश्रम धर्म की नींव उतनी दृढ़ अब नहीं रह गई थी जितनी कि कालिदास के थी समय में। बृहस्पति आदि की स्मृतियों का स्थान 'मनुस्मृति' ने ले लिया था। दुर्योधन मनु द्वारा निर्दिष्ट सदाचार का यथासम्भव पालन करने का प्रयत्न करता था।

वीरों-योद्धाओं का इस युग में काफी सम्मान किया जाता था। लोग स्वामि-भक्त प्राणपण से स्वामि-हित की रक्षा करने वाले थे। गुप्तचरों का इस युग में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान था।

भारवि के समय में कौटुम्बिक जीवन सुखमय था। 'किरातार्जुनीय' के चरित्रों

में आदर्श भ्रातृ-प्रेम, अनन्य पति-प्रेम, स्वामी-सेवक भाव, लोक-व्यवहार, कुशलता एवं सौहार्द विद्यमान था। लोग सुखी थे, धन-धान्य से समृद्ध थे। कृषि को अच्छे कार्यों की कोटि में गिना जाता था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि मनस्वी मान-रक्षा को ही अधिक तहत्त्व देते थे, धन-सम्पत्ति को उसकी तुलना में गौण स्थान देते थे।

महाभारत का उपादान ग्रहण करने के कारण इसमें राजनीति—युद्धनीति के अधिकतम चित्र प्राप्त होते हैं। इन चित्रों में यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है, राजनीति के क्षेत्र में दो प्रवृत्तियाँ विकास प्राप्त कर रही थीं। एक तो क्षिप्रकारिता और अधीरता को विकसित कर रही थी तथा दूसरी धैर्य और दूरदर्शिता से समन्वित थी। पहली नीति के प्रतिनिधि भाव भीमसेन और द्रौपदी द्वारा युधिष्ठिर को दिये गये परामर्श से प्राप्त होते हैं। दूसरी नीति के प्रतिनिधि युधिष्ठिर स्वयं ही हैं। उनमें बड़ी संतुलित विवेकदृष्टि है। उनके अनुसार लक्ष्मी का उपभोग संयमहीन लोगों के लिये नहीं है। धन तथा ऐश्वर्य सदा किसी का साथ नहीं दे सकते।

वस्तुतः प्राचीन हिन्दू जाति में यह विवेकपूर्ण सन्तुलन-संकट-समय में अत्यन्त दीख पड़ता है। ऐश्वर्य एवं सुखोपभोग के लिये यथेष्ट प्रयत्न करते हुए भी वह उन्हें इतना महत्त्व नहीं दे सकता कि उस भोग-समवाय के लिए सम्पूर्ण सद्गुणों-सद्वृत्तियों का बलिदान कर दिया जाये।

(४) भट्टि

'भट्टिकाव्य' का नाम 'रावणवध' भी है। भट्टि ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने अपने महाकाव्य की रचना श्रीधरसेन के राज्य काल में सौराष्ट्र की वलभी नाम की नगरी में की। यद्यपि शिला-लेखों में ५०२ ई० से ६४१ ई० तक, इस नाम के चार राजाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु श्रीधरसेन द्वितीय के ६१० ई० वाले शिला-लेख में किसी 'भट्टि' नाम के कवि को कुछ भूमि देने का वर्णन पाया जाता है। इस आधार पर 'भट्टि' का समय ईसा की छठी शती का उत्तरार्द्ध और सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इनके द्वारा रचित 'भट्टिकाव्य' व्याकरणशास्त्र की एक अनमूल निधि है। काव्यकार भट्टि का उद्देश्य व्याकरण के जटिल से जटिल नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करना तथा कथानक में मौलिकता का समावेश करना था। 'भट्टिकाव्य' में २२ सर्ग और १६२४ श्लोक हैं। इसमें विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण के जाने की घटना से प्रारम्भ करके रामायण की कथा वर्णित है। इस काव्य को 'शास्त्र-काव्य' कहा जाता है। व्याकरण जानने वालों के लिये यह ग्रन्थ उज्ज्वल प्रदीप की भाँति है पर व्याकरण न जानने वालों के लिये यह ग्रन्थ उसी प्रकार है जैसे अन्धे व्यक्ति के हाथ में दर्पण दे दिया जाय—

"दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्द लक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥"

भट्टि ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों का खूब प्रयोग किया है। इस काव्य में सर्वत्र रोचकता, मधुरता काव्योचित सरसता के भी स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनके वस्तु-विन्यास में प्रबन्धात्मक प्रौढ़ता की न्यूनता होते हुये भी उनकी भाषा में प्रसाद एवं प्रांजलता है।

हमारी दृष्टि में महाकवि भट्टि, रुय्यक की प्रणाली वाले चमत्कारवादी कवि हैं। इसीलिये कुछ आलोचक, 'भट्टिकाव्य' पर कृत्रिमता और आडम्बर के बाहुल्य का दोष लगाते हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि 'सहृदय-हृदयसंवेद्य' काव्य के सभी लक्षण और गुण उसमें विद्यमान हैं, किन्तु उन्हें कवि को विशेष प्रयोजन की दृष्टि से देखना चाहिये। एक तो कवि को अपने काव्य के सर्व-परिचित कथानक को मौलिक रूप में प्रस्तुत करना था, दूसरे व्याकरण के अत्यन्त जटिल नियमों और प्रयोगों के उदाहरण उपस्थित करने थे। ऐसे नितान्त कठिन कार्य का निर्वाह २२ सर्गों के विशाल महाकाव्य में मनोज्ञता मधुरता और सरसता के बीच रोचक सम्वाद और प्राकृतिक दृश्यों के आकर्षक चित्र अत्यन्त प्राञ्जल भाषा में अभिव्यक्त करके किया है। उदाहरणार्थ—

'न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः॥'

एकावली अलङ्कार का कैसा रमणीक उदाहरण है। सुहावने शरत्काल में ऐसा कोई सरोवर नहीं है जिसमें कमल न खिल रहे हों। ऐसा कोई कमल-पुरुष नहीं हैं जिस पर भ्रमर न विराजते हों। ऐसा कोई भ्रमर नहीं है जो गुञ्जार न कर रहा हो और ऐसी कोई गूंज नहीं है जो मन न हर लेती हो।

(५) कुमारदास

कुमारदास रचित 'जानकीहरण' भी संस्कृत का एक प्रसिद्ध महाकाव्य है। इनकी इस कृति पर कालिदास का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। किन्तु निम्नलिखित प्रमाणों के आधार पर इनका समय ६५० से ७५० ई० के बीच में प्रमाणित होता है।

सिंहल की जनश्रुति है कि ५१७ से ५२६ ई० तक कुमारदास ने वहाँ राज्य किया। कालिदास के 'रघुवंश' का प्रभाव भी 'जानकीहरण' पर स्पष्ट लक्षित होता है। पाणिनीय व्याकरण की प्रसिद्ध टीका 'काशिकावृत्ति' (६५० ई०) से कुमारदास अपना पूर्ण परिचय प्रकट करते हैं, साथ ही वामन ने ८०० ई० में अपने ग्रन्थ में 'जानकीहरण' से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। अतः कुमारदास का स्थितिकाल ६५० ई० से ७५० के मध्य में माना जाता है।

'जानकीहरण' में २५ सर्ग हैं। इसमें रामायण की कथा सुन्दर वर्णन शैली में कही गई है। कालिदास की भाँति इन्होंने भी वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है। अनुप्रास कवि का प्रिय अलङ्कार है। प्रसाद और सुकुमारता कुमारदास की कृति के श्रेष्ट गुण हैं। शब्द-सौष्ठव तथा छन्दों के ध्वनि सौन्दर्य के कारण इनकी कविता में

अपूर्व माधुर्य का संचार हुआ है । शिशिर के बीतने पर वसन्त ऋतु में रात्रि क्यों घटने लगती है और दिन क्यों बड़ा होने लगता है ? इस तथ्य पर कवि उत्प्रेक्षा करता है—

"प्रालेयकालप्रियविप्रयोगग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद ।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्तक्रूरातपश्रान्त इव क्लमेण ॥"

अपने शिशिर प्रियतम के विरह में व्याकुल होकर रात्रि क्रमशः क्षीण होती जाती है और वसन्त की कठोर धूप से श्रमित होकर दिवस भी रुक-रुक कर चलने लगता है । राजशेखर (९०० ई०) ने 'कुमारदास' की प्रशंसा इस प्रकार की है—

"जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमार दासश्च रावणश्च यदि क्षम.

रघुवंश के उपस्थित रहते हुये भी जानकीहरण करने की सामर्थ्य या तो रावण में थी या कवि कुमारदास में ।

(६) माघ

प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपाल-वध' के रचयिता माघ का स्थितिकाल कुछ लोग सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानते हैं तो अन्य आठवीं शताब्दी के मध्य में किन्तु पहिला समय अधिक समीचीन प्रतीत होता है । आनन्दवर्धन (८५० ई०) अपने 'ध्वन्यालोक' में 'शिशुपाल-वध' से उदाहरण रूप में दो श्लोक उद्धृत करते हैं । (३/५३, ५/२६) । इससे भी पूर्व राष्ट्र-कूटों के राजा नृपतुङ्ग (८२४ ई०) अपने कन्नड़ी भाषा के ग्रन्थ 'कविराज मार्ग' में माघ को कालिदास के समकक्ष स्वीकार करते हैं । इससे यह सिद्ध है कि नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माघ 'साहित्य जगत् में लब्धप्रतिष्ठ हो चुके थे । साथ ही ६२५ ई० के राजा वर्मलात का एक शिलालेख प्राप्त होता है, जो माघ के पितामह सुप्रभदेव के आश्रयदाता थे । सुप्रभदेव का समय यदि ६२५ ई० के लगभग था तो उनके पौत्र माघ का समय ६५० ई० से ७०० ई० तक माना जा सकता है ।

अन्तरंग प्रमाण के रूप में शिशुपाल-वध के दूसरे सर्ग का नीचे लिखा श्लोक दिया जा सकता है जिसमें राजनीति की तुलना शब्द-विद्या अर्थात् व्याकरण से की गई है—

'अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबंधना ।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ २/११२ ॥

इस श्लोक में 'काशिका-वृत्ति' और 'न्यास' नाम के व्याकरण-ग्रन्थों का संकेत मिलता है । वामन और जयादित्य ने 'काशिका-वृत्ति' की रचना ६५० ई० में की थी । उक्त श्लोक में 'न्याय' शब्द से ७०० ई० के जिनेन्द्र बुद्धि के 'न्याय' ग्रन्थ की ओर संकेत न होकर काणे महोदय के अनुसार बाण (६२० ई०) के 'हर्षचरित' में आये हुए 'न्याय' (कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि) के समान जिनेन्द्र बुद्धि से पहले

के ही 'न्यास' ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। अतः माघ का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही सिद्ध होता है।

यद्यपि कुछ सूक्ति-संग्रहों में माघ के नाम से दिये गये कई पद्य ऐसे मिलते हैं जो शिशुपाल वध में नहीं है, किन्तु आज तक माघ की कोई अन्य रचना उपलब्ध नहीं होती। शिशुपाल-वध की गणना 'बृहत्त्रयी' में की जाती है। माघ ने भारवि-कृत 'किरातार्जुनीय' को आदर्श मानकर उसका अनुकरण किया है। जैसा कि दोनों ग्रन्थों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है।

बीस सर्ग के शिशुपाल-वध में १६५० श्लोक हैं। कथाभाग यह है कि इन्द्र के भेजे हुए देवर्षि नारद श्रीकृष्ण को शिशुपाल का वध करने को प्रेरित करते हैं। बलराम तत्काल युद्ध छेड़ने की मन्त्रणा देते हैं और उद्धव युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में जाने के पक्ष में हैं। श्रीकृष्ण सेना सहित इन्द्रप्रस्थ की ओर चल देते हैं। मार्ग में रात हो जाने से रैवतक पर्वत पर सब विश्राम, जल-क्रीड़ा और वनविहार करते हैं। सूर्योदय होने पर श्रीकृष्ण ससैन्य यमुना पार करके इन्द्रप्रस्थ पहुँचते हैं। युधिष्ठिर उनकी अग्रिम पूजा करके उन्हें सम्मान देते हैं। शिशुपाल इसका विरोध करके युद्ध के लिये सेना को सन्नद्ध कर लेता है। अपने दूत से, गर्वयुक्त सन्देश भेजकर शिशुपाल युद्ध को अनिवार्य बना देता है। दोनों सेनाओं में युद्ध छिड़ जाता है। अन्त में श्रीकृष्ण अपने सुदर्शन चक्र से शिशुपाल का शीश काट देते हैं और उसका तेज कृष्ण के चरणों में ही समा जाता है।

माघ का सम्पूर्ण काव्य प्राञ्जल भाषा, प्रौढ़ शैली एवं उदात्त भावनाओं से ओतप्रोत है। प्रत्येक वर्णन आलङ्कारिक भाषा से जगमगा उठा है। अन्तः समूचा काव्य अत्यन्त मनोरम और प्रभावोत्पादक हो गया है। प्रत्येक सर्ग में ओजोगुणमयी कविता के विकास से अपूर्व छटा दिखाई देती है। प्रत्येक सर्ग में कुछ ऐसे श्लोक हैं जो नादसौन्दर्य, अर्थगौरव, भावसौष्ठव एवं विचारगाम्भीर्य से पूरित हैं। 'शिशुपाल-वध' के वर्णन बड़े स्वाभाविक, सालङ्कार एवं सजीव हैं। माघ का प्रकृति पर्यवेक्षण तो अद्भुत ही बन पड़ा है। विशाल हाथी के रूप में रैवतक पर्वत दर्शनीय है—

"उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि यातिचास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणे वलीलाम्॥ ४/१०

प्रभात की सुषमा का कैसा मनोज्ञ वर्णन है। ऊपर छिटकी हुई रज्जुरूपी रश्मियों से युक्त सूर्य एक ओर उदित हो रहा है, दूसरी ओर चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जा रहा है। रैवतक उस गजेन्द्र की शोभा धारण करता प्रतीत होता है, जिसके दोनों ओर दो शुभ्र घण्टे लटक रहे हों।' इस कल्पना के बल पर माघ को 'घण्टामाघ' की उपाधि मिली है। इसी प्रसंग की कमनीय कल्पना भी विचित्र है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरीवितीव करुणेन पक्षिणां विरुतेन वत्सलतयेव निम्नगाः॥४/४७॥

रैवतक पर्वतक की नदी रूपी कन्यायें जो अपने पिता की क्रोड़ में निःशङ्क लोटती थीं, आज सागर-मिलन रूप पतिसमागम के लिये जा रही हैं। पक्षियों के कलरव रूप में पिता का स्निग्ध हृदय वियोग से व्याकुल होकर क्रन्दन कर रहा है।

अब सानुप्रास पदावली की छटा देखिये-

"मधुरया मधुबोधितमाधवी मधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥" ६/२० ॥

माघ के शृङ्गारिक पदों की स्निग्धता भी बड़ी मोहक है—

"विपुलेन सागरशयस्यकुक्षिणा, भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये।
मदविभ्रमासकलयापपेपुनः पुरतस्त्रितैकतमयैकया दृशा ॥ १३/४० ॥

'प्रलयकाल में जिस कृष्ण के उदर में सारा संसार समा गया था उसे ही एक उत्कण्ठित युवती ने अपने अधखुले नेत्र के एक कोने से ही पान कर लिया।

"माघे सन्ति त्रयो गुणाः"

संस्कृत-साहित्य संसार में यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है—

"उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः (नैषधे) पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥"

कालिदास में उपमा की बहार देखने योग्य है, भारवि में अर्थगाम्भीर्य और दण्डी या श्रीहर्ष में पदों का लालित्य देखते ही बनता है, किन्तु माघ की कविता में तो इन तीनों गुणों का एकत्र सुभग दर्शन होता है।

कतिपय आलोचक पूर्वोक्त कथन को किसी माघभक्त पण्डित का अविचारित रमणीय उद्गार मानते हैं, परन्तु वास्तव में पूर्वोक्त आभणक में अधिकांश सत्य है। माघ में कालिदास जैसी उपमायें भले ही न हों, परन्तु इसमें न तो सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थगौरव की कमी। पदों का ललित विन्यास तो निःसन्देह प्रशंसनीय है। माघ की पद-शय्या इतनी रमणीय है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।

स्पष्टीकरण के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं:—

माघ में उपमा—यह तो सर्वमान्य है कि माघ जैसे पण्डित कवि संस्कृत साहित्य में सम्भवतः उंगलियों पर ही गिने जा सकते हैं। माघ जैसा विविध शास्त्रों का ज्ञान किसी कवि को नहीं। वह सर्वतोमुखी ज्ञान से सम्पन्न, सर्वतोमुखी प्रतिभा वाला कवि है। इसी अपने सर्वतोमुख वैदुष्य का प्रदर्शन माघ ने अपनी उपमाओं में किया है। यथा—

(१) अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥

यहाँ राजनीति की तुलना शब्द-विद्या (व्याकरण) से की गई है। जिस प्रकार 'अनुत्सूत्रपदन्यासा', 'सद्वृत्तिः,' 'सन्निबन्धना' होकर भी भाष्यरहित व्याकरण-विद्या

सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार सन्मार्ग से एक पग भी विचलित न होने वाली, समुचित जीविकादायिनी, पारितोषिक आदि की व्यवस्था से परिपुष्ट राजनीति भी 'अपस्पशा' (गुप्तचरों से रहित) होने पर, शोभा को नहीं प्राप्त होती। एक तो इसमें श्लेषानुप्राणित उपमा है, दूसरे माघ ने न्याय, वृत्ति, पस्पशा आदि पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के द्वारा अपने व्याकरण-ज्ञान का प्रदर्शन किया है। उक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि जहाँ माघ ने अपने शास्त्रीय ज्ञान के प्रदर्शन के लिये उपमा का उपयोग किया है, वहाँ उपमा का रंग जमाने के लिये भी शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग किया है।

इसका प्रमाण यह भी हो सकता है कि वर्ण्य-विषय कुछ दुरूह हो जाता है। वास्तव में उपमा अलङ्कार का प्रयोजन, उपयोग और प्रयोग वर्णनीय वस्तु (उपमेय) के विशदीकरण के लिये होता है, जिनके लिये प्रसिद्ध एवं सुबोध उपमान उपस्थित किया जाता है किन्तु माघ ने एक तो गाढबन्ध शैली अपनाई है' दूसरे शास्त्रीय उपमान चुने हैं और वे भी श्लिष्ट। स्वाभाविक फल यह होता है कि रसास्वाद, जो काव्य का वास्तविक प्रयोजन है, पाठक को कठिनाई से उपलब्ध होता है, अर्थावबोध में भी व्यवधान पड़ता है।

(२) यह केवल एक उदाहरण नहीं है। सम्पूर्ण काव्य ऐसे शास्त्रीय उपमानों से भरा पड़ा है। जैसे—द्वितीय सर्ग में ही—शिशुपाल के वर्णन प्रसंग में "निहन्त्य रीन् एकपदे य उदात्तः स्वरानिव" अर्थात् उदात्त चरित शिशुपाल एक ही चाल में अपने शत्रुओं को उसी प्रकार भगाता है, जिस प्रकार एक ही पद में विद्यमान उदात्त स्वर अन्य स्वरों को अनुदात्त बना देता है। अगले श्लोक में देव तथा पौरुष को शब्द और अर्थ की भाँति अनिवार्य सिद्ध करते हुये कवि कैसी सटीक उक्ति प्रस्तुत करता है—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥

जिस प्रकार विद्वान् शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार मनुष्य को भाग्य और पुरुषार्थ दोनों पर अवलम्बित रहना चाहिये, किसी एक पर नहीं। इस प्रकार इस उपमा के द्वारा माघ ने अपनी यह मान्यता प्रकट की है कि वह शब्द और अर्थ दोनों में काव्यत्व मानता है, केवल, किसी एक में नहीं, जैसा अन्य कतिपय आचार्य मानते हैं।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि माघ ने उपमाओं के द्वारा अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के साथ-साथ अपनी कला-प्रियता का भी परिचय दिया है। उन उपमाओं से यह जान पड़ता है कि माघ का वर्ण-ज्ञान कितना यथेष्ट और तीक्ष्ण है—नारद जी के वर्णन-प्रसंग में कवि कल्पना करता है—

नवानधोधो बृहतः पयोधरान् समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना॥

सजल जलधर के नीचे अवस्थित कर्पूर चूर्ण की भाँति श्वेत नारद जी वैसे

ही सुशोभित हुए, जैसे ताण्डव के समय गजासुर की खाल ओढ़े हुए भस्म से धवल भगवान् आशुतोष सुशोभित होते हैं। यह उदाहरण रंग के सम्बन्ध में उसकी पैनी दृष्टि का अत्यन्त चारु निदर्शन है।

पुनः श्रीकृष्ण के सामने बैठे हुए नारद की शोभा के वर्णन में कवि यह उपमा प्रस्तुत करता है—

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे।
चलत्पलाशान्तरगीचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिवनक्तमंशवः ॥

अर्थात् श्रीकृष्ण की कान्ति से मिलती नारद के शरीर कान्ति इस प्रकार सुशोभित हुई, जिस प्रकार वृक्ष के हिलते डुलते पत्तों के भीतर से जन्द्रमा की किरणें सुशोभित होती हैं।

इस सम्कन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों के मत में कालिदास की उपमाओं के समान माघ की उपमायें स्वाभाविक नहीं हैं। बात यह है कि कालिदास ने प्रसाद गुण और वैदर्भी रीति को अपनाया है। यद्यपि अपने ग्रन्थों में उन्होंने भी व्याकरण आदि के उपमान दिये हैं, किन्तु लोक के प्रसिद्ध दैनिक जीवन में उपमानों का ही बाहुल्य है। उनकी उपमायें कतिपय भागों में विभक्त की गई हैं, जबकि माघ की उपमायें सीमित नहीं हैं।

अर्थगौरव—अर्थगौरव का अर्थ होता है अर्थगाम्भीर्य अर्थात् सीमित क्षेत्र में स्वल्प शब्दावली में विपुल अर्थ भर देना। गागर में सागर भरना इसे कहा जाता है। इस अर्थगौरव के कारण कभी-कभी अर्थ काठिन्य भी हो जाता है।

दूसरे सर्ग में अनुष्टुप् छन्द में कवि ने अनेक शास्त्रों का मर्म कह डाला है। जैसे 'शब्दविद्येव नो भाति···" वाले उदाहरण में सीमित पदों से उसने सारे व्याकरण-शास्त्र और राजनीति शास्त्र के रहस्य को उद्घाटित कर दिया है। इसी प्रकार—

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः···"

वाले श्लोक में श्रुतिमण्डल, स्वर, ग्राम मूर्च्छना आदि का उल्लेख करके व्यापक संगीत ज्ञान का परिचय दिया है।

इसी प्रकार 'उदासितारं निगृहीतमानसैः।"

इस छोटे से वंशस्थ छन्द में सम्पूर्ण सांख्यशास्त्र को उपस्थित कर दिया है। इस अर्थगौरव में श्लेष ने भी बड़ा योगदान किया है।

पद-लालित्य—पद-लालित्य का आशय है कोमलकान्त पदावली का उपन्यास। न केवल शब्दों तथा पदों के ललित विन्यास में माघ निपुण थे, बल्कि रमणीक, नूतन, श्रुतिमधुर शब्दावली के तो मानो वे शिल्पी थे। उनके पदों में श्रुति मधुरता, संगीतात्मकता, पदों की नर्तनशीलता आदि सभी दृष्टिगोचर होती है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमर-संभ्रमसंभृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोडलकलोलदृशा ऽन्यया ॥

उक्त दोनों श्लोकों में ये वस्तुयें दृष्टव्य हैं—

(१) प्रथम में यमक का निर्वाह करते हुये कोमलकान्त, श्रुतिसुखद, मनोहर, नूतन, प्रसन्न पदों का उपन्यास किया गया है ।

(२) द्वितीय श्लोक में दीर्घ समासयुक्त रचना होते हुए भी मधुर पदों का संकलन किया है । कवि ने मेखला के कलरव को कमनीय शब्द का उपन्यास करके उसके यथार्थ रूप को चरितार्थ कर दिया है ।

(३) उन्हें पढ़ते समय जिह्वा को रंचमात्र भी कष्ट नहीं होता ।

(४) अर्थावबोध न होने पर भी कर्ण कुहरों में अमृत रस घोलने वाली मधुर शब्दावली पर्याप्त काव्यानन्द की वर्षा कर जाती है । यह उसका परम वैशिष्ट्य है ।

इस प्रकार यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है—"माघे सन्ति त्रयो गुणाः" । कथन की इसी युक्तता के कारण विद्वत्समाज में कहा जाता—"मेघे माघे गतं वयः" ।

अर्थात् मेघदूत और माघ अथवा शिशुपालवध में पूर्ण आयु चली गई ।

'शिशुपालवध' में चित्रित संस्कृति--

माघ का 'शिशुपालवध' २० सर्गों में विभक्त एक विशालकाय महाकाव्य है । इसमें महाभारत की एक छोटी सी घटना युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भगवान् कृष्ण द्वारा शिशुपाल का मारा जाना—को आधार बनाकर कवि ने कथानक का विस्तार किया है । उचित कथानक के आश्रय से इस महाकाव्य में कवि को तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक मानदण्डों को उपस्थित करने का पर्याप्त अवसर मिल गया है ।

माघ के इस महाकाव्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारतीय संस्कृति एक मोड़ पर थी । आदर्शवादिता पर क्रमशः यथार्थवादिता का रंग चढ़ता जा रहा था । लोगों में शनैः-शनैः सद्गुणों और आत्म-संयम की न्यूनता आती जा रही थी । इतना सब होने पर भी तपस्वी, त्यागी, आत्मसंयमी और सद्गुण सम्पन्न आदर्श व्यक्तित्व से युक्त लोगों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था । यहाँ तक नारद का दर्शन होने पर कृष्ण जैसे अवतारी पुरुष के मुख से भी कवि ने यही बतलाया है कि शरीरधारियों को नारद का दर्शन होना उनके वर्तमान-भूत-भविष्य के पुण्य से सम्भव और तीनों कालों में उनके उत्कर्ष के सूचक फल को प्रदान करने वाला है .

"हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीर-भाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥

कृष्ण जी ने नारद जी के आने पर जो स्वागत किया, वह केवल एक सामान्य अतिथि का न होकर उन गुणों के प्रति श्रद्धा, समादर का प्रदर्शन था जिनके नारद प्रतीक थे ।

'विलासप्रियता' की वृद्धि माघ के युग में ही चली थी। कृष्ण के बड़े भाई बलराम का सुरा-प्रेम तथा रेवती के प्रति अनुराग के सन्दर्भ मिलते हैं। अनेक सर्गों में कृष्ण के जल-विहार, पानगोष्ठी तथा रात्रि-क्रीड़ाओं के वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय नायकों एवं उच्चवर्गीय लोगों का असदाचरण बुरा नहीं समझा जाता था।

कृष्ण जब द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान करते हैं तो वे ससैन्य ही नहीं है बल्कि उनके साथ रमणियाँ भी हैं। मार्ग में रैवतक पर्वत पर उनके रुकने और शिविर में प्रवेश के अवसर पर घोड़ों एवं यानों से उतरती हुई स्त्रियों का सुन्दर वर्णन है। अगले सर्गों में उनके द्वारा पुष्पचयन, विभिन्न प्रकार के प्रसाधनों से शरीर का अलंकरण और दूती-प्रेषण का भी वर्णन है। पान-गोष्ठी एवं रात्रि में व्यक्त तथा प्रच्छन्न क्रीड़ाओं का भी स्पष्ट चित्रण है। इनसे यह व्यक्त होता है कि उस समय विलासप्रियता ऊँचे स्तर पर फैलती चली जा रही थी।

विलास की वृद्धि तभी होती है जब समाज की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है। तीसरे सर्ग में द्वारिका के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुये कहा गया है कि बाजारों में मणियों का ढेर लगा है, सागर-उर्मियाँ कभी-कभी अन्दर घुसकर इस रत्नराशि को चुरा ले जाती हैं। इन्हीं उपादानों से उसने 'रत्नाकरत्व' प्राप्त किया है।[1] एक स्थान पर वैदूर्य मणियों से जड़ी हुई दीवालों का वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी।

'शिशुपालवध' में हमें दो आपाततः विरोधी नैतिक आदर्श मिलते रहते हैं। इनके प्रतीक और आश्रय बलराम एवं उद्धव हैं। 'शिशुपालवध' पहले किया जाये या विविघ्न युधिष्ठर का यज्ञ समाप्त होने पर, इस समस्या पर दोनों में मतवैपरीत्य है। बलराम का कथन है कि शत्रु को पहले समाप्त करना चाहिये। उनकी दृष्टि में नीति के मौलिक तत्त्व दो हैं—

उद्धव बलराम की उच्छृङ्खलता के समर्थक न होते हुये भी यथार्थवादी हैं। उनकी नीति में युधिष्ठिर का आदर्शवाद उचित नहीं है। तत्काल शिशुपाल पर आक्रमण करने से रोकने का एक ही उद्देश्य है कि इस प्रकार युधिष्ठिर के यज्ञ में विघ्न डालकर कृष्ण पाण्डवों की भी सहानुभूति खो देंगे। स्पष्ट ही नैतिक दृष्टि से इस परामर्श का अधिक मूल्य नहीं है।

वस्तुतः इन दोनों के ही परामर्शों की आधार-भूमि एक ही आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की ओर अधिक उन्मुखता है। इसका चरमोत्कर्ष बलराम की नीति में ही है।

'सर्वः यथार्थं' समीहते' वाली प्रवृत्ति इस युग में प्राधान्य ग्रहण कर रही थी। इस प्रकार भारतीय संस्कृति यथार्थवादिता की ओर बढती जा रही थी।

---

१. शिशुपालवध ३/३८
शिशुपालवध ३/४३
(१) अपना उत्कर्ष, (२) शत्रु का अपकर्ष।

कृष्ण में हमें यथार्थ और आदर्श का समन्वय प्राप्त होता है। यही कारण है कि उत्कर्ष और अपकर्ष के अनेक युगों में, लम्बी लम्बी यात्रायें कर चुकने पर भी भारतीय संस्कृति की जीवनी अक्षुण्ण बनी रही है।

(७) रत्नाकर

काश्मीरी कवि रत्नाकर द्वारा विरचित 'हरविजय' संस्कृत के महाकाव्यों में सबसे विशालकाय महाकाव्य है। अमृतभानु के पुत्र रत्नाकर काश्मीर के राजा चिप्पट जयापीड़ (७७९ से ८१३ ई० तक) के राजकवि थे। अत्यन्त मेधावी होने से जयापीड़ 'बालबृहस्पति' कहलाते थे। कल्हण ने 'राजतरङ्गिणी' में राजा अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (८५५ से ८८४ ई०) में उनके अत्यन्त प्रसिद्ध होने का वर्णन किया है। 'बालबृहस्पति' के आश्रम में रहने के बाद अवन्तिवर्मा के राज्यकाल तक वे बहुत वृद्ध हो गये होंगे और उस समय तक बहुत ख्याति प्राप्त कर चुके होंगे। रत्नाकर के लिखे हुये ग्रन्थों में 'हरविजय' के अतिरिक्त दो ग्रन्थ और मिलते हैं—'वक्रोक्ति-पंचाशिका' और 'ध्वनिगाथापंजिका'।

'हरविजय के पचास सर्गों में ४३२० श्लोक हैं। इसमें शिव द्वारा अंधकासुर के वध की कथा बड़े विशद रूप में में वर्णित है। शिवजी के नेत्रों को लीलापूर्वक पार्वती जी ने बन्द कर लिया। अतः शिव से दृष्टिहीन अन्धक की उत्पत्ति हुई। उग्र तपस्या करके शिव से दृष्टि प्राप्त की और अन्धक त्रिलोक का अधिपति बन गया। अन्त में शिव को उसका वध करना पड़ा। कथानक तो छोटा है, किन्तु उसका वर्णन विस्तृत ढंग से करके कवि ने ग्रन्थ को विपुलकाय कर दिया है। ग्यारह सर्गों में तो शिव के सचिव अन्धकासुर के वध के लिये परामर्श ही करते रहते हैं। शिवगणों का विहार १३ सर्गों में है। शिव के दूत और अंधकार में सात सर्गों तक संवाद होता है और चार सर्गों में शिव-वाहिनी युद्ध के लिये तैयार होती है। 'हरविजय' पर माघकाव्य का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देता है। रत्नाकर ने भी माघ के समान श्री शब्द की भाँति एक शब्द विशेष 'रत्न' का प्रयोग प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में किया है। यह बात ध्यान रखने की है कि माघ ने अपने काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'श्री' का प्रयोग भारवि द्वारा अपने काव्य के प्रत्येक सर्गान्त में 'लक्ष्मी' शब्द के प्रयोग के अनुकरण पर किया है। माघ ने अपने काव्य के लिये 'लक्ष्मीपते-श्चरितकीर्तनमात्रचारु' पदवी का प्रयोग किया है तो रत्नाकर ने शिवभक्त होने के नाते हरविजय काव्य को 'चन्द्रार्धचूड़चरिताश्रयचारु' कहा है। कवि ने अपने काव्य के विषय में बड़ी प्रभावात्मक गर्वोक्ति का प्रयोग किया है—

"ललितमधुराः सालंकाराः प्रसादमनोहराः
विकटयमकश्लेषोद्गारप्रबन्धनिरर्गलाः।
असदृशगतीश्चित्रमार्गे मगोद्गरतो गिरो,
न खलुनृपतेश्चेतो वाचस्पतेरति शङ्कते॥"

इस महाकाव्य में नीतिशास्त्र, शैवदर्शन, इतिहास पुराण, ज्योतिष, व्याकरण;

कामसूत्र आदि विविध विषयों के सम्यग् बोध के सर्वत्र दर्शन होते हैं । साथ ही नाट्य, संगीत और चित्र कलाओं की वैज्ञानिक जानकारी के साथ अलंकारशास्त्र का सच्चा ज्ञान लक्षित होता है । वसन्ततिलका रत्नाकर का प्रिय छन्द है । राजशेखर ने तो यह कह डाला कि ब्रह्मा ने चार रत्नाकरों (सागरों) को प्रर्याप्त न समझा तभी पाँचवें रत्नाकर रूप कवि को उत्पन्न किया—

मा स्म सन्तु हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे ।
इतीव निर्ममे धात्रा कवी रत्नाकरोऽपरः ।।

युद्ध-भूमि में एक हाथी का वर्णन इस प्रकार है—

"युधि धावतः प्रतिगजाभिमुखं पुनरप्यधाद् गजपतेः सहयः ।
दलिताश्रयः सपदि केतुपटः पतितो मुखे पृथुमुखच्छदताम् ।।

एक विशालकाय हाथी क्रुद्ध होकर शत्रुपक्ष के हाथी की ओर वेग से दौड़ा । शत्रु के हाथी की टूटी हुई ध्वजा का वस्त्र गिर पड़ने से ऐसा लगा मानो उसने सलज्जभाव से अपने मुख को एक बड़े पर्दे से ढक लिया हो ।

(द) हरिचन्द्र

जैन महाकाव्यों में 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक २१ सर्ग का महाकाव्य विशेष उल्लेखनीय है । इसके रचयिता हरिचन्द्र ११वीं शताब्दी के लगभग माने जाते हैं । 'धर्मशर्माभ्युदय' में १५वें तीर्थङ्कर धर्मनाथ की जन्म से निर्वाण पर्यन्त कथा वर्णित है । यह काव्य वैदर्भी रीति में लिखा गया है । भारवि और माघ के समान हरिचन्द्र ने भी अपने काव्य के १९वें सर्ग में चित्रालङ्कारों का बहुत अधिक प्रयोग किया है । काव्य में माधुर्य एवं प्रसाद गुण का ललित प्रयोग मिलता है । सरल पदावली का मधुर गुम्फन दर्शनीय है ।

सकर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः ।
श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं व्यधत्त ।।"

यह तो हुई 'धर्मशर्माभ्युदय' के काव्यामृत में रस और ध्वनि के प्रयोग की बात, साथ ही परवर्ती साहित्य पर भी इस काव्य का समुचित प्रभाव पड़ा है । वाग्भट्ट के 'नेमिनिर्माण' काव्य, पर जो बारह सौ (१२००) ईसवी का लिखा हुआ है, धर्मशर्माभ्युदय' का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है । सुभाषित संग्रहों में भी हरिचन्द्र के श्लोक उद्धृत किये मिलते हैं । 'सदुक्तिकर्णामृत' में हरिचन्द्र महाकवियों की श्रेणी में गिनाये गये हैं—

"सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे नरमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम् ।
विशुद्धोक्तिः सूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिरः,
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ।।"

गद्य लेखक 'भट्टार हरिचन्द्र', 'जीवनधरचम्पू' के लेखक ९०० ई० वाल हरिचन्द्र, साहसांक नामक राजा के वैद्य तथा 'चरक संहिता' के टीका लेखक हरिचन्द्र

तथा प्रयाग के अशोक स्तम्भ वाला प्रशस्ति के लेखक हरिषेण आदि से 'धर्मशर्माभ्युदय' के लेखक हरिचन्द्र सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं।

(९) कविराज

"राघवपाण्डवीय" महाकाव्य के कर्ता कविराज का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी माना जाता है। वे जयन्तपुरी के कदम्ब राजा कामदेव (११८२–९७) के सभा पण्डित थे। उनका नाम माधव भट्ट था और कविराज, सूरी, पण्डित आदि उनकी उपाधियाँ थीं। 'राघवपाण्डवीय' एक अद्भुत महाकाव्य है। इसके प्रत्येक श्लोक में श्लेष द्वारा रामायण और महाभारत की कथा का साथ-साथ वर्णन किया गया है। इस महाकाव्य का अनेक कवियों ने अनुसरण किया है। हरदत्त सूरि ने 'राघवनैषधीय' में राम और नल की कथा एक साथ लिखी है। चिदम्बर ने राघव यादव-पाण्डवीय' में रामायण, भागवत और महाभारत की कथाओं का एक साथ वर्णन किया है। विद्यामाधव ने 'पार्वती-रुक्मिणीय' में शिव-पार्वती और कृष्ण-रुक्मिणी के विवाहों को एक साथ लिख दिया है। वैंकटाध्वरि ने तो तीस श्लोकों के 'यादवराघवीय' में सीधे पढ़ने से राम की और उल्टे पढ़ने से कृष्ण की कथा लिख दी है। इसमें वर्णित शाब्दिक कुतूहल संस्कृत के अतिरिक्त संसार की अन्य किसी भी भाषा में नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक दर्शनीय है—

"नृपेण कन्यां जनकेन दित्सितामयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे।
द्विजप्रकर्षेण स धर्मनन्दनः सहानुजस्तां भुवमप्यनीयत॥"

रामायण के प्रसंग के अनुसार इसका अर्थ यह होगा—

'धर्म को आनन्द देने वाले राम अपने छोटे भाइयों के साथ ऋषिश्रेष्ठ विश्वामित्र के द्वारा स्वयंवर में 'मिथिला' को लाये गये जहाँ उन्होंने राजा जनक की विवाह योग्य अयोनिजा कन्या सीता को प्राप्त किया।' महाभारत के अनुसार श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा—

धर्म के पुत्र (युधिष्ठिर) अपने छोटे भाइयों के साथ ऋषिश्रेष्ठ (वेदव्यास) के आदेश से स्वयंवर में (पांचाल) को गये। जिससे उन्होंने नृप-पिता (नृपद्रुपद) की विवाह योग्य अयोनिजा कन्या (द्रौपदी) को प्राप्त किया।

(१०) श्रीहर्ष

श्रीहर्ष १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए। आलङ्कारिक शैली के क्षेत्र में अद्वितीय इस महान् कवि ने उद्घोषणा की थी कि सुकुमार वस्तु वाले साहित्य न्याय की गुत्थियों से उलझे हुए दर्शन के क्षेत्र में मेरी भारती, समान विलास करती है। उन्होंने यह कह दिया था कि मैं काव्य में ऐसी ग्रन्थियाँ रख दूंगा जिससे बालिश लोग पढ़ने का प्रयत्न न कर सके। इनका 'नैषध-चरित्र' संस्कृत साहित्य का एक अमूल्य ग्रन्थ है, जिसमें सभी कुछ अपनी अन्तिम सीमा को पहुँच चुका है। इसमें २२ सर्गों में नल-दमयन्ती के प्रेम एवं विवाह की कथा बड़ी सरल शैली में वर्णित है। कालिदास की भाँति श्रीहर्ष ने भी अपनी कविता का कथानक पौराणिक स्रोत से ही लिया है

और उस पर अपनी प्रखर प्रतिभा की छाप डाल दी है। अलङ्कारों का अतिरञ्जित वर्णन 'नैषध-चरित्र' के उपरान्त संस्कृत में कोई उल्लेखनीय महाकाव्य नहीं मिलता। इसके बाद काव्य-साहित्य में, गीति, शतक, स्तोत्र और संग्रह आदि का प्राधान्य रहा।

श्रीहर्ष ने अपने जीवन पर कुछ प्रकाश डाला है। 'नैषधीय चरित' के प्रत्येक सर्ग के अन्त में श्रीहर्ष ने अपने माता-पिता और कहीं-कहीं अपने ग्रन्थों का उल्लेख किया है। श्रीहीर इनके पिता का नाम था और माता मामल्लदेवी थीं। यह कन्नौज के राजा जयचन्द राठौर के सभा-पण्डित थे। इन्हें बड़ा सम्मान प्राप्त था। 'कान्यकुब्जेश्वर' महाराज जयचन्द स्वयं इन्हें आसन और पान के दो बीड़े दिया करते थे—

'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।

जयचन्द ने ११६९ से ११९५ ई० तक राज्य किया। अतः श्रीहर्ष का समय १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही है। इन्होंने अन्य अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम इस प्रकार हैं —'खण्डनखण्डखाद्य', 'स्थैर्यविचारण', 'श्रीविजयप्रशस्ति', 'छिन्द-प्रशस्ति', गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति', 'नवसाहसांकचम्पू', 'अवर्ण-वर्णन' और शिवशक्ति (भक्ति) सिद्धि।'

श्रीहर्ष अत्यन्त प्रभावशाली कवि और अद्भुत् विद्वान् थे। काश्मीर तक उनके पाण्डित्य की कीर्ति-कौमुदी फैल गई थी, जो उस समय संस्कृत शिक्षा का केन्द्र था। 'नैषध' में २२ सर्ग हैं जिनमें नल-दमयन्ती के प्रणय और विवाह की कथा रस-सिक्त शैली में वर्णित है। पौराणिक स्रोत से कथा ग्रहण करके अपनी प्रतिभा के बल पर काव्य-सौन्दर्य को संवारते हुए कवि ने अलङ्कारों का बड़ा रुचिकर प्रयोग किया है। सरस पद-शय्या भावों का उचित निर्वाह, ऊँचे उड़ान वाली कमनीय कल्पना और प्रकृति का जीता जागता चित्रण नैषध में यथेष्ट रूप में विद्यमान है। एक ही विषय का कई श्लोकों में वर्णन मिलता है। किन्तु शब्द और अर्थ की नवीनता और दोनों का मनोहर सामञ्जस्य 'नैषध' में सर्वत्र दर्शनीय है। दमयन्ती के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीररवनीरवनीलिमा" ॥२/२५॥

प्रतीत होता है, ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिये चन्द्रमा को निचोड़कर उसका सार भाग खींच लिया है। इसीलिये बीच में छिद्र हो जाने से उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखाई देती है।

दमयन्ती नल को वरण करने की अपनी कामना को बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त करती है—

"मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपदं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणिमहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा ॥३/५१॥

'जिस मनोरथ को मन नहीं त्यागता, जिसे मैंने हृदय में धारण कर लिया है,

वह मनोरथ मेरे कण्ठ-पथ में कैसे आ सकता है ! मन की बात वाणी कैसे कहे ? हे हंस ! कौन कुल-बाला राजा (नल) से पाणिग्रहण होने की अभिलाषा अपने मुख से कहने की धृष्टता कर सकती है ? (या कौन बाला चन्द्रमा को हाथ से ग्रहण करने की इच्छा कर सकती है ?) ।

दोष—काव्य-सौन्दर्य क होते हुए भा 'नषध' में अनेक दोष हैं । द्वितीय सर्ग में कवि हंस के मुख से दमयन्ती के लावण्य का वर्णन करा चुका है, फिर भी पूरे सातवें सर्ग में दमयन्ती का नख-शिख वर्णन भर दिया जाता है । दसवें सर्ग में स्वयंवर के समय पुनः इस वर्णन का पिष्ट-पेषण किया जाता है । 'महाभारत' के नलोपाख्यान में नल-दमयन्ती का शुद्ध सात्विक प्रेम वर्णित है जिसे श्रीहर्ष विलास-वासना में सराबोर कर देते हैं । साथ ही 'नैषध' में नल के निर्वासित जीवन की करुण एवं मार्मिक दशाओं का चित्रण नाम को भी नहीं है, जो महाभारत में भी पूर्ण रूप से मिलता है । कहा जाता है कि मम्मट ने जब 'नैषध' पढ़ा तो बोले कि 'काव्य-प्रकाश' लिखते समय यदि यह ग्रन्थ मिला होता तो दोषों को ढूंढने में मुझे अधिक यत्न न करना पड़ता, सब दोष एकत्र मिलने पर भी, वस्तुतः क्लिष्टता और अश्लीलता होते हुए भी 'नैषध' में इतने गुण हैं कि बृहत्त्रयी में इसे समुचित सम्मान प्राप्त है ।

नैषध की संस्कृति—संस्कृत महाकाव्यों में श्री हर्षचरित 'नैषधीय-चरित' का अपना विशिष्ट स्थान है । श्रीहर्ष के समय के कुछ पश्चात् उत्तरी भारत को मुसलमानों से टक्कर लेनी पड़ी । श्रीहर्ष के समय तक देश पर मुसलमानों के भय की तिमिरच्छाया नहीं पड़ी थी । अतएव इस महाकाव्य में भारतीय संस्कृति का विशुद्ध रूप देखने को मिलता है । वैसे तो नैषध का कथानक पुराणों से उद्धृत है, किन्तु इसके माध्य से कवि ने तत्कालीन संस्कृति का भी विवेचन किया है क्योंकि "The poet and the age rract upon each other.

नैषधानुसार तत्कालीन समाज में वर्णाश्रम-धर्म पूर्णतया प्रतिष्ठित था । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चारों वर्ण और आश्रम अपनी-अपनी मर्यादा के पालनार्थ पूर्णतया सचेष्ट थे ।

ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी गुरु के पास रहकर भिक्षाटन द्वारा वृत्ति चलाते हुए विद्याध्ययन करते थे । ब्रह्मचारी मौञ्जी मेखला पहनते तथा दण्डकमण्डल धारण करते थे । अध्ययनार्थ हस्तलिखित पुस्तकों का प्रचलन हो चुका था । पढ़ने के समय खड़िया (Chalk) एवं पट्टी व्यवहार में लाई जाती थी । प्राचीन प्रथानुसार गृहस्थ घर बनाकर रहते थे । वानप्रस्थी घर त्यागकर वन में चले जाते थे । पूजा-पाठ-सन्ध्या का प्रचलन था । शिव, विष्णु और शालिग्राम की पूजा विधान से विहीन होती थी दशावतारों के साथ कृष्णप्रिया राधा की भी पूजा होने लगी थी । गृहस्थाश्रम सर्व-श्रेष्ठ माना जाता था । अतिथिसत्कार का बड़ा महत्त्व था । शिष्टाचार के अनुसार अतिथि के आने पर सर्वप्रथम नमस्कार अथवा प्रिय वचनों से कुशलक्षेम पूछी जाती

थी। वानप्रस्थाश्रम में भी अतिथि-सत्कार का माहात्म्य अधिक था। समाज में ब्राह्मणों का विशेष सम्मान था। क्षत्रिय वर्ण प्रायः राजा हुआ करते थे।

राजाओं में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। शत्रु के साथ निर्दय व्यवहार करने का भी उल्लेख है।

नैषध में वैश्य वर्ण का उल्लेख प्रायः नहीं हुआ है। परन्तु देश में वाणिज्य-व्यापार के विषय में स्थान-स्थान पर जो उल्लेख हैं उनसे देश की सम्पन्नता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। शूद्रवर्ण को वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं था। चारों वर्णों से बहिष्कृत और 'चाण्डाल' का उल्लेख है। दास प्रथा भी प्रचलित थी और स्वयंवर में प्रायः कलह हुआ करती थी। स्वयंवर का बड़े विशाल रूप में मेला-सा लग जाता था। दूर-दूर के लोग आते थे। वार्तालाप का माध्यम संस्कृत भाषा थी। स्वयंवर के अन्त में कन्या जिसे वरण करती थी उसके गले में दुर्वांकुर से सुशोभित मधूक माला डालती थी। स्वयंवर के पश्चात् विवाह संस्कार श्रुति और स्मृति की विधि से सम्पन्न किया जाता था। विवाह के अवसर पर वीणा, शहनाई, घण्टा, ढोल, मृदंग, झंझरी, वंशी, हुडुक, डफला आदि बाजा बजने का उल्लेख है। स्त्रियाँ मंगलगान करती थीं। वर-यात्रा भी धूमधाम से प्रायः रात में निकाली जाती थी। विवाह के अवसर पर कन्या का पिता वर को दहेज में अनेक उपहार भेंट करता था। सगे-सम्बन्धियों द्वारा भी उसे अनेक बहुमूल्य दहेज दिये जाते थे।

लज्जा स्त्रियों का अभूषण माना जाता था। चरित्र की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पतिव्रत धर्म की विशेष प्रतिष्ठा थी। स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। सतीप्रथा का प्रचार था। पर्दाप्रथा भी पूर्ण प्रचलन में थी। व्यभिचारिणी स्त्रियाँ हेय-दृष्टि से देखी जाती थीं। उस समय ऐसी प्रथा थी कि व्यभिचारिणी स्त्रियों के सिर के केश काटकर उन्हें घर से बाहर निकाल दिया करते थे।

"नैषधीय चरित' में विविध प्रकार के भोजन, वस्त्र, अलङ्कारों का उल्लेख है। शरीर में सुगन्धित अङ्गराग, कुंकुम, कस्तूरी, चन्दन आदि लगाने का बड़ा प्रचलन था। पुरुष भी आभूषण पहनते थे। शृङ्गार के समय दर्पण काम में लाये जाते थे। स्त्रियों के आभूषण रंग-बिरंगे रत्नों से जड़े होते थे। स्त्रियों के समान पुरुषों के केश लम्बे होते थे। मुलम्मे लगे एवं नकली आभूषण भी बनते थे।

श्रीहर्ष के समय में भारतीय चित्रकला व संगीत-कला पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। तत्कालीन उन्नत चित्रकला का उदाहरण अनेक स्थानों पर मिलता है। राज्य प्रासाद तो सुन्दर चित्रों से सुसज्जित किये जाते थे। साधारण घरों में चित्र दीवारों पर लगाये जाते थे। सङ्गीत का भी विशेष प्रचार था। सङ्गीत की नृत्य, गीत, वाद्य तीन शाखाओं का पूर्ण विकास था। सुन्दरियों को गायन-वाद्य की उचित शिक्षा दी जाती थी। ये गायन नृत्य का व्यवसाय भी करती थीं। भरतमुनि द्वारा विरचित नाट्यशास्त्रानुसार लिखी नाटिकायें राज प्रांगण में खेली जाती थीं। पुत्तलिका नत्य का भी प्रचलन था।

'नैषध' में सामाजिक जीवन का भी पूर्ण चित्रण अन्य पहलुओं सहित किया गया है। शिष्टाचार का समाज में पूरा ध्यान रहता था। आचारहीन पुरुष हेय था। पितरों के प्रति श्रद्धा थी, यज्ञों का पूर्ण प्रचार था। जगन्नाथ जी, प्रयाग, बद्रिकाश्रम आदि तीर्थों की यात्रायें श्रद्धापूर्वक की जाती थीं। कुछ लोग जादू-टोने, भूत-पिशाचों, शकुन विचारादि में विश्वास करते थे।

बौद्ध धर्म में आस्था अति न्यून हो गई थी। वैदिक धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो चुका था। महात्मा बुद्ध की विष्णु के अवतार के रूप में पूजा होने लगी थी। विहारों तथा चैत्यों में भगवान् बुद्ध की पूजा करने वाले पुण्य के भागी माने जाते थे।

परवर्ती कवि और महाकाव्य

यद्यपि श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्' के साथ ही संस्कृत के कलात्मक महाकाव्यों के युग का अन्त हो जाता है, ऐसी मान्यता अधिकांश विद्वानों की है, किन्तु मध्यकालीन और आधुनिक कतिपय महाकाव्यों को देखने से उपर्युक्त धारणा सही नहीं प्रतीत होती। यह हो सकता है कि अधिकांश परवर्ती काव्य रघुवंश, शिशुपालवध या नैषध के स्तर के न हो, किन्तु उनमें कुछ ऐसे अवश्य हैं जो महाकाव्य की यथोचित गरिमा से युक्त होने के साथ ऊँचे दर्जे का कवित्व भी रखते हैं। सच तो यह है कि संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा का प्रवाह कभी मन्द तो कभी तीव्र गति से बढ़ता हुआ आज के युग तक चला आया है और उस पर, विशेषकर आधुनिक महाकाव्यों पर, समय का प्रभाव भी पड़ता रहा है। ऐसे ही कुछ महाकाव्यों का परिचय दिया जा रहा है। जिनमें से क्षेमेन्द्र, श्रीहर्ष से पहले के है—

क्षेमेन्द्र—११वीं शती के काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र संस्कृत के प्रतिभाशाली महाकवियों में अन्यतम हैं। मात्रा की दृष्टि से उन्होंने व्यास के बाद सबसे अधिक लिखा है। उनकी लगभग ६५ रचनाओं में तीन महाकाव्य हैं—(१) रामायणमञ्जरी (२) महाभारतमञ्जरी और (३) दशावतारचरितम्। दो विशालकाय वृत्तियाँ हैं—(१) बृहत्कथामञ्जरी और (२) बोधिसत्त्वादान कल्पलता। क्षेमेन्द्र की भाषा सरल, सरस और प्राञ्जल है और शैली श्लक्ष्ण। कथा को संक्षिप्त रूप देने में उनकी कोई तुलना नहीं।

वेंकटनाथ—अपर नाम वेदान्तदेशिक (१३वीं शती) लगभग १५० दार्शनिक एवं अन्य प्रकार के ग्रन्थों के रचयिता महाकवि वेंकटनाथ रामनुज सम्प्रदाय के सबसे बड़े विद्वान् हैं। इनका 'यादवाभ्युदय' नामक महाकाव्य कृष्ण-कथा को लेकर लिखा गया उच्चकोटि का काव्य है। इसमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक प्रधानता मिली है।

अमरचन्द्रसूरि—(१२४३–६० ई०) यह महाकवि जैनधर्मावलम्बी तथा अणहिलपट्टन के राजा वीसलदेव का सभा-पण्डित था। इसका लिखा हुआ 'बालमहाभारत' नामक महाकाव्य ४४ सर्गों में महाभारत की कथा का संक्षेप में वर्णन करता है। इसकी भाषा और शैली सरल और सरस है।

वीरनन्दिन्—(१३०० ई०) ये प्रसिद्ध जैनकवि हैं। इन्होंने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'चन्द्रप्रभचरित' में सातवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ के चरित्र को बड़ी ही सरस भाषा तथा प्रसन्न शैली में प्रस्तुत किया है।

वस्तुपाल—(१३वीं शती) ये गुजरात के राजा वीरधवल के प्रद्धिस मन्त्री और जैनधर्मावलम्बी थे। इन्होंने १६ सर्ग के अपने महाकाव्य 'नरनारायणानन्द' में कृष्ण और अर्जुन के साथ-साथ उनसे सम्बद्ध अन्य घटनाओं का भी वर्णन किया है। काव्य उच्चकोटि का है।

कृष्णानन्द—(१४वीं शती) ये उड़ीसा के निवासी थे। इनके काव्य या 'सहृदयानन्द' है। इसके १५ सर्गों में नल-दमयन्ती की कहानी बड़ी ही सरस भाषा में गुम्फित है।

नीलकण्ठ दीक्षित—(१७वीं शती) ये प्रसिद्ध दार्शनिक और काव्यशास्त्री अप्पय-दीक्षित के पौत्र तथा मध्यकालीन दाक्षितात्य कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनके प्रसिद्ध महाकाव्य का नाम 'शिवलीलार्णव' हैं, जिसमें २२ सर्गों में भगवान शङ्कर की सरस लीलाओं का वर्णन अत्यन्त सुन्दर शैली में किया गया है। कवि वक्रोक्ति का धनी है।

उमापति द्विवेदी—(बीसवीं शती) द्विवेदी जी आधुनिक काल में संस्कृत कवियों में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। इनका 'पारिजातहरणम्' नामक महाकाव्य २१ सर्ग में सत्यभामा के लिए कृष्ण के द्वारा पारिजात लाए जाने की पौराणिक कथा को प्रौढ़ शैली में प्रस्तुत करता है। इसकी भाषा-शैली पर माघादि अलंकृत काव्यों का प्रभाव बहुत है। चित्रालङ्कारों का प्रयोग पूरे एक सर्ग है;

डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी—(बीसवीं सती)—डॉ० द्विवेदी बीसवीं शती के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री एवं प्रतिभाशाली कवि हैं। ये सम्प्रति काशी हिन्दी विश्वविद्यालय के प्राच्यमहाविद्यालय में साहित्य-विभाग के अध्यक्ष हैं। इन्होंने काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों पर व्याख्या लिखने के साथ ही स्वतन्त्र रूप से भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ (काव्यालङ्कारकारिका) का निर्माण किया है। इनके काव्यग्रन्थों में 'सीताचरितम्' महाकाव्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह अपने १० सर्गों में भगवती सीता के अत्युदात्त चरित्र को अत्यन्त उदात्त और भव्य शैली में प्रस्तुत करता है। इसमें सीता के चरित्र को एक सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(आधुनिक काल के अन्य कवियों और महाकाव्यों के लिए ऐतिहासिक महाकाव्य वाले अगले अध्याय को देखें)।

महाकाव्यों की विशेषतायें—

(१) संस्कृत महाकाव्य ई० की प्रथम शती से अत्यन्त विकसित एवं प्रौढ़ रूप से प्राप्त होता है।

(२) अधिकतर संस्कृत महाकाव्यों में समाज के प्रथम वर्ग (राजघरानों) का ही चित्रण हुआ है।

(३) विलास, वैभव और शृङ्गार रस से ओत-प्रोत संस्कृत महाकाव्य एक अपनी ही विशेषता रखता है।

(४) पाण्डित्य की विविध शाखायें, कल्पनाओं के विचित्र रूप, कलाओं की विविधता, दर्शन के विविध सिद्धान्त, व्याकरण के सूक्ष्म प्रदर्शन आदि सभी की समष्टि संस्कृत महाकाव्यों में परिलक्षित होती है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य को विशेष सम्पन्न और समृद्ध करने में महाकाव्यों का अपना विशिष्ट स्थान है। काव्य के नैसर्गिक एवं कृत्रिम सभी रूपों का चरम-विकास संस्कृत महाकाव्यों में हुआ है। संस्कृत महाकाव्य विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है।

———

अध्याय

८ ऐतिहासक महाकाव्य

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों एवं भारतीय आलोचकों की यह धारणा है कि संस्कृत साहित्य में वास्तविक इतिहास-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ ही नहीं। उनकी दृष्टि में संस्कृत-साहित्य के इतिहास सम्बन्धी विवरणों में भी तिथि और घटनाओं के रूप में ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है और उनमें मुख्य रूप से भाषा-सौष्ठव एवं वर्ण-वैचित्र्य को प्रधान स्थान प्रदान किया गया है। उनमें ऐतिहासिक तथ्यों का उतनी दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन नहीं किया गया है जितना कि अपेक्षित था। यहाँ तक कि संस्कृत साहित्य के सर्वाङ्गीण विषयों जैसे दर्शनशास्त्र, राजनीति, पुरुषार्थ, साहित्य आदि का भी इतिहास अनुपलब्ध है[1], परन्तु इन पाश्चात्य आलोचकों का संस्कृत के इतिहास-ग्रन्थों की समीक्षा का दृष्टिकोण कुछ पक्षपातपूर्ण एवं भ्रान्त है। इतिहास के आधुनिक ग्रन्थों को आदर्श मानकर संस्कृत के इतिहास-ग्रन्थों की समीक्षा करना युक्ति-संगत नहीं है।

भारतीय आदर्श के अनुसार इतिहास का उद्देश्य तिथियों अथवा घटना-चक्रों का ही विवरण नहीं होता। उसका उद्देश्य और भी गम्भीर एवं उदात्त होता है। तिथियाँ घटनाचक्र तो इतिहास के ध्वंसावशेषों के कंकड़-पत्थरों की भाँति हैं। वे जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों तथा राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में किंचित भी योग-दान नहीं कर सकते। वे तो केवल ऐहिक जीवन के नीरस तथा सारहीन उपकरण-मात्र हैं।

प्राचीन काल के भारतीय विद्वान् ऐहिक जीवन को प्रधानता नहीं देते थे। उनकी दृष्टि में क्षणभंगुर जीवन से सम्बद्ध तिथियों तथा घटनावलियों का मानव के शाश्वत एवं चिरन्तन आदर्शों से कोई समन्वय नहीं हो सकता था।

भारतीय विद्वान् आधुनिक अर्थ में इतिहास के प्रणयन की ओर इतने अन्य-मनस्क क्यों रहे, इसके अनेक कारण हैं।

(१) भारतीयों का अपना विशेष दृष्टिकोण था। भारतीयों की दार्शनिक विचारधारा सांसारिक उन्नति को वास्तविक उन्नति नहीं मानती। उनकी दृष्टि में

---

१. कीथ (ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर) पृष्ठ १४७

"दिस इन्डिफरेन्स टु क्रोनोलोजी, इज सीन एवरी-ह्वेयर इन इण्डिया, एण्ड मस्ट बी डेफिनिट्ली कनेक्टेड, इन दी अल्टीमेट इफ विद दी क्वाइट सेकण्डरी करेक्टर ऐज़ूकाइज्ड टु टाइम बाई दी फिलोसीफीज।"

संसार असार है। वे पारलौकिक विषयों में अधिक आस्था रखते हैं इसी कारण तिथियों तथा घटनाओं को उन्होंने विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया है।[1]

(२) भारतीयों ने कर्म-सिद्धान्त एवं भाग्यवाद को प्रधानता प्रदान की है। उनके अनुसार संसार की सारी घटनायें पूर्व-जन्म के संचित कर्मों के फल के अनुसार घटित होती रहती हैं। कर्मानुसार ही मनुष्य विभिन्न योनियों में जन्म लेता है और उसका भाग्य उसे विभिन्न प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार जीवन सम्बन्धी घटनाओं का कोई विशेष मूल्य नहीं हैं।

(३) इसी प्रकार पूर्व जन्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्तों ने भारतीयों के उपर्युक्त दृष्टिकोण को सम्बल प्रदान किया है। ब्राह्मण ही नहीं बौद्ध मतावलम्बी लोग महात्मा बुद्ध के जन्म-जन्मान्तर से सम्बन्धित जातक-कथाओं में आस्था रखते हैं। इसी प्रकार जैन-मतावलम्बी भी तीर्थङ्करों की लम्बी परम्परा,का प्रतिपादन करते हैं। पूर्व-जन्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेने का अर्थ होता है कि ऐहिक जीवन की घटनाओं की महत्ता इस जीवन के लिये नहीं—प्रत्युत भूतकाल एवं भविष्य काल में होने वाले जीवन से सम्बद्ध है। अतएव वर्तमान जीवन की घटनायें एवं तिथियाँ महत्त्व नहीं रखती।

(४) भारतीयों का विश्वास दैवी हस्तक्षेप, तपस्या, शाप, जादू-टोना की शक्तियों में रहा है। इनके सामने वर्तमान जीवन की घटनाओं की उतनी महत्ता नहीं। मानव जीवन की सभी घटनाओं एवं तिथियों की सफलता एवं विफलता इन उपर्युक्त शक्तियों पर भी आधारित है।

(५) भारतीयों की दृष्टि ने पौराणिक व्यक्तियों को ही अपना सच्चा राष्ट्रीय प्रतिनिधि माना और लौकिक राजाओं के जीवन को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया। इसी कारण जहाँ श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' पर २३ टीकायें लिखी गयीं, वहाँ उनके ऐतिहासिक काव्य 'नवसाहसाङ्कचरित' की ओर टीकाकारों का ध्यान भी नहीं गया।"[2]

(६) संस्कृत साहित्य में विशुद्ध इतिहास-ग्रन्थों के अभाव के विषय में लिखते हुए वाचस्पति गैरोला महोदय लिखते हैं कि—"इसका एक कारण तो संस्कृत के ग्रन्थकारों की सीमित दृष्टि प्रतीत होती है"—क्योंकि राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन प्रभृति ऐतिहासिक कवियों का वर्णन करते समय वे तत्सामयिक अन्य एवं घटनाओं की ओर उदासीन रहे और "ऐतिहासिक ग्रन्थों के अभाव का दूसरा कारण राजाओं के आश्रय में रहने की परम्परा का होना था। ऐसे ग्रन्थकारों ने जो कुछ भी लिखा—वह अपने आश्रयदाता की गुणवत्ता को ध्यान में रखकर

---

१. कीथ—'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर'—पृष्ठ ६२।
कीथ (ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० १४७)

२. (क) ह्यूलर—'विक्रमाङ्कदेवचरित— पृष्ठ २
(ख) चन्द्रशेखर पाण्डेय—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—पृष्ठ ३३४

लिखा—और इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी बातों में अतिरंजना एवं एकांगिता का बाहुल्य हो गया है।"[1]

ग्रन्थकारों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास किया है और उसका जीवनचरित मनोरञ्जक भाषा में लिखा है, परन्तु उनका यह प्रयास शुद्ध साहित्य कोटि में आता है—विशुद्ध इतिहास कोटि में नहीं, क्योंकि वे अपने आश्रयदाताओं के विषय में ऐतिहासिक सामग्री नहीं देते—प्रत्युत उनका अतिरंजित वर्णन प्रस्तुत करते हैं और अलङ्कारों के बाहुल्य तथा वर्णन-वैचित्र्य के दुर्गम वन में उनकी वास्तविकता एवं ऐतिहासिता भटक जाती है—परन्तु जहाँ तक कल्हण की राजतरंगिणी का सम्बन्ध है, यह कथन उस पर घटित नही होता है, क्योंकि न तो वह किसी नृपविशेष की चाटुकारिता के लिये लिखी गई है और न अलङ्कारों की अतिरंजना के लिये—अपितु वह तो महाभारतकाल से लेकार बारहवीं शती के मध्य तक के ऐतिहासिक तथ्यों का वह समन्वय है जिसमें पक्षपात अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये कोई अवसर ही नहीं। अमेरिका के संस्कृत विद्वान् डब्ल्यू० डी० ह्विटनी अपनी पुस्तक[2] की भूमिका में लिखते हैं—"आल डेट्स इन इण्डियन लिटरेरी हिस्ट्री ऑर पिन्स सेट अप टु बी बाउल्ड डाउन अगेन।"

इसका कारण यह है कि ऐसे ग्रन्थकार वास्तविकता को अतिरंजना से पृथक् नहीं रख सकते थे। उनकी दृष्टि में वास्तविकता से अधिक महत्त्वपूर्ण अतिरंजना एवं कल्पना थी, यहाँ तक कि वास्तविकता नितान्त न्यून है और अतिरंजना अत्यधिक। वे समय के विषय में भी अत्यन्त उदासीन थे। कभी-कभी तिथियों में शताब्दियों व सहस्रों वर्षों का अन्तर आ गया है। अनेक पुस्तकों के रचयिताओं के नाम तक अज्ञात हैं। कभी-कभी कई लेख एक ही नाम के हैं, जैसे कालिदास के नाम अरब का यात्री अल्बेरूनी (१०३० ई०) में लिखता है[3]—

"हिन्दू लोग सच्चे इतिहास की परम्परा की ओर से उदासीन रहते हैं, यह बड़ ही परिताप की बात है। अपने राज्य की विश्वस्त परम्परा प्रदर्शित करने की ओर वे प्रवृत्त नहीं होते। कदाचित् उनके इतिहास को कोई परखने के लिये अग्रसर होता है तो वे घबड़ा जाते हैं।"

कीथ महोदय का कथन है—

"टु कम्पोज हिस्ट्री फार ऑन सेक वाज ए कन्सेप्सन हॉवच इन एनी लेण्ड इज स्लो टु इमेर्ज, एण्ड इन इण्डिया इन पारटीकुलर केस वैरी लेट एण्ड इम्परफेक्टली इनटु वींग'।[4]

---

१. गैरोला—"संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—(पृष्ठ ८७०)

२. "संस्कृत ग्रामर"—भूमिका (२२ वां संस्करण)—सेविन्थ एडीशन १९५०—फर्स्ट एडीशन—१८७९ आफ दि सेकेण्ड एडीशन १८८९।

३. एफ० सी० सैचौ, "अल्बेरूनीज इण्डिय" पृष्ठ १० (संस्करण द्वितीय) विन्टनिट्ज—"हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर"—भूमिका पृष्ठ २५।

४. कीथ—(क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ६१)

(७) एक असुविधा यह भी है कि भारतवर्ष में अनेक सम्वत् प्रचलित थे। इसलिये उनकी तिथि खोज करके यथा-स्थान सम्बद्ध करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। गुप्तवर्ष, विक्रम-सम्वत्, शककाल, काश्मीर का लौकिक वर्ष, कलिवर्ष आदि अनेक सम्वत् व काल प्रचलित थे।

(८) कीथ महोदय ने भारतीयों की ऐतिहासिक भावना की अपेक्षा का कारण राष्ट्रीयता की भावना का अभाव माना है,' क्योंकि राष्ट्रीयता की भावना से इतिहास प्रणयन को शक्ति मिलती है।[1] कीथ महोदय के अनुसार पुराणों, बौद्ध एवं जैन-ग्रन्थों, प्रशस्तियों आदि में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव हैं। उसकी दृष्टि में बाणरचित 'हर्षचरित' को इतिहास न मानकर रोमांस (प्रेमोपाख्यान) अभिहित किया जाना उचित है। वाक्पतिराज के 'गउडवहो' में ऐतिहासिकता का कुछ निर्वाह अवश्य हुआ है, परन्तु उसमें इतिहास अत्यन्त न्यून है। पद्मगुप्त का 'नवसाहसाङ्कचरित', विल्हण का 'विक्रमाङ्कदेवचरित' तथा कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' भी शुद्ध इतिहास कोटि में नहीं आते।[2]

यह सब होते हुए भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में इतिहास-विषयक महत्ता को बहुत प्राचीनकाल से स्वीकृत किया जाने लगा था। भारतीयों में ऐतिहासिक भावना की हीनता का मानना युक्तिसंगत नहीं है। पुराणों में, बौद्धों और जैनों के ग्रन्थों में प्राचीन राजाओं की प्रशस्तियों में, संस्कृत के महाकाव्यों, नाटकों तथा गद्यकाव्यों में ऐतिहासिक सामग्री बिखरी हुई मिलती है। इन ग्रन्थों में कालक्रम पूर्ण तिथियों तथा घटनाओं का उल्लेख भले ही न हो, परन्तु उनमें सजीव सांस्कृतिक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। 'मेघदूत' जैसे सर्वथा काल्पनिक गीतिकाव्य में भी तत्कालीन इतिहास और समाज के विशुद्ध चित्र उपलब्ध होते हैं।[3]

कुछ विद्वानों के मतानुसार कालिदास के 'कुमारसम्भव' में मौर्यों के पतन और वैदिक संस्कृत के उन्नायक हिन्दू राजाओं के उत्थान का रूपात्मक चित्रण है तथा भारवि का 'किरातार्जुनीय' कुशल-आक्रान्ताओं से त्रस्त भारत में राष्ट्रीयता का ओज-पूर्ण सन्देह फूंकने वाला महाकाव्य है।[4]

---

१. कीथ (ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ १४५)

२. वही—पृष्ठ—३४७—४८

दास गुप्ता व डे '(ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ १४५—३५४)

३. हीरालाल ए० शाह—"हिस्टारिक इन्सीडेन्ट इन दि मेघदूत", प्रोसीडिंग्स ऑफ सेविन्थ ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, पृष्ठ ३६।

शैलेन्द्रनाथ धर—'सम ग्लिम्प्सेज ऑफ दि शोसल लाइफ इन दि एज ऑफ कालिदास'—प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस—१९४३।

४. पी० सी० शास्त्री—'हिस्टोरिक स्प्रिट इन एनसिएण्ट इण्डिया।'—इण्डियन सोशल रिफार्मर' २८ फरवरी १९४७, पृष्ठ ८-९।

इनके अतिरिक्त संस्कृत में ऐसे अनेक ग्रन्थों की रचना हुई जो अब उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु जिनका संकेत अन्य ग्रन्थों से मिलता है। महाकवि कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में ऐसे इतिहास-ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[1] हो सकता है कि इन इतिहास-ग्रन्थों में आधुनिक अर्थ में इतिहास की विशेषताओं का सन्निवेश न हो। महाकवि शंकुक ने मम्म और उत्पलक के मध्य हुये भयंकर युद्ध के वृत्तान्त का वर्णन करने के लिये 'भुवनाभ्युद्ध' नामक महाकाव्य की रचना की थी।[2]

कौन कह सकता है कि संस्कृत में और भी अनेकानेक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना न हुई हो और वे विधर्मियों के विध्वंसकारी आक्रमणों में नष्ट न हो गये हों।[3]

भारतीय साहित्य तथा इतिहास

भारतीय साहित्य पुराण तथा इतिहास को वेदों के समकक्ष मानता है। ऋग्वेद में इतिहास से युक्त मन्त्र विद्यमान है।[4] नारद मुनि ने 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इतिहास पुराण को पंचम वेद कहा है।[5] यास्क के 'निरुक्त' में ऋचाओं को स्पष्ट करने के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' कहकर उद्धृत किया है। 'निरुक्त' से ही पता चलता है कि वेदार्थ निरूपण करने वाला एक सम्प्रदाय इतिहासकारों का था, जिसका पुनः पुनः' उल्लेख 'इति ऐतिहासिका.' कहकर किया गया है।

महाभारतकार व्यास ने बतलाया है कि इतिहास पुराण के द्वारा ही वेद का उपबृंहण करना चाहिये, क्योंकि इतिहास पुराण के ज्ञान से शून्य लोगों से वे दसदा भयभीत रहता है।[6]

कौटिल्य का कथन है कि अथर्ववेद तथा इतिहास दोनों वेद हैं तथा इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र आते हैं।[7]

---

१. राजतरंगिणी (१/११—४/७०५)। २. वही।

३. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—३३५।

४. त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्र गाथामिश्रं भवति—निरुक्त ४/१/६।

५. ऋग्वेद 'भगवो अध्येमि यजुर्वेद' सामवेदमथर्वणम् इतिहास पुराणं पंचमं वेदानां वेदम्—छान्दोग्य ७/१।

६. इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ —महाभारत, आदिपर्व, १ अ०, ३७६ श्लोक।

७. (क) अथर्ववेदेइतिहासवेदौ च वेदाः। अर्थ० १/३।

(ख) पश्चिमं (अहभागं) 'इतिहासश्रवणं।

पुराणमिति वृतमाख्यायिकोदाहरणधर्मशास्त्रमर्थशास्त्रंचेतिहासः॥

(अर्थशास्त्र १/५)

राजशेखर ने उपवेदों में इतिहास वेद को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय लोग ऐतिहासिक दृष्टि एवं ऐतिहासिक भावना से शून्य न थे। 'रामायण' और 'महाभारत, भी इतिहास-ग्रन्थ है, क्योंकि ये दोनों प्राचीन ग्रन्थ भारतवर्ष की संस्कृति, समाज, राजनीति आदि का सम्यक्रूपेण दिग्दर्शन कराते हैं।

"काव्यमीमांसा" में राजशेखर ने लिखा है कि—इतिहास दो प्रकार का होता है[1]:—

१. परिक्रिया तथा २. पुराकल्प।

परिक्रिया वह इतिहास है जिसमें एक ही व्यक्ति नायक होता है, जैसे—रामायण।

पुराकल्प वह इतिहास है जिसमें अनेक नायक होते हैं। जैसे महाभारत। इस प्रकार रामायण और महाभारत दोनों ही इतिहास के अन्तर्गत आते हैं।

भारतीय साहित्य में पुराणों की महत्ता अत्यधिक है। 'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना आख्यान' है—"पुराणमाख्यानम्"। पुराणों के साथ इतिहास का भी नाम आता है।

"इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥"

(महाभारत १/३६७)

पुराणों के अन्तर्गत अधिक व्यापक विषयों का समावेश होता है; जबकि (इति+ह+आस—जो इस प्रकार था) के अन्तर्गत वही घटनायें आती हैं जो भूत-काल में हो गई हैं। संस्कृत साहित्य में रामायण, महाभारत तथा पुराण काव्यकारों तथा नाटककारों के लिये उपजीव्य ग्रन्थ हैं।

संस्कृत साहित्य में इतिहास-विषयक सामग्री चार विभिन्न रूपों में प्राप्त होती है:—

१. कुछ ग्रन्थकारों ने पूर्ववर्ती ऐतिहासिक ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जैसे—महाकवि कल्हण ने अपने ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में कुछ ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो आजकल अनुपलब्ध है, उदाहरणार्थ—सुव्रत का

---

१. परिक्रिया पुराकल्पः—इतिहास गतिर्द्विधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका॥ —अध्याय २ (पृष्ठ २)

२. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर-वाल्यूम प्रथम पृष्ठ, ५१८ व पृष्ठ १०० (फुट-नोट)।

इतिहास-ग्रन्थ[1], हैलाराज की 'पार्थिवावलि'[2], भतृमेण्ठ का 'हयग्रीव वध'[3], शंकुक का 'भुवनाभ्युदय'[4] आदि ।

२. उत्कीर्ण लेखों, ताम्रपत्रों, दानपत्रों, प्रशस्तियों आदि की ऐतिहासिक सामग्री जैसे—हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति ३४५ ई०, वीरसेर का उदयगिरि गुफा का अभिलेख ४७० ई०, वत्सभट्टि का मन्दसौर शिलालेख ४७३ ई०, रविशान्ति का हरहा-अभिलेख ५५५ ई०, वासुल का मन्दसोर ६वीं शती आदि ।

३. रामायण, महाभारत तथा पुराण-ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री, और

४. काव्यपरक इतिहास-ग्रन्थों में पहिला ग्रन्थ 'कौमुदी-महोत्सव' है, जिसका रचनाकाल ४०० ई० है । महेन्द्र विक्रम का 'मत्त विलास' (६१० ई०), बाणभट्ट का 'हर्षचरित' (७वीं शती), प्रवरसेन का 'सेतुबन्ध' (८वीं शती)' वाक्पतिराज का 'गउडवहो' (८वीं शती), कनकसेन वादिराज का 'यशोधराचरित' ८वीं शती) शंकुक का 'भुवनभ्युदय (९वीं शती) आदि इसी प्रकार के इतिहास-ग्रन्थ हैं । इनसे तत्कालीन राजनीति, धर्म, संस्कृति, समाज, रीति-नीति आदि पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है । ऐतिहासिक दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है । इनमें तिथियों एवं घटनाचक्रों को इतना स्थान नहीं दिया गया है जितना कि कल्पना, चमत्कार एवं रचना-वैचित्र्य को । पद्मगुप्त रचित 'नवसाहसाङ्कचरित' को प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य का स्थान देना समीचीन होगा ।

पद्मगुप्त (परिमल)

पद्मगुप्त प्रणीत 'नवसाहसाङ्कचरित' ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा में प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य है । पद्मगुप्त धारा के प्रसिद्ध नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज के ज्येष्ठ भ्राता वाक्पतिराज उपाधिधारी राजा मुञ्ज के सभाकवि थे । राजा मुञ्च के मरणोपरान्त राजा सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) ने कवि पद्मगुप्त का अत्यधिक सामान किया जिसके फलस्वरूप कवि ने अपने महाकाव्य का प्रणयन करके राजा सिन्धुराज की कीर्ति को अक्षुण्ण बना दिया । उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना १००५ ई० के लगभग की । अतएव कवि का समय १०वीं शती का उत्तरार्ध एवं ११वीं शती का पूर्वार्ध मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

कृति—'नवसाहसाङ्कचरित' में १८ सर्ग व १५०० श्लोक हैं । इसमें धारा-नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) के विवाह का वर्णन किया गया है । सिन्धुराज ने नागों के शत्रु वज्रांकुश को पराजित करके नागराज शंखपाल की राजकुमारी शशिप्रभा से विवाह किया था । कवि ने १२वें सर्ग में परमार वंश के सिन्धुराज के पूर्ववर्ती समस्त राजाओं का काल-क्रम-पूर्ण वर्णन किया है, जिसकी सत्यता की पुष्टि शिलालेखों से हो चुकी है ।[5] 'नवसाहसांकचरित' में सिन्धुराज द्वारा विजित देशों एवं राजाओं की ऐतिहासिकता स्वीकृति हो चुकी है ।[6]

---

१. राजतरंगिणी १/११-१२ २. राजतरंगिणी १/१७,
३. वही ३/२६० से २६२ श्लोक, ४. वही ५/७०५,
५. वी० वी० मिराशी का 'हिस्टारिकल डेटा इन नवसाहसाङ्कचरित आई० ए० फरवरी १९३३ (पृष्ठ १०१-१०७)
६. नवसाहसाङ्कचरित १०/१४—२० ।

काव्यत्व—कवि पद्मगुप्त ने अपने महाकाव्य में वैदर्भी रीति का अनुसरण किया है। कालिदास की रसमय पद्धति का मनोरम गुम्फन इस काव्य का वैशिष्ट्य है। प्रसाद गुण का सर्वत्र निर्वाह हुआ है। कालिदास की काव्य-मधुरिमा एवं रसपेशलता आदि काव्य की विशेषतायें इस महाकाव्य में सफलतापूर्वक अभिव्यंजित हुई हैं। महाकवि कालिदास की जिन काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख इन्होंने किया है, वही इनके काव्य में विद्यमान हैं—

"प्रसादहृद्यालंकारैस्तेन मूर्तिरभूष्यत्।
अत्युज्ज्वलैः कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव ॥'

यह महाकाव्य साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। कालिदास की प्रसादगुणोपेत वैदर्भी रीति की मनोरम अभिव्यंजना को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय पद्मगुप्त को ही दिया जाना चाहिये। परमारवंशी राजाओं के इतिहास का वर्णन करके पद्मगुप्त ने संस्कृत साहित्य की अमूल्य सेवा की। प्रकृति-वर्णन तथा अलंकारों का हृदयावर्जक सन्निवेश तो अपना पृथक् वैशिष्ट्य रखते ही हैं। यह काव्य मुख्यतः एक प्रशस्तिमात्र है। लम्बी वक्तृताओं तथा विस्तृत वर्णनों से कथा-प्रवाह प्रायः अवरुद्ध हो गया है और ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्व कम हो गया।[1]

विल्हण

ऐतिहासिक दृष्टि से और अधिक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य महाकवि विल्हण रचित 'विक्रमाङ्कदेवचरित' है। विल्हण एक काश्मीरी कवि थे। उनके जीवन-वृत्त एवं वंश-परम्परा के विषय में हमें उनके ही महाकाव्य से विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।[2] इनका जन्म श्रीनगर से २४ कोस दूर खोनमुष (आजकल खुनमोह) ग्राम में हुआ था। उन्होंने अपने प्रपितामह का नाम 'मुक्तिकलश', पितामह का नाम 'राजकलश' तथा पिता का नाम 'ज्येष्ठकलश' लिखा है। उनकी माता का नाम 'नागादेवी' था। उनके दो भाई इष्टराम और आनन्द नाम के थे। सन् १०६५ ई० के लगभग राजा कलश के राज्यकाल में मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, काशी आदि अनेक स्थानों[3] में होते हुये कवि विल्हण दक्षिण भारत के कल्याण नगर में पहुँचे। वहाँ वे चालुक्य वंशी विख्यात नरेश विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७ ई०) की राजसभा में पहुँचे। राजा ने इनका सम्मान किया और इन्हें अपना सभा-पण्डित बनाकर 'विद्यापति'[4] की उपाधि से विभूषित किया।

---

१ .'संस्कृत साहित्य की रूपरेखा (पृष्ठ ३३८) कीथ का क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (पृष्ठ ६४)

२. विक्रमाङ्कदेवचरित—१८वां सर्ग। ७०-१०४ श्लोक।

३. कीथ (ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर) पृ० १५३

४. राजतरङ्गिणी—७/९३५—९३७ कीथ की कलासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ ६४.

महाकवि विल्हण का स्थितिकाल ११वीं शती का उत्तरार्ध एवं १२ वीं शती का पूर्वार्ध है।[1]

कृतियाँ—महाकवि विल्हण ने अपने महाकाव्य 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में अपने आश्रयदाता नरेश चालुक्य वंशी विक्रमादित्य षष्ठ तथा उनके वंश का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[2] कल्याण के चालुक्य वंशी राजाओं के लिये यह काव्य अत्यन्त उपादेय है। इसमें १८ सर्ग हैं डॉ० ह्वूलर तथा डॉ० कीथ के मतानुसार विल्हण ने अपने इस महाकाव्य की रचना सन् १०८५ ई० के आस-पास वृद्धावस्था में की होगी। इस महाकाव्य के अतिरिक्त महाकवि विल्हण ने दो ग्रन्थ लिखे हैं। वे हैं—

(१) कर्णसुन्दरी नाटिका तथा

(२) चौरपंचाशिका।

'कर्णसुन्दरी नाटिका' में विद्याधर राजा जयकेशी की पुत्री का विवाह अनहिलवाण के राजा कर्ण त्रैलोक्यमल्ल (१०६४–९४ ई०) के साथ सम्पन्न होने का वर्णन है। इसमें इतिहास के रूप में काव्य की अभिव्यंजना की गई है।[3]

(चौरपंचाशिका, में महाकवि ने अपनी प्रेमकथा का वर्णन गीति-काव्य में किया है। कहते हैं कि विल्हण ने एक राजकुमारी से प्रच्छन्न प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। फलतः इनको मृत्यु दण्ड की आज्ञा हुई, परन्तु अपने प्रेमाभिव्यंजक हृदयहारी पदों को सुनाकर इन्होंने राजा को मुग्ध कर लिया और इनको मृत्यु दण्ड से मुक्त कर दिया गया। कीथ महोदय इस प्रणय-कथा को कपोल कल्पित एवं असत्य मानते हैं।[4]

कहते हैं कि विल्हण ने यात्रा करने के समय अयोध्या में भगवान राम की स्तुति में किसी काव्य की रचना की थी, जो अब अनुपलब्ध है।[5]

काव्यत्व—विल्हण का महाकाव्य 'विक्रमाङ्कदेवचरित' वैदर्भी रीति का भव्य निदर्शन है' कवि ने अपने काव्य में स्वयं वैदर्भी रीति की महत्ता प्रतिपादित की

---

१. वही—७/९६५

२. एषास्तु चालुक्यनरेन्द्रवंश—समुद्गतानां गुणमौक्तिकानाम्।
मद्भारतीसूत्रनिवेशितानामेकावली कण्ठविभूषणम् वः ॥१/१३०॥

३. कीथ—'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ ६४. सी०
ह्वूलर बी० एस० एस० १४–१८७५. Cf. ए० बी० अय्यर. I. A.

४. देयर इज ऑफ कोर्स नो ट्रथ इन दी पिक्चरस्क्यु ट्रडीशन ह्विच ऐलेजेज दैट दी पोयट कन्ट्रैक्टेड ए सीक्रेट यूनियन विद ए किंग्स डॉटर—(क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ १२०)।

५. कीथ—'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर'—पृष्ठ १५३ एण्ड १५५.

है।[1] माधुर्य और प्रसाद गुणों का तो यह महाकाव्य निष्यन्द है। अनूठी सूक्तियों का तो यह महाकाव्य एक मनोरम कोष है। ऐतिहासिक घटनाओं का विन्यास अत्यन्त सुन्दर है।

विल्हण की भाषा स्वाभाविक एवं प्रवाहपूर्ण है। वह समासबहुला एवं दुरूह नहीं है। छोटे पदों में बड़े भावों का समावेश करके कवि ने 'गागर में सागर' की उक्ति चरितार्थ कर दी है। अनुप्रास की छटा और सरस श्लेष की माधुरी से काव्य ओत-प्रोत है। अन्य अलङ्कारों का उचित मात्रा में यथास्थान सन्निवेश है।

इस महाकाव्य की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। वह है बड़ी भूमिका के साथ काव्य का प्रारम्भ। यह इस महाकवि की अपनी सूझ है। कवि ऋतु-वर्णन में अपना सानी नहीं रखता—

कृतक्षणं क्षुद्रनदीसमागमें तरङ्गिणीनाथमवेक्ष्य संप्रति।
विलङ्घ्य मार्गं सहसा महापगाः पतन्ति नीचेषु नदान्तरेष्वपि ॥१३/४१॥

महाकवि विल्हज कवि और इतिहासकार दोनों ही थे। यह पद्मगुप्त (परिमल) से भी अधिक ऐतिहासिक प्रवृत्ति से प्रेरित थे। उनके ऐतिहासिक वर्णनों की प्रामाणिकता शिलालेखों द्वारा सिद्ध हो जाती है। अतएव यह कथन कि महाकवि विल्हण अपने ऐतिहासिक वर्णनों में सच्चे इतिहासकार की भाँति रचना नहीं करते[2] अथवा उनके वर्णन इतिहास कोटि में नहीं आते[3] असमीचीन है। उनका महाकाव्य कल्याण के चालुक्य वंशी राजाओं के इतिहास जानने के लिये एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का विशद परिचय विल्हण की कृति में उपलब्ध होता है। चौलों चालुक्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का तथा दक्षिण के तत्कालीन राजाओं का भी अच्छा परिचय मिलता है[4]।

कवि ने अपना महाकाव्य शास्त्रीय परम्परा में लिखा है, अतएव कहीं-कहीं महाकाव्य का इतिहासत्व दब गया है और काव्यत्व प्रधान बन गया है। कहीं-कहीं पर पौराणिक कल्पनाओं का आश्रय कवि ने लिया है जैसे भगवान् शंकर की आज्ञा से राजा विक्रमादित्य का अपने अग्रज सोमेश्वर से युद्ध करना आदि, ऐसे स्थल इतिहास विरुद्ध हैं[5]। इन स्थलों में स्पष्ट रूप से काव्यत्व को प्रधानता और इतिहासत्व को गौणता प्रदान की गई है।

---

१. अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥१-९॥
—विक्रमाङ्कदेवचरित

२. दास गुप्ता व डे—(ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर) पृष्ठ ३५२।

३. कीथ—'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ १५५।

४. वी० वेंकटरमन—विक्रमाङ्कदेवचरित इन इट्स हिस्टारिक्स सेटिंग—इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस १९३८ पृष्ठ ११७।

५. कीथ—'ए हिस्ट्री ऑफ लिटरेचर' पृष्ठ १५५

कीथ महोदय ने महाकवि विल्हण के काल-क्रमपूर्ण वर्णनों को दोषपूर्ण ठहराया है, क्योंकि उनकी सम्मति में बाणभट्ट की भाँति 'तदनन्तर' 'ततः' आदि शब्दों का प्रायः प्रयोग करके अपने इतिवृत्तात्मक महाकाव्य को अस्पष्ट बना दिया है[1]। उन्होंने अपने गौड विजय वर्णन में अतिरंजना का पुट देकर उसे अविश्वसनीय बना डाला है[2]।

कल्हण

महाकवि विल्हण की भाँति महाकवि कल्हण भी काश्मीर के निवासी थे। वे ब्राह्मण थे और चाणक्य या चम्पक महामात्य के पुत्र थे। चम्पक काश्मीर नरेश महाराज हर्षदेव (१०८९–११०१ ई०) का महामन्त्री था[3]। चम्पक के अनुज कनक राजा हर्षदेव के प्रिय पात्रों में से थे[4] वह (कनक) संगीत विद्या के प्रेमी थे और महाराज हर्ष उनको पुरस्कार आदि से सन्तुष्ट रखते थे[5]। राजा हर्ष की मृत्यु के उपरान्त कनक काशी में जाकर वैराग्यमय जीवन व्यतीत करने लगे[6]।

कल्हण का जन्म प्रवरपुर (परिहासपुर) में सन् ११०० ई० के लगभग हुआ था[7]। ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न होने के कारण संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। वह प्रारम्भ से ही अपने पिता के पास रहते थे, अतएव महाराज हर्षदेव और अन्य भविष्य में आने वाले राजाओं के राज्यकाल की समस्त घटनाओं से पूर्णतया अनभिज्ञ थे।

काश्मीरी भाषा के अनुसार कवि का नाम कल्हण था, परन्तु इसका संस्कृत रूप 'कल्याण' है। कवि मंखक ने कल्हण का उल्लेख 'कल्याण' नाम से ही किया है। मंखक ने अपने महाकाव्य 'श्रीकण्ठचरित' में कल्हण (कल्याण) गुरु अलकदत्त का उल्लेख किया है। उसमे लिखा है कि अलकदत्त की प्रेरणा से ही कल्हण ने काश्मीर के राजाओं का इतिहास लिखने का विचार किया[8]।

कल्हण का अध्ययन गम्भीर था। उन्होंने इतिहास सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का अनुशीलन एवं मनन-मन्थन किया था। इनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। अपने आस-आस घटित घटना-चक्रों का सूक्ष्म निरीक्षण करना तथा उनका वर्णन करना वह अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने प्रत्यक्ष देखी हुई घटनाओं का सांगोपांग वर्णन अपने ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में किया है। इस ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना कल्याण ने काश्मीर नरेश जयसिंह के राज्यकाल (११२७ से ११४९–५० ई०) काश्मीर के लौकिक वर्ष

---

१. कीथ—'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ १५६।
२. कीथ—'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ १५६।
३. राजतरंगिणी ७/१५९१।
४. राजतरंगिणी ७/१११७।
५. राजतरंगिणी ७/११८।
६. राजतरंगिणी ८/१२–१३।
७. कीथ—'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ १५८।
८. श्रीकंठचरित २५/७८–८०।

४२२४ (४२२४-३०७६ = ११४८ ई०) में प्रारम्भ की और उसे ४२२६ लौकिक वर्ष (४२२६-३०७६ = ११५० ई०) में समाप्त कर दिया।

महाकवि कल्हण, 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के रचयिता महाकवि विल्हण के पश्चादवर्ती थे। महाकवि कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि कवि विल्हण काश्मीर नरेश कलश के राज्यकाल में काश्मीर छोड़कर दक्षिण में कर्नाटक नरेश परमाण्डि (विक्रमादित्य षष्ठ) के पास जाकर निवास करने लगे थे[1]। उनको उस नरेश ने 'विद्यापति' की गौरवमयी उपाधि से विभूषित किया था[2]। कल्हण ने विल्हण की कविता का पर्याप्त अनुशीलन किया था। इसलिये इनके काव्य को उनकी कविता से 'संक्रान्त' कहा गया है[3]। कल्हण शिव-भक्त थे तथापि वह बौद्धधर्म को सम्मान की दृष्टि से देखते थे और अहिंसा के पक्षपाती थे[4]।

कल्हण का समय—कल्हण के पिता महामात्य चम्पक राजा हर्ष के राज्यकाल (१०८९–११०१ ई०) में विद्यमान थे। हर्ष के मरणोपरान्त भी चम्पक जीवित थे। परन्तु सम्भवतः उन्होंने राजनीति में भाग लेना त्याग दिया था। कल्हण ने अपने पिता के साथ रहकर राजा हर्ष के जीवन का उत्थान-पतन देखा था। उन्होंने उसका सजीव चित्रण अपने महाकाव्य 'राजतरंगिणी' के सप्तम तरंग में किया है।

महाकवि कल्हण राजा जयसिंह के राज्यकाल (११२७–११४९ ई०) में विद्यमान थे। उन्होंने अपने महाकाव्य का प्रारम्भ ४२२४ लौकिक वर्ष अर्थात् सन् ११४८ ई० में किया था और सन् ११५० ई० में उसे लिखकर समाप्त भी कर दिया था। इस प्रकार कल्हण का जन्म सन् ११०० ई० के लगभग अवश्य हुआ होगा[5]। इनका स्थितिकाल सन् ११०० ई० से ११५५ ई० तक मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य के प्रणेता मंखक ने कल्हण को 'कल्याण' नाम से अभिहित किया है[6]। मंखक का समय (११२९–५० ई०) के आसपास माना जाता है, क्योंकि यह और इनके गुरु प्रसिद्ध आलङ्कारिक रुय्यक' काश्मीर नरेश जयसिंह (११२७–४९ ई०) के सभा-पण्डित थे[7]।

कल्हण ने अपने महाकाव्य में विल्हण का उल्लेख किया है। वह लिखते हैं कि कवि विल्हण राजा कलश के राज्यकाल में काश्मीर छोड़कर कर्नाटक देश के राजा परमाण्डि के पास चला गया था। राजा ने उस कवि को विद्यापति पद प्रतिष्ठित किया था[8]। विल्हण ने १०६५ ई० के आस-पास काश्मीर छोड़ा था और १०८५ ई०

---

१. राजतरंगिणी ७/९३५ २. राजतरंगिणी ७/९३५
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ १८४ (बलदेव उपाध्याय)
४. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (कीथ) पृष्ठ १५८–१५९.
५. वही पृष्ठ १५९.
६. श्रीकण्ठचरित (२५/७८–८०)
७. बलदेव उपाध्याय 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृष्ठ १६३।
८. राजतरङ्गिणी (७/९३५)

के लगभग अपना महाकाव्य प्रणीत किया था। इस प्रकार विल्हण का स्थितिकाल ११वीं शती का उत्तरार्ध आता है। कल्हण ने मुक्ताकण, शिवस्वामी, आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर का उल्लेख किया है। अतः कल्हण का नाम इनके पश्चात् आता है। ये मुक्ताकण आदि कवि राजा अवन्तिवर्मा (८५५--८८३ ई०) के शासनकाल में विद्यमान थे[1]। तिथियों का स्पष्ट उल्लेख होने से महाकवि कल्हण का स्थितिकाल निश्चिय रूप से बारहवीं शती का पूर्वार्ध आता है। इनका समय ११५५ ई० मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

कल्हण के सम-सामयिक—

कल्हण का स्थिति-काल सन् ११०० ई० से ११५५ ई० तक सिद्ध होता है। इस समय भारतवर्ष का संक्रान्ति-काल था। देश के भिन्न-भिन्न भागों में विभिन्न राजे स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे[2]। ये राजे पारस्परिक द्वेषभाव रखते थे और लड़ते रहते थे। मुसलमानों के आक्रमणों का आरम्भ हो चुका। ७१२ ई० में ही बेबीलोनिया के गवर्नर हज्जाज के भतीजे कासिम के पुत्र मुहम्मद ने[3] सिंध के ब्राह्मण राजा दाहिर का वध करके सिंध को अधिकृत कर लिया था। तदनन्तर मुसलमानों ने सिंध तथा गुजरात पर आक्रमण किये। एक आक्रमण में वलभी का राज्य आक्रमण-कारियों द्वारा सन् ७७० ई० में जीत लिया गया।

तदनन्तर सन् ९८६-८८ ई० में गजनी के अमीर सुबुक्तदीन में पंजाब नरेश जयपाल पर आक्रमण किया। हिन्दू राजा की पराजय हुई। सुबुक्तदीन के पुत्र सुल्तान महमूद ने १००१ ई० में जयपाल को फिर हराया और पेशावर को अपने राज्य में मिला लिया। तत्पश्चात् सुल्तान ने सन् १००२ ई० में सीमान्त नगरों पर, १००३ ई० में झेलम नदी के तट पर स्थित भीरा पर, १००५ ई० में सुल्तान पर, १००६-७ ई० में सेवकपाल पर, १००८ ई० में राजा आनन्दपाल पर, १०१० ई० में तालावाड़ी पर, १०११ में पुनः मुल्तान पर, १०१२--१४ ई० में थानेश्वर पर, १०१४ ई० में लाहौर पर, १०१५ ई० में काश्मीर पर, १०१८ ई० में बुलन्दशहर, महावन,, मथुरा, कन्नौज पर, १०१९ में कालिञ्जर पर, १०२० ई० में पंजाब पर, १०२२-२३ में ग्वालियर तथा कालिञ्जर पर, १०२५ ई० में सोमनाथ पर तथा १०२७ ई० में खोसरां पर आक्रमण किया।

---

१. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥५/३४

२. "इण्डिया बिकेम लाइक जर्मनी इन दि ११थ सेञ्चुरी ए बण्डल ऑफ स्टेट्स, ह्विच वेयर टु ऑल इन्टैन्ट्स एण्ड परपजेज इण्डिपेण्डेण्ट" डा० ईश्वरी प्रसाद मीडिवल इण्डिया, पेज १ (डॉ० दयाप्रकाश द्वारा उद्धृत–मध्यकालीन भारत पृष्ठ ९६,१९६२ का संस्करण।

३. मुहम्मद कासिम नहीं प्रत्युत कासिम के पुत्र मुहम्मद ने·····विन्सेण्ट स्मिथ का 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' पृष्ठ ९०।

महमूद का अन्तिम आक्रमण १०२७ ई० में हुआ और मुहम्मद गौरी का प्रथम आक्रमण ११७५-७६ में मुल्तान व सिंध पर हुआ। महमूद गौरी के मध्यकाल में भारतवर्ष के उत्तरी भाग और दक्षिण में विभिन्न राज्य थे और निम्न-लिखित प्रमुख राज्य-वंश शासन करते थे—

उत्तरी भारत में—

१. कन्नौज में गहरवार। २. दिल्ली में तोमर। ३. सांभर व अजमेर में चौहान। ४. बंगाल और बिहार में पाल। ५. पूर्वी बंगाल में सेन। ६. गुजरात में बघेल। ७. मालवा में परमार अथवा पवाँर। ८. जेजाक मुक्ति या बुन्देलखण्ड में चन्देले। ९. चेदि में कलचुरी या हेहय। १०. कन्नौज तथा काशी के मध्य में राठौर।

दक्षिणी भारत में—

१. वातापि के आन्ध्र एवं चालुक्य (१०१५ ई० में चोल में सम्मिलित)।

२. मान्यखेत (निजाम राज्य) राष्ट्रकूट (९७३ ई० में कल्याणी के चालुक्य वंश के अधिकार में)।

३. कल्याण के चालुक्य (११७३ ई० तक)।

४. मैसूर के होयशल (१३१० ई० तक)।

५. पश्चिमी दकन (देवगिरि) के यादव १३१८ ई० तक)।

६. वारंगल के काकतीय ११००-१११६ ई० तक)[1]।

सुदूर में दक्षिण—

७. मदुरा व तिनेवली जिलों के पाण्ड्य (१३११ ई० तक)।

८. कांची के पल्लव (१३११ ई० तक)।

९. उरइयूर या प्राचीन त्रिचनापल्ली के चोल (१३११ ई० तक)।

ये उपर्युक्त राज्य कल्हण के समय में विद्यमान थे।

इस समय बौद्ध-धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा था। पाल राजाओं को छोड़कर शेष उत्तरी भारत के राजागण जैन-धर्म अथवा हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे। पाल राजाओं के बनवाये हुए बौद्ध धर्म सम्बधी स्तूप व भवन प्रायः सभी नष्ट हो चुके हैं। हिन्दू व जैन मन्दिर जो उस समय राजाओं ने बनवाये थे, अब भी विद्यमान हैं। बारहवीं शती के अन्त तक बौद्ध-धर्म के व्यवस्थित रूप का पूर्णतया पतन हो गया।[2]

माउण्ट आबू पर निर्मित जैन-मन्दिरों (११-१२वीं शती) का शिल्प सौन्दर्य अब भी अपने अनुपम कला-प्रागल्भ्य से दर्शकों को मन्त्र-मुग्ध बना देता है। चन्देल राजाओं के बनवाये हुए खजुराहो के हिन्दू-मन्दिर भारतीय वास्तुकला के सर्वोत्कृष्ट निदर्शन हैं।[3]

---

१. ई० डबल्यू० थामसन की 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' पृष्ठ ९७ का फुटनोट।

२. ई० डब्ल्यू० थामसन की 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' पृष्ठ १०१।

३. बी० स्मिथ—'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' पृष्ठ १०७।

बौद्ध धर्म के ह्रास का एक कारण सम्भवतः जैन धर्म का उत्तरोत्तर उत्थान ही था। व्यापारी वर्ग तथा मध्यम वर्ग की जनता ने जैन धर्म को अपनाया। राजपूताना, चालुक्य एवं होयशल राज्य तथा पाण्डय राज्य में जैन धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था।[1] कल्हण के अन्तिम दिनों में अर्थात् सन् ११५७ के लगभग कल्याण के चालुक्यों का अधःपतन प्रारम्भ हुआ। तदनन्तर विज्जत या विज्जण के शासक बनने पर लिङ्गायत या वीर शैव सम्प्रदाय का उदय हुआ जिससे जैन धर्म को बड़ा आघात पहुँचा और जैन धर्म पतनोन्मुख होने लगा, परन्तु जैनधर्म के पतन का प्रधान कारण ब्राह्मणों के नेतृत्व में पनपने वाले हिन्दू धर्म के प्रचार से हुआ।[2] राष्ट्रकूटवंश के राजा अमोघ वर्ष ने ९ वीं शती में जैन धर्म की उन्नति एवं प्रचार में उत्कट तत्परता प्रदर्शित की थी, परन्तु कुछ ही समय में हिन्दू धर्म के व्यापक प्रचार ने वहाँ भी जैन धर्म को निष्प्रभ कर दिया। होयशल वंश के जैन धर्मावलम्बी नरेश वीर गङ्ग (बिहिदेव) अथवा विष्णुवर्धन ने जैन धर्म का परित्याग कर दिया और वह हिन्दू धर्मावलम्बी बन गया।[3] इससे पता चलता है कि दक्षिण भारत में भी हिन्दू धर्म का उत्थान हो रहा था और जैन धर्म का ह्रास। इस मत-परिवर्तन का श्रेय रामानुज स्वामी (१०१७–११३७ ई०) को ही था।[4] बाद के होयशल राजाओं का शासनकाल (१२वीं व १३वीं शती) उत्कृष्ट हिन्दू मन्दिरों की रचना के लिये प्रख्यात है।

यह संक्रान्तिकाल हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें हिन्दू धर्म की परम्पराओं का निर्माण एवं रूप निर्णय कर लिया गया। जाति प्रथान्तर्गत प्रत्येक जाति का स्थान निर्दिष्ट कर दिया गया। स्थानीय प्रथाओं एवं उत्सवों का परिमार्जन कर दिया गया।

ई० डब्ल्यू० थामसन लिखते हैं—

"दि लिजेन्ड्स एण्ड वरशिप्स कनेक्टेड विद पूल्स एण्ड रिवसज, ट्रीज एण्ड हिल्स, एण्ड दि लोकल कस्टम्स एण्ड फेस्टिवल्स वेयर एलाबोरेटेड एण्ड सैन्कशण्ड फॉर दी यूज ऑफ पीपुल। नूमरेस पुरानाज वेयर कम्पोज्ड बाइ दि सेक्टस, सेटिंग फोर्थ दि सुप्रीम एक्सेलेन्स ऑफ देयर गॉड्स एण्ड दि एफीकैसी देयर पेकुलियर राइट्स दस ए वास्ट सिस्टम ऑफ रिलीजन वाज ह्विप अप, रेजिंग फॉम दि ग्रासेस्ट सुपरस्टीशन टु दि सबूटेलेस्ट मेटाफिजिकल स्पेकुलेशन एट दि सेम टाइम ए प्लेस वाज मार्क्ड आउट फॉर ईच कम्युनिटी इन दि कास्ट सिस्टम देयर इज रीजन टु थिंक दैट सम ऑफ दि ड्राविडियन लिटरेरी एण्ड प्रिस्टली क्लासेज वेयर रिकग्नाइज्ड ऐज ब्रहमन्स, ह्वाइल क्षत्रिय जीनियलोजीज वेयर फाउण्ड फॉर दि चीफटेन्स एण्ड राजाज एण्ड माइथोलोजिकल स्टोरीज वेयर इनवेण्टेड टु एकाउण्ट फॉर दि नेम्स एण्ड आकूपेशन्स ऑफ दि लोअर क्लासेज"[5]

---

१. ई० डब्ल्यू० थामसन, 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' पृष्ठ १०२, १०३।
२. वही पृष्ठ १०३। ३. वही पृष्ठ १०४। ४. वही पृष्ठ १०३।
५. E. W. Thompson 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' पृष्ठ १०३।

प्राचीन काल व तत्कालीन अनेक देवो-देवताओं को हिन्दू धर्म के रुद्र अथवा विष्णु का रूप मानकर पूजा की पद्धति में भी एक प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित किया गया।[1]

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रवर्तक रामानुजाचार्य इस समय में विद्यमान थे। (१०१७–११३७ ई०)।[2] द्वैतवाद के प्रवर्तक माधवाचार्य का इसी समय सन् १११९ ई० में दक्षिण कनार में उडुपी के पास जन्म हुआ था।[3]

संस्कृत साहित्य में यह संक्रान्तिकाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन इसी काल में हुए हैं। कारण यह था कि दो भिन्न प्रकार की सभ्यताओं और संस्कृतियों (हिन्दू एवं मुस्लिम) के संघट्ट से संकृत साहित्य के प्रवाह में एक अद्भुत नवीन स्रोत का प्रादुर्भाव हुआ।

कल्हण के बाद के कुछ प्रमुख 'ऐतिहासिक महाकाव्य

ऐतिहासिक महाकाव्यों की यह परम्परा कल्हण के बाद भी मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर चलती आ रही है। इस परम्परा के कुछ महत्त्वपूर्ण महाकाव्यों का ही परिचय यहाँ संक्षेप में देने का प्रयास किया जा रहा है।

आचार्य हेमचन्द्र—(१०८९–११७३) ये श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के महान् आचार्य थे तथा अपनी सर्वातिशायी विद्वत्ता के कारण 'कलिकालसर्वज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने दर्शन, व्याकरण, कोश, काव्यशास्त्र और काव्य—सभी पर पर्याप्त मात्रा में लिखा है। इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य का नाम 'कुमारपालचरित' हैं जिसे 'द्वयाश्रय काव्य' भी कहा जाता है। इसमें कवि ने गुजरात के राजाओं के साथ-साथ अपने आश्रयदाता कुमारपाल का जीवन चित्रित किया है। इसके २८ सर्गों में से प्रथम बीस में संस्कृत और अन्तिम आठ में प्राकृत का प्रयोग किया गया है। गुजरात विशेषकर कुमारपाल के समय का इतिहास जानने के लिए यह काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

१. ई० डब्ल्यू० थाम्पसन—'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' पृष्ठ १०३।

२. वही—पृष्ठ १०४ (फुटनोट नम्बर १)

३. ई० डब्ल्यू० थाम्पसन इन विभिन्न वादों का अन्तर बताते हुए अपनी 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में पृष्ठ १०५ (फुटनोट) में लिखते हैं—

"दस, इन ए वर्ल्ड, दि अद्वैत स्कूल।

टीचेज दैट दि सोल विदइन अस इज गौड्।

दि विशिष्टाद्वैत दैट दि सोल इज ए पार्ट ऑफ गौड्।

एण्ड द्वैत, दि सोल इज

अदर दैन गौड, शंकर्स वे ऑफ सालवेशन इज दि वे ऑफ नोलेज (ज्ञान मार्ग), दैट ऑफ रामानुज एण्ड माधावाचार्य इज दि वे ऑफ डिवोशन—भक्तिमार्ग।

सन्ध्याकरनन्दिन—(१२वीं शती) इस महाकवि का लिखा हुआ 'रामपाल-चरित' महाकाव्य मिलता है। इसमें तत्कालीन बंगाल के राजा कुमारपाल के वीरता-पूर्ण कार्यों का वर्णन है। इस राजा ने राजा भीम से अपने हस्तगत राज्य को पुनः जीत लिया था साथ ही मिथिला को भी अपने राज्य में मिला लिया था। काव्य में महाकाव्योचित गरिमा है, तथा इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है।

जयानक—(१२०० ई० के आसपास) ये अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के दरबारी कवि थे और सम्भवतः काश्मीरी थे। इनका लिखा हुआ 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व रखता हैं। इसमें अजमेर और दिल्ली के चौहान राजाओं के वर्णन की पृष्ठभूमि में दिल्ली पर पृथ्वीराज की विजयों का वर्णन है। भाषा, शैली और वर्णन आदि की दृष्टि से काव्य अच्छा है, किन्तु दुर्भाग्यवश अधूरा ही मिलता है। काश्मीरी कवि जोगराज ने इसकी व्याख्या लिखी है।

गंगादेवी—(१४वीं शती) इस प्रसिद्ध महिला कवयित्री ने अपने पति और विजयनगर के राजा वीरकम्पराय पराक्रमपूर्ण कार्यों का चित्रण करने के लिए 'मधुरा विजय' महाकाव्य लिखा। इसका दूसरा नाम 'वीर काम्पराय चरित' भी है। इसकी शैली अत्यन्त प्रौढ़ है।

नयचन्द्रसूरि—(१४-१५वीं शती) ये श्वेताम्बर जैन कवि थे। इन्होंने 'हम्मीरमहाकाव्य' की रचना ग्वालियर के तत्कालीन राजा वीरमदेव तोमर की प्रेरणा से वि सं० १४४० में की थी। इसमें रणथंभौर के अन्तिम प्रतापी राजा हम्मीरदेव के पराक्रम का वर्णन है। इसमें स्थान-स्थान पर तिथियों का भी उल्लेख पाया जाता है। इसमें १४ सर्ग और १५७२ पद्य हैं। ऐतिहासिक होते हुए भी, विद्वानों की दृष्टि में यह साहित्यिक अधिक है।

चन्द्रशेखर—(१६वीं शती) इन्होंने काशी में रहते हुए 'सुरजनचरित' नामक महाकाव्य लिखा। सुरजन अकबर के विश्वासपात्र तथा हाड़ावंशी बूंदी के राजा है। इसमें सुरजन सहित अन्य बंदी नरेशों का वर्णन हुआ है। इसमें २० सर्ग हैं। कवि काव्य में कालिदास की प्रसाद गुण सम्पन्न शैली का प्रयोग किया गया है।

लक्ष्मीनारायण त्रिवेदी—(१०-४-१८९९—१४-८-१९८०)—त्रिवेदी जी उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद जिले के तिर्वा ग्राम के निवासी थे और लगभग २१ ग्रन्थों के लेखक थे। इन्होंने पुरु और सिकन्दर के प्रसिद्ध ऐतिहासिक वृत्त को आधार बना कर 'पुरु सिकन्दरीयम्' नामक ऐतिहासिक काव्य लिखा है, जो अभी तक अप्रकाशित है। कवि ने यथावसर कल्पना का प्रयोग करते हुए प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं को ध्यान में रखा है। इसमें १८ सर्ग और लगभग ११०० पद्य हैं।

डा० श्रीधरभास्कर वर्णेकर—(जीवित) वर्णेकर जी का स्थान आधुनिक संस्कृत कवियों में बहुत ऊँचा है। ये नागपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त कर साहित्य सेवा में लीन हैं। इन्होंने अब तक संस्कृत में लगभग २० पुस्तकों की रचना की हैं जिसमें १२, खण्डकाव्य, २ नाटक, १ महाकाव्य,

और शेष अन्य हैं। इनके 'शिवराज्योदयम्' को संस्कृत का सबसे बड़ा महाकाव्य होने का श्रेय प्राप्त है। इसके ६४ सर्गों में महाराज शिवाजी के पावन और उदात्त चरित्र का बड़ी सरल शैली में वर्णन किया है। घटनाएं सभी इतिहास-सम्मत हैं इसलिये ऐतिहासिक मूल्य बहुत है। वर्णेकर जी ने शिवाजी के चरित्र पर एक नाटक भी लिखा है।

पं० प्रभुदत्त स्वामी—(जीवित) स्वामी जी संस्कृत के उन महाकवियों में है, जिनका उदय शताब्दियों में कभी-कभी होता है। वे मेरठस्थ विल्वेश्वर संस्कृत-महाविद्यालय के साहित्य विभागाध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त कर लगभग ७५ वर्ष की वय में भी भगवती सुरभारती की साधना में अनवरत लीन रहते हैं। इनके अनेक संस्कृत ग्रन्थों में 'पूर्वभारतम्' और 'मौर्यचन्द्रोदयम्' ये दो ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। इनमें 'पूर्वभारतम्' प्रकाशित हो चुका है तथा उ० प्र० सरकार और केन्द्रीय सरकार से पुरस्कृत भी। 'मौर्यचन्द्रोदयम्' को प्रकाशन की अपेक्षा है। 'पूर्वभारतम्' में उच्च कोटि का कविकर्म दृष्टिगत होता है, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों को कहीं आंच नहीं आने पाई है। इसमें महाभारतकाल से लेकर पुरु और सिकन्दर के युद्ध तक के वृत्त को काव्य की कथावस्तु बनाया गया है। स्वामी जी इसी शृंखला की तीसरी कड़ी के रूप में गुप्तराजाओं पर भी एक महाकाव्य लिखना चाहते हैं। यदि उनमें स्वास्थ्य और सुरभारती के सौभाग्य ने साथ दिया तो उनका वह स्वप्न अवश्य ही पूरा होगा।

डा० परमानन्द शास्त्री—(जीवित) डा० शास्त्री हिन्दी और संस्कृत के असामान्य प्रतिभा के ख्यातनामा कवि हैं। ये सम्प्रति अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। संस्कृत में लिखे इनमें तीन काव्य अबतक प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'जनविजयम्' एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसके पन्द्रह सर्गों में आपातकाल के पश्चात् होने वाली जनता पार्टी की विजय की घटना का सचित्र और हृदयग्राही वर्णन किया गया है। साथ ही उन समस्त ऐतिहासिक घटनाओं को भी सिलसिलेवार प्रस्तुत किया गया है, जिन्होंने आपातकाल की घोषणा की पृष्ठभूमि का काम किया था। काव्य में भाषा, भाव और ऐतिहासिक तथ्यों के समन्वय में अद्भुत दक्षता प्रदर्शित की गई है।

बहुत से शुद्ध तथा उससे भिन्न ऐसे भी ऐतिहासिक महाकाव्य प्रस्तुत किये गए है जो चरित्र विशेष को केन्द्र बनाकर लिखे गये हैं, फिर भी जिनमें इतिहास पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है जैसे—

१. पण्डिता क्षमाराव	तुकारामचरितम्
	रामदासचरितम्
	सत्याग्रहगीता
	उत्तरसत्यागीता
	स्वराज्यविजय

२. श्री भगवदाचार्य	भारतपारिजातम्
	पारिजात सौभरम्
	पारिजातापहारः
	रामानन्द दिग्विजयम्
३. द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री	स्वराज्यविजयः
४. श्री सुधाकर शुक्ल	गान्धीसौगन्धिकम्
५. डॉ० सत्यव्रत शास्त्री	इन्दिरागान्धीचरितम्
६. श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल	नेहरुचरितम्
	श्रीगान्धिचरितम्
७. अखिलानन्द शर्मा	दयानन्ददिग्विजयम्
८. आचार्य मेधाव्रत	दयानन्ददिग्विजयम्
९. बिलीपदत्त शर्मा	दयानन्दोदयः
१०. विश्वनाथ केशव छत्रे	सुभाषचरितम्
११. त्र्यम्बक शर्मा भण्डारकर	स्वामि विवेकानन्द चरितम् आदि।

स्पष्ट है, संस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्यों की धारा इस समय तीव्रगति से प्रवहमान है। किसी प्राचीन भाषा में किसी एक कालखण्ड में एक प्रकार के इतने महाकाव्य लिखे गए हो, ऐसा कभी सुनाई नहीं पड़ा।

अध्याय

६ नाटक

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति

भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मा जी ने सर्वप्रथम नाटयवेद की रचना की और भरतमुनि ने पृथ्वी मण्डल में उसका प्रचार किया। भरतमुनि ने अपने नाटयशास्त्र में लिखा है कि ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस को ग्रहण करके, इन तत्त्वों से नाटयवेद की सृष्टि की–

"जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयं रसानार्थणादपि ॥"

किन्तु कीथ महोदय ने अपने 'संस्कृत-ड्रामा' में नाटक की उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिक अनुसन्धान के आधार पर अनेक विचार प्रस्तुत किये हैं। संवाद, संगीत, नृत्य और अभिनय नाटक के प्रधान अङ्ग हैं। वैदिक काल के इन सभी अङ्गों का अस्तित्व किसी न किसी रूप में था। ऋग्वेद में यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, सरमा और पणि आदि के संवादसूक्तों में नाटकीय कथोपकथन का तत्त्व विद्यमान है। सामवेद में संगीत का तत्त्व है। ऐसे ही संवाद परिमार्जित और परिष्कृत होकर नाटकों के रूप में आ गये। वैदिक अनुष्ठानों में कुछ ऐसे क्रिया-कलाप भी होते थे जिनमें अभिनय का तत्त्व था। इसी आधार पर हिलीब्रांड और कोनो सरीखे पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि वेदों में यज्ञ-यज्ञादि विषयक नाटक विद्यमान थे। वैदिक क्रिया-कलापों में अभिनय का तत्त्व भले ही रहा हो, किन्तु वे यज्ञीय नाटक नहीं कहे जा सकते, अतः कोनो आदि का मत समीचीन नहीं कहा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में नाटक के मूल तत्त्व अवश्य विद्यमान थे, अतः यह कहना तो ठीक है कि संस्कृत नाटक की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई, किन्तु नाटक का विकसित रूप वेदों में कहीं उपलब्ध नहीं होता। 'रामायण' और 'महाभारत' में नाटक का अधिक स्पष्ट उल्लेख मिलता है। विराट् पर्व में 'रंगशाला' का उल्लेख हुआ है। 'नट' शब्द भी मिलता है। 'हरिवंश' में एक नाटक के खेले जाने का उल्लेख है। रामायण में 'नट' 'नाटक', 'नर्तक' और 'रंग' शब्दों का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है। 'कुशीलव' 'शब्द का प्रयोग' भी अभिनेता के अर्थ में मिलता है। धार्मिक महोत्सवों और यात्राओं के अवसर पर खुले स्थानों में मनोरंजनार्थ राम और कृष्ण की लीलायें खेली जाती थीं। पिशेल का यह मत भ्रमात्मक है कि कठपुतलियों के खेल से नाटकों की उत्पत्ति हुई। पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४/३/११०) सूत्र में 'नटसूत्र' या नाटयशास्त्र' का स्पष्ट उल्लेख किया है। लक्ष्य-ग्रन्थों

के पश्चात् ही लक्षण-ग्रन्थ लिखे जाते हैं, अतः सिद्ध है कि पाणिनि के समय से बहुत पूर्व अनेक नाटक लिखे जा चुके होंगे। चौथी पाँचवी शताब्दी ई० पू० तक तो उत्तरोत्तर परिष्कृत होकर राजनीतिक नाटकों की रचना भी होने लगी थी, जैसा कि भास के नाटकों से विदित होता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'कंसवध' और बालिवध' नाम के दो नाटकों का उल्लेख किया है। छोटा नागपुर की पहाड़ियों में द्वितीय शताब्दी ई० पू० की एक प्राचीन नाट्यशाला प्राप्त हुई है जो नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रेक्षागृहों के अनुरूप है।

प्रथम शताब्दी ई० पू० के कालिदास के नाटकों में संस्कृत नाटकों का सर्वोत्कृष्ट परिष्कार और परिमार्जन प्राप्त होता है।

संस्कृत नाटकों में रंगशाला के परदों के लिये यत्र-तत्र 'यवनिका' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसी आधार पर 'कोनो' आदि कतिपय पाश्चात्य आलोचक अनुमान लगाते हैं कि संस्कृत नाटकों की सृष्टि यूनानी नाटकों के प्रभाव से हुई। किन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त और निर्मूल सिद्ध हो चुका है क्योंकि शब्द 'यवनिका' नहीं अपितु 'जू' धातु से निष्पन्न 'जवनिका' है। 'यवनिका' हो तो भी यही कहा जा सकता है कि रंगमञ्च के परदे यूनान से आये, जो वस्त्रों के बनते रहे होंगे। वस्तुतः संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से हुई और उनका विकास भी अपने ढंग का निराला है।

संस्कृत नाटकों का विकास

संस्कृत नाट्य-साहित्य ने अपने उद्भव एवं क्रमिक की साधना में कुछ तत्त्व वैदिक साहित्य से ग्रहण किए; कुछ तत्त्व इतिहास पुराणों से स्वीकार किए एवम् कुछ लोकगीतों से अपनाये। सामाजिक एवम् धार्मिक क्रिया-कलापों के हेतु किए गये उत्सवों से इसे प्रोत्साहन मिला। पतञ्जलि के समय तक इसका पूर्ण रूप से अभिनय होने लगा था। इस प्रकार संस्कृत नाटकों के विकास एवम् उद्गम ने शताब्दियों का समय लिया।

ईसवी सन् १९११ से पहले संस्कृत साहित्य के प्रथम नाटककार कालिदास ही स्वीकार किये जाते थे। परन्तु १९१३ में गणपति शास्त्री ने ट्रावनकोर राज्य में १३ नवीन रूपक खोज निकाले। यद्यपि इन नाटकों के रचैयिता के विषय में वैमत्य है तथापि अधिकतर विद्वान् इन्हें भासकृत ही मानते हैं। कालिदास ने अपने नाटकों में भास का उल्लेख किया है। अतः नाटक कालिदास से पहले के हैं। डॉ० ल्यूडर को अश्वघोष के कुछ नाटक प्राप्त हुये थे। सुविधा की दृष्टि से हम एक-एक नाटककार का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

(१) भास

भासरचित १३ रूपक उपलब्ध हैं। इन नाटकों में से ६ के कथासूत्र महाभारत से गृहीत हैं। दो की कथावस्तु रामायण से और शेष ५ नाटक अर्ध-ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध हैं। जैसे—

(१) 'प्रतिज्ञयौगन्धरायण' में चार अंक हैं। इसमें उदयन तथा वासवदत्ता के प्रेम एवं विवाह का वर्णन है।

(२) स्वप्नवासवदत्तम् छः अङ्कों का नाटक है। मन्त्री-यौगन्धरायण वह प्रवाद विस्तृत करता है कि वासवदत्ता अग्नि में भस्म हो गई। इसी आधार पर 'वह उदयन और पद्मावती का विवाह कराने में सफल होता है। उदयन को उसका अपहृत राज्य पुनः प्राप्त हो जाता है। यह 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है।

(२) उरुभंग—इस नाटक में द्रौपदी के अपमान के प्रतीकारस्वरूप भीम द्वारा दुर्योधन की जंघा के तोड़े जाने का वर्णन है। यह एकांकी नाटक है। यह संस्कृत साहित्य का दुःखान्त नाटक है। इसमें दुर्योधन के क्षत्रियोचित चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में अश्वत्थामा का प्रचण्ड चरित्र रोचकता को बढ़ा देता है। यह एक व्यायोग है।

(४) दूतवाक्यम्—यह भी एकांकी है। इसमें पाण्डवों की ओर से सन्धि-प्रस्ताव लेकर श्रीकृष्ण के दुर्योधन की सभा में जाने और विफल लौटने का वर्णन है। यह व्यायोग रूपक है।

(५) पञ्चरात्रम्—इसमें तीन अंक हैं। द्रोण के आग्रह पर पाँच रात्रियों के अन्दर पाण्डवों के मिल जाने पर दुर्योधन आधा राज्य पाण्डवों को दे देता है। यज्ञान्त में द्रोण को दुर्योधन यही दक्षिणा देता है।

(६) बालचरितम्—इसमें ५ अंक हैं। कथा 'श्रीमद्भागवत' जैसे किसी पुराण पर आश्रित है। कृष्ण-जन्म से लेकर कंस-वध तक की कथा का वर्णन है। यह भास का पूर्णतः प्रौढ़ नाटक है।

(७) दूतघटोत्कच—यह एकांकी नाटक है। इसमें अभिमन्यु की मृत्यु पर इसमें श्री कृष्ण घटोत्कच को दूत के रूप में धृतराष्ट्र के पास भेजते हैं। यह व्यायोग है।

(८) कर्णभार—यह भी एकांकी है। इसमें ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र को कर्ण दान में अपने कवच और कुण्डल देता है। व्यायोग यह भी है।

(९) मध्यमव्यायोग—यह एक अंक का व्यायोग है। इसमें मध्यम पाण्डव भीम घटोत्कच से एक ब्राह्मण-पुत्र की रक्षा करते हैं। अन्त में पुत्र-दर्शन और हिडिम्बा मिलन की कथा वर्णित है।

(१०) प्रतिमानाटकम्—इसमें ७ अंक हैं तथा राम-वनगमन और भरत के अयोध्या आगमन तक की 'रामायण' की कथा संक्षेप में वर्णित है।

(११) अभिषेकनाटकम्—इसमें भी छह अंक हैं तथा किष्किन्धाकाण्ड से युद्ध-काण्ड तक की कथा संक्षेप में दी है। रावण-वध के उपरान्त राम के राज्याभिषेक तक का वर्णन है।

(१२) अविमारक—इसमें भी छह अंक हैं। राजकुमार अविमारक राजा

कुन्तिभोज की पुत्री 'कुरङ्गी' के साथ प्रणय विवाह करता है । इसकी कथावस्तु कल्पित है ।

(१३) चारुदत्तम्—इसमें केवल ४ अंक हैं । यह भास की अन्तिम एवं अपूर्ण कृति है । इसमें 'चारुदत्त' नामक निर्धन किन्तु उदार ब्राह्मण और 'वसन्तसेना' नाम की वेश्या के प्रेम-सम्बन्ध का वर्णन है । यह भास का अन्तिम नाटक है । 'वीणावासवदत्ता' और 'यज्ञफलम्' आदि कुछ अन्य नाटक भी भास रचित कहे जाते हैं किन्तु उनकी भाषा शैली, कथा-वस्तु आदि से यह बात सिद्ध नहीं होती है ।

महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री द्वारा खोजकर प्रस्तुत किये हुए इन नाटकों के अध्ययन के पश्चात् विद्वत्समाज के सामने कई प्रश्न उभरे । उनमें से दो मुख्य थे—(१) ये रूपक वस्तुतः इन्हीं भास की रचना हैं अथवा नहीं, जिनका उल्लेख एक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं समादृत नाटककार के रूप में कालिदास ने किया है और (२) भास का स्थितिकाल क्या था ?

इन रूपकों में पाये जाने वाले पारस्परिक साम्यों तथा अन्य अनेक अन्तरंग एवं बहिरंग साक्ष्यों के आधार पर विविध खण्डन-मण्डनों के पश्चात् विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि ये सभी रूपक भास की ही रचनायें हैं । उनकी स्थिति के विषय में भी इतना तो निश्चित ही है कि वे कालिदास के पूर्व हुये । परन्तु कालिदास के स्थितिकाल के विषय में व्याप्त मतभेद के आधार पर हीं भास के काल के विषय में भी कई धारणायें प्रचलित हैं । जो लोग कालिदास को गुप्तकाल का मानते थे उन्होंने भास को द्वितीय शताब्दी ईसवी में उत्पन्न माना था । परन्तु अब अधिकांश विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि कालिदास प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के हैं और इस प्रकार भास के स्थितिकाल के विषय में भी उन्हीं विद्वानों का मत सही सिद्ध होता है, जिन्होंने भास को चौथी या पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व तक का माना है । भास के ही एक नाटक 'दरिद्रचारुदत्तम्' के आधार पर विरचित 'मृच्छकटिकम्' के रचयिता राजा शूद्रक का शासन काल २२०–१९७ ई० पूर्व माना जाता है । इससे भी भास के स्थितिकाल के विषय में उक्त धारणा पुष्ट होती है ।

प्रो० कीथ, जैकोबी, विंटरनिट्ज आदि विद्वानों ने तेरहों नाटकों को भास की ही रचना के रूप में स्वीकार किया है, यद्यपि वार्नेट और सिलवां लेवी उनके मत से सहमत नहीं हैं । इन रूपकों में ऐसी सामान्य बातें हैं जिनसे सब एक ही कवि के सर्जन सिद्ध होते हैं । उदाहरणार्थ चार नाटकों की नान्दी में 'मुद्रालंकार' समान रूप से प्राप्त हैं । एक ही 'भरतवाक्य' का प्रयोग कई नाटकों में मिलता है । सभी नाटकों में 'प्ररोचना' का अभाव है । सभी में भूमिका अत्यन्त छोटी है । पाणिनीय व्याकरण का उल्लंघन प्रायः सब में समान है । प्रायः सब में एक ही ढंग की कल्पनायें तथा विचारों की पुनरावृत्ति मिलती है । शब्दावली और शैली एक-सी है । सभी नाटकों के पात्रों की भूमिकायें बहुत छोटी हैं । इन सभी नाटकों में इतस्ततः आग लगाने का घटना-वर्णन प्रायः मिलता है । इसलिए इन सभी रूपकों का रचयिता एक व्यक्ति है ।

समस्त रचनाओं में भाषा और शैली का अद्भुत प्रसादपूर्ण प्रकर्ष देखने को मिलता है। लक्षणा, व्यञ्जना से समृद्ध अर्थ-वैचित्र्य और उपमा, रूपक आदि अर्थप्रधान अलङ्कारों का प्रयोग इन रचनाओं में सर्वत्र प्राप्त होता है।

भास के नाटकों की विशेषतायें—यद्यपि उपलब्ध नाटक-साहित्य में सबसे प्राचीन रचनायें भास की ही हैं, फिर भी यह मानने के लिए पर्याप्त कारण और आधार हैं कि संस्कृत नाटकों का यथेष्ट विकास भास के पूर्व ही हो चुका था। उनकी कृतियों में नाटकीय विशेषताओं, सूक्ष्मताओं तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों और रंगमंच की व्यावहारिकताओं का जो समन्वय प्राप्त होता है वह सैकड़ों वर्षों की साधनामय परम्परा का द्योतक है। भास के नाटक तो नाटकीय रचना का समुन्नत और उच्च आदर्श प्रस्तुत करते हैं जिनमें आधुनिक नाटकीय सिद्धान्तों का भी पूर्ण समावेश है।

भास की सबसे बड़ी विशेषता भाषा की सरलता है। यह सरलता उनकी प्राचीनता की द्योतक होने के साथ ही साथ भाषा पर उनके असाधारण अधिकार का भी परिचय देती है। उनकी सूक्तियाँ अनेक परवर्ती विद्वानों के द्वारा उद्धृत की गई हैं। इन्होंने किसी भी रचना में अपना नाम नहीं दिया। समस्त रूपकों का प्रारम्भ 'नान्दी' से न होकर 'सूत्रधार' से ही होता है जो किसी विशिष्ट नाट्य-सम्प्रदाय की परम्परा का द्योतक है। भूमिका के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'मुद्रालंकार' का भास ने विशिष्ट प्रयोग किया है। 'पताकास्थानकों' का भी प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। भास के नाटकों के अनेक पात्रों का उल्लेख प्रायः उनकी माताओं के नाम के साथ हुआ है—'कौसल्यामातः', सुमित्रामातः', 'कैकेयीमात.' 'सौमित्रि' आदि।

(२) शूद्रक

ऐतिहासिक अनुसन्धान करने वालों को आज भी यह प्रश्न उलझाये हुए है कि मृच्छकटिक' नामक प्रसिद्ध 'प्रकरण' के लेखक राजा शूद्रक कल्पित व्यक्ति है अथवा वास्तविक। उनके व्यक्तित्व पर प्रामाणिक प्रकाश डालने की आवश्यकता आज भी बनी है। शूद्रक के विषय में संस्कृत में अनेक दन्तकथायें प्रचलित हैं। 'कथा-सरित्सागर', 'वेतालपञ्चविंशति', 'कादम्बरी', 'हर्षचरित', 'स्कन्दपुराण', 'राजतरंगिणी आदि ग्रन्थों में शूद्रक का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना के दो श्लोकों में शूद्रक का परिचय मिलता है, साथ ही उनकी मृत्यु का भी वर्णन है। अपने ही ग्रन्थ में कोई कवि अपनी मृत्यु का उल्लेख कैसे कर सकता है? प्रस्तावना के दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हों तो भी उनसे दो तथ्य निश्चय ही ज्ञात होते हैं—

(१) शूद्रक ने या उनके लिए किसी अन्य कवि ने 'मृच्छकटिक' की रचना की।

(२) शूद्रक एक राजा थे

आचार्य वामन (८०० ई०) ने 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में 'मृच्छकटिक' से दो

पद्य (१/९, २/६) उद्धृत किये हैं तथा शूद्रक को उसका रचयिता माना है। कीथ का अनुमान है कि रामिल और सौमिल्ल नाम के किसी अज्ञात कवि कवियों ने भास के 'चारुदत्त' नाटक को परिवर्धित करके 'मृच्छकटिका' नाम देकर राजा शूद्रक के नाम से युक्त करके प्रचारित कर दिया।

निर्माण काल—जहाँ तक 'मृच्छकटिक' के रचना काल का सम्बन्ध है, निम्नांकित तथ्यों से उस पर प्रकाश पड़ता है—(१) कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है और उनके नाटकों पर 'मृच्छकटिक' का कुछ प्रभाव लक्षित होता है। अतः 'मृच्छकटिक' की रचना उनसे कुछ पहले अवश्य हो चुकी होगी। तब प्रश्न होता है कि शूद्रक के विषय में कालिदास मौन क्यों हैं? जब रामिल, सौमिल्ल और भास का उल्लेख 'मालविकाग्निमित्र' में किया है। हो सकता है कि कालिदास को दृष्टि में 'मृच्छकटिक' मौलिक रूपक न होने के कारण विशेषता न रखता हो। दूसरे मृच्छकटिक' में 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग एक 'पुलिस अधिकारी' के लिये हुआ है, जो इस शब्द का प्राचीन अर्थ है। बाद में साहित्य में 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग 'राजा के साले' के अर्थ में होने लगा। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के छठे अंक में राष्ट्रिय शब्द का प्रयोग इसी बाद वाले अर्थ में किया है। इस आधार पर 'मृच्छकटिक' कालिदास के पूर्व की रचना सिद्ध होती है। तीसरे 'मृच्छकटिक' में आठ प्रकार की प्राकृत भाषायें प्रयुक्त हुई हैं, जिनमें 'प्राकृत व्याकरण' के नियमों का पालन नहीं किया गया है। सिद्ध है कि इन ग्रन्थों से पहले ही 'मृच्छकटिक' की रचना हुई होगी। बात यह भी है कि भास के 'चारुदत्त' नाटक का परिवर्धन करके 'मृच्छकटिक' का सर्जन हुआ। अतः यह रचना भास के बाद की है, जिसका समय द्वितीय या तृतीय शताब्दी पूर्व माना जा सकता है।

कथा-भाग—मृच्छकटिक दस अंकों का पूर्ण 'प्रकरण' है। संक्षिप्त कथानक यह है—उज्जयिनी की प्रसिद्ध वेश्या वसन्तसेना चारुदत्त नाम के व्यापारी ब्राह्मण पर अनुरक्त है। उधर शकार, राजा का साला वसन्तसेना को वश-वर्तिनी करना चाहता है। एक रात में वह वसन्तसेना का पीछा करता है, जो उसे धोखा देकर चारुदत्त के घर में प्रवेश कर जाती है। शकार के भय से वसन्तसेना चारुदत्त के घर में अपने आभूषण रख आती है। उधर मदनिका को वसन्तसेना की दासता से छुड़ाने के लिए उसका स्नेही शर्विलक चारुदत्त के घर मे सेंध लगाकर वसन्तसेना के उन्हीं आभूषणों को चुरा लाता है, जिनसे मदनिका सेवा-मुक्त हो जाती है। चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता, वसन्तसेना को आभूषणों के बदले अपनी रत्नावली दे देती है। चारुदत्त का पुत्र रोहसेन एक मिट्टी की गाड़ी लेकर जब वसन्तसेना के घर जाता है तो वह अपने गहनों से उसकी मिट्टी की गाड़ी भर कर कहती है, इनसे सोने की गाड़ी बनवा लेना। 'मृच्छकटिक' (मृत्शकटिक) (मिट्टी की गाड़ी) यह नाम इसी घटना से सम्बन्धित है। वर्षा-ऋतु में पूर्व निश्चयानुसार चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक बाग़ में जाता है। वसन्तसेना भ्रम से चारुदत्त की गाड़ी के स्थान पर समीपस्थ शकार की

गाड़ी में बैठ जाती है। उधर आर्यक राजा पालक की कैद से भाग कर चारुदत्त की गाड़ी में जा बैठता है। उधर जब वसन्तसेना पुष्पकरण्डक बगीचे में पहुँचती है तो चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट शकार दिखाई देता है। वह वसन्तसेना का गला घोट देता है। संवाहक नाम का बौद्ध भिक्षु उसे पुनः जीवित करता है। यहाँ शकार न्यायालय में वसन्तसेना की हत्या का अभियोग चारुदत्त पर लगाता है। चारुदत्त को फांसी की आज्ञा होती है। उधर पालक राजा को मारकर चारुदत्त का मित्र आर्यक आप राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को मुक्त करके उसके कहने से शकार को भी क्षमा कर देता है। अन्त में चारुदत्त और वसन्तसेना का विवाह होता है।

'मृच्छकटिक' में नाटककार ने प्रेम के कथानक को बड़े कौशल से राजनीतिक घटनाओं के साथ जोड़ दिया है। सब प्रकार के पात्रों की सृष्टि करके शूद्रक ने तत्कालीन समाज का बड़ा सजीव और यथार्थ चित्रण किया है। इसमें चोर, धूर्त, जुआरी, क्रांतिकारी, वेश्या, पुलिस के अधिकारी, राजा, ब्राह्मण आदि सब प्रकार के पात्र अपने व्यापारों से नाटक को रोचकता प्रदान करते हैं। इसमें कथानक का क्रमिक विकास, घटनाओं का घातप्रतिघात, सामाजिक जीवन की सर्वाङ्गीण झांकी, यह सब गुण उसे रंगमंच के योग्य बना देते हैं। कहीं जुआ खेलने वाला मूर्ख संवाहक है तो कहीं ब्राह्मण चोर शर्विलक जनेऊ से सेंध का वृत्त बनाता है। कहीं प्रवहणों का विपर्यय होता है, तो कहीं उद्यान में वसन्तसेना की हत्या का यत्न किया जाता है। कहीं न्यायालय है तो कहीं वधस्थल का भयानक दृश्य एक ओर करुणा उदारता, पतिभक्ति और गुण-ग्राहकता है, तो दूसरी ओर कपट, पाखण्ड क्रूरता और मूर्खता।

मृच्छकटिक' की सी विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग किसी अन्य संस्कृत नाटक में नहीं हुआ। हास्य रस का चित्रण भी इसमें अनूठा है। कथानक में गतिशीलता है। भाषा सरल, शैली प्रवाह-युक्त और भावव्यञ्जना सुस्पष्ट है। जीवन के महान् सत्य चाहे उद्घाटित न किये गए हों, किन्तु करुण मिश्रित शृंगार की स्निग्ध धारा, प्रकृति का मनोरम चित्रण, रमणीय उपमाओं और रोचक कल्पनाओं से प्रायः छोटे छन्दों में संचार कर शूद्रक ने नाटक की रोचकता में वृद्धि कर दी है। शूद्रक की शैली का परिचय निम्नलिखित चन्द्रोदय के वर्णन से प्राप्त होगा—

"उदयति हि शशांकः कामिनीगण्डपाण्डुर्मृगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्येरश्मयो यस्य गौराः क्षतजल इव पङ्के क्षीरधाराः पतन्ति॥"

"विरहिणी प्रेमिका के कपोलों सा पीला पड़ा चन्द्र, नक्षत्रों से घिरा, राजमार्ग के प्रदीप सा उदित हो रहा है, उसकी शुभ्र किरणें तमःपटल पर पड़ती हुई, सूखे काले पंख पर गिरती हुई दूध की पतली धाराओं सी प्रतीत होती हैं।

(३) कालिदास

महाकवि कालिदास संस्कृत वाङ्मय के सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं। कथावस्तु की गठन शैली में रमणीयता, पात्रों के चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता,

सम्वादों की मनमोहकता, घटनाओं की मार्मिकता एवं वर्णनों की भावात्मकता सभी दृष्टिकोणों से कालिदास के नाटक अद्वितीय सिद्ध होते हैं। उनके युग एवं काल के विषय में महाकाव्यों के प्रकरण में विशद रूप से विचार किया जा चुका है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि कालिदास प्रथम शताब्दी ई० पू० में उज्जयिनी के परमार वंशी सम्राट विक्रमादित्य के राज्यकाल में विद्यमान थे। भारतीय नाट्यकला का पूर्ण उद्रेक हमें कालिदास की रचनाओं में सर्वप्रथम प्राप्त होता है। अनूठी कल्पना-शक्ति और विलक्षण नाट्य-नैपुण्य के बल पर कालिदास विश्व के सभी नाटककारों में अग्रगण्य माने जाते हैं। उनकी अलौकिक प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनके महाकाव्य जैसे सरल और हृदयग्राही हैं, जैसी नवीन और कमनीय कल्पना-शक्ति उनके 'मेघदूत' में दिखाई देती है वैसी ही अपूर्व और अद्भुत रचना चातुरी से उनके नाटक देदीप्यमान हो उठे हैं। इनके तीन नाटक आज उपलब्ध हैं—

(१) 'मालविकाग्निमित्र', (२) 'विक्रमोर्वशीय' और (३) 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'

रचनाक्रम में 'मालविकाग्निमित्र' का प्रथम स्थान है। इसमें कवि कहता है—""पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्"—यहाँ कवि अपनी नवीन और प्रथम रचना प्रस्तुत करना चाहता है। पाँच अंक के इस नाटक में शुङ्ग-वंशी राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणय-कथा का अनूठा वर्णन है। राज-महिषी की परिचारिका मालविका अपने अनुपम सौन्दर्य से राजा को आकृष्ट करती है। रानी उससे स्वाभाविक ईर्ष्या करने लगती है। अन्त में मालविका को यह शुभ-संवाद कि वह जन्म से राजकुमारी है, राजा अग्निमित्र के कण्ठ का हार बना देता है। उसकी लतासदृश कोमल बाहें, प्रियतम के शरीर को स्पर्श के आनन्दातिरेक से नृत्य कराने में समर्थ होती हैं।

प्रथम कृति होने पर भी यह कवि, की उत्कृष्ट रचना है। कवि की प्रसाद-पूर्ण मनोहर भाषा, चटकीले एवम् सरल उत्तर-प्रत्युत्तर, सामयिक कथन नाटक में विशेष स्थान रखते हैं। मालविकाग्निमित्र' में वैचित्र्यपूर्ण प्रसंग, वर्णनों में काव्य-सौन्दर्य, चटकीले सम्वाद, सामयिक श्लेषोक्तियाँ होते हुये भी भावों का गाम्भीर्य और चरित्र-चित्रण की स्थिरता नहीं है। कथानक तो जटिल है ही, पात्रों के मनो-विकारों का विश्लेषण भी यत्नपूर्वक संवार कर नहीं किया गया। कथा में अन्तःपुर के प्रणय षड्यन्त्र और जीवन की सीमित समस्याओं का दिग्दर्शन मात्र पाया जाता है। कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण शक्ति पूर्णतः विकसित नहीं हो पाई है। ग्रीष्म का यह चित्र दर्शनीय है—

'पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयोड्डीन पारावतानि।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिपतति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुत्रैः समग्रस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥२/१२॥

राजमहल की बावलियों में, कमल के पत्तों की छाया में, हंस नेत्र बन्द किये

ऊंघ रहे हैं। अधिक ग्रीष्म से तप्त होकर, महलों के छज्जों से कबूतर, बारम्बार उड़ते हैं। जलकणों के पान की लालसा से मयूर घूमते हुए फव्वारे के समीप आ विराजता है। सूर्य अपनी सब रश्मियों से ही प्रचण्ड होकर चमक रहे हैं, यथा राजन् ! आप अपने विशद गुणों से।

विक्रमोर्वशीय—इसमें पांच अंक हैं। राजा पुरूरवा केशी नामक दैत्य से उर्वशी का उद्धार करता है और फिर उर्वशी को रूपमोहनी के वशीभूत हो जाता है। उर्वशी को भरतमुनि के शापवश पृथ्वी पर आना पड़ता है। दोनों ही प्रेमपूर्वक जीवनयापन करते हैं। समयानुसार उर्वशी कुमार वन में प्रविष्ट होती है तथा वहाँ लता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। राजा बहुत दुःखी होता है। इस अवस्था में राजा का विरह-विलाप कवि द्वारा अपूर्व रूप में अंकित किया गया है। राजा भाँति-भाँति की कल्पनायें करता है। कभी वह सोचता है कि कहीं उर्वशी नदी के रूप में तो नहीं परिणत हो गई है। निम्न चित्रण दर्शनीय है—

तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥

प्रियतमा की बाँकी गति को चुराने वाले हंसों के प्रति कहे गये वचन हृदय को एक विशेष प्रकार का आनन्द देते हैं। सङ्गमनीय मणि के प्रभाव से उर्वशी अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है। राजा के पुत्र के साक्षात्कार से उर्वशी का शापविमोचन हो जाता है और वह स्वर्ग लौटना चाहती है। परन्तु इन्द्र की आज्ञानुसार दोनों आदर्श दम्पती की भाँति रहकर जीवनयापन करते हैं।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'—समस्त संस्कृत वाङ्मय में कालिदास का यह नाटक, नाट्य-साहित्य का चरम परिपाक है। इसमें प्रसाद की स्निग्धता, भावों की गरिमा, अर्थ का सौष्ठव, पदों की सरस-शय्या अलंकारों का मंजुल एव स्वाभाविक प्रयोग, सर्वश्रेष्ठ काव्य की सभी विशेषतायें उपलब्ध हैं। इसकी कथावस्तु यद्यपि महाभारत से ली गई है, परन्तु वह वहीं तक जहाँ तक पात्रों के चरित्र में कालिमा नहीं लग पाई। देश एवं काल की परिस्थिति का खण्डन नहीं हो सका। यही कारण है कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् का नायक दुष्यन्त 'महाभारत' की भाँति छली, धूर्त उच्छृङ्खल तथा कामुक न होकर उदात्त चरित्र वाला, कर्त्तव्यपरायण अच्छे विचारों एवम् गुणों से सम्पन्न धीरोदात्त नायक है। शकुन्तला की सखी कहती है—

'नहि तादृशा आकृतिविशेषाः (पुरुषाः) गुणविरोधिनो भवन्ति।'

नायिका शकुन्तला भी प्रगल्भा, चंचला, अशिष्टा, कुटिलहृदया न होकर लज्जाशीला, शिष्ट, सरल हृदया है। कण्व भी यदि महाराज दुष्यन्त के आगमन के समय अनुपस्थित रहते हैं तो वे इसलिये नहीं कि स्वभोजन-वृत्ति हेतु जंगल से फल-फूल लेने गये हैं। वरन् इसलिये कि दूसरों का मनसा, वाचा, कर्मणा हित करना

उनका प्रधान धर्म है। उस समय वे शकुन्तला के दुर्दैव शमन के लिये सोमतीर्थ गये हुये हैं।

नाटक के सभी पात्र अपने कार्य एवं स्वभाव के अनुरूप ही वार्तालाप करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं। शकुन्तला की सखी प्रियंवदा कहती है—

'कः इदानीं मुष्णोधकेन नवमालिकां सिञ्चति।'

ऐसा भला कौन होगा जो जुही की नवोदित कलिका को गरम जल से सींचे? दिन भर अपनी सखियों के साथ लताओं को सींचने वाली एक मुग्धा तपस्वी कन्या की उक्ति और क्या हो सकती है? जब दुष्यन्त अपनी दलील देता है तो वह धनवान् होने के कारण रत्न एवं स्वर्णराशि का वर्णन करता है। उसका कथन है—

'आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्।

विदूषक की उक्ति भोज्य पदार्थों से ही सम्बन्धित है उसके विचार में दुष्यन्त की शकुन्तला को पत्नी रूप में स्वीकार करने की कामना उसी प्रकार से है, जैसे पके हुये मीठे सुस्वादु खजूर के फलों को खाते-खाते कोई इमली की कामना करने लगे। कण्व की दृष्टि में वही शकुन्तला सुपात्र को दी गई विद्या के समान है—

वत्स! सुशिष्यपरिदत्तेव विद्याऽशोचनीयासि संवृत्ता।

कवि की ध्वन्यात्मक शैली का चरम परिपाक सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है कवि की व्यञ्जनात्मक वर्णन-शक्ति सूक्ष्मतम वर्णनों में अधिक निखरी है। उदाहरणार्थ—दुष्यन्त शकुन्तला के प्रथम दर्शन में केवल इतना ही कहता है—

'अये! लब्धम् नेत्र निर्वाणम्।'

इन इने-गिने शब्दों में कवि ने यह प्रदर्शित कर दिया कि शकुन्ला अपूर्व सुन्दरी है। यदि यहाँ पर भवभूति-सा कोई अन्य कवि होता तो वह ऐसे स्थलों में कम से कम ४–६ श्लोक कहे बिना कदापि न रहता। उससे क्या वास्तविक साफल्य सम्भव था? यह है कवि की शैली का प्रत्यक्ष साफल्य।

नाटक का चतुर्थ अङ्क समस्त संकृत नाट्य-साहित्य-उपवन में अद्वितीय सौरभ-युक्त विकसित पुष्प है। यह उसी प्रकार से दर्शनीय है, जैसे शुष्क पत्तों के मध्य शोभित होने वाली हरी-भरी मल्लिका की हृदय को उत्कण्ठित करने वाली लता। शकुन्तला का आश्रम से विदाई का दृश्य, यह मार्मिक-चित्र उपस्थित करता हैं जो सभी कन्याओं के पति-गृह-गमन के समय प्रस्तुत होता है। शकुन्तला की विदा पर मृगियाँ चरना त्याग देती हैं, मयूर नृत्य का परित्याग कर देते हैं, यहाँ तक कि लतायें भी पीले पत्तों के व्याज से आँसुओं को टपकाती रहती हैं। शकुन्तला की दोनों सखियाँ प्रियंवदा तथा अनसूया की अत्यन्त मार्मिक उक्ति को कवि ने कितने अल्प शब्दों में प्रकट किया है—

"अयम् जनः कस्य हस्ते समर्पितः"

कवि की दृष्टि में रमणी केवल उपभोग्या ही नहीं है। कण्व ऋषि के मुख द्वारा उसका वास्तविक उद्देश्य दर्शनीय है—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्त्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ।।४/१८।।

दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम मिलन ऐन्द्रियिक वासना पर आश्रित पार्थिव था, किन्तु अन्त का मिलन दिव्य है ।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' की कथावस्तु का मूलस्रोत 'महाभारत' आदिपर्व में वर्णित 'शकुन्तलोपाख्यान' है । इस सरल पौराणिक कथा को कवि ने अपनी प्रतिभा कला के द्वारा अप्रतिम नाटकीय रूप दे दिया है । इसमें कलाकार ने अनेक परिवर्तन किये हैं । महाभारत की शकुन्तला अपनी कथा स्वयं बतलाती है । 'शाकुन्तल' की नायिका उस कथा को स्वयं नहीं कहती, अपितु उसकी अभिन्न सखियाँ प्रियंवदा और अनुसूया उसका वर्णन करती हैं । इस परिवर्तन से शकुन्तला के शील एवं मुग्धत्व की रक्षा होती हैं । 'महाभारत' की शकुन्तला विवाह से पूर्व यह वचन ले लेती है कि उससे उत्पन्न पुत्र ही दुष्यन्त के पश्चात् युवराज बनेगा, किन्तु कालिदास की शकुन्तला अपनी सखियों से कहती है कि—'तद्यदि वामनुमतं तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेनुकम्पनीया भवामि' अर्थात् यदि तुम दोनों की अनुमति हो तो ऐसा व्यवहार करो जिससे मैं उस राजा की कृपा-पात्र बन जाऊँ ।' महाभारत में शकुन्तला एक निर्भीक स्पष्टवादिनी और प्रगल्भ तरुणी है । किन्तु 'शाकुन्तल' में चित्रित शकुन्तला एक संकोचशील और प्रेम-परायण और नितान्त मुग्धा बालिका है । 'महाभारत' में कण्व फल-फूलादि लाने बन में गये हैं, जबकि कालिदास ने उन्हें शकुन्तला के किसी भावी अनिष्ट के निवारणार्थ सोमतीर्थ भेज दिया है । आश्रम में अधिक समय तक कण्व की अनुपस्थिति दिखाकर कवि कतिपय मार्मिक घटनाओं की योजना करना चाहता है । यथा—दुष्यन्त से तपस्वियों का आश्रम की रक्षार्थ रुकने की प्रार्थना करना जिससे नायक-नायिका के प्रणय की उत्पत्ति, विकास और परिणति तथा दुर्वासा के शाप का अवसर ये सब कण्व की दीर्घ अनुपस्थिति में ही सम्भव थे ।

कण्व द्वारा सोमतीर्थ में किये गये उपचार से ही दुर्वासा के शाप का शमन भी होता था । संक्षेप में कण्व के सोमतीर्थ-गमन की कल्पना पर कालिदास ने अनेक नाटकीय घटना को टाँग दिया है । महाभारत में भरत की उत्पत्ति आश्रम में ही होती है । जब भरत छह वर्ष का हो जाता है, तब शकुन्तला पतिगृह को गमन करती है । प्रसव से पूर्व ही शकुन्तला को पतिगृह भेजकर कालिदास ने भारतीय मर्यादा का निर्वाह किया है । 'महाभारत' का दुष्यन्त स्वार्थी, विलासी और भीरू लगता है, किन्तु कालिदास का दुष्यंन्त एक सुरुचिसम्पन्न धीरोदात्त नायक है । महाभारत में लोकापवाद से डरकर गान्धर्व विवाह की घटना की स्मृति रहने पर भी दुष्यन्त शकुन्तला को अस्वीकार कर देता है, पर आकाशवाणी होने पर स्वीकार कर लेता है । दुर्वासा के शाप और अँगूठी की कल्पना करके कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र पर ओप चढ़ा दिया है ।

विन्टरनिट्ज का कथन है कि कालिदास ने शकुन्तला की कथा 'पद्मपुराण' से ली होगी। किन्तु 'पद्मपुराण' में वर्णित 'शकुन्तलोपाख्यान' में अनेक स्थलों पर 'शाकुन्तल' की पंक्तियाँ यथावत् उद्धृत की गई हैं। इससे प्रतीत होता है कि 'पद्मपुराण' के इस अंश की रचना कालिदास के बाद की गई होगी। इसीलिये अनेक विद्वानों का मत है कि 'शाकुन्तल' पर आधारित 'शाकुन्तलोपाख्यान' की रचना पाश्चात्यकालीन है। उसे बाद में जोड़ा गया है।

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कवि गेटे 'शाकुन्तल' पढ़कर सहसा कह उठे थे—

"Wouldest thou, the young yeaes blossoms
And the fruits of its decline
And all by which the soul is charmed,
Enraptured, feasted, fed.
Wouldest thou the Earth and Heaven itself:
In one sole name combine,
I name the O ! Shakuntla
And all at once is said."

गेटे की जर्मन की कविता का उपर्युक्त अंग्रेजी अनुवाद केयी ने किया है। इसका राष्ट्रभाषा में यों अनुवाद हो सका है—

सुकुमार कुड्मलों की सिहरन, ललित फलागम के विकास।
जिनसे हो आत्मा चकित, मुग्ध, लालित, पोषित उनके विलास।
भू से द्युलोक तक संग सब को देना चाहो यदि एक नाम।
मैं तुझे कहूँगा शकुन्तला, सब सहित कथित होंगे ललाम॥

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में अंकित संस्कृति—

हम कह चुके हैं कि सभी मानवीय विद्याओं तथा कलाओं की कृतियाँ किसी न किसी देश और काल की ओर प्रत्यक्ष संकेत करती हैं। लेकिन कलाओं में काव्यकला का मूर्धन्य स्थान है और नाटक काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है। अतः नाटक के माध्यम से संस्कृति का अध्ययन समीचीन प्रतीत होता है। इस परीक्षा की कसौटी के रूप में पहले हम कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक को ही ग्रहण करते हैं, फिर अन्य काव्यों को भी लक्ष्य बनाया जायेगा। इसमें कवि ने तत्कालीन पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक जीवन का जीता जागता चित्र अंकित कर दिया है। यह वह समय था जब वर्णाश्रम धर्म की पूर्व प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन तथा यज्ञ-यागादि के कार्य में निरत थे। यज्ञ कराने वाला यजमान शिव रूप माना जाता था। राजन्य वर्ग प्रजा के हित साधन तथा दुष्टों के दमन में संलग्न था। वैश्य व्यापार के माध्यम से दूर-दूर के देशों की समुद्र यात्रा करके राष्ट्र की श्रीवृद्धि में सहायक होते थे। शूद्र अपने विविध उद्योगों से राष्ट्र को सर्वाङ्गीण समृद्धि में योग

देते थे। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था अपने उदात्त रूप में विद्यमान थी। परम्परा से निर्धारित कर्मगर्हित होने पर भी छोड़े नहीं जाते थे।

दुष्यन्त के राज्य में तो पतित लोग भी कुमार्ग का अनुसरण नहीं करते थे। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करके लोग गृहस्थाश्रम में कठोर कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अन्य तीनों आश्रम वालों की सेवा-सहायता करते थे। वृद्ध अवस्था में नृपतिगण भी अपने पुत्र को शासन का भार सौंप कर स्त्री सहित किसी तपोवन में वानप्रस्थ जीवन बिताते थे। योगी, तपस्वी और यति राजा के संरक्षण में अपने दैनिक अनुष्ठानों का निर्विघ्न सम्पादन करते थे।

भयग्रस्त प्राणियों की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य था। इसी रक्षण के उपलक्ष में उसे प्रजा की आय का छठा भाग कर के रूप में अधिकारपूर्वक प्राप्त था। न्याय निष्पक्ष होता था, किन्तु कठोर न था। किसी व्यक्ति के निःसन्तान मरने पर उसका सारा धन नियमानुसार राजा को प्राप्त होता था। पुलिस के अधिकारी उस समय भी उत्कोच या रिश्वत लेने में अभ्यस्त और दक्ष होते थे। मद्यपान भी करते थे तथा बन्दी या अपराधी को पीटने के लिये उनके हाथ-पैर खुजाया करते थे। राजा लोग प्रायः निर्लोभी, उदार या दयालु हुआ करते थे। वसन्त ऋतु में आम आदि के बौर तोड़कर मदन को उपहार रूप में भेंट किये जाते थे। राजा आखेट खेलने में प्रवीण होता था। शब्द-वेधी बाण भी चलाये जाते थे। स्थल, जल तथा आकाश से संचारण के साधन थे।

पारिवारिक समस्याओं एवं सामाजिक प्रथाओं का चित्रण भी कालिदास ने बड़े सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है। राजाओं तथा धनिक लोगों में बहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन था। पुत्र-जन्म के लिये व्यक्ति व्याकुल रहता था। क्योंकि पुत्रहीन होना दुर्भाग्य समझा जाता था। स्त्रियों के साथ पुरुषों का बड़ा शिष्ट एवं सभ्य व्यवहार था। परिवार एवं समाज में उन्हें समुचित सम्मान प्राप्त था। संभ्रान्त कुल की महिलायें बाहर जन-समूह में अवगुण्ठन डालकर निकलती थीं। दुष्यन्त के दरबार में "अवगुण्ठनवती" शकुन्तला भोले आश्रमवासियों के साथ प्रवेश करती है। गुरुजनों के सम्मुख युवती स्त्रियाँ अपने पति के साथ जाने में लज्जा का अनुभव करती थीं। उस समय स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त किया करती थीं। पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार होता था। पूर्ण वयस्क होने पर ही कन्याओं का विवाह किया जाता था। शकुन्तला की सखियाँ प्रियंवदा और अनसूया दोनों सुशिक्षित थी। उन्होने काव्यगत चित्रकला का अध्ययन किया था। जिस मार्मिक ढंग से शकुन्तला ने अपना प्रणयपत्र लिखा है उससे उसके भावों को प्रकाशित करने की अद्भुत सामर्थ्य एवं पटुता उदात्त मात्रा में प्रकट होती है। विद्याध्ययन के अतिरिक्त स्त्रियों को गृहकार्य सम्बन्धी विविध कलाओं और विद्याओं के साथ चित्रकला, संगीत एवं काव्यकला की शिक्षा दी जाती थी। शकुन्तला अपने प्रिय मृगशावक के दर्भांकुरों से बिंधे हुए मुख में, इंगुदी के तेल का लेप कर उसका सद्यः उपचार करके यह सूचित करती है कि उस समय लडकियों

को प्राथमिक चिकित्सा की शिक्षा भी दी जाती थी। शकुन्तला का उपचार करने में प्रियंवदा और अनुसूया ने उशीर (खस) के लेप, कमल-पत्रों के आवरण तथा कमलनाल के बने हुए हाथ के कड़े (वलय) का प्रयोग करके रुग्ण-सेवा या परिचर्या में जो तत्परत दिखाई है, उससे उनका उपचार-कौशल प्रकट होता है। गौतमी भी यज्ञ का शान्त्युदक लेकर शकुन्तला को स्वास्थ्य-लाभ कराने के लिये ही प्रस्तुत होती है। इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि स्त्री वर्ग को उपचार सम्बन्धी शिक्षा किसी न किसी रूप में अवश्य दी जाती थी।

आध्यात्मिक तथा धार्मिक दृष्टि से भी अनेक आदर्श स्थिर हो चुके थे। खगोल के ज्ञान का प्रचार था। शकुन्तला के क्रूर ग्रहों की शान्ति के लिये महर्षि कण्व का तीर्थाटन करना यह सूचित करता है कि ग्रह-शान्ति के लिये माङ्गलिक अनुष्ठान किये जाते थे। राष्ट्रीय जीवन में आश्रमों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा इनकी सब प्रकार से रक्षा करना, राजा का परम कर्त्तव्य होता था। इन्हीं आश्रमों के शान्त और पावन वातावरण में बालक बालिकाओं को यथोचित शिक्षा दी जाती थी। अहिंसा, तपस्या और त्यागवृत्ति इन आश्रमों की अपनी निधियाँ थीं। तपस्या के प्रभाव पर तो कालिदास ने स्थल-स्थल पर आलोक डाला है। दुष्यन्त जैसे सम्राट् का हेमकूट के मारीच आश्रम को देखकर यह कहना "स्वर्गादधिकतरं निवृत्ति-स्थानम्" तथा दिव्य आनन्द के उस गम्भीर वातावरण में आत्मविभोर होकर पुनः यह कहना—"अमृतह्रदमिवावगाढोस्मि" आश्रमों के नैसर्गिक सुख और शांन्ति का द्योतक है।

समाज की सर्वतोमुखी समृद्धि का ध्यान रखते हुए आध्यात्मिक सिद्धि की ओर उन्मुख होना ही सुसंस्कृति का लक्षण होता है, अतः सामाजिक तथा आध्यात्मिकता पर बल देकर कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के अन्तिम भरतवाक्य में राष्ट्र के गौरव की घोषणा करते हुए स्पष्ट कहा है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः,
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

व्यक्तिगत साधना और लोक-संग्रह की भावना, दोनों का यथेष्ट समन्वय ही भारतीय संस्कृति का जीता जागता स्वरूप है। त्याग और तप इसके प्रबल साधक है। राजा लोक-संग्रह की भावना से प्रेरित होकर प्रजा के हित में रत रहे, विद्या की वृद्धि से राष्ट्र समृद्ध हो और व्यक्तिगत साधना पर रीझ कर परमशिव मोक्ष प्रदान किया करें। सामाजिक अभ्युदय के साथ शान्ति की उपलब्धि आवश्यक है। इतना ही कवि का अमर सांस्कृतिक संदेश है।

(४) अश्वघोष

अश्वघोष संस्कृत के प्रथम बौद्ध नाटककार माने हैं। इनके स्थिति-काल के विषय में

मतैक्य नहीं है, किन्तु अधिकांश विद्वान् इनकी स्थिति ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास मानते हैं। सन् १९१० में मध्य एशिया के तुर्फान नामक स्थान पर अश्वघोष के तीन नाटक डॉ० लूडर्स को प्राप्त हुए थे। उनमें से एक का नाम 'शारिपुत्र प्रकरण' है। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण कर बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन है। यत्र-तत्र बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा भी दी गई हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार यह एक प्रकरण है, इसमें नव अंक हैं। संस्कृत के अन्य नाटक की भाँति इसमें नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग इत्यादि सभी नाटकीय लक्षण पाये जाते हैं। हाँ, अन्त में भरतवाक्य का प्रयोग नहीं मिलता। शारिपुत्र प्रकरण के साथ अश्वघोष के दो और नाटकों के खण्डित अंश भी मिले है। इनमें से एक तो 'प्रबोधचन्द्रोदय' के समान रूपात्मक है, जिसमें बुद्धि, धृति, कीर्ति और बुद्ध पात्रों के रूप में चित्रित किये गये हैं। दूसरा 'मृच्छकटिक' की भाँति वेश्या-नायिकात्मक नाटक है, जिसमें मागधवती नामक वेश्या, कौमुदगन्ध नामक विदूषक आदि पात्र हैं। पर ये दोनों नाटक अधूरे ही मिले हैं। इनके नाम का पता नहीं चलता। अश्वघोष की प्राकृत में कई आर्ष प्रयोग भी पाये जाते हैं।

अश्वघोष संस्कृत के ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने बौद्ध-संस्कृत का चित्रण किया और अपने नाटकों में यह दिखाया कि साधारण जनवर्ग से लेकर सम्राट् तक बौद्ध धर्म से प्रभावित थे।

(५) हर्ष

सम्राट् हर्षवर्धन (६०६–६४८ ई०) भारत के उन प्राचीन विद्या-प्रेमी राजाओं में प्रसिद्ध हैं जिन्होंने साहित्य की समृद्धि में योग दिया। हर्ष ने 'प्रियदर्शिका' 'रत्नावली' और 'नागानन्द' इन तीन नाटकों की रचना की है। कुछ आलोचकों का मत है कि आपने किसी आश्रित कवि (बाण या धावक) से उपर्युक्त पुस्तकों का प्रणयन कराकर हर्ष ने अपने नाम से प्रसिद्ध कर दिया। कुछ भी हो, यह तो निश्चय है कि तीनों कृतियाँ एक ही कवि की लिखी हुई हैं। एक तो तीनों रूपकों के आमुख में एक ही लेखक (हर्ष) का उल्लेख मिलता है। दूसरे 'नागानन्द' और 'प्रियदर्शिका' में दो श्लोक समान हैं। 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' में भी एक श्लोक अभिन्न है। तीसरे उक्त तीनों रूपकों की शैली सर्वथा समान है।

मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में काव्य के छह प्रयोजनों में एक प्रयोजन अर्थ-प्राप्ति को माना है—"श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्"। कुछ लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि धावक नाम के कवि ने 'प्रियदर्शिका' आदि का प्रणयन करके हर्ष का नाम जोड़ दिया और उससे बहुत-सा धन प्राप्त कर लिया। यह किंवदन्ती मात्र है जिसके पक्ष में कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है। चीनी यात्री इत्सिंग (६७१–६९५ ई०) ने अपने यात्रा-वर्णन में सम्राट हर्ष को 'नागानन्द' नाटक का लेखक कहा है। हर्ष स्वयं बड़े अच्छे कवि थे। बाण, जयदेव और सोड्ढल आदि कवियों ने हर्ष की काव्य-चातुरी की प्रशंसा की है। अतः उक्त नाटकों को हर्ष की रचना मानना युक्ति-संगत है।

'प्रियदर्शिका' हर्ष की प्रथम रचना है। उनकी नाट्यकला का अभी कम परिष्कार हो पाया था। इसकी अपेक्षा 'रत्नावली' अधिक कलापूर्ण और परिष्कृत होने से कवि की दूसरी रचना है। 'नागानन्द' नाटक में हर्ष के उत्तरार्ध जीवन से सम्बद्ध बौद्ध आदर्शों की व्यञ्जना हुई है। इसी से यह कवि की अन्तिम रचना मानी जाती है, यद्यपि कला की दृष्टि से यह 'रत्नावली' से अधिक उत्कृष्ट नहीं है।

'प्रियदर्शिका' चार अंकों की नाटिका है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' की भाँति इसमें भी राजा वत्स के अन्तःपुर की प्रेम-कथा का वर्णन है। राजा दृढ़वर्मा युद्ध में हारते हैं। उनकी कन्या प्रियदर्शिका 'आरण्यका' नाम से राजा वत्स की रानी की दासी बनकर रहने लगती है। एक नाटक के अभिनय में दोनों उदयन और वासवदत्ता नामक पात्रों के रूप में राजा वत्स तथा आरण्यका भाग लेते है। रानी के द्वारा आरण्यका कारागृह में डाल दी जाती है। किन्तु जब रानी को उसके राजकुलोत्पन्न होने का रहस्य ज्ञात होता है तो वह स्वयं राजा के साथ उसका विवाह करा देती है। हर्ष को कथानक का बीज बृहत्कथा से मिला है जो वस्तु रचना की स्वाभाविक सरलता, प्रसादगुणमयी शैली और रोचक घटनाओं का उत्कृष्ट वर्णनों के साथ प्रयोग पाकर पूर्ण विकसित हुआ है।

तीसरे अंक में 'गर्भाङ्क नाटक' ही प्रियदर्शिका का सर्वस्व है, जो नाट्य-कौशल में निराला है।

चार ही अङ्कों की नाटिका 'रत्नावली' भी है। इसका कथानक 'प्रियदर्शिका' के ही समान है। यहाँ वत्सराज उदयन और उनकी रानी वासवदत्ता की सेविका सागरिका की रोचक कहानी का वर्णन है। सिंघल देश की राजकन्या रत्नावली दासी का काम करती है। इस रहस्य का उद्घाटन होने पर उदयन और रत्नावली का विवाह हो जाता है। इसका कथानक कौतूहल से पूर्ण, नाटकीय घटना-संघटन और अभिनय वर्णन सब वेशविपर्यय के दृश्य में चमक उठे हैं।

'रत्नावली' में दुरूह शब्द और कठिन समास नाम को भी नहीं है। इसकी प्रसादपूर्ण सरस शैली भारतीय मर्यादा की रक्षा करते हुये खिल उठी है। उपवन की एक हरी-भरी लता को देखकर वत्सराज कहते हैं—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समवनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥"

'आहा! उद्यानलता की कलियाँ चटक रहीं हैं। इसका रंग कैसा शुभ्र है, यह खिलने ही वाली है, वायु के झोंकों से यह कैसी मतवाली होकर थिरक रही है। किन्तु इस उद्यानलता को देखने के कारण आज मैं निश्चय ही महारानी के मुख को ईर्ष्याजन्य क्रोध से रक्तवर्ण बनाने का अपराधी समझा जाऊँगा, क्योंकि यह लता उस

प्रेमातुर प्रमदा की सी है जो प्रिय मिलन हेतु अत्यन्त उत्कण्ठित है, जिसका रंग विरह से पीला पड़ गया है। वियोगजन्य जागरण से जो बार-बार जम्हाई ले रही है और निरन्तर दीर्घ निःश्वासों से अत्यन्त व्याकुल हो रही है।'

'नागानन्द में पांच अङ्क हैं। इसमें जीमूतवाहन नामक विद्याधर राजकुमार का आत्म-त्याग वर्णित है। राजा मित्रावसु की बहन मलयवती से उसका विवाह होता है। एक दिन वह मित्रावसु के साथ टहलते हुए अस्थियों का ढेर देखता है और यह सुनता है कि गरुड़ को प्रतिदिन जिन सांपों की भेंट दी जाती है, यह उन्हीं की हड्डियों का ढेर है। वह प्राणों की परवाह न करके हत्याकाण्ड रोकने को शंखचूड़ सर्प के बदले अपना बलिदान करता है। गौरी उसे पुनः जीवित करती है। अमृत वर्षा से सब सर्प भी जी उठते हैं। भविष्य में गरुड़ सर्पों को न मारने का वचन देता है।

नागानन्द पर बौद्ध धर्म का प्रभाव सुस्पष्ट है। नाटकीय दृष्टि से नागानन्द सफल नहीं उतर सका। करुणा तथा आत्मोत्सर्ग की भावना इस नाटक में प्रधान है। भाषा और शैली प्रासंगिक तथा मनोहर है।

'रत्नावली' और 'मृच्छकटिक' की तुलना—

'मृच्छकटिक' के लेखक शूद्रक प्रकरण में ही एक नृपति के रूप में अंकित किये गये हैं और उनकी योग्यता के विषय में औत्सुक्यपूर्ण विवरण भी मिलते हैं। 'रत्नावली' के लेखक हर्ष भी जानेश्वर के प्रसिद्ध अधीश्वर है, जो बाण के आश्रयदाता हैं। 'हर्षचरित' में उनका पर्याप्त वर्णन मिलता है।

'मृच्छकटिक' १० अङ्कों का प्रकरण है, जो विविध प्राकृतों के प्रयोग के सर्वथा विचित्र एवं अपनी कोटि का निराला है। इसका नायक चारुदत्त धीरप्रशान्त होते हुए भी धीरललित प्रतीत होता है।

'रत्नावली' चार अङ्कों की एक प्रतिनिधि नाटिका है। नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने उनका महत्व स्वीकार किया है तथा नियमों का उल्लेख करते हुए प्रमुख रूप से उसके उद्धरण भी दिये हैं। इसका नायक उदयन एक धीरललित नेता है। उसका चरित्र विलासप्रिय और प्रसन्नचित्त नायक के सर्वथा उपयुक्त है। 'रत्नावली' का विदूषक लोभ से सर्वथा आक्रान्त प्रतीत होता है। यद्यपि वह अपने कार्यों से नायक की सहायता करना चाहता है किन्तु उसकी असावधान सहायता व्यवधान के रूप में परिणत हो जाती है।

'मृच्छकटिक' में मैत्रेय की बातों पर हँसी आने की अपेक्षा सहानुभूति अधिक प्रकट होती है और शकार धूर्त तथा विदूषक दोनों का कार्य करता है। 'मृच्छकटिक' की कथावस्तु भास के 'दरिद्र चारुदत्त' पर आश्रित है। नगर और राज्य के भाग्य को नायक की व्यक्तिगत जीवन घटनाओं के साथ सम्बद्ध करके लेखक ने अपनी सूझ और मौलिकता का परिचय दिया है। यों तो 'रत्नावली' और 'मृच्छकटिक' दोनों में प्रेम और राजनीति के समन्वय और मिश्रण का वर्णन है। अन्तर इतना है कि

'मृच्छकटिक' में राजनीतिक घटनायें आधिकारिक कथावस्तु से सम्बद्ध हैं जबकि 'रत्नावली' में राजनीतिक प्रपंच उदयन का उपज प्रतीत होती है।

जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है 'रत्नावली' पर बृहत्कथा का प्रभूत प्रभाव लक्षित होता है।

यद्यपि नाटिका में मौलिकता अधिक नहीं है, किन्तु कवि ने कथावस्तु को बड़े कलात्मक ढंग से सजाया है। दोनों रूपकों में कार्य-कलाप स्निग्धतापूर्वक आगे बढ़ता है। भाषा का प्रवाह स्वच्छ है तथा घटनाचक्र संघटना शास्त्रीय ढंग से सम्पन्न हुआ है। तुलनात्मक दृष्टि से 'मृच्छकटिक' की अपेक्षा 'रत्नावली' एक कृत्रिम सुखान्त रूपक है, जिसमें मौलिकता की अपेक्षा कलात्मकता को अधिक महत्व दिया गया है। शूद्रक की भाँति हर्ष की दृष्टि भी शास्त्रीय ढंग से वर्णनों के प्रति अधिक झुकी हुई है। दोनों ही में अभिव्यक्ति की सरलता का गुण विद्यमान है। शूद्रक की प्राकृतों का प्रयोग अधिक स्वाभाविक है तो हर्ष की संस्कृत अधिक उदात्त बन पड़ी है और दोनों ही रूपकों में अलङ्कारों और कल्पनाओं का प्रयोग सुरुचि की दृष्टि से किया गया है। 'मृच्छकटिक' और 'रत्नावली' दोनों ही शृङ्गार-प्रधान और वर्णनात्मक रचनायें हैं, किन्तु 'रत्नावली' के कार्य में प्रवाह अधिक है जबकि 'मृच्छकटिक' में सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण विचित्र एवं आकर्षक है। यहाँ नायिका एक वेश्या होते हुए भी नायक के प्रति निःस्वार्थ एवं पवित्र स्नेह रखती है, जिससे उसके चरित्र पर ओप चढ़ गया है। 'रत्नावली' की नायिका सिंहलेश्वर की खोई राजकुमारी है, जो प्रथम दर्शन के समय उदयन को साक्षात् मदन समझती है।

'मृच्छकटिक' का धीरप्रशान्त नायक चारुदत्त एक सद्वृत्तिसम्पन्न ब्राह्मण है। वह नहीं जानता कि वसन्तसेना उससे क्यों प्रेम करती है? किन्तु समाज का भय होते हुए भी वह वसन्तसेना जैसी अनुपम सुन्दरी का तिरस्कार नहीं कर सकता।

निरपराध होने पर भी चारुदत्त पर वसन्तसेना के वध का आरोप लगाया जाता है। उसके वध-स्थान की ओर जाते समय मार्ग में करुणा का सागर लहर उठता है। 'रत्नावली' का धीरललित नायक उदयन वत्स-प्रदेश का विलासी राजा है जो अपने महल की चारदीवारी के भीतर ही स्त्रैण होने के नाते वासवदत्ता (महादेवी) के भय से सागरिका से खुलकर प्रेम नहीं कर सकता।

(६) भवभूति

भवभूति के लिखे हुए दो नाटक तथा एक प्रकरण उपलब्ध है। 'महावीर-चरित और उत्तररामचरित' में राम-कथा के पूर्वापर भागों को उपजीव्य बनाकर कथानक की सृष्टि की गई है। 'मालतीमाधव' दस अङ्कों का प्रकरण है, जिसका कथानक लोक-कथाओं पर आधारित और भास के 'अविमारक' नाटक से प्रभावित प्रतीत होता है।

'महावीरचरित' में सात अङ्क हैं। इसमें राम के विवाह के कथानक को प्रारम्भ करते हुए उनके वनवास, सीता-हरण, रावण को जीतकर उनके पुनरागमन

तथा राज्याभिषेक तक की कथा का वर्णन है। इसमें रामायण के कथानक से कई भिन्नतायें दृष्टिगोचर होती हैं, जो भवभूति की कल्पना-शक्ति की परिचायक हैं। 'महावीरचरित' के कतिपय स्थल यद्यपि बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं, परन्तु इसमें न तो उनकी नाटक-कला का वह उत्कर्ष ही देखने को मिलता है और न ही भाषा तथा भावों की वह प्रौढ़ता, जो 'मालतीमाधव' तथा 'उत्तररामचरित' में है। ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति की इस रचना का तत्कालीन आलोचकों ने भी अधिक स्वागत नहीं किया था[1]।

'मालतीमाधव' कवि की अधिक प्रौढ़ रचना है। मालती पद्मावती के राजा के मन्त्री भूरिवसु की पुत्री है और माधव उनके बचपन के मित्र देवरात का पुत्र है। मन्त्री इन दोनों का विवाह करना चाहते हैं परन्तु राजा मालती का विवाह अपने साले नन्दन से कराने पर तुले हुए हैं। अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी अन्त में इन दोनों का विवाह होता है। साथ ही माधव के मित्र मकरन्द और नन्दन की बहिन मदयन्तिका का भी विवाह हो जाता है। सारा घटनाक्रम इतना विचित्र, रोचक तथा यथार्थ है कि सहृदयजन चाहे पाठक हों अथवा दर्शक, नाटककार की प्रशंसा करते नहीं थकते हैं।

'उत्तररामचरित' भवभूति की उत्कृष्टतम रचना है—"उत्तररामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते।" इसमें लोकापवाद के कारण राम द्वारा सीता का परित्याग तथा सुदीर्घकाल के पश्चात् दोनों के पुनर्मिलन की कथा है जिसका आधार वाल्मीकीय रामायण का उत्तरकाण्ड है। कथा को रोचक नाटक का रूप देने के लिए यत्र-तत्र कल्पना का आश्रय भी लिया गया है।

'उत्तररामचरित' में भवभूति ने भाषा और भावों का अनुपम सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'वाक्' को वेश्या बतलाया है, जो सर्वथा सत्य है। जहाँ उन्हें भयंकर युद्ध अथवा घोर कान्तार का वर्णन करना होता है, वहाँ तदनुरूप शब्दावली और जहाँ मृदु भावों की व्यंजना अभीष्ट होती है, वहाँ कोमलकान्त पदावली का चयन करने में वे अत्यन्त निपुण हैं। अधिक क्या कहें, सामान्यतया भाषा जिन भावों को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाया करती है, भवभूति ने उन्हें भी भाषा के बन्धन में सफलतापूर्वक बांध लिया है। सीता की सखी वासन्ती द्वारा राम को दिया हुआ उपालम्भ देखिये—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं,
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां,
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण॥

"शान्तमथवा" कहकर कितनी गहरी अभिव्यक्ति की गई है, इसे सहृदयजन भली-भाँति समझ सकते हैं।

---

१. देखिये—'मालतीमाधव' की प्रस्तावना (१/८)

भवभूति ने पाण्डित्य और वैदग्ध्य के जो आदर्श माने हैं—"यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्" उनका पूर्ण निर्वाह भी किया है।

'उत्तररामचरित' का प्रमुख रस करुण है। करुण को ही वे प्रमुख रस मानते थे और इस नाटक में उन्होंने इसे प्रतिपादित करके भी दिखला दिया है। उनके करुण वर्णनों से प्रकृति के पत्थर भी रो उठते हैं—"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।" और सम्भवतः यही संकेत करते हुये गोवर्धनाचार्य ने कहा भी है—

भवभूतेः संबन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृत कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

कालिदास और भवभूति—

संस्कृत नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में कविकुलगुरु कालिदास के समकक्ष कहलाने का श्रेय एकमात्र महाकवि भवभूति को प्राप्त है। कालिदास और भवभूति में से कौन अधिक श्रेयोभाजन है, यह निर्णय करना दुष्कर ही है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार, 'भवभूति' अपने 'उत्तररामचरित' में कालिदास से भी आगे बढ़ गये हैं—"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते"। निम्न श्लोक से भी यह स्पष्ट है—

"कवयः कालिदासाद्याः भवभूतिर्महाकविः।
तरवः पारिजाताद्याः स्नुहीवृक्षो महातरुः॥"

इससे भी प्रकट होता है कि हमारे प्राचीन विद्वत्समाज में कालिदास और भवभूति को एक दूसरे से श्रेष्ठता के विषय में एक रुचिकर विवाद चल पड़ा था। भवभूति के समर्थकों का कथन था कि—'कालिदास प्रभृति कवि मात्र हैं पर भवभूति तो महाकवि हैं।' उधर कालिदास के पक्षपातियों का व्यंग्य था कि 'स्वर्ग के पारिजात आदि भी वृक्षमात्र ही हैं, पर स्नुही वृक्ष (सेहुंड) निःसन्देह 'महावृक्ष' है।'[1]

कालिदास एवं भवभूति की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से भवभूति पर कालिदास का प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है। किन्हीं स्थलों पर भावों की प्रेरणा भी भवभूति ने कालिदास से प्राप्त की है। 'उत्तररामचरित' के प्रथम अङ्क में गर्भवती सीता के मनोविनोदार्थ जिस चित्र-दर्शन वाले दृश्य की कल्पना की गई है, वह 'स्वप्नवासवदत्तम्' के चित्र-दर्शन वाले दृश्य से चाहे कम प्रभावित हो, किन्तु 'रघुवंश' के अधोलिखित श्लोक की उस पर स्पष्ट छाप दिखाई देती है—

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सप्तसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचित्यमानानि सुखान्यभूवन्॥
(१४/२५)

'सभी अभीष्ट सुखों को भोगने वाले राम और सीता जब अपनी चित्रशाला में जाकर अपने ही अतीत जीवन के अङ्कित चित्रों का निरीक्षण दण्डकारण्य की

१. आयुर्वेद के अनुसार सेंहुंड नाम का कण्टकीर्ण वृक्ष 'महातरु' होता है।

दुःखद घटनाओं के चित्रों के साथ करते थे, तब चिन्तन-क्षेत्र में पूर्वानुभूत दुःख में भी सरस सुख का सर्जन कर देते थे। इसी प्रकार 'शाकुन्तल' के सातवें अङ्क वाले दुष्यन्त और भरत के अज्ञात मिलन की स्पष्ट छाप 'उत्तररामचरित' के छठे अङ्क वाले राम और लव-कुश के अज्ञात मिलन पर दिखाई देती है। छाया-रूप में सीता की कल्पना करने की प्रेरणा भी 'शाकुन्तल' के छठे अङ्क में सानुमती अप्सरा के अदृश्य रूप से दुष्यन्त की विरह-व्यथित दशा देखने वाले दृश्य से ली गई प्रतीत होती है। 'मालती-माधव' में विरह पीड़ित माधव प्रेयसी मालती के पास जो सन्देश मेघ के द्वारा भेजता है, उस पर भी मेघदूत के भावों का ही नहीं, भाषा और छन्द का भी स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

यों तो कालिदास और भवभूति दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं, किन्तु दोनों की शैली में कलात्मक अन्तर लक्षित होता है। कालिदास में व्यञ्जना-वृत्ति की प्रधानता है तो भवभूति में वाच्यार्थ की प्रगल्भता है। एक कुछ चुने हुये शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ भर देता है तो दूसरा विपुलवाग्विस्तार से किसी भाव का विशद वर्णन कर देता है। एक तो बहुत कुछ पाठक की कल्पना पर छोड़ देता है, दूसरा सब कुछ कह देता है। कालिदास जिस बात का संकेतमात्र कर देते हैं, उस बात का भवभूति विस्तृत वर्णन करते हैं। एक की रचना-प्रणाली सरल, स्वाभाविक और लाघवयुक्त है तो दूसरे की वचन भङ्गी प्रायः प्रौढ़ और समास सङ्कुल है। एक की भाषा मसृण और सुकुमार हैं तो दूसरे की प्रगल्भ और उदात्त। कालिदास प्रायः मूर्त पदार्थ की उपमा मूर्त पदार्थ से देते हैं जबकि भवभूति प्रायः मूर्त की तुलना अमूर्त से करते हैं। कालिदास वल्कलवसना शकुन्तला की तुलना शैवाल वेष्टित पद्मपुष्प से करते हैं तो भवभूति सीता की उपमा मूर्तिमती करुणा या विरहव्यथा से देते हैं।

कालिदास ने प्रायः प्रकृति के ललित एवं कोमल रूप का तथा भवभूति ने उसके घोर एवं प्रचण्ड पक्ष का वर्णन किया है। करुण-रस के क्षेत्र में भवभूति और शृङ्गार के क्षेत्र में कालिदास अप्रतिम हैं। कालिदास की कला स्वाभाविक एवं सजीव है तो भवभूति के वर्णन आदर्श से ओतप्रोत हैं। कालिदास नारी के बाह्य-सौन्दर्यावलोकन में और भवभूति उसके आन्तरिक सौन्दर्य के उद्घाटन में तल्लीन हैं।

कुछ भी हो भारतीय नाट्य-साहित्य में इन दोनों ही महान् कलाकारों का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है। दोनों कलाकारों की तुलना करते हुये स्वर्गीय श्री द्विजेन्द्रलालराय का कथन है—"विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग-क्रीड़ा में, भाषा के गाम्भीर्य में और हृदय के माहात्म्य में 'उत्तररामचरित' श्रेष्ठ है और घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना की कोमलता में, मानव-चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरसता और लालित्य में 'अभिज्ञानशाकुन्तल श्रेष्ठ है। संस्कृत-साहित्य में ये दोनों नाटक अद्वितीय हैं।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' शरद ऋतु की पूर्ण चाँदनी है। 'उत्तररामचरित' नक्षत्रखचित नीलाकाश है। एक व्यञ्जन है, दूसरा हविष्यान्न है; एक वसन्त है, दूसरा वर्षा है; एक नृत्य है, दूसरा अश्रु है; एक उपभोग है दूसरा पूजन है।"

(७) विशाखदत्त

अधिकांश विद्वान् इस बात पर एकमत हैं कि विशाखदत्त का समय पाँचवी शताब्दी है। आपने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक की रचना की जिसमें सात अङ्क हैं। यह अपने ढंग का अनूठा नाटक है। कुछ लोगों की धारणा है कि इसमें रस की प्रधानता न होकर घटनाओं का प्राधान्य है। इसमें राजनीतिक कुटिल चालों का वर्णन है। वस्तुतः यह एक वीररस-प्रधान नाटक है। इसके कथानक का मूल बिन्दु नन्दवंश का महामात्य राक्षस है। चाणक्य चाहता है कि राक्षस जैसा कुशल राजनीतिज्ञ, स्वामिभक्त और सच्चा व्यक्ति चन्द्रगुप्त का प्रधानमन्त्री होना स्वीकार कर ले, जिससे चन्द्रगुप्त का राज्य अटल हो जाये। दूसरी ओर राक्षस अपने दिवंगत नरेश का प्रतिशोध लेकर उसी के किसी वंशज को सिंहासनस्थ करने के लिये कटिबद्ध है। इसी लक्ष्य को लेकर चाणक्य और राक्षस के मध्य जो राजनीतिक चालों के दांव और पेंच चलाये गये हैं उन्हीं से नाटक के घटना-चक्र की रचना होती है। राजनीतिक दाव-पेंच ही घटना बनकर चित्रित हो गये हैं। इसमें एक ही अङ्क में अनेक दृश्यों का परिवर्तन हुआ है जो अन्य नाटकों में उपलब्ध नहीं होता है।

नाटक के अन्तिम श्लोक में 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' आदि पाठ प्राप्त होते हैं। प्रथम पाठ के आधार पर शारदारञ्जन राय का कथन है कि 'मुद्राराक्षस' में विशाखदत्त ने चतुर्थ शताब्दी के गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का उल्लेख किया है। लेखक अपने नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल का निरूपण करके प्रकारान्तर से अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की प्रशस्ति प्रस्तुत करता है। 'मुद्राराक्षस' का घटनास्थल पाटलीपुत्र एक समृद्ध नगर के रूप में चित्रित है। फाह्यान ने पाटलीपुत्र को मगध की राजधानी बताया है, जबकि ह्वेनसांग को उसका भग्नावशेष मिलता है।[1] बौद्ध-धर्म की ओर नाटक में जो संकेत (७–५) मिलता है वह उसका अभ्युदयकाल था। फाह्यान के भारत आने के समय ऐसी ही दशा थी। इन प्रमाणों से 'मुद्राराक्षस' पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ की रचना सिद्ध होती है। 'दन्तिवर्मा' (७७९–८३० ई०) वाला पाठ ठीक नहीं है क्योंकि नाटक लिखते समय दक्षिण में हूणों का आतङ्क नहीं फैला था। तीसरे पाठ 'पार्थिवोऽवन्ति-वर्मा' को तैलंग महोदय प्रामाणिक मानकर राजा हर्ष (६०६–६४८) के बहनोई ग्रहवर्मा के पिता मौखरि वंशी राजा अवन्तिवर्मा स्वीकार करते हैं। मेकडानल तथा रैप्सन भी इसी मत के अनुयायी हैं। याकोबी के अनुसार अवन्तिवर्मा को काश्मीर-नरेश पुष्ट प्रमाण के अभाव में (८५६–८८३ ई०) नहीं माना जा सकता।

'मुद्राराक्षस' की यह मौलिक विशेषता है कि इसमें नारी पात्रों का अभाव

1. Elphinston's History of Indin Page 292.

है। नाटक में न तो नायिका है और न शृङ्गारपरक वातावरण है प्रतिहारियों के अतिरिक्त चन्दनदास की पत्नी ही एकमात्र नारी-पात्र है। मञ्च पर यह शृङ्गारिक भावनायें उद्‌बुद्ध करने के उद्देश्य से प्रविष्ट नहीं होता। उसका प्रवेश तो प्रेक्षकों को करुणाविगलित करना है। पति के प्रति उसकी त्यागभावना एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के समक्ष वे श्रद्धावनत हो उठते हैं। नाटक में विदूषक का भी अभाव है। विशाखदत्त को यह अनभीप्सित था कि विदूषक को नाटकीय पात्रों में स्थान देकर वे अपनी कृति को हल्का बनाते। 'मुद्राराक्षस' में प्रचलित परम्परा का अन्धानुकरण नहीं किया गया। उनका नाटक औचित्य पर आधारित है, अतः उन्होंने अपने नाटक में उसी शैली का चरित्र-चित्रण एवं कला को अपनाया जो वृत्तानुरूप थी, नाटक की गत्यात्मकता व प्रभावोत्पादकता में सहायक थी। यही कारण है कि नाटक में सर्वत्र नाटककार की मौलिकता मुखरित होती है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' की आदर्श-भावना से प्रेरित होकर तथा 'मृच्छकटिक' का सूक्ष्म अध्ययन कर विशाखदत्त ने ऐसे नाटक का सर्जन किया, जो सर्वथा अनूठा है, जिसकी समता करने की क्षमता अन्य किसी नाटक में नहीं है। 'मुद्राराक्षस' घटना ऐक्य का विलक्षण उदाहरण है। आरम्भ में परस्पर असम्पृक्त भासित होने वाली घटनायें आगे चलकर एक ही स्रोत से निःसृत प्रतीत होती हैं। एक ही ओर अग्रसर होती हुई इन विविध धाराओं का उद्देश्य समान है। 'राक्षस-निग्रह' हेतु के पञ्चमाङ्क से समाहित होना आरम्भ कर देती हैं। कूट-लेख, चन्दनदास-निग्रह, शकटदास व जीवसिद्धि का पलायन, आभूषणों का क्रय एवं विक्रय, कृत्रिम-कलह, आदि विविध छोटी-बड़ी घटनायें किसी न किसी रूप में राक्षस-निग्रह में सहायक हैं। विशाखदत्त' ने चरित्र-चित्रण को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये नाटकीय पात्रों को युग्म-रूप में प्रस्तुत किया है, अतः उनकी समतायें एवं भिन्नतायें सहज ही उभर कर सामने आती हैं। चाणक्य आत्मविश्वासी तथा अप्रमत्त है, राक्षस-भावुक तथा कोमल-प्रकृति है। चाणक्य बुद्धिवादी है, किन्तु राक्षस में हृदय पक्ष की प्रधानता है। गम्भीर एवं कठोर प्रकृति चाणक्य अनुचरों एवं मित्रों के लिये भयोत्पादक है किन्तु राक्षस के अनुचर एवं मित्र-वृन्द उससे स्नेह करते हैं। इसी प्रकार चारित्रिक समतायें व भिन्नताएँ भिन्न-भिन्न युग्मों में भी देखी जा सकती हैं, यथा मलयकेतु व चन्द्रगुप्त, भागुरायण व सिद्धार्थक, निपुणक व करभक आदि।

नाटक का मुख्य रस वीर है। आदि से अन्त तक नाटक युद्ध से सम्बद्ध है सर्वत्र युद्ध की चर्चा है। सच तो यह है कि 'मुद्राराक्षस' के नायक एवं प्रतिनायक के मध्य बौद्धिक संघर्ष होता है। शारीरिक द्वन्द्व तो यहाँ लेश-मात्र भी नहीं है। वे अपनी मन्त्र-शक्तियों के द्वारा एक दूसरे को पराभूत करने के लिये प्रयत्नशील हैं। इसके लिये वे साधन के औचित्य का विचार नहीं करते। साध्य की महानता ही उनके लिये आकर्षण का केन्द्र है। इस उद्देश्य से वे उन साधनों को भी अपनाने में सङ्कोच नहीं करते, जो नैतिकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

विशाखदत्त की शैली औचित्य पर आधारित है। उन्होंने भावों, पात्रों,

परिस्थितियों आदि के अनुरूप ही भाषा एवं शैली का चयन किया है। यही कारण है कि उनकी शैली गम्भीर, सशक्त व प्रवाहमयी है। वह ओजपूर्ण व प्रसादमयी है। आवश्यकतानुसार वे समास बहुल पदावली का प्रयोग करने में भी पीछे नहीं हटे हैं, किन्तु इसके साथ ही उनकी भाषा में वातावरण एवं पात्रों के अनुरूप छोटे-छोटे वाक्यों का भी प्रयोग है। सरलता एवं सरसता उनकी शैली को प्रवाहमयी बनाती हैं। विशाखदत्त ने न्याय-शास्त्र व काव्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों एवं सिद्धान्तों का भी अपने नाटक में प्रसङ्गतः विचारों व भावों को प्रकट करने के लिये प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये विजय के इच्छुक राजा की सेना किस प्रकार के व्यक्तियों से युक्त हो, यह वे 'न्याय-दर्शन' के निम्न सिद्धान्त से स्पष्ट करते हैं—

"साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत्-सपक्षेस्थितिं
व्यावृत्तश्च विपक्षतो भवति यत् यत् साधनं सिद्धये।
यत् साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धञ्च यत्,
तस्यांगीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥(५/१०)

विशाखदत्त का गद्य पद्य की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक है। पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप सहज स्वाभाविक हैं। अपनी सशक्त शब्दावली के द्वारा वे गागर में सागर भरने में समर्थ हैं, यथा—'अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः', 'सर्वज्ञता-मुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि', 'ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदङ्गुलीप्रणयी संवृत्त इति' आदि। उनके श्लेष अत्यन्त चुटीले होते हैं। श्लेष का प्रयोग विशाखदत्त ने व्यङ्ग्यार्थ में किया है। 'पताकास्थानक' का भी नाटक में श्लेषगर्भित' प्रयोग (१/६) है। प्रभावोत्पादकता के उद्देश्य से वे एक ही बात को प्रथमतः गद्य में कहलाते हैं, उसी को पद्यान्तरित करा देते हैं। 'भङ्ग्यन्तर कथन' के अपने इस प्रयोग से उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है। उनके पद्य सौन्दर्यमय प्रवाह से ओत-प्रोत हैं। उदाहरण के लिये—

'आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां,
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥'

वह कौन है, जो सिंह को तिरस्कृत कर, जम्भाई लेने के लिये खुले हुये उसके मुख से, वह दाढ़ निकालने का साहस कर सके, जो हस्ति के रक्त-पान से लाल है तथा सायंकालीन अरुण-चन्द्र की कला के सदृश देदीप्यमान है।' 'मुद्राराक्षस' में शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी तीनों प्राकृत हैं। प्राकृत व्याकरण के नियमों के अनुसार है। विशाखदत्त द्वारा प्रयुक्त छन्दों में स्रग्धरा व शार्दूलविक्रीडित की प्रमुखता है।

'विशाखदत्त' का दूसरा नाटक 'देवी-चन्द्रगुप्त' है। जो अधूरा ही उपलब्ध हुआ है। नाटक चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा शकाधिपति से अपने भाई की पत्नी ध्रुवदेवी

को मुक्त कराने से सम्बद्ध घटना पर आधारित है। तत्कालीन नरेश रामगुप्त ने अपनी रानी ध्रुवदेवी को सन्धि के रूप में समर्पित करना स्वीकार कर लिया था। चन्द्रगुप्त को यह अस्वीकार्य था उसने स्वयं ध्रुवदेवी के देश में शकाधिपति के समीप जाकर उसका वध कर दिया, अनन्तर अपने अग्रज का भी वध कर स्वयं सिंहासनस्थ हो गया तथा ध्रुवदेवी से स्वयं विवाह कर लिया। सुभाषित ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरण 'राघवानन्द' 'विशाखदत्त' रचित एक अन्य नाटक का सूचक है, किन्तु वह नाटक अभी तक अनुपलब्ध है।

(द) विज्जका

'विज्जका' लिखित 'कौमुदी-महोत्सव' नामक पांच अङ्कों का नाटक प्राप्त होता है। यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इसकी रचना ३४० ई० मानी जाती है। इस नाटक का चण्डसेन नामक पात्र वास्तव में चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है। विन्टरनिट्ज आदि कुछ विद्वानों के अनुसार 'कौमुदी-महोत्सव' पर 'मुद्राराक्षस' का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

नाटक में राजनीतिक घटनाओं को प्रणय-कथा से सम्बद्ध किया गया है। संक्षिप्त कथा यह है, मगध नरेश सुन्दरवर्मा का सेनापति चण्डसेन मगध के शत्रुओं की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण करता है और सुन्दरवर्मा का वध करके मगध का राजा बन जाता है, किन्तु मन्त्रगुप्त नामक सुन्दरवर्मा का मन्त्री अपने स्वामी के पुत्र कल्याणवर्मा को राजा घोषित करा देता है। कौमुदी-महोत्सव (कार्तिक-पूर्णिमा) के दिन कल्याणवर्मा का राज्याभिषेक होता है। राजा कीर्तिसेन इसी समय प्रसन्न होकर अपनी कन्या कीर्तिमती का विवाह कल्याणवर्मा से कर देते हैं। इसी अवसर पर 'कौमुदी-महोत्सव' नाटक का अभिनय किया जाता है।

'मृच्छकटिक' और 'कौमुदी-महोत्सव' दोनों ऐतिहासिक नाटक कहे जा सकते हैं। आर्यक और पालक के संघर्ष की भाँति चण्डसेन और कल्याणवर्मा की कथा भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की अपेक्षा रखती है।

(९) भट्टनारायण

भट्टनारायण कन्नौज के निवासी थे, किन्तु प्रौढ़ावस्था[1] में बंगाल में जाकर बस गये। 'भट्ट' और 'मृगराज' इनकी दो उपाधियाँ थीं। भट्टनारायण के आश्रयदाता आठवीं शताब्दी के पाल वंशी राजाओं से पूर्व हुए थे, अतः उनका स्थितिकाल आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। धनञ्जय (१००० ई०) आनन्दवर्धन (८५० ई०) और वामन (८०० ई०) सभी ने अपने ग्रन्थों में 'वेणीसंहार' के उद्धरण दिये हैं, अतः इनका समय ७२५ ई० मानना युक्तियुक्त है। सम्भवतः वे भवभूति के समकालीन थे।

दण्डी का कथन है कि भट्टनारायण ने तीन ग्रन्थ रचे, किन्तु आज एकमात्र वेणीसंहार' नाटक उपलब्ध है। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है, जिसमें

---

१. एम० कृष्णमाचार्य—'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर'—पृ० ६१२

कवि ने कुछ परिवर्तन भी किये हैं। प्रथम अङ्क में भीम, दुःशासन का रक्त पान करने और दुर्योधन को मारकर उसके रक्त से रञ्जित हाथों से द्रौपदी की वेणी बाँधने की प्रतिज्ञा करता है। दूसरे अङ्क में दुर्योधन और भानुमती का शृङ्गारिक संवाद है। तीसरे में द्रोण-वध के पश्चात् कर्ण और अश्वत्थामा में वाक्कलह होता है। चौथे में दुःशासन और कर्ण के पुत्र वृषसेन का वध वर्णित है। पाँचवें अङ्क में धृतराष्ट्र और गान्धारी दुर्योधन को सन्धि करने के लिये कहते हैं, परन्तु वह नहीं सुनता। छठे अङ्क में चार्वाक नाम का राक्षस युधिष्ठिर से यह मिथ्या संवाद कहता है कि दुर्योधन के साथ गदायुद्ध में भीम और अर्जुन मारे गये। यह सुनकर युधिष्ठिर और द्रौपदी अपने प्राण देने का संकल्प करते हैं। इतने में दुर्योधन को मारकर भीम लौटते हैं और रक्तरंजित हाथों से द्रौपदी की वेणी बाँधते हैं।

वेणीसंहार' का नायक कौन है, इस विषय पर लोगों में मतभेद है। युधिष्ठिर नायक नहीं है, क्योंकि वे केवल अन्तिम अङ्क में रंगमंच पर दिखाई देते हैं। कुछ विद्वान् दुर्योधन को नाटक का नायक मानते हैं किन्तु विलासी और कपटी होने के साथ ही न तो वह प्रथम अङ्क में दिखाई देता है और न अन्तिम अङ्क में ही रंगमच पर आता दिखाई देता है। फिर दुर्योधन को नायक मानने से नाटक दुःखान्त हो जायगा जो भारतीय नाट्य-परम्परा के विरुद्ध है। अतः दुर्योधन को नायक मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। भीम नाटक के आदि में ही द्रौपदी की वेणी का संहार करने की कठिन प्रतिज्ञा करके अन्त में उसका पालन करने में पूर्णतः सफल होता है। भले ही वह दर्प और मात्सर्य से पूर्ण हो। उनका क्रूर व्यवहार और औद्धत्य अच्छा लगे या बुरा, किन्तु धीरोद्धत्त होते हुए भी 'वेणीसंहार' का प्रधान नायक वही सिद्ध होता है। दुर्योधन-वध का कार्य वही करता है। द्रौपदी को वेणी-सज्जा तथा युधिष्ठिर को राज्य-प्राप्ति वही कराता है।

'वेणीसंहार' के कथानक में घटनाओं का आधिक्य है, जिन्हें कवि नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने में पर्याप्त रूप से सफल नहीं हो सका। पद्यों के बाहुल्य और वर्णनात्मक प्रसंगों की प्रचुरता से प्रायः नाटकीय गति अवरुद्ध सी हो गई है। छोटे से नाटक में कवि ने अनेक विषयों का समावेश करके कथानक को कुछ जटिल बना दिया है। चतुर्थ अङ्क में सुन्दरक ने युद्ध-भूमि का जो वर्णन किया है वह कवित्वमय तो है, किन्तु नाटकीय दृष्टि से प्रभावपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनावश्यक रूप से लम्बा हो गया है। विभिन्न दृश्य मुख्य कथा से पूर्णतः सम्बद्ध नहीं प्रतीत होते है। सभी मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी विशद नहीं बन सका। छठे अङ्क में चार्वाक के अनर्गल संदेश से धीरोदात्त युधिष्ठिर का परिहास सा किया जाना प्रतीत होता है। इसीलिए वहाँ कवि को जिस करुण रस की व्यञ्जना करना अभीष्ट है, वह नहीं हो पाती, साथ ही अस्वाभाविकता और प्रभावहीनता दिखाई देने लगती है।

शैली ओजस्विनी तो है, किन्तु परिष्कृत नहीं है। करुण, रौद्र, वीर और भयानक रसों का कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक चित्रण हो गया है। करुण के चित्रण का आधिक्य असह्य हो जाता है और भयानक तो बीभत्स हो उठता है।

संस्कृत और प्राकृत में भी प्रयुक्त दीर्घ समास तथा जटिल वाक्य-विन्यास घटनाप्रधान नाटक के कथानक में उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। कुछ आलोचकों का मत है कि 'वेणीसंहार' में तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम अङ्क अनावश्यक है। जो लोग दुर्योधन को नाटक का नायक मानते हैं, उनकी दृष्टि से तीसरे अङ्क का अश्वत्थामा और कर्ण से वाक्कलह वाला वर्णन प्रासङ्गिक और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह दुःखान्त कथा के अनुकूल है और कर्ण के जीवित रहते अश्वत्थामा युद्ध में सहयोग देना अस्वीकार कर देता है। उपर्युक्त दृश्य सर्वथा अनावश्यक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भीम की सफलता में सहायक होता है। चौथे अङ्क में भीम दुःशासन का वध करता है और पाँचवे अङ्क में कर्ण की मृत्यु की सूचना मिलती है, जो दुर्योधन के वध की भूमिका तैयार कर देती। अतः इन अङ्कों को सर्वथा अनावश्यक कहना युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता।

संस्कृत के वीर रस प्रधान नाटकों में 'वेणीसंहार' का विशेष स्थान है। इसमें नाट्यशास्त्र के नियमों का पूर्णतः पालन हुआ। इसलिए धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक' में उदाहरण प्रस्तुत करते हुये इसके अनेक पद्य प्रस्तुत किये हैं। नाटकीय दृष्टि से इसके कथोपकथन प्रभावोत्पादक हैं। तृतीय अङ्क नाटकीय कौशल और काव्य की दृष्टि से सफल उतरा है। पात्रों का व्यक्तित्व भी निखरा हुआ है। भीम की भयानकता और भीषणता, दुर्योधन की स्वार्थपरता और विलासप्रियता, अश्वत्थामा का रोष एवं दयार्द्र भाव, कर्ण का अहंकार आदि विशदरूप से चित्रित हुये हैं। भीम द्वारा द्रौपदी के अपमानदग्ध हृदय का वीरोचित ढंग से शान्त किया जाना बड़ा प्रभावशाली है। अश्वत्थामा का ब्राह्मणोचित तेज और सहृदयता तथा कर्ण की कटूक्तियाँ और व्यंग्य अपने-अपने स्थान पर उचित रूप में प्रदर्शित हुए हैं।

'वेणीसंहार' की भाषा प्रभावोत्पादक तथा ओजोगुणयुक्त है। अश्वत्थामा के प्रति कर्ण की यह चुटीली उक्ति दर्शनीय हैं—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ॥३/३७॥

चाहे मैं सूत हूँ या सूत-पुत्र या कोई भी क्यों न होऊँ, इससे क्या ? किसी कुल में जन्म पाना तो दैवायत्त है किन्तु मेरे अधीन पौरुष है। निम्न पद्य में शान्त रस का चित्रण भी दर्शनीय है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ,
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्,
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ॥१/२३॥

'अपनी अन्तरात्मा में रमने वाले, निर्विकल्पक समाधि लगाने वाले, ज्ञान के उद्रेक से अज्ञान की ग्रन्थियाँ खोल लेने वाले और सत्त्व गुण में स्थित रहने वाले मुनि

लोग जिसे तम और प्रकाश से परे एक अनिर्वचनीय तत्त्व मानते हैं, उस पुराण परमात्मा (कृष्ण) को यह मोहान्ध दुर्योधन भला कैसे पहचाने ?

भट्टनारायण के ओजगुण और गौडी रीति की प्रशंसा किसी कवि ने अधोलिखित शब्दों में की है—

ओजः संसूचकैः शब्दैः युद्धोत्साहप्रकाशकैः ।
वेण्यामुज्जृम्भयन् गौडीं भट्टनारायणो बभौ ॥

वेणीसंहार और मृच्छकटिक की तुलना—

कथावस्तु, नायक एवम् रस की दृष्टि से 'मृच्छकटिक' के लेखक शूद्रक, 'वेणीसंहार' के भट्टनारायण इन दोनों को ही वामन ने उद्धृत किया है। शूद्रक भट्टनारायण से लगभग ४ शताब्दी पूर्व के नाटककार हैं यह भी कारण है कि दोनों नाटककारों की शैलियों में विशेष अन्तर दीखता है।

कथावस्तु की दृष्टि से शूद्रक भास के ऋणी हैं। 'मृच्छकटिक' की कथावस्तु 'दरिद्र चारुदत्त' पर आश्रित है। शूद्रक ने अपने प्रकरण का नाम एक प्रधान घटना के नाम पर रक्खा है। वह है रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी का वसन्तसेना के आभूषणों से भरा जाना। अन्यथा चारुदत्त ही दोनों रूपकों का नायक है। राजनीतिक घटना चक्र का शृङ्गारिक घटनाओं के साथ मेल निभाना शूद्रक का अपना मौलिक कार्य है।

यों तो 'वेणीसंहार' की कथावस्तु भी भास पर आश्रित प्रतीत होती है किन्तु हम दृढ़तापूर्वक यह नहीं कह सकते कि भट्टनारायण ने भीम के द्वारा दुर्योधन की जंघा चूर्ण किये जाने की घटना स्वतन्त्रतापूर्वक महाभारत से ग्रहण नहीं की है। यद्यपि नाटक की प्रधान घटना बड़ी भयानक है किन्तु कुशल कलाकार ने उसका वर्णन-मात्र कराकर उसे नाटकीय रंगमंच के सर्वथा योग्य बना दिया है। यद्यपि नाटकीय कार्य आख्यान और कथोपकथन से आक्रान्त थे, फिर भी युद्धवीर का चित्रण पूरे उत्साह तथा ओज के साथ किया गया है। सूक्ष्म विवरणों के आधिक्य से कहीं-कहीं नाटकीय तत्वों पर आवरण सा पड़ जाता है और पाठक की रुचि ऊब जाती है, किन्तु चरित-चित्रण इतने आकर्षक ढंग से सम्पन्न हुआ है कि अन्य दोष प्रायः छिप गये हैं। भयानक और करुण रसों की व्यञ्जना कलात्मक ढंग से हुई है किन्तु शृङ्गारिक वर्णन का कोई शुभ प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रेम-दशा का चित्रण भी प्रभावहीन ही प्रतीत होता है।

'मृच्छकटिक' में यह प्रेम-वर्णन बड़ा अद्भुत और आकर्षक बन पड़ा है। वसन्तसेना चारुदत्त से सच्चा प्रेम करती है और वह वसन्तसेना का सच्चा प्रशंसक है जो उसके प्रति बड़े सरस श्लोकों का प्रयोग करता है। चरित्र-चित्रण की ही दृष्टि से नहीं अपितु करुणा की दृष्टि रखने और व्यञ्जना करने में भी शूद्रक को पूर्ण सफलता मिली है जैसा कि अपने पुत्र से बिछुड़ते समय चारुदत्त की परिस्थिति से स्पष्ट हो जाता है। तो भी उसकी सरल और स्वच्छ शब्दावली उसके माधुर्य और नाटकीय

प्रभाव को यथेष्ट रूप से आकर्षक बना देती है। शब्द-शक्ति और व्यञ्जना-प्रणाली पर भी कवि का समुचित अधिकार लक्षित होता है।

नाटकीय तत्वों की दृष्टि से 'वेणीसंहार' एक असफल नाटक समझा जाता है। किन्तु 'मृच्छकटिक' का नाटकीय प्रभाव बड़े मधुर और सरस ढंग से सम्पन्न होता है। शूद्रक और भट्टनारायण की अपेक्षा कालिदास और भवभूति आभ्यन्तर दृष्टि से अधिक समीप दिखाई देते हैं। 'मृच्छकटिक' की भाषा में सरलता और कार्य में स्निग्धता है जबकि 'वेणीसंहार' की भाषा कृत्रिमता से एवं समस्त पदावली से आक्रान्त है और कार्य में प्रवाह अवरुद्ध-सा प्रतीत होता है। शूद्रक का दृष्टिकोण बड़ा उदार एवं सार्वभौम है। मानव-जीवन से सम्बद्ध विविध घटनाओं के चक्र से उसके पात्र बड़ी कुशलतापूर्वक निकल जाते हैं।

उसका नायक भीम जो अपने भाई की आशा का उल्लंघन करने के लिये तो उद्धत हो जाता है किन्तु श्रीकृष्ण के प्रति उसकी बड़ी प्रगाढ़ श्रद्धा और बलवती निष्ठा है। वह श्रीकृष्ण का वर्णन उस अखण्ड परब्रह्म के रूप में करता है, जिसके ध्यान में योगी लोग निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में लीन रहता है।

दोनों रूपकों में पात्रों की विविधता दर्शनीय है किन्तु इसका वास्तविक श्रेय भास और व्यास को प्राप्त है। इन्हीं की रचनाओं से इन दोनों नाटकों के पात्र लिये गये हैं। 'नाट्यशास्त्र' के शास्त्रीय दृष्टिकोण से दोनों ही नाटक उलझे हुये प्रतीत होते हैं, किन्तु 'मृच्छकटिक' का कार्यकलाप 'वेणीसंहार' की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण बन पड़ा है।

वस्तुतः 'वेणीसंहार' के अन्तिम अंक में राक्षस और युधिष्ठिर में कुछ विनोद-पूर्ण वार्तालाप होते हुये भी वास्तविक हास्य का सर्वथा अभाव है जबकि 'मृच्छकटिक' में विनोद एवं हास्य बड़े प्रभावात्मक ढंग से प्रस्फुटित हुए हैं। शकार धूर्त होते हुये भी विदूषक का ही कार्य करता है। 'वेणीसंहार' वीररस प्रधान नाटक है, किन्तु 'मृच्छकटिक' में प्रकरण होने के कारण शृंगाररस की ही प्रधानता है। 'मृच्छकटिक' में संस्कृत की प्रभावात्मक वक्तृतायें और श्लोक तो हैं ही, साथ ही उसमें सात प्राकृतों का प्रयोग हुआ है और पात्रों में उनका विभाजन नाट्यकला के सर्वथा अनुकूल है। 'भट्टनारायण' की संस्कृत के प्रवाह में बड़ा वेग है और समस्त पदावली का आधिक्य संस्कृत और प्राकृत दोनों के गद्य-खण्डों में दिखाई देता है। इसलिये उसकी भाषा अनुपयुक्त मानी गई है। 'वेणीसंहार' में प्रधानतः 'शौरसेनी' प्राकृत का प्रयोग हुआ है। केवल तृतीय अंक में राक्षस और राक्षसी के वार्तालाप में 'मागधी' है।

छन्दों के प्रयोग में भी शूद्रक ने बड़ा कौशल दिखाया है। उसका प्रिय छन्द अनुष्टुप् (श्लोक) है, जो उनकी वेगयुक्त शैली और स्वाभाविक कथोपकथन प्रणाली के सर्वथा अनुकूल है। उन्होंने इस छन्द का ८३ बार प्रयोग किया है। भट्टनारायण के छन्दों में कोई विशेष बात नहीं है, तो भी 'शार्दूलविक्रीडित' उनका सर्वप्रिय छन्द प्रतीत होता है।

वेणीसंहार आर रत्नावली—

'नाट्यशास्त्र' की दृष्टि से 'रत्नावली' 'वेणीसंहार' के गुण दोषों का विवेचन—

'रत्नावली' का नायक उदयन धीरललित, वेणीसंहार का धीरोद्धत नायक है। रत्नावली में जिस प्रेम-कथा का वर्णन है, वह कलापूर्ण है तथा नायक के सर्वथा अनुकूल है। 'वेणीसंहार' में प्रेम-वर्णन नितान्त अरुचिकर है किन्तु उसमें भय और करुणा के अच्छे चित्रण मिलते हैं। उसमें चित्रित वीर और भयानक भीम जैसे नायक के सर्वथा अनुकूल है।

'रत्नावली' केवल ४ अंकों की नाटिका हैं, जबकि वेणीसंहार ६ अंकों का पूर्ण नाटक है। 'नाटिका' में हर्ष की मौलिकता को तो विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता किन्तु जिस क्रम में उन्होने घटनाओं को संगठित किया है वह अवश्य प्रशंसनीय है। इसमें क्रियाकलाप बड़ी स्निग्धता से अग्रसर होता है। ऐन्द्रजालिक के कार्य वाला दृश्य बड़े कौशल के द्वारा उपस्थित किया मिलता है । पिंजड़े से मैना का निकलना तथा उसका संवादकथन बड़े चातुर्य से अंकित किया मिलता है। वेश-परिवर्तन बड़ा स्वाभाविक व प्रभावोत्पादक है।

'भट्टनारायण' ने 'महाभारत' की एक दुःखान्त घटना चुनकर उसे नाटकीय रङ्गमञ्च के सर्वथा अनुकूल बना दिया है। इनमें नाटकीय तत्त्वों का विन्यास सफल नहीं कहा जा सकता। कार्य वर्णनों से आक्रान्त हो गया है, सूक्ष्म विवरणों का आधिक्य है, जिससे पाठकों का उत्साह भङ्ग हो जाता है, फिर भी चरित्र-चित्रण एवं भाषा-सौष्ठव उदात्त कोटि का बन पड़ा है।

शास्त्रीय ढंग के वर्णनों में हर्ष ने विशेष अभिरुचि दिखाई है। 'रत्नावली' में अभिव्यक्ति, सुगमता, विचारों की सरलता आकर्षक है। उसकी संस्कृत भी यथेष्ट मात्रा में उदात्त है। गद्य में शौरसेनी और पद्यों में महाराष्ट्री प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। 'वेणीसंहार' की शैली बड़ी स्वच्छ है। उसमें गम्भीरता और दीप्ति पर्याप्त मात्रा में है, किन्तु समस्त पदावली की ओर भट्टनारायण की विशेष प्रवणता है। यह संस्कृत, प्राकृत दोनों में लक्षित होती है। साथ ही परिणाम में श्रम-साध्य हो जाती है। वेणीसंहार में शक्ति है, प्रगति है और है स्फूर्ति। भयानक कथनोपकथन प्रायः मस्तिष्क में उत्तेजना उत्पन्न करके क्रान्ति मचा देता है, फिर भी उसमें वास्तविकता व यथार्थता झलकती है। उसकी संस्कृत और प्राकृत में कोई विशेषता नहीं है। प्रधानतया शौरसेनी का प्रयोग किया गया है। केवल तृतीयाङ्क में राक्षस और राक्षसी का वार्तालाप मागधी में हुआ है। 'वेणीसंहार' की अपेक्षा 'रत्नावली' में प्राकृत का अधिक प्रयोग मिलता है।

'रत्नावली' शृङ्गाररस-प्रधान नाटिका है, किन्तु 'वेणीसंहार' में वीर-रस की प्रधानता है। यों तो दोनों ही रूपक वर्णनात्मक हैं किन्तु 'रत्नावली' में कार्य का प्रवाह अधिक वेगयुक्त है। 'नाट्यशास्त्र' के नियमों का पालन प्रायः दोनों में ही

यथेष्ट रूप से हुआ है। काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने विशेषतः दशरूपककार ने दोनों में ही से उदाहरण रूप में उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। भट्टनारायण ने 'नाट्यशास्त्र' के नियमों का अक्षरशः पालन तथा पूर्ण अनुकरण किया है। नाटक साहित्य के इतिहास में 'रत्नावली' का विशेष महत्त्व है। शास्त्रीय नियमों की कसौटी पर खरे उतरने के कारण आचार्यों ने प्रायः अपने उद्धरण इसी से चुने हैं।

(१०) मुरारि

मुरारि ने 'अनर्घराघव' नाटक की रचना की। इनके पिता का नाम श्री वर्धमानक और माता का नाम तन्तुवती देवी था। रत्नाकर (८५० ई०) ने अपने 'हरविजय' (३८/६८) में मुरारि की ओर संकेत किया है। मंखक ने 'श्रीकण्ठचरित' (११३५ ई०) में मुरारि को राजशेखर (९०० ई०) का पूर्ववर्ती माना है। साथ ही मुरारि ने अपनी कृति में (१/६,७) 'उत्तररामचरित' से दो श्लोक (६/३०,३१) उद्धृत किये हैं। इन प्रमाणों से मुरारि का स्थितिकाल ८०० ई० के लगभग माना जाता है। ये सम्भवतः माहिष्मती (मान्धाता नगरी) के निवासी थे।

'अनर्घराघव' पर भवभूति के 'महावीरचरित' की स्पष्ट छाप पड़ी है। कथानक भी उसी के अनुरूप है। यह सात अङ्कों का नाटक है। ताड़का-वध से रामराज्याभिषेक की घटनायें इसमें वर्णित हैं। रामायण की कथा में कवि ने कुछ रोचक परिवर्तन भी किये हैं। कबन्ध राक्षस ने जब वटगृह पर आक्रमण किया तो लक्ष्मण ने कबन्ध का वध कर दिया, किन्तु इस कार्य में उन्होंने वह वृक्ष गिरा दिया जिस पर दुन्दुभि का कङ्काल लटका था। इससे उत्तेजित होकर बालि ने राम को युद्ध के लिये ललकारा, अतः राम ने विवश होकर युद्ध में उसका वध किया। सातवें अङ्क की विमान-यात्रा भी बड़ी अद्भुत और रुचिकर है। समेरु पर्वत, चन्द्रलोक आदि में घूमकर राम मलय और प्रस्रवण पर्वतों के ऊपर होते हुये काञ्ची, कुण्डनीपुर, उज्जयिनी, माहिष्मती, यमुना, गङ्गा, वाराणसी, मिथिला, चम्पा, प्रयागादि तीर्थों के दर्शन करते हुए अयोध्या पहुँचते हैं।

ग्रन्थ की प्रस्तावना में मुरारि ने उद्घोषित किया है कि उन्होंने भयानक और बीभत्स रसों में ऊबे हुए प्रेक्षकों को अद्भुत एवं वीर रस पूर्ण एक उदात्त रचना प्रदान की है। उनके अनुसार श्रीराम के प्रसिद्ध कथानक का उपयोग न करना भूल है, क्योंकि राम के चरित्र चित्रण से कवि की कृति में उदात्तता और सौष्ठव का संचार स्वतः हो जाता है। कहा कुछ भी हो, किन्तु कथानक का अनावश्यक विस्तार और भावों के प्रदर्शन में अत्युक्तियों का प्रयोग कवि ने अधिक किया है। पौराणिक ज्ञान के प्रकटन के साथ-साथ मुरारि ने पात्रों का प्राचीन रूप प्रायः स्थिर रक्खा है। उनकी शब्द-राशि विशाल, पद-शैय्या प्रौढ़ और उपमायें मौलिक हैं। उनकी अपूर्व मौलिकता देखकर ही किसी ने कहा है—"मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।" उनके पद्यों का सौन्दर्य उदात्त, भाव-प्रकाशन-शक्ति उदात्त एवं गम्भीर और व्याकरणविषयक ज्ञान अति प्रौढ़ है।

कीय कला की अपेक्षा पाण्डित्य की प्रधानता है। 'सिद्धान्तकौमुदी'

में 'अनर्घराघव' से अनेक उदाहरण लिये गये हैं। मुरारि की अत्युक्तियाँ बड़ी चटकीली है। उदाहरणार्थ—

"अनेन रम्भोरुभवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य।
ऊनस्य नूनं प्रतिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः ॥" ७/८७॥

राम सीता से कहते हैं कि "जब तुम्हारे मुख और चन्द्रमा दोनों को तोला गया तो तुम्हारा मुख सौन्दर्य में अधिक सिद्ध हुआ। भार की कमी को पूरा करने के लिये ही मानो चन्द्रमा के साथ चमकते तारों को तुला में रखना आवश्यक हुआ।" मुरारि ने अपने आपको 'बाल-वाल्मीकि' कहा है। कुछ आलोचक भवभूति की अपेक्षा मुरारि को अधिक श्रेष्ठ कवि मानते हैं—

"मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु ॥"

(११) शक्तिभद्र

'आश्चर्य-चूडामणि' नाटक की रचना श्री शङ्कराचार्य (७८८ से ८२० ई०) के शिष्य शक्तिभद्र ने की थी। उनका स्थितिकाल नवीं शताब्दी माना जाता है। कुप्पू स्वामी शास्त्री 'उत्तररामचरित' के बाद 'आश्चर्य-चूडामणि' को सर्वश्रेष्ठ राम-नाटक मानते हैं। भास के नाटकों की भाँति मङ्गलाचरण के श्लोक से पहले ही इसमें भी "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" वाक्य का प्रयोग मिलता है। 'आश्चर्य-चूडामणि' में शूर्पणखा प्रसङ्ग से रावण-विजय और सीता की अग्नि परीक्षा तक का वर्णन है। सीता-हरण की घटना से पहले मारीचि राम और लक्ष्मण से सीता को पर्णकुटी में अकेले छोड़ने का आग्रह करता है, फिर राम का रूप धारण कर रावण पर्णकुटी में आता है। उसका सारथि लक्ष्मण के रूप में आकर कहता है कि मैंने तपस्वियों से अयोध्या में भरत के शत्रुओं के कुचक्र में फँसने की बात सुनी है, अतः आपको सीता सहित वहाँ जाना चाहिये। उधर शूर्पणखा सीता का रूप रखकर पर्णकुटी में बैठ जाती है। उसका कपट खुल जाने पर राम उसे क्षमा करके उसके द्वारा रावण के पास निम्न सन्देश भेजते हैं—

'त्वरितगतिना सद्यः सीता त्वया न तु वञ्चिता।
नियतविधवाचारा दाराश्चिरं तव वञ्चिताः ॥" ३/४० ॥

'आश्चर्य-चूडामणि' अद्भुत रस-प्रधान है। 'अङ्कावतार' और 'विष्कम्भक' के यथेष्ट प्रयोगों द्वारा इसमें क्रियाशीलता का सञ्चार किया गया है। इसकी भाषा प्रसादपूर्ण आडम्बर शून्य और अर्थ-गर्भित है। उदाहरणार्थ 'आर्य किं स्नेहस्तुलयति गुणदोषान्, कथमौष्ण्यमग्नेश्छाद्यते ?" आदि। उनके पद्यों में प्रसाद और माधुर्य का मनोहर मिश्रण हुआ है और उन्होंने वैदर्भी रीति का आश्रय लिया है। घोर वन में शूर्पणखा को सुन्दरी वेष में देखकर लक्ष्मण कहते हैं—

"क्वेदं वनं वनचरैरपि दुर्विगाहं
क्वेयं वधूः कुवलयच्छविचोरनेत्रा।

हेमारविन्दमकरन्द रसोपयोगां
कः श्रद्दधीत जलधौ कलहंसकन्याम् ।।" (३/११)

"कहाँ तो वनचरों के लिये भी दुर्गम गहन-वन और कहाँ कमलों की सुषमा चुराने वाले नेत्रों से युक्त रमणी ? भला कौन विश्वास करेगा कि स्वर्ण-कमलों का रस-पान करने वाली कलहंसी कभी खारे सागर में वास करेगी ?"

(१२) दामोदर मिश्र

दामोदर मिश्र ने 'हनुमन्नाटक' नाम के महानाटक की रचना की है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक (८४० ई०) में 'हनुमन्नाटक' से उद्धरण दिये हैं। अतः इसकी रचना ८५० ई० के पूर्व हो चुकी थी। यह नाटक दो संस्करणों में प्राप्त होता है। प्राचीन संस्करण दामोदर मिश्र का लिखा हुआ है, जिसमें चौदह अङ्क हैं। इसमें आदि में प्रस्तावना का अभाव है। कथानक सीधा रामायण से लिया गया है। इसमें पद्यों का आधिक्य और गद्य की न्यूनता है। प्राकृत भाषा का तो प्रयोग ही नहीं हुआ। नाटक में पात्र तो बहुत अधिक हैं किन्तु विदूषक का अभाव है। हनुमन्नाटक का दूसरा संस्करण श्री मधुसूदनदास का लिखा है, जिसमें नौ अङ्कमात्र हैं। हनुमान जी का लिखा हुआ भी एक 'हनुमन्नाटक' कहा जाता है, जिसमें चौदह अङ्क हैं, कथा बीच-बीच में खंडित है। सम्भवतः हनुमान जी की वास्तविक रचना तो प्राप्त नहीं हो सकी जो भी मिली है उसी का आश्रय लेकर पूर्ण सम्पादन दामोदर मिश्र ने कर दिया, जैसा खंडित संस्करण के चौदहवे अङ्क के अधोलिखित पद्य से प्रकट होता है —

"रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाब्धौ
निहितममृतबुद्धया प्राङ् महानाटकं यत् ।
सुमतिनृपतिभोजेनोद्धृतं तत्क्रमेण
ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण ।।"

पवन पुत्र ने इसकी रचना करके शिलाओं पर लिखा किन्तु वाल्मीकि जी की रामायण की रचना के बाद यह समझकर कि सुधारस के सामने मेरी कृति को कौन पढ़ेगा, श्री हनुमान जी ने आज्ञा लेकर इस महानाटक की रचना की स्थापना समुद्र में कर दी। राजा भोज ने यह किंवदन्ती सुनकर समुद्र से उसे निकलवा लिया और जो कुछ प्राप्त हुआ उसे अपने सभा-पण्डित दामोदर मिश्र से संगतिपूर्वक सम्पादित कराया। इसी से पुस्तक यत्र-तत्र अपूर्ण सी लगती है। इसकी भक्तिभावना भरी मनोहर रचना सुनकर कौन ऐसा सहृदय होगा जो मुग्ध न हो जाय। जटायु और रावण के संघर्ष में जटायु द्वारा रावण के रथ की जीर्ण-शीर्ण की हुई दशा दर्शनीय है—

"अक्षं विक्षिपति ध्वजं दलयते मृद्नाति नद्धं युगं
चक्रं चूर्णयति क्षिणोति तुरगान् रक्षःपतेः पक्षिराट् ।

रुन्धन्गर्ज्जति तर्जयत्यमुमवत्यालंबते ताडय-
त्याकर्षत्यवलुम्पति प्रचलति नांचत्युदंचत्यपि ॥"

(१३) राजशेखर

राजशेखर महाराष्ट्र की यायावर जाति के क्षत्रिय थे। उनके वंश में सुरानन्द और कविराज जैसे अनेक यशस्वी कवि हुए थे। उनके पिता का नाम दुदक और माता का नाम शीलवती था। उनका विवाह चाहमान् जाति की अवन्तिसुन्दरी नाम की सुशिक्षित महिला से हुआ था। उन्हें अपनी विद्वत्ता का अभिमान था। धन और यश कमाने के लिये वे कन्नौज चले आये थे। 'कर्पूरमञ्जरी' में 'बालकवि' और 'कविराज' उनकी ये दो उपाधियाँ उल्लिखित मिलती हैं। अपने नाटकों में वह अपने आपको महेन्द्रपाल या निर्भयराज नामक राजा का गुरु लिखते हैं। सियदोनी के शिलालेख में ९०३–४ और ९०७–८ ई० महेन्द्रपाल की ये दो तिथियाँ निर्दिष्ट हैं। राजशेखर ने उद्भट (८०० ई०) और आनन्दवधन (८८५ ई०) का उल्लेख किया है। उधर 'यशस्तिलकचम्पू' (९५९ ई०), 'तिलकमञ्जरी' (१००० ई०) और 'व्यक्ति-विवेक' (११५० ई०) में राजशेखर का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार उनका स्थिति-काल दशम शती का आरम्भ निश्चित होता है।

राजशेखर ने चार नाटक लिखे हैं—(१) कर्पूरमञ्जरी, (२) विद्धशाल-भञ्जिका, (३) बाल-रामायण और (४) बाल-भारत अथवा प्रचण्ड पाण्डव। 'बाल-रामायण' में राजशेखर ने अपने को छह कृतियों का लेखक लिखा है, जिनमें से चार तो उपर्युक्त नाटक हैं। पाँचवाँ एक अलङ्कार-ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है, छठा है 'हर-विलास' नामक महाकाव्य। 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर अपने 'भुवनकोश' नाम के एक भौगोलिक ग्रन्थ का भी उल्लेख करते हैं।

'कर्पूरमञ्जरी' नृत्य प्रधान नाटक अर्थात् प्राकृत मे लिखा चार अङ्कों का एक सट्टक है जिसका कथानक 'रत्नावली' से मिलता जुलता है। इसमें चण्डपाल राजा और कुन्तल की राजकुमारी 'कर्पूरमञ्जरी' की प्रणय-कथा का वर्णन है। इसका कथानक छोटा है और चरित्र-चित्रण भी साधारण है। किन्तु अनेक दृष्टियों से नाटक महत्वपूर्ण है। एक तो आद्योपान्त प्राकृत में लिखा हुआ एकमात्र यही नाटक उपलब्ध है। दूसरे इनमें 'नान्दी' के पश्चात् 'सूत्रधार' के स्थान पर स्थापक श्लोक पाठ करता है। तीसरे इसकी 'प्रस्तावना' से प्रतीत होता है कि उस समय स्त्रियाँ ही स्त्री-पात्रों का अभिनय करती थीं। चौथे इसमें 'प्रवेशक' का प्रयोग नहीं है। इसके प्रत्येक अंक का नाम 'जवनिकान्तर' है और रंगमंच के पर्दे के अर्थ में 'जवनिका' शब्द का प्रयोग सबसे पहले इसी नाटक में मिलता है। 'चर्चरी' नामक नृत्य का भी प्रयोग इसमें हुआ है, जिसमें हाव-भाव की प्रधानता होती है। इस नाटक में पुरातत्व, भाषाविज्ञान और ग्राम-गीतो के लिये भी पर्याप्त सामग्री है।

राजशेखर का कथन है कि प्राकृत और संस्कृत में सुकुमारता की

दृष्टि से उतना ही अन्तर है, जितना स्त्री और पुरुष में। वस्तुतः राजशेखर की प्राकृत स्वाभाविक मधुरिमा से समन्वित है। पदलालित्य की दृष्टि से तो 'कर्पूरमञ्जरी' अपना विशिष्ट स्थान रखती ही है, प्राकृत छन्दों का प्रयोग भी उसमें अत्यन्त मनोहर रूप में सम्पन्न हुआ है। प्राकृत के पदलालित्य अनुप्रास-छटा और गीति-मधुरिमा का एक नमूना दर्शनीय है—

रणन्तमणिणीउरं झणझणन्तहारच्छडं,
कणक्कणिअकिङ्किणीमुहलमेहलाडम्बरम्।
विलोलवलआवलीजणिअमञ्जुसिञ्जारवं,
ण कस्स मणमोहणं ससीमुहीम हिन्दोलणम्॥ २/३२

मणि-नूपुरों से कैसी मधुर झङ्कार आ रही है। उसके गले का हार कैसा चमक रहा है। छोटे-छोटे बजने वाले घुंघुरुओं वाली करधनी कैसे मनोहर प्रतीत होती है। दोलायमान कड़ों से कैसी मनोज्ञ ध्वनि निकल रही है? ऐसी शशिमुखी को झूलते हुए देखकर भला कौन सहृदय मन्त्रमुग्ध न हो उठेगा।

'कर्पूरमञ्जरी' के तृतीय अङ्क में विदूषक का स्वप्न-वर्णन अत्यन्त विनोदपूर्ण और रससिक्त हो उठा है। नृप की कामपीड़ा और विदूषक की विनोदप्रियता एक साथ अङ्कित की गई है, जिनकी रोचकता परिहासपूर्ण होकर द्विगुणित हो उठी है। नाटक के संवाद सजीव हैं। फिर विदूषक की अनूठी उक्तियाँ उसमें चार चाँद लगा देती हैं। कर्पूरमञ्जरी की प्राकृत में अनेक देशज शब्द आ गये हैं फिर भी उसके पद्यों में महाराष्ट्री और गद्य में शौरसेनी प्राकृतें प्रयुक्त हैं। खिड़की के लिये 'खड़क्किया' और ढीला के लिये 'ढिल्ल' देशज शब्दों के ऐसे उदाहरण हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषा को प्रभावित किया।

राजशेखर की दूसरी कृति 'विद्धशालभञ्जिका' भी चार अङ्कों की नाटिका ही है, जिसका कथानक 'कर्पूरमञ्जरी' के समान रुचिकर और मनोहर है। पहले अङ्क में लाट देश के राजा चन्द्रवर्मा मृगाङ्कवती नाम की अपनी कन्या को मृगाङ्कवर्मन् नाम से पुत्र घोषित करके उसे सम्राट विद्याधर मल्ल की रानी के पास भेजता है। राजा के मन्त्री भागुरायण को यह पता था कि मृगाङ्कवर्मन कन्या है और जिससे उसका विवाह होगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। अतः उसने प्रणय उत्पन्न करने के लिये राजा के पास भेजा। तब से वह उसी का चिन्तन करता है। फिर अपनी चित्र-शाला में अपनी प्रेयसी की खुदी हुई मूर्ति 'विद्धशालभञ्जिका' के गले में मोतियों की माला पहिना देता है। दूसरे अङ्क में रानी कुवलयमाला नाम की कुन्तल राजकुमारी का विवाह मृगाङ्कवर्मन् से करना चाहती है। इधर विदूषक के साथ राजा स्वप्न में देखी सुन्दरी मृगाङ्कवती को उद्यान में खेलते और एक प्रणय लेख पढ़ते हुए देखता है। दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। तीसरे अङ्क में नायिका से राजा और विदूषक का साक्षात्कार होता है। चौथे अङ्क में ईर्ष्यावश रानी मृगाङ्कवर्मन् को बालक समझ उसे

स्त्री वेश पहना कर राजा से उसका विवाह करा देती है और स्वयं धोखा खा जाती है। उधर चन्द्रवर्मा के पुत्र होता है और वह अपनी पुत्रवेशधारी मृगाङ्कवती का विवाह राजा के साथ करना चाहता है। विवश होकर रानी कुवलयमाला का विवाह भी राजा से कर देती है। 'बालरामायण' महानाटक है। इसमें ९ अङ्क हैं। सीता-स्वयंवर में रावण शिव-धनुष चढ़ाने का साहस न करके सीता के भावी पति को आपत्तियों का भय दिखाकर चला जाता है। राम के विरुद्ध परशुराम को भड़काता है पर उनसे उसी का युद्ध होते-होते बच जाता है। रावण को सीता की मूर्ति भट का जाती है, जिसे वह वास्तविक समझ धोखा खा जाता है, फिर सीता के लिये सरिताओं, पक्षियों आदि से याचना करता है। इसी समय नाक-कान से रहित शूर्पणखा को देख रावण के हृदय में आवेश संचरित होता है। लङ्का की ओर बढ़ती हुई राम की सेना के सामने सीता का कटा मस्तक फेंक वह असफल छल करता है। अन्त में राम उसे मारकर आकाश मार्ग से अयोध्या लौटते हैं। 'बालभारत' नाटक के दो अङ्क मात्र प्राप्त हुए हैं। इसमें द्रोपदी का स्वयंवर, द्यूत-क्रीड़ा और द्रौपदी-वस्त्रापहरण वर्णित हैं।

राजशेखर में हास्यरस की कमी उनकी नाट्यकला का अभाव है, किन्तु उनका छन्दकौशल प्रशंस्य है। स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीड़ित जैसे छन्दों का वह प्राकृत में भी कुशल प्रयोग करने में सफल हैं। उनका भाषा-कौशल, शब्द-विन्यास, गीति-सौन्दर्य आदि दर्शनीय हैं।

(१४) क्षेमीश्वर

'चण्ड कौशिक' और नैषधानन्द' के रचयिता क्षेमीश्वर राजशेखर के समकालीन थे (दशम् शताब्दी विक्रमीय) ये दोनों ही कन्नौज के राजा महीपाल के आश्रित कवि थे। 'चण्ड कौशिक' में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का आख्यान ही कथावस्तु रूप में वर्णित है। यह ऋग्वेदीय 'ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्र और शुनःशेप वाले आख्यान पर आश्रित है। भाषा प्रवाहयुक्त, कथानक सरल और वस्तु विश्लेषण सामान्य हुआ है।

'नैषधानन्द' क्षेमीश्वर का दूसरा रूपक है। यह सात अङ्कों में विभक्त है। इसमें नल दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा का वर्णन है।

दशम शताब्दी तक के नाटकों का उल्लेख करते हुए धनिक (११ वीं शताब्दी) ने दशरूपक की टीका में चार ऐसे नाटकों का भी उल्लेख किया है जो आज अप्राप्य हैं। उनके नाम हैं:—'पाण्डवानन्द', 'तरङ्गदत्त', 'पुष्पदषितक' और 'चलितराम'। इनके रचयिताओं के नाम भी उपलब्ध नहीं हैं। ११ वीं शताब्दी के सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न काव्यशास्त्री क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचार-चर्चा' और 'कविकण्ठाभरण' दोनों ही ग्रन्थों में 'कनकजानकी' और चित्रभारत' नाम के अपने दो नाटकों से कतिपय उदाहरण दिये हैं, किन्तु सम्प्रति वे भी उपलब्ध नहीं हैं।

(१५) दिङ्नाग

'कुन्दमाला' नामक नाटक के १९२३ में प्रकाशित होते ही उसके रचयिता के रूप में पाँचवीं शताब्दी के बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग की ओर विद्वानों का ध्यान गया, जो कालिदास का समकालीन माना जाता है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है कि भवभूति (७०० ई०) 'उत्तररामचरित' की रचना करते समय 'कुन्दमाला' से प्रभावित है[1]। 'कुन्दमाला' का सर्वप्रथम उल्लेख रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने 'नाट्यदर्पण' (११०० ई०) में किया है। 'कुन्दमाला' के कर्ता दिङ्नाग भवभूति के पूर्ववर्ती नहीं है', क्योंकि भवभूति से पहले उनका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अतएव उनका समय १००० ई० के लगभग माना जाता है। बात यह है कि 'कुन्दमाला में आर्य-वैदिक परम्परा के दर्शन होते हैं। वैदिक धर्म ही सर्वत्र व्याप्त दिखाई देता है। एक बौद्ध कवि या दार्शनिक ऐसी कृति की रचना नहीं कर सकता। अतः 'कुन्दमाला' के कर्ता दिङ्नाग धीरनाग या वीरनाग कालिदास के समकालीन समझे जाने वाले बौद्ध दिङ्नाग से भिन्न व्यक्ति हैं। 'कुन्दमाला' के प्रथम अङ्क में ही राम के आदेश पर लक्ष्मण गर्भवती सीता को गंगा-तट पर छोड आते हैं और सीता को महर्षि बाल्मीकि अपने आश्रम में स्थान देते हैं। दूसरे अङ्क में लव-कुश के जन्म से लेकर बाल्मीकि द्वारा उन्हें रामायण की शिक्षा और नैमिषारण्य में राम के साथ अश्वमेध यज्ञ में आश्रमवासियों के साथ निमन्त्रित होकर सीता के साथ वहाँ जाने को तत्पर होने तक की कथा है। तीसरे अङ्क में पुत्रों सहित सीता नैमिषारण्य में आ जाती है। गोमती के तट पर टहलते हुए राम-लक्ष्मण जलधारा में बहती हुई कुन्द पुष्पों की एक माला देखते हैं, उसे सीता निर्मित समझ कर राम विलाप करते है। पास ही कुञ्ज में खड़ी सीता यह करुण दृश्य देखती है। चौथे अंक में राम के सम्मुख तिलोत्तमा नाम की अप्सरा सीता का रूप रखकर उन्हें और भी व्यथित करती है। पाँचवें अङ्क में राम के सम्मुख लव और कुश रामायण का पारायण गान करते दिखाई देते हैं। छठे अङ्क में पृथ्वी देवी सबके सम्मुख प्रकट होकर सीता के पतिव्रत को प्रमाणित करती है और अन्त में राम-सीता, लव और कुश का आनन्दप्रद पुनर्मिलन सम्पन्न हो जाता है।

'कुन्दमाला' और 'उत्तररामचरित' की कथा में बड़ी समानता है, क्योंकि वहाँ 'रामायण' के उत्तरकाण्ड की ही कथा विविध रूपों में वर्णित है। दोनों नाटक सुखान्त हैं और दोनों ही में अदृश्य सीता की कल्पना मर्मस्पर्शी ढंग से की गई है। भवभूति दिङ्नाग से कहीं अधिक सफल नाटककार हैं। 'कुन्दमाला' पर 'उत्तररामचरित' का प्रर्याप्त प्रभाव ही नहीं अनुकरण भी लक्षित होता है। भावुकता, सरसता तथा सूझबूझ की मौलिकता में भवभूति दिङ्नाग से श्रेष्ठतर हैं। फिर भी यह मानना

---

१. Introduction to 'कुन्दमाला' Edited by वेदव्यास Etc लाहौर, १९३१।

पड़ता है कि रचनात्मक दृष्टि से यदि 'उत्तररामचरित' श्रेष्ठ है तो क्रियाशीलता की दृष्टि से 'कुन्दमाला' कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है। 'कुन्दमाला' में यत्र-तत्र कुछ त्रुटित वाक्य मिलते हैं। उनकी प्राकृत के भी कुछ प्रयोगों का संस्कृत रूपान्तर होना शेष है। दिङ्नाग की भाषा दुरूहता से दूर और बोधगम्य है। उनकी शैली प्रसाद गुण युक्त, प्रवाहमय और सरस है। करुण रस के वर्णन में कवि की वृत्ति रमती दिखाई देती है। परित्यक्ता सीता को देखकर पशु-पक्षी तक कैसे व्यथित दिखाई देते हैं—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य,
हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति।
नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्यदेवीं,
तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः॥

चारा त्यागकर हरिण रोने लगते हैं, व्याकुल हंस करुण शब्द करते हैं और मयूर भी नृत्य करना छोड़ देते हैं। इन मनुष्यों से तो ये तिर्यक् योनि वाले प्राणी ही अच्छे हैं।

(१६) कृष्णमिश्र

कृष्णमिश्र द्वारा रचित 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक प्राप्त होता है। ये जेजाकभुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के समकालीन थे। राजा कीर्तिवर्मा का १९०८ ई० का एक शिलालेख मिलता है। अतः मिश्र जी ११०० ई० के लगभग विद्यमान थे।

'प्रबोधचन्द्रोदय' संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध रूपात्मक नाटक है जो शान्त-रस प्रधान है। इसमें वेदान्ती अद्वैतवाद का निर्वाह रुचिकर शैली में किया गया है। अमूर्त-भावों को पात्रों के रूप में अंकित करने का प्रयत्न सर्वप्रथम भास के 'बाल-चरित' में दिखाई देता है इसका पूर्ण और सफल विकास 'प्रबोधचन्द्रोदय' में हुआ हैं। इसमें कवि ने मोह, ज्ञान, विवेक, विद्या बुद्धि, श्रद्धा, भक्ति और दम्भ जैसे अमूर्त भावों को स्त्री और पुरुष के रूप में मानकर अध्यात्म-विद्या का स्वरूप चित्रित किया है। इस दार्शनिक नाटक में भक्ति और ज्ञान का समन्वय किया गया है। इसके दार्शनिक श्लोक भी बेजोड़ हैं। ब्रह्म और संसार की तुलना करते हुए कवि कहता है—

शान्तेऽनन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्दे तरङ्गावलीः—
निर्मुक्तेऽमृतसागराम्भसि मनाङ्मग्नोऽपि नाचामति।
निःसारे मृगतृष्णिकार्णवजले श्रान्तोऽपि मूढः पिब-
त्याचामत्यवगाहतेऽभिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति॥

इस ब्रह्मरूपी निर्मल, शान्त अमृत सागर के जल में विकार की तरंगे नाम को भी नहीं उठतीं, अनन्त महिमा सर्वत्र व्याप्त है। विषय वासनाओं से शून्य चेतन आनन्द विकसित हो रहा है। ऐसे अमृत जल में सदा निमग्न रहते हुए भी मूढ़ प्राणी उसका रंच भी आस्वाद नहीं लेता है। दूसरी ओर बारम्बार निराश होकर भी जगत्

के मृगतृष्णा के सारहीन जल को बार-बार पीता है, अवगाहता है, डुबकियाँ लेता और उतराता है।

'प्रबोधचन्द्रोदय' से अनुकरण पर बाद में भी रूपकात्मक नाटकों की रचना हुई। तेरहवीं शताब्दी में यशपाल ने 'मोह-पराजय' नाटक लिखा। १४वीं शताब्दी में वेंकटनाथ ने 'संकल्प सूर्योदय' की रचना की। १६वीं शताब्दी में 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक नाटक कवि कर्णपूर ने लिखा। हिन्दी के कवियों पर भी 'प्रबोधचन्द्रोदय' का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा। रामचरितमानस के आरण्यककाण्ड में पञ्चवटी के प्रसङ्ग में गोस्वामी तुलसीदास जी ने जो आध्यात्मिक रूपक बाँधा है उसमें 'प्रबोध-चन्द्रोदय', से पात्र भी अपनाये हैं। आचार्य केशवदास ने भी 'विज्ञानगीता' में इसका छन्दोबद्ध अनुवाद किया है।

(१७) जयदेव

'प्रसन्नराघव' के रचयिता जयदेव विदर्भ देश के कुण्डिननगर के निवासी थे। ये 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव से भिन्न व्यक्ति है। ये कवि होने के साथ अच्छे तार्किक भी थे। 'चन्द्रालोक' नामक प्रसिद्ध अलङ्कार-ग्रन्थ उन्हीं की रचना है। 'प्रसन्नराघव' की प्रस्तावना में कवि ने कवित्व के साथ तर्क शक्ति का अनुमोदन करते हुए एक मार्मिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती,
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारायणीयाः शराः॥

'प्रसन्नराघव' में सात अङ्क हैं। इसमें विधिक रोचक परिवर्तनों सहित वाल्मीकि रामायण की कथा अंकित है। प्रथम अङ्क में रावण और बाणासुर सीता के हेतु उपहासास्पद बनते हैं। दूसरे अङ्क में जनकपुर के उद्यान में राम और सीता का साक्षात्कार होता है। तीसरे अङ्क में सीता स्वयंवर है।

चौथे अङ्क में राम और परशुराम के युद्ध का वर्णन है। पाँचवें अङ्क मे नदियों के संवाद द्वारा राम-वनवास से सीता-हरण तक की घटनाओं का कथन होता है। छठे अङ्क में राम को दो विद्याधर अपनी माया से लङ्का की घटनायें दिखाते हैं। रावण सीता पर क्रुद्ध होकर जब उसका वध करने को आगे बढ़ता है तब उसके हाथ में उसी के पुत्र अक्ष का कटा शीश आ जाता है। सातवें अङ्क में लङ्का को विजित करके राम विमान द्वारा अयोध्या को लौट आते हैं।

जयदेव की भाषा में विचित्र विलास और प्रसाद के साथ ललित और मसृण-पद-शय्या के कारण जितना आकर्षण है उतनी ही बोधगम्यता भी है। 'पीयूषवर्ष' जयदेव की उपाधि भी सर्वथा सार्थक है। 'प्रसन्नराघव' में सूक्ति सौन्दर्य तो पद-पद पर मुग्ध करता है। बात यह है कि जयदेव की शैली बड़ी परिष्कृत और प्राञ्जल होते हुए भी अत्यन्त प्रासादिक एवं मधुर है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने 'रामचरितमानस' में 'प्रसन्नराघव' की अनेक उक्तियाँ अनूदित करके ग्रहण कर ली हैं। उदाहरणार्थ—

यया विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेऽपि शङ्करात् ।
दर्शनात् रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥ —प्रसन्नराघव

तुलसीकृत अनुवाद किञ्चित् परिवर्तन के साथ इस प्रकार है :—

जो सम्पति शिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ ।
सोइ सम्पदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥

'प्रसन्नराघव' की सुकुमार सूक्तियाँ बड़ी अनूठी हैं। उदाहरणार्थ—

"केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ।"
"सततसुखसंवासवसतिः ।"

(१८) वत्सराज

वत्सराज कालिंजर नरेश परमर्दिदेव (११६३–१२०३ ई०) के सामन्त और मन्त्री थे। इनके लिखे छह नाटक हैं (१) कर्पूरचरित, कर्पूरचरित में द्यूतकर कर्पूर अपने अनुभव का रोचक वर्णन करता है। यह एक अङ्क का भाण है। (२) 'हास्यचूड़ामणि'—यह हास्यरस प्रधान एकांकी 'प्रहसन' है। (३) 'किरातार्जुनीयव्यायोग'—भारवि के प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय के आधार पर लिखा हुआ एक अङ्क का व्यायोग है। (४) 'रुक्मिणीहरण' में कृष्ण के द्वारा रुक्मणी हरण की कथा वर्णित है। यह चार अङ्कों का 'ईहामृग' है। 'त्रिपुरदाह' में शिव के द्वारा त्रिपुरासुर की नगरी के विध्वंश का रौद्र रस प्रधान वर्णन है। यह चार अङ्कों का 'डिम' है। (६) 'समुद्रमंथन' में देवताओं और दैत्यों के द्वारा सागर-मंथन, समुद्र से चौदह रत्नों का उद्भव, विष्णु और लक्ष्मी के विवाह आदि का रोचक वर्णन है। यह तीन अङ्कों का 'समवकार' हैं।

इतने विविध प्रकार के रूपकों की रचना करने वालों में भास के उपरान्त वत्सराज का ही नाम लिया जा सकता है। उनकी शैली ललित, प्रसादगुण युक्त और सशक्त है। उसमें दीर्घ समासों का अभाव है। साथ ही सरल वाक्य-विन्यास का प्रयोग हुआ है। वत्सराज के छोटे-छोटे रूपकों में भी घटना संघठन की रोचकता और नाटकीय क्रियाशीलता दर्शनीय है। एक उदाहरण से उनकी शैली पर किंचित् प्रकाश पड़ सकता है—

'सिध्यन्ति कामाः बलिनां बलेन लोकस्थितिः किन्तु न लंघनीया ।
दृष्ट्यैव संहर्तुमलंगिरीशः शत्रुच्छिदे सज्जयति त्रिशूलम् ॥'

द्वादश शताब्दी के बाद कविगण और नाटककार सुशिक्षित शिष्ट जनों में लिये ही अपनी रचनायें प्रस्तुत करते थे। अतः साधारण वर्ग के लिये उनकी कृतियों का समुचित प्रचार एवं प्रसार न हो सका। इधर देश में यवनों के आक्रमण तथा उनके कठोर शासन के स्थापित होने पर संस्कृत के पठन-पाठन तथा सृजन को

राजकीय प्रोत्साहन तो अप्राप्य सा हो गया। यवनों के मत में नाटक आदि का अभिनय उनकी धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध था, इसलिये भी नाटकों का प्रचार क्रमशः कम होता गया। फिर उर्दू, फारसी की प्रधानता होने से दैनिक व्यवहार में संस्कृत का प्रयोग कम होने लगा तथा प्रान्तीय भाषायें उसका स्थान लेने लगीं। यद्यपि नाटकों की भाषा बहुत दिनों तक संस्कृत ही बनी रही। विद्यापति ठाकुर के नाटकों में पात्रों के संवाद संस्कृत तथा प्राकृत में ही है। पद्य मात्र मैथिली भाषा में लिखे गये हैं। मध्य युग में भी संस्कृत नाटकों की रचना हुई और आज भी संस्कृत नाटक लिखे जा रहे हैं। अब तो रंगमञ्च पर उनका यत्र-तत्र अभिनय भी होने लगा है। भारतीय नाट्यकला में भारत की रूढ़ियों, परम्पराओं, सिद्धान्तों और संस्थाओं का समन्वय दिखाई देता है। इसी से फ्रांसीसी विद्वान् प्रो० सिलवाँलेवी का कथन है कि नाट्यकला में भारत की प्रतिभा और मौलिकता अपने पूर्ण रूप में प्रतिफलित हुई है। वस्तुतः नाटक भारत की साहित्यकला का चरम निदर्शन एवं हिन्दू प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण है। बारहवीं शताब्दी के बाद लिखे हुए नाटकों में निम्नलिखित नाम स्मरणीय है—

'जयसिंहसूर्य' ने १२३० ई० में वीर रस प्रधान 'हम्मीरमदमर्दन' की रचना की। 'जगदीश्वर' ने १६०० ई० में 'हास्यार्णव' नाटक लिखा। 'रामभद्रदीक्षित' ने १७०० ई० में 'जानकीपरिणय' की रचना की। १८९२ ई० में 'आर-कृष्णमाचारी' द्वारा 'शेक्सपियर' के 'मिड् समर नाइट्स ड्रीम' का आश्रय लेकर 'वासन्तिकस्वप्न' की रचना की। १९१२ ई० में लक्ष्मण सूर्य कृत 'दिल्लीसाम्राज्य' की रचना हुई। और 'मूलशङ्कर याज्ञिक' बी० ए० ने 'संयोगिता स्वयंवर', 'प्रतापविजय' 'क्षत्रपति-साम्राज्य' नाम के तीन नाटक लिखे।

(१९) हरिदास सिद्धान्त वागीश

१८वीं शताब्दी के अन्त में 'श्री हरिदास सिद्धान्त वागीश' का उदय हुआ। उनके विविध विषयों पर लिखे हुये अनेक ग्रन्थों से कवि के व्यापक शास्त्र-ज्ञान का परिचय मिलता है। यों तो उनके लिखे हुये गद्यकाव्य, खण्डकाव्य, महाकाव्य और चरित-ग्रन्थ भी मिलते हैं, किन्तु प्रसंगवश यहाँ हम उनके रूपक-ग्रन्थों का ही उल्लेख करेंगे। इन्होंने एक नाटिका तथा चार नाटकों की रचना की है। 'विराजसरोजिनी' नाम की नाटिका है तथा 'कंसवधम्', जानकीविक्रमम्', 'मेवाड़प्रतापम्' तथा 'वंगीय-प्रतापम्' ये चार नाटक हैं।

'बंगीयप्रतापम्'—इसमें दुरात्मा नवाब के घोर अत्याचारों से वंगीयभूमि को मुक्त करने के सत्प्रयत्न का वर्णन है। प्रतापादित्य के शौर्य तथा नवाब की छलपूर्ण चालों का जीता जागता वर्णन किया गया है। इसमें मानसिंह के साथ प्रतापादित्य के युद्ध का वर्णन तथा कपटपूर्वक प्रतापादित्य के बन्दी होने और अमरपद प्राप्त करने का प्रभावात्मक विवरण हुआ है। शैली की विशेषता की दृष्टि से दो एक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

"दर्जनस्य किल साहचर्य्यतः सज्जनोऽपि ननु दुर्जनायते ।
सङ्गतं स्फटिकरत्नमुल्मुके निर्म्मलं मलिनमेव दृश्यते ।।"

(ख) 'साधु साधु, अस्या हि कुटिलता केशकपाले, कठिनता, स्तनमण्डले, चंचलता चेलाञ्चले, विच्छायता परिच्छदे, कलङ्कश्च लोमाध्वनीति चित्रदर्शनादुन्नीयते । तत् किमियं प्रवातमासेवमाना रचयति केशसंस्कारम् ।

(२०) यतीन्द्रविमल चौधरी

आधुनिक संस्कृत नाटककारों में डॉ० यतीन्द्रविमल चौधरी का विशिष्ट स्थान है । आपके लगभग बीस नाटक प्रकाश में आ चुके हैं । इनमें कुछ इस प्रकार हैं—

महिममयभारतम्; भारतभास्करम्; शक्तिशारदम्; मुक्तिशारदम्; भारतहृदयारविन्दम् ।

इनकी रचना शैली अत्यन्त स्वाभाविक है । 'भारतहृदयारविन्दम्' का एक श्लोक ही रचना शैली पर प्रकाश डालने हेतु पर्याप्त है—

अयं यदि स्याद्व्यवहारहेतुव्यर्थो वतायं विपुलो विवादः ।
अलं च तैस्तैर्व्यवहारजीवैर्दोषं तमङ्गीकुरुतेऽभियुक्तः ।।

आपकी पत्नी श्री रमा चौधरी प्रसिद्ध संस्कृत नाटक लेखिका हैं ।

(२१) म० म० पं० मथुराप्रसाद दीक्षित

महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाद आधुनिक विद्वानों में सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले विशिष्ट साहित्यकार हैं । अब तक लगभग २४ संस्कृत ग्रन्थ रच चुके हैं । आपका प्रवेश व्याकरण, दर्शन, काव्य आदि सभी क्षेत्रों में है । कुल रचनाओं में ८ के लगभग संस्कृत के नाटकों की रचना कर चुके हैं ।

विविध विषयों पर लिखे कुछ नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—

वीर-प्रताप; पृथ्वीराज; भक्तिसुदर्शन; गांधीविजयम्; भारतविजयनाटकम् ।

डॉ० वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य इस युग के प्रसिद्ध नाटककार हैं । इन्होंने अब तक ५ नाटकों की रचना की है, जिनमें—कवि कालिदासम्, सिद्धार्थचरितम् और गीतगौराङ्गम् अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । भट्टाचार्य जी के नाटकों में प्राच्य और पाश्चात्य नाट्यकला के समन्वय के साथ-साथ नवीन प्रयोगों के भी दर्शन होते हैं । चरित्र-चित्रण और शैली की दृष्टि से नाटक अत्यन्त उच्चकोटि के हैं ।

संस्कृत नाटकों की विशेषतायें--

संस्कृत के नाटकों की रचना का प्रधान उद्देश्य समाज के सभी वर्गों का स्वस्थ मनोरञ्जन करते हुये अभीप्सित रस की निष्पत्ति करना है । भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'नाट्य' के उज्ज्वल भविष्य का वर्णन करते हुये कहा है—

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।
विनोदजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

इसी प्रकार धनञ्जय ने 'दशरूपक' में अपना विचार व्यक्त किया है कि नाटकों

की रचना तो केवल आनन्दातिरेक की विशुद्ध अभिव्यक्ति मात्र है, अतएव जो अल्प-मति उन्हें इतिहास आदि के समान व्युत्पत्तिजनक बौद्धिक ग्रन्थ ही मानता है, उसे कलाजन्य सौन्दर्य अथवा आनन्द का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं।

आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मैनमः स्वादुपराङ्मुखाय॥

साधारणतया नाटकों का प्रासाद वस्तु, नेता और रस इन तीन साधनों की भूमिका पर स्थित है, तथापि संस्कृत के नाटक वस्तुतः रसप्रधान होते हैं। उनमें वास्तविकता, कथावस्तु एवं यथार्थता को गौण मानकर प्रेक्षकों और पाठकों में रस-विशेष के संचार की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। कवि की विदग्धता केवल रसाभिव्यक्ति की पूर्णता में ही मानी जाती है। रस ही नाट्यकला का प्रधान लक्ष्य माना गया है। रसों में भी शृङ्गार अथवा वीर को प्रधानता दी गई। अतः नाटकों में प्रायः ऐसी कथा को स्थान मिलता था, जो प्रसिद्ध होने के कारण प्रेक्षकों के मनोऽनुकूल होती थीं। इस प्रकार संस्कृत नाटक रस-प्रधान तथा कवित्वमय हुये और उनमें आदर्शवाद की प्रतिष्ठा हुई। यह सब होते हुए भी संस्कृत नाटकों में वास्तविकता का अस्तित्व निर्विवाद रूप से रहता ही है, क्योंकि न केवल नाटकों का अपितु समग्र काव्य-साहित्य का ही उद्देश्य यथार्थ और दोनों का समुचित समन्वय उपस्थित करना है।

संस्कृत नाटकों में पात्रों की संख्या अनिश्चित होती है। पात्र लौकिक, दिव्य अथवा अर्धदिव्य होते हैं। कवियों ने समुदायगत (टाइपिकल) चरित्रों की सृष्टि की ओर विशेष ध्यान दिया और व्यक्तिमूलक (इन्डीवीजुल) पात्रों की अवतारणा पर कम। कालिदास, शूद्रक आदि कुछ महान् कलाकारों की कृतियों को अपवाद रूप में छोड़कर शेष कृतियों में साधारणतया परम्परामुक्त चरित्रों का ही निर्माण किया गया है। 'स्वप्नवासवदत्तम्', 'मालविकाग्निमित्र', 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', 'कर्पूरमञ्जरी' आदि के नायक नायिकाओं के व्यक्तित्व में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं प्रतीत होता। पात्र अपनी-अपनी सामाजिक मर्यादा के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। संस्कृत का प्रयोग नायक अथवा उच्च वर्ग के ही पात्रों द्वारा होता है। निम्न श्रेणी के लोग स्त्रीपात्र प्राकृत में ही बोलते हैं।

'कर्णभार' और 'उरुभंग' इन दो नाटकों को अपवाद रूप में छोड़कर अन्य संस्कृत नाटकों में एरिस्टोटिल द्वारा निर्दिष्ट समय और स्थान की अन्विति (यूनीटीज आफ टाइम एण्ड प्लेस) भी नहीं पाई जाती। विभिन्न दृश्यों में अङ्कों का विभाजन भी इनमें नहीं होता। भाषा गद्य-पद्यमय होती है। नाटक के अन्तर्गत पत्र लेखन अभिज्ञान (पहिचान की निशानी) विदूषक आदि के उपयोग में संस्कृत तथा पाश्चात्य नाटकों में समानता है। नाटकीय निर्देश और अभिनय-संकेत दिये रहने के कारण संस्कृत नाटक निःसन्देह अभिनय के लिये ही लिखे जाते थे। दर्शकों के बैठने के लिये नियम भी बनते थे। स्त्रीपात्रों का अभिनय नटियों द्वारा होता था। नाटक का कथा-

नक ऐतिहासिक, पौराणिक या कविकल्पित होता है। रंगमंच पर वध, युद्ध, विवाह, भोजन, यात्रा, मृत्यु आदि अशुभ या पीड़ाजनक, व्यापारों का अभिनय निषिद्ध माना गया है किन्तु पाश्चात्य नाटकों में इसके विपरीत ये सभी बातें निहित हैं।

संस्कृत नाटक प्रायः सुखान्त होते हैं, किन्तु कतिपय नाटक दुःखान्त भी माने जाते हैं। यदि दुःखान्त नाटक का अर्थ नायक का शोक, पराभव और मृत्यु का चित्रण करना है, तो इस दृष्टि से 'कर्णभार', 'उरुभंग' और 'चण्डकौशिक' दुःखान्त नाटक ही हैं। 'कर्णभार' में कर्ण के कवच-कुण्डलों से वंचित हो जाने के रूप में युद्ध में कर्ण की अनिवार्य मृत्यु की सम्भावना, 'उरुभंग' में रंगमञ्च पर दुर्योधन की मृत्यु और 'चण्ड-कौशिक में हरिश्चन्द्र का दुःखों से अभिभूत होकर अन्त में स्वर्ग सिधारने की घटनाओं को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। अतः उन्हें दुःखान्त नाटक मानना अनुचित न होगा।

प्रत्येक संस्कृत नाटक का आरम्भ 'प्रस्तावना' से होता है। 'प्रस्तावना' में सूत्रधार, नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्वक के साथ वार्तालाप करता हुआ नाटक की कथावस्तु और कवि का संक्षिप्त परिचय देकर नाटक का आरम्भ करता है। अङ्क की समाप्ति कर रंगमञ्च सदा भरा ही रहता है। प्रथम अङ्क के आरम्भ में अथवा दो अङ्कों के बीच में 'विष्कम्भक' का प्रयोग होता है, जिसमें सम्वाद या स्वगत-भाषण द्वारा प्रेक्षकों को ऐसी घटनाओं की सूचना दी जाती है, जिनका रंगमञ्च पर दिखाया जाना आवश्यक नहीं, किन्तु कथा-सूत्र के निर्वाह के लिये जिनका जानना अनिवार्य है। नाटक की समाप्ति 'भरतवाक्य' से होती है, जिनमें प्रधान पात्र देश या समाज की उन्नति की शुभ कामना करता है। संस्कृत नाटक में कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस अङ्क होते हैं।

प्रकृति की रमणीयता, प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध, अन्तःप्रकृति के साथ ही बाह्य-प्रकृति का भी विशद चित्रण आदि अन्य विशेषतायें हैं जो कि संस्कृत नाटकों के सम्बन्ध में भरतमुनि आदि आचार्यों द्वारा प्रकट की गई धारणाओं को अक्षरशः पुष्ट करती हुई उन्हें आदर्श बनाती हैं।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक—

संस्कृत-साहित्य में इतिहास सम्बन्धी सामग्री प्रायः चार रूपों में प्राप्त होती है। (१) कतिपय ग्रन्थकारों ने अपने पूर्ववर्ती ऐतिहासिक ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जो अब अनुपलब्ध हैं। (२) द्वितीय कोटि की ऐतिहासिक सामग्री हमें दानपत्रों, अन्तर्लेखों एवं प्रशस्तियों आदि में प्राप्त होती है। (३) तृतीय श्रेणी की सामग्री रामायण, महाभारत एवं पौराणिक ग्रन्थों में मिलती है। (४) अन्तिम कोटि की काव्य-परक सामग्री इतिहास ग्रन्थों में निहित है। यहाँ हमें अन्तिम कोटि के अन्तर्गत उन नाटकों का अध्ययन करना अपेक्षित है, जिनका वृत्त इतिहास-सम्मत है अथवा जिनके पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, किंवा जिनमें स्फुट ऐतिहासिक तथ्य निहित हैं। इन ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन प्रथमतः 'मुद्राराक्षस' के आधार पर किया जाता है, फिर अन्य पर भी विचार होगा क्योंकि सर्वाधिक ऐतिहासिक नाटक यही है।

'मुद्राराक्षस' के रचयिता 'विशाखदत्त' कन्नौज के मौखरि नरेश अवन्तिवर्मा के आश्रित थे। अवन्तिवर्मा का शासनकाल छठी एवं सातवीं शताब्दी का मध्यकाल माना जाता है। नाटककार ने एक प्राचीन ऐतिहासिक एवं राजनीतिक कथानक को नाटकीय रूप प्रदान किया है। इस दृष्टि से यह नाटक संस्कृत में अद्वितीय है। राजद्वार में अहर्निश व्यवहृत दांव-पेचों का नाटक में सजीव चित्रण है। इसके अनुसार सत्ता-प्राप्ति के निमित्त कोई पाप, पाप नहीं है क्योंकि राजनीति में सफलता-प्राप्ति ही पुण्य है। इस लक्ष्यप्राप्ति के लिये शासक वर्ग के सभी पाप क्षम्य हैं। नाटक में ईसा से प्रायः तीन सौ वर्ष पूर्व की कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं को आधार माना गया है। यह समय नन्द साम्राज्य के विनाश एवं मौर्य्य साम्राज्य के अभ्युदय का समय था। नन्द वंश के विनाश के उपरान्त उनके स्वामिभक्त अमात्य राक्षस ने मौर्य्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त के गुरु चाणक्य से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। चाणक्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का प्रधान अमात्य बनाना चाहते थे। अपने-अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये ही दोनों में कूटनीतिक घात प्रतिघात हुए तथा अन्ततः चाणक्य सफलीभूत हुए। यही वृत्त नाटक में सात अङ्कों में वर्णित है। नाटकीय वृत्त ऐसी विविध घटनाओं से सम्बद्ध है जो सभी मुख्य वृत्त से प्रस्फुटित होती हुई प्रतीत होती है। मुद्राराक्षस घटनाओं की एकाग्रता एवं सजीव चित्रण के कारण सर्वथा पठनीय एवं दर्शनीय है, घटना-प्रधान नाटकों के अनुरूप पौरुष, उत्साह एवं उर्जस्विता नाटक में चित्रित हैं।

ऐतिहासिक रूपकों का अध्ययन करते समय 'मुद्राराक्षस' को केन्द्रबिन्दु मानने पर, इन नाट्य-सन्दर्भों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम तो वे, जो 'मुद्राराक्षस' के पूर्ववर्ती ऐतिहासिक नाट्य-सन्दर्भ हैं तथा दूसरे वे जो 'मुद्राराक्षस' के परवर्ती हैं। इन उभयवर्गों के रूपकों पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

'मुद्राराक्षस' के पूर्ववर्ती ऐतिहासिक नाट्य सन्दर्भ --संस्कृत साहित्य के नाटकों की सजीव एवं मूर्त्त परम्परा का अनुवर्तन भास से होता है। उनके त्रयोदश नाटकों में से जो अर्द्ध ऐतिहासिक घटनाओं पर अवलम्बित हैं तथा दो नाटक 'रामायण' पर आश्रित है और छह नाटकों का कथानक 'महाभारत' परक है। इनमें से 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' तथा 'स्वप्नवासवदत्तम्' प्रथम कोटि के अन्तर्गत हैं 'प्रतिमानाटक' तथा 'अभिषेकनाटक' रामकथाश्रित हैं। 'पञ्चरात्र', 'मध्यमव्यायोग।' 'दूतघटोत्कच', 'कर्णभार' 'दूतवाक्य' एवं उरुभङ्ग' अन्तिम श्रेणी—महाभारतपरक--के अन्तर्गत हैं। रामायण पर आश्रित 'प्रतिमा' एवं 'अभिषेक' उभय नाटकों में रामणीय कथा का संक्षिप्तीकरण है। इनमें से प्रथम रामवनवास से रावण-वध पर्यन्त की घटनाओं से सम्बद्ध है तथा द्वितीय में किष्किन्धा, सुन्दर एवं युद्धकाण्ड की कथा वर्णित है। नाटककार ने रामायणीय कथा को मंचोपयुक्त बना दिया है तथा कतिपय ऐसे परिवर्तन किये हैं जो विशिष्ट महत्व नहीं रखते हैं।

महाभारत-परक नाटकों में से 'पञ्चरात्र' में महाभारत की एक कथा

नक ऐतिहासिक, पौराणिक या कविकल्पित होता है। रंगमंच पर वध, युद्ध, विवाह, भोजन, यात्रा, मृत्यु आदि अशुभ या पीड़ाजनक, व्यापारों का अभिनय निषिद्ध माना गया है किन्तु पाश्चात्य नाटकों में इसके विपरीत ये सभी बातें निहित हैं।

संस्कृत नाटक प्रायः सुखान्त होते हैं, किन्तु कतिपय नाटक दुःखान्त भी माने जाते हैं। यदि दुःखान्त नाटक का अर्थ नायक का शोक, पराभव और मृत्यु का चित्रण करना है, तो इस दृष्टि से 'कर्णभार', 'उरुभंग' और 'चण्डकौशिक' दुःखान्त नाटक ही हैं। 'कर्णभार' में कर्ण के कवच-कुण्डलों से वंचित हो जाने के रूप में युद्ध में कर्ण की अनिवार्य मृत्यु की सम्भावना, 'उरुभंग' में रंगमञ्च पर दुर्योधन की मृत्यु और 'चण्ड-कौशिक में हरिश्चन्द्र का दुःखों से अभिभूत होकर अन्त में स्वर्ग सिधारने की घटनाओं को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। अतः उन्हें दुःखान्त नाटक मानना अनुचित न होगा।

प्रत्येक संस्कृत नाटक का आरम्भ 'प्रस्तावना' से होता है। 'प्रस्तावना' में सूत्रधार, नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्वक के साथ वार्तालाप करता हुआ नाटक की कथावस्तु और कवि का संक्षिप्त परिचय देकर नाटक का आरम्भ करता है। अङ्क की समाप्ति कर रंगमञ्च सदा भरा ही रहता है। प्रथम अङ्क के आरम्भ में अथवा दो अङ्कों के बीच में 'विष्कम्भक' का प्रयोग होता है, जिसमें सम्वाद या स्वगत-भाषण द्वारा प्रेक्षकों को ऐसी घटनाओं की सूचना दी जाती है, जिनका रंगमञ्च पर दिखाया जाना आवश्यक नहीं, किन्तु कथा-सूत्र के निर्वाह के लिये जिनका जानना अनिवार्य है। नाटक की समाप्ति 'भरतवाक्य' से होती है, जिनमें प्रधान पात्र देश या समाज की उन्नति की शुभ कामना करता है। संस्कृत नाटक में कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस अङ्क होते हैं।

प्रकृति की रमणीयता, प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध, अन्तःप्रकृति के साथ ही बाह्य-प्रकृति का भी विशद चित्रण आदि अन्य विशेषतायें हैं जो कि संस्कृत नाटकों के सम्बन्ध में भरतमुनि आदि आचार्यों द्वारा प्रकट की गई धारणाओं को अक्षरशः पुष्ट करती हुई उन्हें आदर्श बनाती हैं।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक—

संस्कृत-साहित्य में इतिहास सम्बन्धी सामग्री प्रायः चार रूपों में प्राप्त होती है। (१) कतिपय ग्रन्थकारों ने अपने पूर्ववर्ती ऐतिहासिक ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जो अब अनुपलब्ध हैं। (२) द्वितीय कोटि की ऐतिहासिक सामग्री हमें दानपत्रों, अन्दलेखों एवं प्रशस्तियों आदि में प्राप्त होती है। (३) तृतीय श्रेणी की सामग्री रामायण महाभारत एवं पौराणिक ग्रन्थों में मिलती है। (४) अन्तिम कोटि की काव्य-परक सामग्री इतिहास ग्रन्थों में निहित है। यहाँ हमें अन्तिम कोटि के अन्तर्गत उन नाटकों का अध्ययन करना अपेक्षित है, जिनका वृत्त इतिहास-सम्मत है अथवा जिनके पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, किंवा जिनमें स्फुट ऐतिहासिक तथ्य निहित हैं। इन ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन प्रथमतः 'मुद्राराक्षस' के आधार पर किया जाता है, फिर अन्य पर भी विचार होगा क्योंकि सर्वाधिक ऐतिहासिक नाटक यही है।

'मुद्राराक्षस' के रचयिता 'विशाखदत्त' कन्नौज के मौखरि नरेश अवन्तिवर्मा के आश्रित थे। अवन्तिवर्मा का शासनकाल छठी एवं सातवीं शताब्दी का मध्यकाल माना जाता है। नाटककार ने एक प्राचीन ऐतिहासिक एवं राजनीतिक कथानक को नाटकीय रूप प्रदान किया है। इस दृष्टि से यह नाटक संस्कृत में अद्वितीय है। राजद्वार में अहर्निश व्यवहृत दांव-पेचों का नाटक में सजीव चित्रण है। इसके अनुसार सत्ता-प्राप्ति के निमित्त कोई पाप, पाप नहीं है क्योंकि राजनीति में सफलता-प्राप्ति ही पुण्य है। इस लक्ष्यप्राप्ति के लिये शासक वर्ग के सभी पाप क्षम्य हैं। नाटक में ईसा से प्रायः तीन सौ वर्ष पूर्व की कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं को आधार माना गया है। यह समय नन्द साम्राज्य के विनाश एवं मौर्य्य साम्राज्य के अभ्युदय का समय था। नन्द वंश के विनाश के उपरान्त उनके स्वामिभक्त अमात्य राक्षस ने मौर्य्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त के गुरु चाणक्य से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। चाणक्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का प्रधान अमात्य बनाना चाहते थे। अपने-अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये ही दोनों में कूटनीतिक घात प्रतिघात हुए तथा अन्ततः चाणक्य सफलीभूत हुए। यही वृत्त नाटक में सात अङ्कों में वर्णित है। नाटकीय वृत्त ऐसी विविध घटनाओं से सम्बद्ध है जो सभी मुख्य वृत्त से प्रस्फुटित होती हुई प्रतीत होती है। मुद्राराक्षस घटनाओं की एकाग्रता एवं सजीव चित्रण के कारण सर्वथा पठनीय एवं दर्शनीय है, घटना-प्रधान नाटकों के अनुरूप पौरुष, उत्साह एवं उर्जस्विता नाटक में चित्रित हैं।

ऐतिहासिक रूपकों का अध्ययन करते समय 'मुद्राराक्षस' को केन्द्रबिन्दु मानने पर, इन नाट्य-सन्दर्भों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम तो वे, जो 'मुद्राराक्षस' के पूर्ववर्ती ऐतिहासिक नाट्य-सन्दर्भ हैं तथा दूसरे वे जो 'मुद्राराक्षस' के परवर्ती हैं। इन उभयवर्गों के रूपकों पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

'मुद्राराक्षस' के पूर्ववर्ती ऐतिहासिक नाट्य सन्दर्भ--संस्कृत साहित्य के नाटकों की सजीव एवं मूर्त्त परम्परा का अनुवर्तन भास से होता है। उनके त्रयोदश नाटकों में से जो अर्द्ध ऐतिहासिक घटनाओं पर अवलम्बित हैं तथा दो नाटक 'रामायण' पर आश्रित है और छह नाटकों का कथानक 'महाभारत' परक है। इनमें से 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' तथा 'स्वप्नवासवदत्तम्' प्रथम कोटि के अन्तर्गत हैं 'प्रतिमानाटक' तथा 'अभिषेकनाटक' रामकथाश्रित हैं। 'पञ्चरात्र', 'मध्यमव्यायोग।' 'दूतघटोत्कच', 'कर्णभार' 'दूतवाक्य' एवं 'उरुभङ्ग' अन्तिम श्रेणी—महाभारतपरक--के अन्तर्गत हैं। रामायण पर आश्रित 'प्रतिमा' एवं 'अभिषेक' उभय नाटकों में रामणीय कथा का संक्षिप्तीकरण है। इनमें से प्रथम रामवनवास से रावण-वध पर्यन्त की घटनाओं से सम्बद्ध है तथा द्वितीय में किष्किन्धा, सुन्दर एवं युद्धकाण्ड की कथा वर्णित है। नाटककार ने रामायणीय कथा को मंचोपयुक्त बना दिया है तथा कतिपय ऐसे परिवर्तन किये हैं जो विशिष्ट महत्व नहीं रखते हैं।

महाभारत-परक नाटकों में से 'पञ्चरात्र' में महाभारत की एक कथा

का कल्पित रूप है। दुर्योधन आचार्य द्रोण को पाँच रातों में पाण्डवों का पता चल जाने पर उन्हें आधा राज्य देने का वचन देता है। निश्चित अवधि में पाण्डवों का विराट नगर में पता चल जाने पर दुर्योधन अपने वचन का पालन करता है। 'मध्यमव्यायोग' की रचना हिडिम्बा व भीम के विवाह के संस्मरण के आधार पर हुई है। घटोत्कच द्वारा संत्रस्त ब्राह्मण की भीम रक्षा करते हैं तथा स्वयं राक्षसी के पास जाते हैं। अपने पति से मिलने के लिये यह षड्यन्त्र रचने वाली हिडिम्बा पुत्र सहित प्रसन्न होती है। 'दूतघटोत्कच' में दूत के रूप में घटोत्कच, कौरवों को उनके भावी विनाश से अवगत कराता है तथा अभिमन्यु के वध से संतप्त पाण्डवों के सदृश भविष्य में कौरवों की भी दशा का सन्देश देता है। नाटक में घटोत्कच तथा दुर्योधन के वीर रस से ओतप्रोत संवाद हैं। 'कर्णभार' में कर्ण के दिव्य कवच-कुण्डल से सम्बद्ध वृत्त है। कर्ण शल्य को इनकी प्राप्ति तथा इनकी विशिष्टताओं से अवगत कराते हैं। अर्जुन से युद्ध के लिये सन्नद्ध कर्ण उन्हें इन्द्र को दान दे देता है। नाटक नायक कर्ण के दानशील चरित्र की उज्ज्वलता का परिचायक है। द्रौपदी के अपमान से खिन्न पाण्डव 'दूतवाक्य' नाटक में कृष्ण को दूत के वेश में सन्धि-प्रस्ताव के साथ कौरवों के समीप भेजते हैं। किन्तु उन्हें असफल मनोरथ हो प्रत्यावर्तित होना पड़ता है। नाटक में दुर्योधन तथा कृष्ण के चारित्रिक वैषम्य का चित्रण है। कृष्ण द्वारा दुर्योधन की युक्तियों का सटीक उत्तर दिये जाने के कारण नाटकीय सम्वाद स्वाभाविक एवं मार्मिक है। 'उरुभङ्ग' में भीम तथा दुर्योधन के अन्तिम गदा-युद्ध का तथा दुर्योधन की मृत्यु का कारुणिक वर्णन है। संस्कृत-रूपकों में यह एकमात्र दुःखान्त नाटक है। इन महाभारतकालीन नाटकों में भास ने महाभारत की कथा का पर्याप्त अनुसरण किया है, किन्तु साथ ही साथ वे नवीन संविधानक भी खोज लेते हैं। 'पञ्चरात्र' एवं 'दूतघटोत्कच' का कथानक कवि की व्यक्तिगत कल्पना की सृष्टि है। 'उरुभङ्ग' के अश्वत्थामा के प्रचण्ड चरित्र को प्रस्तुत कर कवि ने एक मौलिक उद्भावना की है जो मरणासन्न राजा को पुनः विजय की आशा दिलाता है तथा पाण्डवों के वध का प्रण करता है।

भास के उत्कृष्टतम नाटक उदयन सम्बन्धी आख्यान पर आधारित -'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' तथा स्वप्नवासवदत्तम्' हैं। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' उदयन के विश्वस्त एवं स्वामिभक्त अमात्य यौगन्धरायण की दृढ़प्रतिज्ञा तथा कुटिल नीति से सम्बद्ध है। यौगन्धरायण अपने संकल्प द्वारा न केवल उज्जयिनी नरेश द्वारा बनाये गये अपने राज्य को बन्धनमुक्त कराता है वरन् वासवदत्ता सहित उसके पलायन की भी व्यवस्था कर देता है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' भी यौगन्धरायण की योजना कार्यरत है। मगधनरेश दर्शक की बहन पद्मावती अपने स्वामी का परिणय कराने के हेतु वासवदत्ता के मिथ्या अग्निदाह का समाचार फैला देता है तथा उसे पद्मावती के संरक्षण में छोड़ देता है। पद्मावती के साथ विवाह के अनन्तर उदयन एक दिन वासवदत्ता को स्वप्नावस्था में देखता है। अन्ततः वत्स विजय के अनन्तर दोनों का पुनर्मिलन होता है।

निःसन्देह उदयन ऐतिहासिक व्यक्ति है किन्तु वह उस प्राचीन युग का नरेश है जिसका इतिहास अप्राप्य है। फलतः तत्कालीन परिस्थितियाँ एवं विशिष्ट राजनीतिक घटनायें अन्धकारमय हैं। यही कारण है कि निश्चिन्ततः 'उभयनाटकगत घटनाओं की यथार्थता का मूल्यांकन करना असम्भवप्राय है। तो भी यह सत्य है कि इन नाटकों के मूल में राजनीतिक घटनाचक्र निहित है। सम्भवतः नाटककार तत्काल राजनीति एवं इतिहास से पूर्णतः नहीं तो पर्याप्त रूप से अवगत था।

नाट्य-कला का पूर्ण परिपाक सर्वप्रथम कालिदास की कृतियों में है। इनके नाटकत्रय में से दो हमारे प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध हैं। 'मालविकाग्निमित्र' का ऐतिहासिक इतिवृत है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' महाभारत के आदिपर्व के 'शाकुन्तलोपाख्यान' के आधार पर है। 'मालविकाग्निमित्र' का वृत्त शुङ्गवंशीय नरेश 'अग्निमित्र तथा विदर्भनरेश माधवसेन की बहिन मालविका की प्रणय-कथा से सम्बद्ध है। नाटक ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है। अग्निमित्र मौर्य्य राजा बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था। पुष्यमित्र अन्तिम मौर्य्य सम्राट् बृहद्रथ का वध कर मगध का अधिपति हो गया था। इस प्रकार १८७ ई० पू० के लगभग उसने शुङ्गवंश की स्थापना की। अग्निमित्र ग्वालियर राज्य के भीलसा (विदिशा) प्रदेश पर शासन करता था। पुष्यमित्र के शासन की मुख्य घटनायें विदर्भ तथा कलिंग के साथ युद्ध, यूनानियों का आक्रमण तथा अश्वमेध यज्ञ का पुनरुत्थान है। अग्निमित्र ने विदर्भ पर आक्रमण किया था, जिसमें यज्ञसेन पराभूत हुआ था तथा विदर्भ का राज्य यज्ञसेन एवं माधवसेन के मध्य बाँट दिया गया था। नाटक में पुष्यमित्र के शासनकाल की प्रमुख घटनायें उल्लिखित हैं। यूनानियों के आक्रमण एवं उनके पराभूत होने तथा पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ किये जाने का संकेत है। नायक एवं नायिका का प्रेम ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है।

नाटककार की अन्य कृति 'शाकुन्तल' में दुष्यन्त एवं शकुन्तला की प्रणय-कथा चित्रित है। महाभारत के सीधे एवं सरल कथानक ने कालिदास की बहुरङ्गी तूलिका से विलक्षण नाटकीय रूप प्राप्त कर लिया है। उभय स्थलों की चित्रित शकुन्तला का चरित पूर्णतः विपरीत है। यह अन्तर दुष्यन्त के चरित्र में भी परिलक्षित होता है।

प्रथम बौद्ध नाटककार 'अश्वघोष' ने बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर 'शारिपुत्र-प्रकरण' की रचना की है। रूपकीय वृत्त शारिपुत्र एवं मौद्गलायन के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने से सम्बद्ध है। नाटक में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का सम्यक् निरूपण किया गया है तथा जनसामान्य को ऐहिक भोगों का त्याग करके वैराग्योन्मुख होने के लिये प्रेरित किया है। फलतः कथानक शृङ्गार से शान्त रसोन्मुख हैं।

'शारिपुत्र-प्रकरण' के अनन्तर विशुद्ध ऐतिहासिक रूपकों की परम्परा शिथिल हो चली थी। इस विलुप्तप्रायः परम्परा को श्रीहर्ष की लेखनी से सजीवता प्राप्त

हुई। इन्होंने अपनी दो नाटिकायें 'प्रियदर्शिका' एवं 'रत्नावली' उदयन को नायक मानकर लिखीं। दोनों का विषय कल्पित है। प्रथम में उदयन तथा दृढ़वर्मा की पुत्री के प्रणय का चित्रण है तथा द्वितीय में उदयन तथा सिंहलेश्वर की राजकन्या रत्नावली की प्रणय-कथा है। यद्यपि उभय नाटिकाओं में पर्याप्त वृत्त साम्य है तथापि प्रियदर्शिका की कथावस्तु न तो उतनी संगठित एवं आकर्षक है और न ही उतनी सुन्दरता के साथ उपन्यस्त है।

भास के अनन्तर सम्भवतः भवभूति ही ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने अपने नाटक त्रय में से दो का सर्जन रामायणीय वृत्त के आधार पर किया। 'महावीरचरित' में रामायण के पूर्वार्द्ध की कथा तथा 'उत्तररामचरित' में उत्तरार्द्ध का वृत्त है। प्रथम नाटक में मुख्यतः राम-विवाह, वनवास, सीताहरण तथा राम-राज्याभिषेक है तथा द्वितीय में राम के वन-प्रत्यागमन से सीता मिलन पर्यन्त की घटनायें परम कौशल से गुम्फित हैं। 'महावीरचरित' में नाटकीय संघर्ष की मूल भित्ति दुर्बल प्रतीत होती है। फिर भी नाटक में कथानक का ऐक्य प्रदर्शित करने का श्लाघनीय प्रयास है। राम के विरुद्ध किये गये सभी कार्यों के मूल में राम की प्रेरणा है। वीररस प्रधान नाटक में राम के अनेक दोषों को भिन्न रूप में प्रदर्शित किया गया है, यथा रावण का सहायक बनकर युद्ध के लिये आये हुए बालि का राम द्वारा वध हैं। 'उत्तररामचरित' में घटना-संविधान मनोवैज्ञानिक पद्धति पर है। नाटक में रोचकता एवं सरसता की वृद्धि हेतु मूलकथा में अनेक परिवर्तन किये गये हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'मुद्राराक्षस' के पूर्ववर्ती ऐतिहासिक रूपकों में मूलतः रामायण एवं महाभारतपरक नाटकों का प्राधान्य है। भास के अधिकांश नाटक, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' तथा भवभूति के उभय नाटक इसी कोटि के अन्तर्गत हैं। उदयन-परक नाटकों में प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्तम् एवं श्रीहर्षकृत प्रियदर्शिका तथा रत्नावली नाटिकायें हैं। 'मालविकाग्निमित्र' एवं 'शारिपुत्र-प्रकरण' ही पूर्णतः ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित कहे जा सकते हैं। यद्यपि 'मालविकाग्निमित्र' में प्रमुखतः अन्तःपुर के प्रणय का चित्रण है।

'मुद्राराक्षस' के परवर्ती ऐतिहासिक नाट्य सन्दर्भ—

'मुद्राराक्षस' के परवर्ती ऐतिहासिक रूपकों को सुविधा के लिये कालक्रम की दृष्टि से दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम, छठी शताब्दी से दशम शताब्दी पर्यन्त के ऐतिहासिक रूपक तथा द्वितीय, दशम शती के उपरान्त के रूपक। अब इन उभयवर्गों पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

छठी शताब्दी से दशवीं शताब्दी के पर्यन्त के रूपक—

इस अवधि के रूपक प्रधानतः रामायण एवं महाभारत सापेक्ष हैं। इन उभय उपजीव्य काव्यों से निरपेक्ष किंवा विशुद्ध ऐतिहासिक रूपकों का तो अंशमात्र ही विद्यमान है। इस युग के नाटककारों की अभिरुचि कदाचित् प्राचीन ऐतिहासिक नरेशों से सम्बद्ध वृत्तों के आधार पर साहित्य सृजन की ओर अधिक थी। अध्ययन की सुविधा के लिये इन विविध रूपकों को निम्न वर्गों में रख सकते हैं:—

(१) ऐतिहासिक, (२) रामायणपरक, (३) महाभारतपरक तथा (४) अनुपलब्ध रूपक ।

ऐतिहासिक रूपक—

इस श्रेणि में 'देवी चन्द्रगुप्त' तथा 'कौमुदी-महोत्सव' आते हैं । विशाखदत्त-कृत 'देवी चन्द्रगुप्त' गुप्त शासकों की सौराष्ट्र विजय से सम्बद्ध है : शकाधिपति के अनुचित सन्धि-प्रस्ताव को मानकर रामगुप्त अपनी पत्नी को उसके समीप भेजने को समुद्यत है । रामगुप्त का अनुज चन्द्रगुप्त अपने भाई के वचन से क्रुद्ध एवं संतप्त है । वह स्वयं ध्रुवदेवी के वेष में शकाधिपति के पास जाकर उसका वध कर देता है । ध्रुवदेवी छद्म वेष में चन्द्रगुप्त के वीरत्वपूर्ण कृत्यों का नाटक में चित्रण है । नाटक मूलरूप में अनुपलब्ध है । केवल लक्षण-ग्रन्थों में ही उसके उद्धरण प्राप्तव्य हैं ।

'कौमुदी-महोत्सव' एक दाक्षिणात्य कवयित्री की रचना है । नाटक में राज-नीतिक घटनायें प्रणय-कथा से सम्बद्ध हैं । नाटक में मगध नरेश सुन्दरवर्मा के वध के उपरान्त उसके पुत्र कल्याणवर्मा के राज्याभिषेक से सम्बद्ध वृत्त है । कल्याणवर्मा का अभिषेक 'कौमुदी-महोत्सव' के दिन होता है । शूरसेन के राजा कीर्तिसेन की पुत्री कीर्तिमती के साथ कल्याणवर्मा के विवाह का भी वर्णन है । नाटक पर 'मुद्राराक्षस' का प्रभाव परिलक्षित होता है । यद्यपि नाटक की घटनायें ऐतिहासिक प्रतीत होती हैं किन्तु उसका इतिहास की घटनाओं से साम्य स्थापित नहीं हो सका ।

महाभारत-परक रूपक—

इस अवधि में लिखित महाभारतपरक रूपकों का बाहुल्य न होने पर भी भट्टनारायणकृत 'वेणीसंहार' नाटक का अपना विशिष्ट स्थान है । नाटकीय वृत्त महाभारत की प्रमुख घटना 'भीम की प्रतिज्ञा' से सम्बद्ध है तथा समग्र महाभारत युद्ध का निर्देशक है । यह नाटक महाभारत के समग्र वृत्त को नाटकीय कोटि में लाने का प्रथम स्तुत्य प्रयास है । घटना बाहुल्य के कारण उत्पन्न गत्यवरोध होने पर भी भट्टनारायण को वस्तु-विन्यास में पर्याप्त सफलता की उपलब्धि होती है । नाटकीय कथावस्तु का मूलाधार द्रौपदी की वेणी का बाँधा जाना है । स्वयं के प्रति दुःशासन-कृत तिरस्कार से विक्षुब्ध द्रौपदी ने उसके वध की प्रतिज्ञा की है, भीम भी दुर्योधन की जंघायें विदीर्ण करने का संकल्प लेते हैं । नाटक के अन्त में दोनों के संकल्प पूर्ण हैं । नाटकीयता की दृष्टि से भले ही वेणीसंहार की सफलता संदिग्ध हो किन्तु वह महाभारत युद्ध की घटनाओं का मूर्तरूप प्रस्तुत करने में पूर्णतः समर्थ हैं । नाटक के छोटे-बड़े सभी पात्र इतिहाससम्मत हैं जिनका महाभारत युद्ध में विशिष्ट योगदान है । पात्रों के उन चारित्रिक गुणों का पूर्ण विकास हुआ है जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं ।

'वेणीसंहार' के अतिरिक्त नवम शती में क्षेमीश्वर ने 'नैषधानन्द' की रचना की । नाटक में नल दमयन्ती का प्रसिद्ध आख्यान सीधी एवं सरल भाषा में वर्णित है । राजशेखरकृत 'बालभारत' में भी महाभारत की कथा है । नाटक के केवल

दो अङ्क उपलब्ध हैं। जिनमें द्रौपदी-स्वयम्वर, द्यूत क्रीड़ा तथा द्रौपदी-अपहरण की कथायें हैं।

रामायणपरक रूपक—

इस अवधि के नाटककारों की अभिरुचि राम सम्बन्धी वृत्त की ओर अधिक रही है। 'इनमें अनर्घराघव' एवं 'कुन्दमाला' विशेष उल्लेखनीय हैं। लगभग अष्टम शती की रचना 'अनर्घराघव' में महर्षि विश्वामित्र द्वारा अपने यज्ञ की रक्षार्थ दशरथ से राम-लक्ष्मण की याचना से लेकर रावण-वध, राम के अयोध्या प्रत्यावर्तन एवं राज्याभिषेक पर्यन्त की समग्र कथा नाटकीय वृत्त का आधार है। इस दृष्टि से नाटक पर 'महावीरचरित' का प्रभाव है। नाटक में किये गये चातुर्य पूर्ण परिवर्तनों के कारण जहाँ नायक का चरित्र निष्कलङ्क प्रतीत होता है, वहीं नाटकीय रोचकता की भी अभिवृद्धि होती है।

'अनर्घराघव' के अनन्तर के अन्य नाटकों में 'शक्तिभद्र' कृत 'आश्चर्य-चूड़ामणि' एवं राजशेखर कृत 'बालरामायण' विशेष उल्लेखनीय हैं। आश्चर्य-चूड़ामणि' नवम शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है। रामपरक नाटकों में यह अग्रगण्य है। यद्यपि कवित्व की दृष्टि से यह 'उत्तररामचरित' की तुलना करने में सर्वथा असमर्थ है। किन्तु अभिनेयता की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। शूर्पणखा सन्दर्भ में लङ्का-विजय एवं सीता की अग्नि-परीक्षा पर्यन्त की इस कथा में शक्तिभद्र ने रोचकता की अभिवृद्धि के निमित्त कुछ परिवर्तन किये हैं।

नवम शती में ही विरचित रामायणीय वृत्त पर आधारित 'हनुमन्नाटक' के दामोदर मिश्र एवं मधुसूदनदास विरचित दो संस्करण हैं। प्रस्तावना रहित इस नाटक में प्राकृत का प्रयोग कहीं नहीं है। पद्यों की प्रचुरता, गद्य की न्यूनता, पात्र-बाहुल्य एवं विदूषक का अभाव इसकी मुख्य विशेषतायें हैं।

मुरारि की परम्परा का दिग्दर्शन दशम शती में राजशेखर की 'बालरामायण' में होता है। नाटक में समग्र रामायण की कथा समेटने का प्रयास है। नाटककार प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल प्रेक्षक-वृन्द की सहानुभूति रावण के प्रति कराने को समुत्सुक दीखता है। अनावश्यक विस्तार के कारण स्थल-स्थल पर गत्यवरोध उत्पन्न होता है। राम के विरुद्ध की घटित सभी घटनाओं में प्रतिनायक रावण का ही हाथ है।

'उत्तररामचरित' सदृश 'दिङ्नाग' कृत 'कुन्दमाला' का अपना विशिष्ट स्थान है। दशम शताब्दी के आसपास की यह रचना 'उत्तरकाण्ड' के कथानक से सम्बद्ध है। इसमें राम-राज्याभिषेक के अनन्तर सीता-परित्याग तथा पृथ्वी द्वारा उनकी पवित्रता की उद्घोषणा राम-सीता के पुनर्मिलन पर्यन्त वृत्त नाटक में निहित है। क्रियाशीलता की दृष्टि से नाटक अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

अनुपलब्ध-रूपक—

इस अवधि के कतिपय मूलतः अनुपलब्ध ऐतिहासिक रूपकों के उद्धरण लक्षण-

ग्रन्थों में अथवा अन्यत्र प्राप्त होते हैं। भवभूति एवं वाक्पतिराज के संरक्षक काव्य-कुब्जाधीश यशोवर्मा के नाटक 'रामाभ्युदय' का कल्हण, आनन्दवर्धन, धनिक तथा विश्वनाथ द्वारा उल्लेख किया गया है। इसका समय ७५० ई० था। अभिनवगुप्त तथा आनन्दवर्धन 'अनङ्गहर्ष मातृराज' से भी अवगत थे। अनङ्गहर्ष ने वत्स नरेश एवं पद्मावती की प्रणय-कथा के आधार पर 'तापसवत्सराज' की रचना की। राजशेखर ने मायुराज कृत 'उदात्तराघव' का उल्लेख किया है। राजशेखर ने इनका कलचुरी (Kulicuri) कहकर उल्लेख किया है। इस आधार पर उन्हें कलचुरी राजवंश (Kalacuri Dynasty) का नरेश माना जा सकता है। भवभूति के सदृश मायुराज ने भी राम को बालि के प्रति किये गये उनके विश्वासघात से मुक्त कराने का प्रयास किया है। धनिक ने भी 'मायुराज' का उल्लेख किया है। धनिक ने रामपरक अपर नाटक 'छलितराम' से भी श्लोक उद्धृत किये हैं।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि इस अवधि में जिन ऐतिहासिक नाटकों का सृजन हुआ उनमें राम-कथा-परक नाटकों की प्रधानता हैं। महाभारत को आधार मानकर लिखे गये नाटकों में वेणीसंहार महत्त्वपूर्ण है। मूलतः ऐतिहासिक घटनाओं पर लिखिन नाटकों में 'देवी-चन्द्रगुप्त' तथा कौमुदी-महोत्सव' का विशेष स्थान है।

दशम शती के उपरान्त के रूपक—संस्कृत-नाटक-साहित्य के दशम शती के परवर्ती काल को उसके ह्रास का युग कहा जा सकता है। इस काल के अन्तर्गत विशेष महत्त्वपूर्ण नाटकों की रचना नहीं हुई, अतः ऐतिहासिक नाटकों का अनुसन्धान तो और भी दुष्कर दिखता है। फिर भी, इस काल की कतिपय ऐसी नाटकीय रचनायें हैं, जिनका किञ्चित् ऐतिहासिक महत्व भी है। अध्ययन की सुविधा के लिये इन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

१. द्वादश शती के पूर्ववर्ती रूपक।

२. द्वादश शती से सप्तदश शती पयन्त के रूपक।

३. सप्तदश शती के परवर्ती रूपक।

द्वादश शती के पूर्ववर्ती रूपक—

इस अवधि के रूपकों में एकमात्र उल्लेखनीय नाटक जयदेवकृत 'प्रसन्नराघव' है। रामायणीय वृत्त पर आधारित यह नाटक अपने रचयिता की मौलिक सूझ बूझ एवं नाटकीय कुशाग्रता का परिचायक है। इस नाटक में जनकपुरी में सीता-स्वयम्वर से रावण के वध के उपरान्त राम के अयोध्या-प्रत्यागमन पर्यन्त का वृत्त है। जयदेव ने अपनी मौलिक सूझ-बूझ तथा नाट्य-चातुर्य से प्रख्यात राम-कथानक को यत्र-तत्र नवीन आवरण से परिवेष्टित करने का प्रयास किया है। नाटक में माधुर्य एवं लालित्यपूर्ण भाषा एवं परिष्कृत शैली में सुन्दर सूक्तियाँ गुम्फित हैं।

इसी अवधि में वत्सराज द्वारा महाभारत-परक 'किरातार्जुनीय व्यायोग' एवम् 'रुक्मिणी-हरण' नामक दो रूपकों की रचना हुई। प्रथम व्यायोग भारवि के महाकाव्य पर आधारित है तथा 'रुक्मिणी-हरण' महाभारत के इसी सन्दर्भ को लेकर

लिखा गया ईहामृग है। वत्सराज कालंजर नरेश परमर्दिदेव के अमात्य थे तथा इनका समय ११६३ से १२०३ के मध्य है।

द्वादश एवं सप्तदश शती के मध्यवर्ती रूपक—

लगभग द्वादश शती से संस्कृत रूपकों के ह्रास का युग आरम्भ होता है। अतः सर्वप्रथम इन ह्रास के कारणों का अध्ययन करना आवश्यक है। ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध से भारत पर यवनों के आक्रमण होने आरम्भ हो गये थे। द्वादश शती के अभ्युदय के साथ-साथ यवनों का प्रभुत्व भी प्रबल हो चला। इसके पूर्व संस्कृत साहित्य के सृजन तथा अध्ययन के लिये राजकीय प्रोत्साहन उपलब्ध था, किन्तु अब ये सुविधायें नहीं रही। पुनः जिन प्रेक्षक वृन्द के लिये नाटकों का सृजन हुआ, वे समाज के एक विशिष्ट वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते थे। जन सामान्य के दैनिक प्रयोग की भाषा संस्कृत न रहने से ये नाटक उनके लिये अबोधगम्य थे। इस समय संस्कृत एवं भाषित भाषाओं के मध्य की खाई बढ़ती जा रही थी। रूपकों की प्राकृत भाषाओं का स्थान पहले अपभ्रंशों ने तथा तदनन्तर प्रचलित प्रान्तीय भाषाओं ने ले लिया, जिन्होंने शनैः शनैः साहित्यिक भाषाओं का रूप ग्रहण कर लिया। परिणामतः संस्कृत किंवा प्राकृत में लिखित रूपकों का प्रचार मन्द हो गया। प्रान्तीय भाषाओं में विदेशीय सम्पर्क के कारण उर्दू एवं फारसी सदृश भाषाओं के शब्दों की भी अभिवृद्धि होने लगी। पुनः ख्याति के निमित्त लिखने वाले कवियों ने काव्य किंवा साहित्य के किसी अन्य अंग का निर्माण करना आरम्भ कर दिया। संस्कृत नाटकों में न जनसामान्य का अनुराग था और न ही उनके रचयिताओं को धन से पुरस्कृत करने वाले नरेशों एवं जागीर-दारों का बाहुल्य था।

इतना होने पर भी संस्कृत-नाटकों की प्रगति एवं विकास पूर्णतः कुण्ठित नहीं हुये। यवनाधिपत्य के समय में भी नाटकों का सृजन होता रहा। अब भी साहित्य में विशेष अभिरुचि वाले समृद्ध नरेश थे। ये विविध कठिनाइयों के होने पर भी साहित्यकारों एवं विद्वानों के आश्रयदाता बने रहे। पुनः स्वान्तः सुखाया साहित्य-साधना में संलग्न नाटककारों ने अपनी विपिन्न एवं दारिद्रयपूर्ण अवस्था को अवरुद्ध नहीं होने दिया।

द्वादश शती में यशचन्द्र ने 'मुदित-कुमुदचन्द्र' नामक प्रकरण का सृजन किया। इसमें ११२४ ई० में श्वेताम्बर मुनि देवसूरि तथा दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र के मध्य हुये शास्त्रार्थ का वर्णन है। ११५३ ई० के लगभग सम्भार नरेश 'विग्रहराजदेव' ने किरातार्जुनीयम् के आधार पर 'हरकेलि' नाटक की रचना की जिसमें अर्जुन एवं शिव के मध्य हुये युद्ध का चित्रण है। इनकी प्रशस्ति में सोमदेव ने ललितविग्रहराज' नाटक लिखा जिसमें इन्द्रपुर नरेश वस्तुपाल की कन्या के साथ विग्रहराज की प्रणय कथा का वर्णन है। द्वादशी शती में रामचन्द्र ने सौ से अधिक ग्रन्थों की रचना की, इनमें से अनेक नाटक भी हैं। अनेक उपलब्ध नाटकों का वृत्त रामायण एवम् महाभारतपरक है। उस शताब्दी में अर्जुन से सम्बद्ध रूपक-द्वय का सृजन हुआ।

'पार्थ-पराक्रम' की रचना में प्रह्लाद ने महाभारत के गो-ग्रहण का आश्रय लिया तथा काञ्चनाचार्य ने 'धनञ्जय-विजय' नामक व्यायोग लिखा। 'मोक्षादित्य व्यास' ने अपने 'भीम-पराक्रम' में पार्थ-पराक्रम का अनुसरण किया है।

त्रयोदश शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सुभट ने छायानाटक 'दूताङ्गद' की रचना की। १२४२ ई० में सर्वप्रथम अभिनीत यह नाटक रामायणीय प्रसङ्ग पर आधारित है। सेतु-बन्धन के उपरान्त राम द्वारा अङ्गद को दूत बनाने से सम्बद्ध इस नाटक में अङ्गद-रावण में दर्पयुक्त सम्वाद हैं। इन सम्वादों की भाषा सरल, प्राञ्जल प्रसादमयी एवं प्रभावपूर्ण है। वारङ्गल प्रदेश के एकशिला राज्य के शासक प्रताप रुद्रदेव ने उषा एवं अनिरुद्ध की प्रणय-कथा के आधार पर 'उषारागोदय' नामक नाटक की रचना की।

त्रयोदश शताब्दी के परमार वंश के अर्जुनवर्मा तथा गुजरात के चालुक्य राजा की पुत्री पारिजातमञ्जरी की प्रणय-कथा के आधार पर कवि 'मदन' ने पारिजातमञ्जरी' नामक नाटिका की रचना की।

१२१९ से १२२९ ई० के मध्य जयसिंह सूरी ने 'हम्मीर-मद-मर्दन' की रचना की। नाटक में हम्मीर पर किये गये आक्रमण में उसकी दुर्दशा तथा उक्त अवसर पर गुजरात के शासक वीर धवल के अमात्य वस्तुपाल की राजनीतिक सूझ-बूझ एवं कुशलता का दिग्दर्शन है। नाटक का काव्यात्मक अथवा ऐतिहासिक किसी भी दृष्टि से उल्लेखनीय महत्त्व नहीं है।

चतुर्दश शताब्दी में भास्कर ने 'उन्मत्तराघव' की रचना की जिसका वृत्त दुर्वासा के शापवश सीता के प्रत्यक्ष न दीखने पर राम की उन्मत्त दशा के चित्रण से सम्बद्ध है। इसी शताब्दी में विश्वनाथ ने 'सौगन्धिकाहरण' नामक एकांकी की रचना की। यह पाण्डवों के अज्ञातवास से सम्बद्ध है। द्रौपदी द्वारा अभीप्सित तथा उसके द्वारा भीम से याचित सौगन्धिका नाम्नी पुष्पमञ्जरियों को कुबेर द्वारा पाण्डवों को उपहार स्वरूप देने का वर्णन है। कुबेर भीम के शौर्य एवं पराक्रम पर विमुग्ध हैं। वीर-रस प्रधान इस रूपक के संवाद आकर्षण के केन्द्र हैं।

पञ्चदश शताब्दी में महाभारत के वृत्त पर आधारित कतिपय छाया-नाटक हैं। १४०२ से १४१५ ई० के मध्य रामदेव व्यास ने रामाभ्युदय', पाण्डवाभ्युदय एवं 'सुभद्रा परिणय' की रचना की। शङ्करलाल ने 'सावित्री चरित' नामक नाटक का सृजन किया। हरिदत्त की कृति युद्ध के पूर्व दुर्योधन के पास कृष्ण का शान्ति-सन्देश लेकर जाने से सम्बद्ध है।

सोलहवीं शताब्दी में बालकवि ने अपने आश्रयदाता कोचीन के शासक रामवर्मा के जीवन-चरित के आधार पर दो नाटकों की रचना की। रन्तुकेतूदय' में रामवर्मा के राज्य त्याग पर्यन्त की घटनाओं का तथा 'रामवर्मा विलास' में राज्य-त्याग तथा वाराणसी पर्यन्त की उसकी तीर्थयात्रा का वर्णन है।

सप्तदश शताब्दी में रामभद्र दीक्षित ने रामायणीय वृत्त के आधार पर

'जानकी-परिणय' नाटक का सृजन किया। नाटककार ने इसमें अनेक रोचक परिवर्तन किये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह परिलक्षित होता है कि द्वादश एवं सप्तदश शतियों के मध्यान्तर में जिन विशुद्ध कि वा अर्ध-ऐतिहासिक रूपकों का सृजन हुआ उनका इतिहास की दृष्टि से कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं था। इन कृतियों में ऐसा साहित्यिक वैशिष्ट्य भी परिलक्षित नहीं होता है जिकके कारण उन्हें आकर्षण का बिन्दु माना जा सके।

सप्तदश शती के परवर्ती रूपक—

सप्तदश शती के उपरान्त रूपक-रचना की धारा मन्द अवश्य पड़ गई किन्तु समाप्त नहीं हुई। इस अवधि के आरम्भिक नाटककारों ने यद्यपि अपनी रचनायें रामायण एवं महाभारत के कथानकों पर आश्रित कीं, किन्तु उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शती के नाटककार देश की राजनीतिक उथल-पुथल एवं प्रचलित विचारधाराओं से स्वयं को पराङ्मुख नहीं रख सके, फलतः उनकी रचनाओं में तत्कालीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं की भी झलक है।

अष्टादश शताब्दी में विट्ठल कवि ने एक ऐतिहासिक नाटक की रचना की। नाटक बीजापुर के आदिलशाही वंश से सम्बद्ध है। वहाँ सन् १६६० से १८८९ प्रर्यन्त इस वंश का शासन था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में बल्लिशाय कवि ने महाभारत के तत्सम्बन्धी आख्यान के आधार पर 'ययातितरुणनन्दनम्' नाटक की रचना की। इसी समय के लगभग तंजौर नरेश शिवेन्द्र के राजकवि 'विरराघव' ने अपने 'रामराज्याभिषेक' में रामकथा को नाटकीय रूप दिया। इन्होंने 'बालिपरिणय' नामक दूसरे नाटक में बालि की प्रणय कथा का चित्रण किया है। इसी शताब्दी में नारायण शास्त्री द्वारा रचित ९२ नाटकों में से कतिपय रामायण एवं महाभारतपरक हैं। यथा—मैथिलीयम् पुष्कराघवम्, सीताहरण, भीमरथी आदि। वर्तमान शती के आरम्भ में काठियावाड़ के महामहोपाध्याय शङ्करलाल ने 'सावित्रीचरित' एवं 'ध्रुवाभ्युदय' नाटक लिखे। उन्नीसवीं शताब्दी में श्रीनिवासाचारी ध्रुवचरित एवं पंचानन ने 'अमरमङ्गल' नाटक लिखे।

वर्तमान शताब्दी में मूलशङ्कर माणिकलाल याज्ञिक ने मध्यकालीन भारतीय इतिहास के आधार पर 'छत्रपतिसाम्राज्य', प्रतापविजय' तथा 'संयोगिता-स्वयम्बर' का प्रणयन किया। प्रथम में शिवाजी के साम्राज्य का चित्रण है तथा द्वितीय महाराणा प्रताप के जीवन चरित से सम्बद्ध है। तृतीय में अन्तिम भारतीय क्षत्रिय सम्राट् पृथ्वीराज के जीवन से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं का समावेश है। नाटककार को तीनों नाटकों में भावाभिव्यक्ति एवं महत्त्वपूर्ण घटनाओं का चित्रण करने में अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है।

वाई महालिङ्ग शास्त्री ने महाभारत के आधार पर विरचित अपने

'कालिप्रादुर्भाव' नाटक में द्वापर के अन्त में कलियुग के प्रादुर्भाव होने तथा कलियुग में मानव-स्वभाव का सुचारु चित्रण किया है। १९५४ ई० में नोपाजि भीम भट्ट ने 'काश्मीर समस्या' के आधार पर स्वरचित 'काश्मीरसन्धानसमुद्यमम्' नाटक का प्रकाशन किया। यथार्थ घटनाओं पर आधारित इस नाटक के प्रमुख पात्र श्यामप्रसाद मुखर्जी पण्डित जवाहरलाल नेहरू, महात्मा गाँधी, जिन्ना तथा शेख अब्दुल्ला आदि हैं। अभिनेयता की दृष्टि से यद्यपि नाटक का कोई वैशिष्ट्य नहीं है किन्तु ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक नाटककार महामहोपाध्याय पण्डित मथुराप्रसाद दीक्षित ने आठ नाटकों की रचना की जिसमें से चार का कथानक इतिहाससम्मत है। अपने नाटकों का कथानक आधुनिक राजनीतिक समस्याओं से ग्रहण करने के अतिरिक्त प्राचीन वीर भारतीय नरेशों को भी दो नाटकों का नायक बनाया है। उनके ये नाटक हैं—प्रताप-विजय, पृथ्वीराज, गाँधी-विजय तथा भारतविजयनाटकम्। प्रातप-विजय महाराणा प्रताप के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध है। नाटक पूर्णतः ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित है। प्रताप, अकबर, भामाशाह आदि ऐतिहासिक पात्र हैं। हल्दीघाटी का युद्ध, प्रताप का देश-प्रेम, भामाशाह की स्वामिभक्ति एवं आर्थिक सहायता आदि नाटक की घटनायें इतिहाससम्मत हैं। 'पृथ्वीराज' में दिल्ली सम्राट् पृथ्वीराज चौहान तथा मौहम्मद गोरी के मध्य हुआ युद्ध नाटक का प्रमुख आधार है। यह दुःखान्त नाटक भारतीय परम्परा के विपरीत आधुनिक पाश्चात्य परम्परा से अधिक निकट है। 'गाँधीविजय—नाटक' ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। नाटक गाँधी जी के जीवन की प्रमुख घटनाओं से सम्बद्ध है। नाटक में गाँधी जी के अफ्रीका में सत्याग्रह करने से भारत को स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर्यन्त की घटनाओं का समावेश है। नाटक में पात्रों का बाहुल्य है। नाटक में भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में एक नवीन परम्परा को जन्म दिया। उन्होंने इस नाटक में प्राकृत भाषी पात्रों से प्राकृत के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग कराया है।

'भारतविजय नाटकम्' पूर्णतः ऐतिहासिक नाटक हैं। सिराजुद्दौला के समय उससे अंग्रेजों को बिना कर दिये व्यापार करने की अनुज्ञा प्राप्ति से भारत की काल्पनिक स्वाधीनता प्राप्ति पर्यन्त की कथा समाविष्ट है। पराधीन भारत को विदेशियों से मुक्त कराने की कल्पना नाटककार की दूरदर्शिता की परिचायक है। तीन सौ वर्ष के घटना-चक्र को नाटकीय रूप प्रदान करना वस्तुतः एक चमत्कार है। नाटक में लगभग १०० पात्र हैं। विस्तृत नाटक में कोई एक नायक अथवा नायिका नहीं है। नाटक 'उत्तररामचरित' तथा 'मुद्राराक्षस' की रचना-शैलियों से प्रभावित है। वीर-रस प्रधान नाटक में यत्र-तत्र करुण-रस का भी समावेश है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत-साहित्य में ऐतिहासिक रूपक जहाँ प्रमुखतः रामायण एवं महाभारतपरक कथानक पर आधारित है, वहाँ अन्य रूपक उदयन कथाश्रित तथा विशुद्ध ऐतिहासिक वृत्त सापेक्ष भी हैं।

———

अध्याय

१०

गीति-काव्य

उद्भव और विकास

भावुक कवि अपनी रागात्मक वृत्ति को जब थोड़े शब्दों में प्रकाशित करता है, तो माधुर्यमयी अभिव्यक्ति, प्रायः गीति रूप में प्रस्फुटित होती है, सुकुमार भावनाओं की मधुर शब्दों में अभिव्यक्ति ही गीति है। जब उत्तेजना के भावनामय क्षणों में मानव-मन किसी आभा से उद्दीप्त होकर, स्वयं ही शब्दों में, चमक उठता है और मार्मिक भावाभिव्यञ्जन करता है तो उसे गीतिकाव्य (Lyric poetry)[1] कहते हैं। गीति शैली के अन्तर्गत शृङ्गारिक, धार्मिक अथवा नैतिक विषयों पर ललित एवं मधुर पदावली की मुक्तक प्रणाली में एकदेशीयता होते हुए भी तन्मयता की गहराई रसात्मकता के साथ साङ्गोपाङ्ग चित्र में प्रत्येक स्वतन्त्र छन्द में अभिव्यक्त होती है। इसमें जीवन के एक ही पक्ष एवं अन्तरात्मा के एक ही पटल का चित्रण होता है।

कविता में मानव-मन की किसी विशिष्ट स्थिति के उदित हुए विचारों की परिणति होती है। प्रायः जीवन के किसी एक पक्ष या अन्तरात्मा के किसी एक ही पटल का उद्घाटन इसमें किया जाता है। भारत में गीति काव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। अभी तक यह माना जाता है कि भारत में गीतिकाव्य का प्रचलन पाश्चात्य प्रभाव से आया, किन्तु अब अन्वेषणों से यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि यहाँ पर पाश्चात्य प्रभाव के बहुत पूर्व प्रभूत मात्रा में गीतिकाव्य की रचना हो चुकी थी।

गीतिकाव्य के इतिहास का समारम्भ वेदों से माना जाता है। ऋग्वेद के उषः सूक्त गीत-भावना (Lyric impulse) के प्रथमोद्गार हैं। इनमें हृदय की निर्मलतम अभिव्यक्तियों का अकृत्रिम प्रकाशन है। इसके सम्बन्ध में डाक्टर मैकडोनल का कथन विशेष उल्लेखनीय है—

"These lyrics of the vedas are unsurpassed in their beauty and there is nothing like them to be found in any of the branches

---

१. Lyric शब्द पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार 'Lyre' से बना है।

वालपोल का कथन है कि—

"The heart cannot be tolds. in words. So it has to be demonstrated in words that is to write poetry of fine order."—Valpole.

"Poretry is the spontaneous overflow of powerful feelings."

—Wordsworth.

of Indo-European languages. In the excellence of feeling as well in the perfect art of language and metre they stand siagular."

Dr. Macdonell

लौकिक संस्कृत में गीति-साहित्य में सर्वप्रथम उपलब्ध दो रचनायें महाकवि कालिदास की हैं—'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत'। 'मेघदूत' वास्तव में कालिदास की प्रतिभा का चूडान्त निदर्शन है। इसमें विरही यक्ष की आत्मा में बैठकर कवि की लेखनी ने बड़े ही भावभरे मर्मस्पर्शी चित्र खींचे हैं।

मेघदूत युग-प्रवर्तक ग्रन्थ है। इसके द्वारा ही दूत-ग्रन्थों की परम्परा चल पड़ी और 'यक्ष-दूत', 'पवन-दूत' हंस दूत आदि काव्य लिखे गये जिनका विस्तृत विवरण अगले प्रकरण में दिया है। आचार्य वरदाचारी ने हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर में लिखा है :—

Among sandesh kavyas and lyrics, in general, this is the best. It served as a model for later writers for imitation of its form and theme."

डाक्टर एस० एन० दास तथा एस० के० डे० ने लिखा है कि 'यद्यपि इसके अनुकरण के अनेक प्रयत्न किये गये किन्तु वे उसके अनुकरण में उसकी सीमा तक को न छू सके। मेघदूत का विषय इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी इसकी काव्यमाधुरी है। जिसकी विस्तृत मीमांसा अगले प्रकरण में की गई है।

मेघ-मार्ग—

अपने कर्तव्य से च्युत होने के कारण यक्ष, कुबेर का कोपभाजन बनकर एक वर्ष के लिए अलकापुरी से निष्कासित कर दिया जाता है। शाप-ताडित होकर वह यक्ष वैदेही के स्नान से पवित्र हुए जल से युक्त रामगिरि नामक पर्वत पर अपने निर्वासन के दिन व्यतीत करता है :—

"यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु।
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥"

आठ महीने तो वह जैसे तैसे काट देता है, किन्तु (आषाढस्य प्रथमदिवसे) आषाढ़ मास के प्रथम दिन पर्वत के शिखर पर, वप्र-क्रीडा करने वाले गजेन्द्र की भांति उमड़ते-घुमड़ते मेघों को देखकर विरहाग्नि से संतप्त हो, चेतन या अचेतन का विचार किये बिना मेघ से ही अपनी पत्नी के पास कुशल सन्देश ले जाने के लिए अनुनय-विनय करता है। साथ ही वह मेघ को अलकापुरी जाने वाले मार्ग का निर्देश भी करता चलता है। मेघ के द्वारा सन्देश भेजे जाने के कारण ही कालिदास इस खण्ड-काव्य को 'मेघदूत' नाम देते हैं। वस्तुतः यही 'पूर्व-मेघ' का वर्ण्य-विषय है। यक्ष मेघ को मङ्गल-मुहूर्त्त में चातक एवं मानसगामी राजहंसों के साथ प्रस्थान करने का संकेत करता है।

रामगिरि से उत्तर दिशा की ओर चलने पर यक्ष के निर्देशानुसार मेघ को पहिले माल के क्षेत्र मिलेंगे, जहाँ कृषकों की भोली भाली रमणियाँ कृषि फल के एकमात्र स्वामी उस मेघ को सतृष्ण आँखों से देखकर कृतार्थ करेंगी। वहाँ हल्की बूंदा-बांदी करके मेघ को उत्तर की ओर अग्रसर हो जाना है। तत्पश्चात् (सानुमाना म्रकूटः) आम्रकूट पर्वत के शिखर पर, मार्ग का श्रम निवारण करने के लिये यक्ष मेघ को अल्प विराम का निर्देश करता है, जहाँ वह पर्वत चिर प्राप्त मित्र की भाँति मेघ का अभिनन्दन करेगा, क्योंकि उस समय आम्रकूट का शिखर प्रदेश पके आम के फलों से झूम रहा होगा। आगे बढ़ने पर (रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्) उसे विन्ध्यगिरि की पत्थरों से विषम तलहटी पर फिसलती, उछलती और लुढ़कती हुई नर्मदा नदी की धारा के दर्शन होंगे। रेवा की शोभा उस समय हाथी के अङ्गों पर विविध कटावों वाली रचना सी प्रतीत होगी।

नर्मदा पार करने पर अत्यन्त रमणीक दशार्ण का जनपद मिलेगा, जहाँ मेघ को देखकर केतक खिल उठेंगे, कागवृन्द अपने नीड़ बनाने में व्यस्त होंगे, पके फलों से लदे काले जामुन के वन रम्य प्रतीत हो रहे होंगे और राजहंस भी वहाँ कुछ समय तक आतिथ्य स्वीकार करेंगे। (सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः)।

आगे दशार्ण की प्रसिद्ध राजधानी विदिशा मिलेगी, वेत्रवती के विलुलित और तरङ्गित जल का पान करने से (सभ्रूभङ्ग मुखमिव वेत्रवत्याश्चलोर्मि) अधरामृत के पान का सुख मिलेगा। तदनन्तर (नीचैराख्यं गिरिमधिवसेः) नीचिगिरि पर किञ्चित् विश्राम करना है। उस गिरि पर अनेक शिला-गृह हैं, जिनमें वारविलासिनियों के अङ्गराग का सौरभ चमक रहा होगा। इससे विदिशा वालों की विलासप्रियता व्यञ्जित होती है।

अब एक रमणीक स्थल आता है, जो मेघ के सीधे मार्ग में तो नहीं पड़ता, फिर भी यक्ष उससे वहाँ जाने का विनम्र निवेदन करता है। यहाँ कवि प्रत्यक्ष बोलता हुआ दिखाई देता है जो उसको अपनी जन्मभूमि उज्जयिनी का मार्ग प्रदर्शित करता है (वक्रः पन्था यदपिभवतः प्रस्थितस्योत्तराशां सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः) उज्जयिनी के प्रति कालिदास का यह सहज स्वाभाविक अनुराग है जो उज्जयिनी की रमणियों के दर्शनों से सफल न हुये नेत्रों को व्यर्थ समझता है।

उज्जयिनी से प्रस्थित होते ही मार्ग में निर्विन्ध्या सरित् मिलेगी, जो स्तनित-विहग-श्रेणी रूपी काञ्ची से तथा आवर्त रूपी नाभिप्रदर्शन से मेघ के प्रति विलास प्रकट करेगी।

निर्विन्ध्या पार करने पर अवन्ती के जनपद से जाते हुए (प्राप्यावन्तीन्··· सम्पत्ति-सम्पन्न विशाला उज्जयिनी) नगरी मिलेगी जो पृथ्वी पर स्थिति स्वर्ग के एक देदीप्यमान खण्ड के समान दीखेगी। इस इतिहास-प्रसिद्ध नगरी में कतिपय बातें दृष्टव्य तथा आचरणीय है।

(क) वहाँ पर शिप्रा का शीतल, मन्द तथा सुगन्ध समीर चाटुकार-कामी नायक की नायिकाओं की सुरत क्लान्ति को हरण करता है।

"यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः।
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥

(ख) उस नगर के हाट-बाट, रत्न, मणि, मुक्ता आदि से परिपूर्ण दीखेंगे।

(ग) वहीं महाकाल का प्रसिद्ध मन्दिर है, जहाँ मेघ को सन्ध्या के समय शिवजी के ताण्डव-नृत्य में अवश्य भाग लेना है।

(घ) रात को किसी गगनचुम्बी निर्जन महा अट्टालिका पर विश्राम कर दूसरे दिन प्रातः ही उसे उत्तर की दिशा में कूच कर देना है।

इसके अनन्तर गम्भीरा नदी दिखाई देगी जिसके चित्तरूपी स्वच्छ जल में उसका प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही।

'गम्भीराया पयसि सरितः चेतसीव प्रसन्ने।'

गम्भीरा के हाव-भाव से वह इतना मोहित हो जायेगा कि वह उसे छोड़ना पसन्द नहीं करेगा।

इसके आगे देवगिरि (देवपूर्व गिरि) मिलेगा, जहाँ स्कन्द का नियत एवं चिरन्तन वास है। वहाँ से कार्त्तिकेय भगवान् की आराधना करके उनके वाहनभूत मयूर को अपने प्रचण्ड गर्जन से नृत्योन्मुख करना चाहिए। (·····गर्जितै-र्नर्तयेथाः)।

देवगिरि छोड़ने पर चर्मण्वती नदी प्राप्त होगी जो रन्तिदेव की प्रवाह रूप में परिणत साक्षात् कीर्ति ही है। चर्मण्वती पार करने पर दशपुर का जनपद मिलेगा (पात्रीकुर्वन् दशपुर-वधूनेत्रकौतुहलानाम्) जिस जनपद की भ्रू-विक्षेप-विशारद रमणियाँ उसे कौतुकपूर्ण उत्पक्ष्म दृष्टि से देखेंगी।

दशपुर के बाद ब्रह्मावर्त को पार करते हुये (ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः) कुरुक्षेत्र मिलेगा (क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद् भजेथाः) जहाँ अर्जुन ने अपने तीक्ष्ण बाणों से अपने शत्रुओं के मस्तकों को इस प्रकार काट डाला था जैसे मेघ कमलों को छिन्न-भिन्न कर देता है।

उसी कुरुक्षेत्र के पास बहने वाली सरस्वती नदी के पुण्य सलिल का आसेवन करने से उसका (मेघ का) अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध हो जायेगा, केवल आकार से श्यामल दीख पड़ेगा।

"कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य! सारस्वतीना-
मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः॥"

वहाँ से आगे बढ़ने पर कनखल मिलेगा जहाँ गङ्गा हिमालय से समतल भूमि पर उतरती है "तस्माद् गच्छेरनुकनखलम्"। कनखल से आगे बढ़कर हिमालय के विविध प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेते हुए क्रौञ्चरन्ध्र से होते हुए उसे मार्ग में कैलाश का दर्शन होगा जो भगवान् आशुतोष का शाश्वत निवास-स्थान है। वह उच्च

शिखरों से आकाश में व्याप्त होने से ऐसा प्रतीत होगा मानो प्रतिदिन का राशिभूत शिवजी का अट्टहास हो ' राशिभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ।"

वहाँ (कैलाश) पहुँचने पर एक प्रेमी के समान उसके अङ्क में बैठी हुई प्रेमिका के तुल्य अलका को वह अवश्य पहिचान लेगा :

"तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां ।
न त्वंदृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।।

इस प्रकार कालिदास ने यक्ष के माध्यम से रामगिरि से अलकापुरी तक के मार्ग का वर्णन पूर्वमेघ में किया है ।

मेघ-मार्ग का महत्त्व—मेघ-मार्ग एक वियोगी यक्ष का प्रलापमात्र नहीं हैं, उसका दूसरा वैशिष्ट्य भी है ।

(१) उन दिनों (कालिदास के काल में) जब यातायात के साधन विपुलता से प्राप्य नहीं थे और मानचित्र के चित्रण का भी पर्याप्त मात्रा में, विकास नहीं हो पाया था, कालिदास ने मेघ-पथ के वर्णन से अपने भौगोलिक-ज्ञान का विशद एवं व्यापक परिचय दिया है । साथ ही साथ कालिदास के ऐतिहासिक और पौराणिक ज्ञान पर भी सम्यक् प्रकाश पड़ता है ।

(२) पूर्वमेघ निसर्ग-सुषमा का एक मंजुल निदर्शन है। कृति के विविध रूप जैसे, वन, नदी, पर्वत, क्षेत्र, पुष्प आदि कालिदास के लिये सजीव मानव एवं देवताओं के प्रतीक होते हैं । इसी प्रकार उन्होंने अपने वर्णनों में प्रकृति के साथ पूर्णतः एकात्मता स्थापित कर दी है । भारतीय प्रकृति की समस्त सुषमा, उसके समस्त रूप, समस्त रस, समस्त सौरभ को महाकवि ने अपनी कल्पना की तूलिका से अनुरञ्जित कर मानो चित्रपट पर फैला दिया है ।

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि कवि अपने देखे हुये स्थानों के रमणीय दृश्यों को अपने काव्य में अमर कर देना चाहता है ।

'मेघदूत' में उल्लिखित स्थानों की आधुनिक भारत में भौगोलिक स्थिति एवम् उनके सम्बन्ध में टिप्पणियाँ—(श्लोकानुक्रम से)

(१) रामगिरि—प्राचीन टीकाकार मल्लिनाथ और वल्लभदेव रामगिरि को चित्रकूट मानते हैं । Wilson ने इसे नागपुर से २४ मील की दूरी पर अवस्थित 'रामटेक की पहाड़ी' माना है । इसकी पुष्टि श्री मिराशी ने प्रवरसेन द्वितीय के शिलालेख के आधार पर की है । कुछ लोग इसे मध्यप्रदेश की रामगढ़ की पहाड़ी मानते हैं जो अमरकण्टक के पास स्थित है, जहाँ से नर्मदा भी निकलती है । पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार यह आधुनिक सरगुजा रियासत में स्थित कोई पहाड़ है । किन्तु डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने समस्त मत-मतान्तरों का आलोडन करके अपना अन्तिम मत व्यक्त किया है कि यह 'रामटेक की पहाड़ी' ही है । कुछ लोग तो यह भी मानते हैं कि रामगिरि अलका की भाँति कवि द्वारा कल्पित स्थान है।

(२) माल—सम्भवतः 'मल्लिनाथ' और 'वल्लभदेव' इसे कोई स्थान विशेष न मानकर अधित्यका (An elevated table land) मानते हैं।

Wilson के मतानुसार यह एक स्थान विशेष का नाम है। आप इसे उत्तरी छत्तीसगढ़ के प्रधान शहर रतनपुर के पास में स्थित 'मालवा' स्थान कहते हैं।

(३) आम्रकूट—Wilson इसे अमरकण्टक कहते हैं, किन्तु परांजपे उनके मत का खण्डन करते हुये महादेव पहाड़ के उत्तर और सोहागपुर के दक्षिण की कोई पहाड़ी मानते हैं।

(४) रेवा—आधुनिक नर्मदा जो विन्ध्याचल से निकलती है।

(५) दशार्ण—पूर्वी मालवा (आधुनिक भूपाल के सहित) सम्भवतः पश्चिमी दशार्ण था, जिसकी राजधानी विदिशा (भिलसा) थी। पूर्वी दशार्ण छत्तीसगढ़ जिले का एक भाग था। वहाँ दशन नामक एक छोटी नदी भी है जो बेतवा में गिरती है।

(६) विदिशा और वेत्रवती—विदिशा आधुनिक भिलसा (मध्य भारत) ही है। सरकार ने भिलसा का नामकरण पुनः विदिशा ही कर दिया है। यह नगर वेत्रवती (आधुनिक बेतवा) के किनारे बसा है। बेतवा विन्ध्या की उत्तरी शृङ्खला से निकलकर मालवा से बहती हुई यमुना में कालपी के पास मिलती है।

(७) नीच—भिलसा के पास कोई पहाड़ी, किन्तु जैसा नाम है, तदनुरूप कोई छोटी ऊँचाई की पहाड़ी नहीं समझनी चाहिये। कुछ लोग उसे भोजपुर पहाड़ (भलसा के दक्षिण) की कोई लघु शृङ्खला (Range) स्वीकार करते हैं।

(८) वन नदी, नव नदी, मग नदी—कोई छोटी नदी बेतवा पार करने पर मिलती है, आजकल उसे पार्वती कहते हैं।

(९) उज्जयिनी और शिप्रा—आधुनिक उज्जैन जो शिप्रा के तट पर स्थित है। यह 'अवन्ती' की राजधानी थी। इसे विशाला भी कहा जाता था। भगवान् आशुतोष का प्रसिद्ध मन्दिर जिसे महाकालेश्वर भी कहते हैं, इसी शहर में हैं।

(१०) सिन्धु—आज की काली या काला सिन्धु जो चम्बल में गिरती है। मल्लिनाथ के मत में नदी विशेष न होकर सामान्य नदी है।

(११) निर्विन्ध्या—निर्विन्ध्या, बेतवा और काली सिन्धु के बीच मे बहने वाली चम्बल की कोई सहायक नदी हो सकती है। सम्भवतः यही आज निवुज (Newuj) कहलाती हैं। जिनसेन ने अपने 'आदिपुराण' में निर्विन्ध्या का उल्लेख किया है।

(१२) गन्धवत्ता—सम्भवतः शिप्रा की एक शाखा जिसके तट पर महाकाल का मन्दिर अवस्थित है।

(१३) गम्भीरा—मालवा की एक छोटी नदी। परांजपे के मत में शिप्रा की एक सहायक नदी है जो मेहीपुर के दक्षिण में शिप्रा में मिलती है। जिनसेन ने इसका भी उल्लेख किया है।

(१४) देवगिरि—स्पष्टतः उज्जयिनी और दशपुर (मन्दसौर) के बीच में स्थित है। पाठक जी के मत से मालवा के मध्य में चम्बल के दक्षिण में स्थित कोई

स्थान है जो झाँसी से ६० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है और जहाँ स्कन्द के मन्दिर का चिह्न (Site) हैं; किन्तु परांजपे इसे अभीष्ट देवगिरि नहीं मानते। इस स्थान के पुनः अनुसन्धान की आवश्यकता है।

(१५) चर्मण्वती—आधुनिक चम्बल नदी।

(१६) दशपुर—सम्भवतः आधुनिक दसौर (मन्दसौर) जो मालवा में सिलवा के वाम तट पर स्थित है। कुछ लोग इसे चम्बल से कुछ उत्तर रन्तिपुर या रत्नमपुर मानते हैं।

(१७) ब्रह्मावर्त—मनुस्मृति (अध्याय २/१७) के अनुसार सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच का भू-भाग। सम्भवतः इसमें सोनीपत, करनाल और पानीपत का क्षेत्र सम्मिलित है। सामान्यतः ब्रह्मावर्त आधुनिक बिठूर को कहते हैं।

(१८) कुरुक्षेत्र—थानेश्वर से कुछ दक्षिण-पूर्व में स्थित ब्रह्मावर्त से लगा हुआ स्थान, आज भी यह एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। विशेषतः ग्रहण के अवसर पर स्नानार्थी यहाँ मज्जनार्थ जाते हैं।

(१९) सरस्वती —कुरुक्षेत्र से स्वल्प उत्तर-पश्चिम में बहने वाली भारत की पवित्र नदियों में से एक। यह मारवाड़ के रेगिस्तान में बहती हुई वहाँ की बालुका में विलीन हो जाती है।

(२०) कनखल—गङ्गा के पश्चिम तट पर हरिद्वार के पास ही स्थित एक उपनगर है। मल्लिनाथ के अनुसार किसी गिरि का नाम है जहाँ भागीरथी हिमालय छोड़कर समतल पर उतरती है, किन्तु हरिद्वार के पास इस नाम का कोई गिरि नहीं है।

(२१) चरणन्यास—शिव का एक चरण-चिह्न होने के कारण हिमालय में एक पावन स्थल है। Wilson इसे हर की पैड़ी (The Step of Shive) मानते हैं जो हरिद्वार के निकट है।

(२२) क्रौञ्चरन्ध्र—पुराणप्रसिद्ध वह छिद्र जिसे परशुराम ने क्रौञ्च पर्वत में अपना बाण बेधकर किया था। यह माना जाता है कि हंस इसी से होकर मानसरोवर जाते हैं। इसकी भौगोलिक स्थिति का पता नहीं चलता।

(२३) कैलाश और मानस—कैलास पर्वत (ऊँचाई २२०२८ फीट) शिव और पार्वती का पौराणिक परम शिव का अधिवास है।

मानसरोवर (ऊँचाई १९,९०० फीट, क्षेत्रफल ३,१३३ वर्गमील) से सीधे उत्तर कैलास हैं। कैलास मानस के उत्तरी छोर से १६ मील और दक्षिणी छोर से ३२ मील है।

(२४) अलका—कुबेर और यक्षों का पौराणिक निवास-स्थान। कैलास के ढालू क्षेत्र पर इसकी स्थिति अनुमित है।

'गीतिकाव्य' के अध्ययन को सुगम बनाने के लिये हम इसे निम्नाङ्कित ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. शुद्ध गीति-काव्य। २. सन्देश-काव्य। ३. सप्तशती-साहित्य।
४. शतक-साहित्य। ५. स्तोत्र-साहित्य। ६. सुभाषित-साहित्य।

(१) शुद्ध गीति-काव्य—इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम कालिदासकृत 'मेघदूत' तथा 'शृङ्गारतिलक' आते हैं। 'मेघदूत' के सम्बन्ध में हम ऊपर पढ़ चुके हैं।

शृङ्गार-तिलक—२३ पद्यों का एक छोटा सा शृङ्गार-प्रधान गीति-काव्य है। इसमें प्रासादिक शैली तथा सरल सानुप्रास भाषा को देखकर इसे कालिदास की कृति निश्चित रूप से मान लेते हैं।

ऋतु-संहार—कालिदास की कृति मानी जाती है। इसमें ६ सर्ग और १४४ पद्य हैं। इसमें ग्रीष्म-वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त-ऋतुओं का यथाक्रम वर्णन है। इसमें प्रकृति के बाह्य-सौन्दर्य और मानवीय-प्रणय का मणि-काञ्चन संयोग है। प्रत्येक ऋतु अपने विभिन्न उपकरणों, विशेषताओं के साथ प्रेमियों के हृदय को आन्दोलित कर रही है।

ऐसा विद्वानों का मत है कि तरुण कवि की प्रथम कृति होने से इसमें ध्वन्यात्मकता का सर्वथा अभाव है किन्तु प्रासादिकता सर्वत्र गोचर होती है।

घटकर्पर—२२ पद्यों की एक छोटी गीति-संग्रह-पुस्तक है। इसमें शृङ्गार-रस का विशद वर्णन हुआ है।

जिस प्रकार कालिदास को 'दीपशिखा'[1] और माघ को 'घण्टामाघ' कहते हैं, उसी प्रकार सम्भवतः घटकर्पर नाम आपका निम्न पद्य से पड़ा, जिसमें वे प्रतिज्ञा करते हैं कि जो कोई यमकालङ्कार के प्रयोग में मुझको परास्त करेगा उसके यहाँ मैं घड़े के खप्पर से पानी भरूँगा।

"आलंब्य वाम्बु तृषितः करकैः शयेयम्,
भावानुरक्तवनितासुरतैः शयेयम्।
जीयेय येन कविना यमकैः परेण,
तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण॥

घटकर्पर काव्य में मेघदूत के कथानक को उलट कर काम में लाया गया है। ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि आपने प्रतिश्रुत हो, यमक अलङ्कारों का यथाशक्ति प्रयोग किया है।

भामिनीविलास—पाण्डितराज जगन्नाथ के मुक्तक गीतात्मक पद्यों का एक सुन्दर संग्रह है। इसमें चार विलास हैं—

१. प्रास्ताविक विलास। २. शृङ्गार-विलास। ३. करुण विलास।
४. शान्त-विलास।

---

१. संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ, यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे, विवर्णभावं स स भूमिपालः॥
(रघुवंश सर्ग ६)

पण्डितराज जगन्नाथ की शैली अत्यन्त उदार, मधुर एवं लालित्यमयी है। भर्तृहरि के समान इनका भी शब्द-शोधन अनवद्य और अत्यन्त रुचिर होता है। यह शृङ्गार-रस-प्रधान गीति-काव्य है। अन्योक्तियाँ व्यंग्य प्रधान है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। देखिये :—

"अयि नलवरविन्द स्यन्दमानं मकरन्दं,
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीन विवृण्वन्,
परिमलमयमानो बान्धवो गन्धरवाहः॥"

अर्थात्—अरे कमल ! भंवरे ने मधुर गुञ्जन करके तेरा क्या उपकार किया है। जो केवल तेरे स्रवित मकरन्द का पान ही करता रहता है। वास्तविक तेरा उपकारी मलय का पवन है जो दिशाओं-दिशाओं में निःस्वार्थ भाव से घूम-फिर कर तेरा यश सुगन्धि के रूप में फैलता है।

गीतगौविन्द जयदेव की कृति है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् इसे ग्राम्य-रूपक (Pastoral-drama), गीति-नाटक (Lyric-drama) अथवा परिष्कृत-यात्रा (Refine Yatra) मानते हैं। पिशेल और लेवी के मतानुसार 'गीतगौविन्द' को संगीत रूपक (Melo-drama) माना जाता है। 'गीतगौविन्द' को जयदेव ने सर्गों में विभाजित किया है तथा पदों के साथ-साथ संगीत सम्बन्धी रागों और नृत्य सम्बन्धी तालों के भी नाम दिये हैं। अतएव इसे संगीत नाटक (Opera) भी कहते हैं।

यदि संस्कृत-वाङ्मय के सौन्दर्य और माधुर्य की पराकाष्ठ का अवलोकन करना हो तो गीतगौविन्द का अवलोकन करना चाहिये। उनके शब्द-चित्रों में सौन्दर्य छलक पड़ता है। पदलालित्य, कोमलकान्त पदावली, भाव-माधुर्य एवं शृङ्गार की व्यञ्जना से प्रत्येक सहृदय पाठक का हृत्-मन्दिर अवश्यमेव गूँज उठता है, आन्दोलित हो उठता है। उदाहरण स्वरूप देखिये कि समास बहुलता होते हुए भी शैली कैसी रमणीय एवं प्रवाहयुक्त है :

"ललित-लवंगलता-परिशीलन-कोमल-मलयसमीरे।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुञ्ज-कुटीरे॥"

'गीतागौविन्द' की रचना अत्यन्त लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध सिद्ध हुई है। उस पर लगभग ३५ टीकायें लिखी गई हैं। जिस ग्राम में आपने इसकी रचना को उस ग्राम का नाम ही 'जयदेवपुर' पड़ गया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'गीतगौविन्द' का तदनुरूप सरल पदावली में व्रजभाषा में अनुवाद किया है।

चौरपञ्चाशिका नामक ५० पद्यों के एक लघु गीतिकाव्य की रचना विल्हण ने ११ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में की थी।

किसी राजकुमारी से प्रेम होने के कारण कवि को प्राण-दण्ड की आज्ञा दी गई। तभी बन्धन की स्थिति में उसने प्रणय के स्वानुभूत अनुभवों को उद्दाम शैली में छन्दोबद्ध करके इस छोटे से काव्य की रचना की जिससे प्रसन्न हो नृप ने क्षमा तो

कर ही दिया साथ ही राजकुमारी के साथ उसका विवाह भी सम्पन्न करा दिया। कीथ का कथन है कि काव्य में ऐसी व्यक्तिगत अनुभूति का इसमें कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। साथ ही विल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में जो अपना जीवन-वृत्त दिया है उसमें भी इस घटना का उल्लेख नहीं है।

'चौरपञ्चाशिका' की भाषा-शैली सरल, सरस, मधुर एवं प्रवाहपूर्ण है। अमर्यादित शृङ्गारिक वर्णन का एक ही उदाहरण पर्याप्त है—

अद्यापि तां प्रणयिनीं मृगशावकाक्षीं, पीयूषपूर्णकुचकुम्भयुगं वहन्तीम्।
पश्याम्यहं यदि पुनर्दिवसावसाने, स्वर्गापवर्गनरराज्यसुखं त्यजामि॥

(२) सन्देश काव्य—इसका विशद वर्णन अगले प्रकरण में किया गया है।

(३) सप्तशती साहित्य—यह साहित्य हाल ही की 'गाथासप्तशती' से आरम्भ होता है। 'हाल' (प्रथम सदी पूर्व) की यह सप्तशती प्राकृत में लिखी गई थी। इसका माध्यम आर्या छन्द था। इसी से प्रेरित होकर गोवर्धनाचार्य से 'आर्यासप्तशती' का प्रणयन किया।

'हाल' के कथनानुसार शृङ्गार रसपूर्ण लाखों गाथाओं में से चुनी हुई ७०० उक्तियाँ लेकर रक्खी हैं। जो उन्हें रमणीय तथा रसभावपेशल प्रतीत हुई। अतः 'गाथासप्तशती' को हम एक सुभाषित संग्रह कह सकते हैं। इसका प्रत्येक पद अपने आप में परिपूर्ण एवं स्वतन्त्र है। गाथाओं में दृश्य प्रायः सरल ग्राम्य जीवन से गृहीत हैं। उसकी नायिकायें ग्रामों की मुग्धायें हैं। शृङ्गार के साथ ही साथ प्रकृति-चित्रण परक तथा नीति-विषयक सूक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में हैं।

(४) शतक साहित्य—शतक साहित्य में सर्वप्रथम भर्तृहरि के 'शतकत्रय' का प्रमुख स्थान है। इनके ३ शतक हैं। १. नीतिशतक, २. शृङ्गारशतक और ३. वैराग्य-शतक।

इन तीनों शतकों में भाषा के सुमधुर प्रवाह के साथ ही भावाभिव्यक्ति बड़े सरल एवं मनोरम शब्दों में हुई है।

अमरुक शतक के विभिन्न संस्करणों में ९०–११५ पद तक पाये जाते हैं। यह शृङ्गार रस की सजीव कृति है। 'अमरु' अथवा 'अमरुक' संज्ञक राजा इस ग्रन्थ के रचयिता थे। किंवदन्ती है कि मण्डन मिश्र की पत्नी शारदा के कामशास्त्र प्रश्नों का उत्तर देने के लिये स्वयं श्रीशङ्कराचार्य अमरुक नामक राजा के मृत शरीर में प्रविष्ट हुए और अमरुक शतक की रचना कर डाली।

इसके अतिरिक्त मयूरभट्ट कृत "चण्डीशतक" एवं महाकवि बाण कृत 'सूर्यशतक' साहित्य में प्रमुख माने जाते हैं। विभिन्न देवी देवताओं की स्तुतियों का ऐसे शतकों में सुन्दर संग्रह है।

(५) स्त्रोत साहित्य—आलवन्दार स्तोत्र, अष्टमहाश्रीचैत्य स्तोत्र, शिवमहिम्न स्तोत्र, शिवताण्डव स्तोत्र आदि स्तोत्र-साहित्य में आते हैं।

(६) सुभाषित साहित्य—संस्कृत गीतिकाव्यों में सुभाषित साहित्य भी अति

उल्लेखनीय है, जिनमें सूक्तियों का संकलन किया गया है। प्राचीनतम उपलब्ध संग्रह हाल-कृत 'गाथासप्तशती' है। इसके बाद संस्कृत में सूक्तियों का संकलन होने लगा। प्राचीनतम संस्कृत सूक्ति-ग्रन्थ 'कवीन्द्र रस समुच्चय' (११०० ई०) है। दूसरा सुभाषित ग्रन्थ श्रीधरदासकृत सदुक्तिकर्णामृत (१२०५ ई०) है। ऐसा विद्वानों का कथन है कि 'कवीन्द्र रस समुच्चय' की हस्तलिपि डॉ० थामस को नेपाल में प्राप्त हुई थी। इनके अतिरिक्त अन्य सुभाषित-संग्रह ग्रन्थ हैं—

जल्हण-कृत—'सूक्तिमुक्तावली' (१३०० ई०)
'शारंगधरपद्धति'
वल्लभदेव कृत 'सुभाषितावली' (१५०० ई०)
रूपस्वामी कृत 'पद्यावली'

उपर्युक्त सभी ग्रन्थ गीति-काव्य की समृद्धि के द्योतक हैं।

इस प्रकार भारत में गीति-साहित्य अति समृद्ध है। उसमें समय के अथाह, अपार प्रवाह को पार कर जाने की क्षमता है। इसीलिये उसका स्थान विश्व के स्थायी साहित्य की परिधि में आ सकता है।

सन्देश काव्यों की परम्परा

सन्देश-काव्य या दूतकाव्य को हम गीतात्मक खण्ड-काव्य की श्रेणी में मानते हैं। अंग्रेजी के लिरिक शब्द (Lyric) के आधार पर, जिस आधुनिक गीति-काव्य का उदय हुआ है, वह तो प्रायः मुक्तक काव्य की कोटि में आता है, किन्तु अंग्रेजी की लिरिक पोइट्री (Lyric Poetry) में प्रबन्धात्मकता का अभाव नहीं होता, इसलिये सन्देश-काव्य को लोग गीति-काव्य भी कहते हैं। वियोग दशा की मार्मिक अवस्थाओं का चित्रण होने से इन्हें विरह काव्य भी कहा जाता है।

सन्देह काव्यों में प्रायः विरह की प्रधानता होती है और इनकी रचना प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से युक्त वैदर्भी रीति में की जाती है। इनमें सुकुमार भावनाओं के साथ संगीत-लहरी का प्रकम्प उत्पन्न करने के वाले मन्दाक्रान्ता, मालिनी, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का प्रयोग श्रेयस्कर माना जाता है। गीति-परक विरह-वर्णन ही इनमें अधिक होता है, किन्तु गीति-काव्य या विरह-काव्य को सन्देश-काव्य का पर्याय कहना अवैज्ञानिकता का परिचायक है। एक छन्द पद्धति पर आश्रित है तो दूसरा पूर्णतः एक भाव-दशा पर टिका है, जबकि सन्देश-काव्य काल्पनिक विचारों की देन हैं। भावना तो आदि में प्रेरक मात्र होती है।

विप्रलम्भ शृङ्गार की पृष्ठभूमि पर नायक या नायिका का दूत द्वारा अपने प्रियजन को मर्मस्पर्शी सन्देश भेजना इन काव्यों का मुख्य विषय होता है।

"सन्देशस्तु प्रोषितस्य स्ववार्ताप्रेरणं भवेत्" तथा "स्यात्सन्देश हरो दूतः" अमर आदि कोषों से भी यही अर्थ स्पष्ट होता है, इसी से इन्हें दूत-काव्य भी कहते हैं।

उत्तर भारत से लेकर बंगाल तक के संस्कृत साहित्य की जिस शाखा का सर्जन दूत-काव्यों के रूप में हुआ है, उसी का प्रणयन दक्षिण भारत तथा लङ्का में

सदेश-काव्यों के रूप में किया गया है । एक ओर मेघदूत, पवन-दूत, पिकदूत, चन्द्र-दूत, पादप-दूत, मनो-दूत, हंस-दूत, पान्थ-दूत आदि लिखे गये, तो दूसरी ओर हंस-सन्देश, पिक-सन्देश, शुक-सन्देश, हरिण-सन्देश तथा काक-सन्देश की रचना हुई। स्पष्ट है कि दूत-कार्य के लिये कवियों ने पशु-पक्षी ही क्या जड़ पदार्थों तक का प्रयोग स्वच्छन्दतापूर्वक किया है । इन्दु, पादप, तुलसी-पादक और मन को ही नहीं, उन्माद की उदात्त अवस्था तक पहुँचकर भक्ति तथा शील जैसे सूक्ष्म चारित्रिक भावों को भी दूत-कार्य के हेतु प्रेरित किया गया है । बात यह है कि अन्य काव्यों में तो विरह के अन्तर्गत पूर्वराग तथा मान की अवस्थाओं में दूत अथवा दूती भेजने का वर्णन मिलता है, किन्तु दूत-काव्यों में प्रवासजन्य विरह में ही सन्देह प्रेरणा का विधान है, यद्यपि पूर्वराग की अभिलाषा आदि दस दशाओं में से सातवीं दशा उन्माद की आती है, किन्तु इसका पूर्ण परिपाक तो प्रवास की अवस्था में दिखाई देता है, जिसकी 'अधिकृति' आदि ग्यारह दशाओं में से दसवाँ नाम उन्माद का है । इसमें ऐसा चित्त संमोह हो जाता है कि दूत के चेतन और अचेतन होने का भेद भी दिखाई नहीं देता है । कालिदास ने मेघदूत में स्पष्ट कहा है "कामार्ता हि प्रकृति-कृपणाश्चेतनाचेतनेषु" हंस-सन्देश के अज्ञात कवि का भी कथन है "युक्तायुक्तेष्वरि हि विदुषामर्थिनाम् नो विवेकः" ।

इस दशा में चित्त आर्द्र होकर इतना फैल जाता है कि विरही सारी सृष्टि को अपने भावों विचारों से ओत-प्रोत देखता है । योग्य और अयोग्य का अन्तर तो वह जानते हुए भी नहीं जानता ।

सच तो यह है कि संस्कृति में वियोगात्मक गीति-प्रबन्ध-काव्य के रूप में ही सन्देश-काव्य का उदय हुआ है ।

ऋग्वेद—भारतीय वाङ्मय के शिरोरत्न ऋग्वेद में सर्वप्रथम एक पशु के द्वारा दूत-कार्य किये जाने का वर्णन है । जब बल नामक असुर के सैनिक पणि लोग बृहस्पति की गौओं का अपहरण करके किसी गुहा में छिपा देते हैं तब इन्द्र अपनी सरमा नामक शुनी को उनकी खोज करने के लिये पक्षियों के क्षेत्र में भेजते हैं । एक नदी पार करके सरमा बलपुर में पहुँचती है और गुप्त स्थान में छिपाई गयी, गऊओं का पता लगा लेती है । दसवें मण्डल की ग्यारह ऋचाओं में पणि लोग सरमा को भ्रातृत्व प्रदर्शित करके अपने पक्ष में मिलाना चाहते हैं; किन्तु दूसरी, चौथी, छठी, आठवीं, दसवीं और ग्यारहवीं ऋचाओं में सरमा बड़ी चतुरता से, उनका भाई-बहन का नाता अस्वीकृत करते हुए उन्हें गऊएँ लौटाने की सलाह देती है ।

वाल्मीकि रामायण—'ऋग्वेद' के उपरान्त वाल्मीकि 'रामायण' के 'किष्किन्धा-काण्ड वाले चालीसवें सर्ग में वानरराज सुग्रीव ने सीताजी का पता लगाने के लिये हनुमान आदि वानरों को प्रेरित किया था । हनुमान जी ने राम का सन्देश देते हुए जगज्जननी सीता से निम्नांकित शब्दों में कहा था—"अहं रामस्य सन्देशात् देवि दूतस्तवागतः । वैदेहि ! कुशलो रामः स त्वां कौशलमब्रवीत् ।" और पूर्ण विश्वास दिलाने के लिये प्रमाणरूप से श्रीराम ने अँगूठी सीता को अर्पित की थी :

रामनामांकितं चेदं पश्य देव्यंगुलीयकम् ॥३६/२॥
प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना ॥३६/३॥

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि रामायण में दूत के द्वारा सन्देश भेजना, मार्ग का वर्णन करना, पहचान के लिये किसी वस्तु को अर्पित करना या किसी घटना का उल्लेख करना आदि तथ्य सन्देश के रचना-विधान में पाये जाते हैं।

महाभारत—महाभारत में तो दूत के प्रेषण के प्रसङ्ग अनेक मिलते हैं। पाण्डवों के पक्ष से युधिष्ठिर के दूत बनकर श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर दुर्योधन की सभा में उपस्थित होना प्रसिद्ध ही है। यदि इसे केवल राजनैतिक घटना माना जाय तो वनपर्व के नलोपाख्यान में हंस और दमयन्ती का सम्वाद तो निश्चित रूप से भावी आने वाले सन्देश-काव्यों के लिये पथ-प्रदर्शन बनाने का अधिकारी है। दूत बनाकर भेजा जाने वाला हंस नल से दमयन्ती तक उसका सन्देश पहुँचाने के लिये प्रतिश्रुत होता है :

दमयन्तींसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ॥

भागवत—श्रीमद्भागवत में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जो परिवर्ती सन्देश-काव्यों के लिये आदर्श अथवा आधार माने जा सकते हैं। दशम स्कन्ध के तीसवें अध्याय में रासक्रीड़ा के प्रसंग में कृष्ण का प्रेम पाकर गोपियों को अहंकार हो जाता है। उस अभिमान को दूर करने के लिये कृष्ण जी अन्तर्हित हो जाते हैं। विरह विधुरा गोपियाँ अश्वत्थ, पलास, वट, तुलसी आदि वृक्षों से कृष्ण का पता पूछती फिरती हैं। इसी प्रसंग से अध्याय का समारम्भ होता है :

दृष्टो वा कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमाहासावलोकनैः ॥५॥
एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥२४॥
पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्रांकुशयवादिभिः ॥२५॥
तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ॥२६॥

उक्त प्रसङ्ग के सत्ताइस श्लोकों में से उपर्युक्त तीन श्लोक २४, २५, २६, श्रीकृष्ण सार्वभौम के पदाङ्क दूत-काव्य की रचना के आधार हैं।

वृन्दावन की लताओं और वृक्षों से कृष्ण का पूछना एक ऐसा विषय है जो परवर्ती कवियों के लिये मार्ग-प्रवर्तक बना।

भागवत के दशम स्कन्ध के छियालीसवें अध्याय में भी सन्देश-काव्य का स्वरूप मिलता है। कृष्ण के गोकुल से मथुरा आ जाने पर लौटने का अवसर ही न मिला। तब उन्होंने नन्द और यशोदा की व्याकुलता को दूर करने तथा गोपियों की

व्यग्रता का शमन करने के लिये अपने प्रिय सहचर उद्धव को गोकुल भेज दिया। इस प्रसंग का एक श्लोक दर्शनीय है :—

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नो प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥३॥

गोकुल जाकर उद्धव नन्द और यशोदा को शीघ्र ही व्रज में कृष्ण के लौट आने का आश्वासन भी देते हैं। जब उन्हें आश्वस्त कर उद्धव जाने लगते हैं तो कुछ गोपियाँ उनका हाथ रोक कर खड़ी हो जाती हैं। दशम स्कन्ध के सैंतालीसवें अध्याय में यह वर्णन बड़ा मार्मिक है, जब बीच में एक भ्रमर आ जाता है और कोई गोपी उन्हें कृष्ण का दूत समझकर कहने लगती है।

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं 'पाययित्वा,
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा,
ह्यपि वत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥१॥

अन्त में उद्धव कृष्ण का संदेश सुनाते हुए कहते हैं—

श्रूयतां प्रिय-सन्देशो भवतीनां सुखावहः।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तूरहस्करः ॥२८॥

इसी स्थल के आधार पर रूपगोस्वामी के 'उद्धव-सन्देश', माधव-कवीन्द्र के 'उद्धव-दूत' तथा रुद्रन्याय वाचस्पति के भ्रमर-दूत' आदि की रचना हुई।

भागवत के दशम स्कन्ध के ९०वें अध्याय में श्रीकृष्ण चरित्र का शुकदेव जी ने रहस्यात्मक वर्णन किया है। इसमें स्त्रियाँ उन्नत अवस्था में कुररी, चक्रवाकी, चन्द्र, मलयानिल, कोकिल, मेघ, हंस, नदी और पर्वतादि को सम्बोधन करना कृष्ण विषयक वार्ता पूछना परवर्ती कवियों के लिये मार्ग-प्रदर्शक बन गया। रूपगोस्वामी का हंस-दूत तो स्पष्टतः इसी पर आश्रित है। इसी प्रकार 'भागवत' में जब रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ होना निश्चित हो जाता है और वह उस सम्बन्ध को नहीं चाहती तो वह एक ब्राह्मण के द्वारा श्रीकृष्ण जी के पास सन्देश भेजती है और अन्त में कृष्ण विदर्भ के पार्वती मन्दिर से रुक्मिणी का हरण कर ले जाते हैं। इसी प्रसंग के आधार पर लक्ष्मण सूरि ने 'विप्र-सन्देश' नामक काव्य की रचना की।

बौद्धों के जातक साहित्य में पक्षियों के सन्देश-वाहक होने का वर्णन मिलता है। वाराणसी का एक सेठ कलण्डुक नामक अपने दास की खोज करने के लिये अपने शुक को भेजता है और वह शुक, दास का पता लगाकर उसकी सूचना भी स्वामी को देता है।

'महा उम्मग' आदि जातकों में भी पक्षियों से सन्देश-प्रेषण का कार्य लिया गया है।

कालिदास का मेघदूत संस्कृत साहित्य का प्रथम सन्देश-काव्य है जिसके अनुसरण और आधार पर अनेक कवियों ने अपने सन्देश-काव्य प्रस्तुत किये।

वस्तुतः कालिदास ने ही सन्देश-काव्य के शिल्प-विधान का भी सूत्रपात किया। उन्होंने उसके दो भाग कर दिये, पूर्व भाग में विरही व्यक्ति दूत का स्वागत तथा उसकी शक्ति का वर्णन करके उससे सन्देश ले जाने की प्रार्थना और गन्तव्य स्थान तक के मार्ग का वर्णन करता है। उत्तर भाग में गन्तव्य नगरी में प्रिय के निवास-स्थान का वर्णन करके उसकी विविध अवस्थाओं एवं चेष्टाओं की सम्भावना के साथ उचित अवसर पर सन्देश देने की प्रार्थना की जाती हैं। फिर प्रेमियों के अन्तरङ्ग जीवन की घटना, अभिज्ञान रूप में कहकर सन्देश-वाहक के प्रति शुभ कामना प्रकट करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार कर दिया जाता है। कालिदास के मार्ग-'प्रदर्शन पर ही परवर्ती कवियों ने भी अपने सन्देश-काव्यों का रचना-विधान निर्धारित किया।

यों तो भवभूति ने अपने मालतीमाधव में भी मेघ द्वारा माधव का सन्देश मालती के पास भेजने का उपक्रम किया है, किन्तु साहित्यिक दूत-काव्यों के रूप में जम्बू का 'चन्द्र-दूत' और धोयी का 'पवन-दूत' कालिदास के मेघदूत के अनुकरण पर ही क्रमशः लिखे गये हैं। इसके उपरान्त भामह और भोजदेव ने कतिपय अनुपलब्ध सन्देश-काव्यों का उल्लेख किया है।

तथ्य यह है कि दूत-काव्य का आदर्श रूप मेघदूत है। यही इस शाखा का प्राचीनतम प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि घटकर्पर का सन्देश-काव्य तो इससे पहले का लिखा हुआ प्रतीत होता है, तथापि न तो उसमें वह भावात्मकता का विकास है और न वह निखार ही है, जिसका पूर्ण विकसित रूप मेघदूत में प्रस्फुटित हुआ। यह घटकर्पर उज्जयिनी के विक्रमादित्य के नवरत्नों में से था और कालिदास का समकालीन एवं मित्र भी रहा होगा। विक्रम का उल्लेख सन् ६८ ई० ही हाल की 'गाथासप्तशती' में हुआ है। अतः घटकर्पर का काल ईसा पूर्व प्रथम शतक ही मानना चाहिये।

घटकर्पर के सन्देश-काव्य में एक प्रोषित-पति की पत्नी मेघ द्वारा अपने प्रिय के पास सन्देश भेजती हैं, जबकि मेघदूत में विरही पति और पत्नी को सन्देश भेजता है। हंस को मानसरोवर की ओर उड़ते हुए तथा चातक को जल की पुकार करते हुए देखकर विरहणी का हृदय अत्यन्त व्याकुल हो उठता है—

मेघशब्दमुदिताः कलापिनः प्रोषिता हृदयशोक-लापिनः।
तोयदागमकृशा च साम्प्रते दुर्धरेण मदनेन साम्प्रते॥

'घटकर्पर-काव्य' में वियोग की अवधि केवल तीन मास की है—वैसाख, ज्येष्ठ और आषाढ़, जबकि मेघदूत में एक वर्ष का वियोग वर्णित है। घटकर्पर में मेघदूत की भाँति मार्ग का भी कोई मनोरंजक वर्णन नहीं है। बाईस श्लोकों के इस लघुकाय काव्य में विविध मधुर छन्दों का सफल प्रयोग हुआ है।

घटकर्पर-काव्य भले ही मेघदूत से पहले बना हो, किन्तु सन्देश-काव्य का सच्चा साहित्यिक-स्वरूप सर्वप्रथम मेघदूत में ही देखने को मिलता है।

यहाँ हम कालिदास के समय-निरूपण आदि पर विचार नहीं करेंगे, न कवि की सर्वतोमुखी प्रवृत्ति और प्रतिभा पर ही कुछ कहेंगे। यहाँ हमें इतना ही कहना अभीष्ट है कि मेघदूत लिखने के लिये कालिदास को 'वाल्मीकिरामायण' से ही प्रेरणा मिली जैसा कि निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट है:—

(१) यक्षश्चक्रे जनक-तनया-स्नान पुण्योदकेषु।
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥

(२) इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा।

मेघदूत की सर्वाधिक सफलता यह देखकर सिद्ध होती है कि अनेक परवर्ती कवियों ने मेघदूत की कथा का ही अनुकरण करते हुए उसे पल्लवित और विस्तृत करने का भी प्रयास किया है। परमेश्वर झा का 'यक्ष-मिलन' काव्य तथा मन्दिकल रामशास्त्री का 'मेघ-प्रति सन्देश' इस बात के प्रमाण है कि एक में यक्ष का उसकी पत्नी से पुनः संयोग करा दिया गया है तो दूसरे में यक्षी मेघ से यक्ष का सन्देश सुनकर उसकी प्रशंसा करते हुए अपना सन्देश पुनः यक्ष के पास ले जाने के लिए तो कहती ही हैं, साथ ही साथ उसे अलका से रामगिरि तक का एक सरल मार्ग बतला देती है।

इतना ही नहीं जैन कवि जिनसेन ने भी 'पार्श्वाभ्युदय' में मेघदूत का अनुकरण किया है। इसी प्रकार विक्रम कवि के 'नेमिदूत' और मेरुतुङ्ग के 'जैन मेघदूत' पर भी कालिदास का प्रभाव अक्षुण्ण है भले ही कथा २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ जी के जीवन से सम्बद्ध हो। यह काव्य मेघदूत के पद्यों के अन्तिम चरणों को समस्यापूर्ति के रूप में ग्रहण करके लिखा गया है। 'जैन मेघदूत' पर तो उसका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

शीलदूत-चरित्र गणि (वि० स० १४८७) का शीलदूत मेघदूत के पद्यों के अन्तिम चरणों को लेकर लिखा गया है। इसमें कुल १३१ श्लोक हैं।

पवनदूत—सप्तदश शतक के लगभग लिखा हुआ वादिचन्द्र सूरि का 'पवनदूत' भी मेघदूत के अनुकरण पर ही उज्जयिनी के विजय नरेश की कथा पर आश्रित है। उसकी रानी तारा को जब अशनि वेग नामक विद्याधर हर ले जाता है तब वियोगावस्था में राजा पवन को दूत बनाकर भेजता है। मार्ग का वर्णन भी मेघदूत के अनुकरण पर है पहले तो अशनि वेग युद्ध की धमकी देता है, किन्तु उसकी माता तारा को पवन के साथ लौटा देती है। कथा काल्पनिक है, इसमें कुल १०१ मन्दाक्रान्ता छन्द हैं। भाषा सरस, प्रवाहयुक्त तथा प्रसादगुण पूर्ण है।

चेतोदूत—इसी प्रकार अज्ञात कवि (समय अनिर्धारित) का 'चेतोदूत' भी मेघदूत के पद्यों के अन्तिम चरणों के आधार पर दिखाई देता है। इसमें एक शिष्य अपने गुरु के श्री-चरणों की प्रसत्ति (दया-दृष्टि) को ही प्रेयसी बनाकर अपने चित्त को उसके पास दूत बनाकर भेजता है। मन्दाक्रान्ता छन्दों में ही मेघदूत के चरणों की समस्या की पूर्ति मिलती है। इसमें कुल १२९ श्लोक हैं।

इन्दुदूत—विनय विजयगणी ने विक्रमीय अष्टादश शतक के पूर्वार्द्ध में 'इन्दु-दूत' की रचना की। इसमें भी एक शिष्य जोधपुर से अपने गुरु विजय प्रभु सूरीश्वर के पास सूरत में चन्द्रमा को दूत बनाकर अपना सन्देश भेजता है। मार्ग-वर्णन आदि मेघदूत के ही अनुकरण हैं, इसमें १३१ श्लोक हैं।

विक्रम सम्वत् १७२७ ई० में श्री मेघविजय ने 'मेघदूत समस्या लेख' प्रस्तुत किया। इसमें कवि ने देव पत्तन में विराजमान अपने गुरु श्री विजय प्रभु सूरि के पास मेघ द्वारा कुशल वार्ता का सन्देश भेजा। औरंगाबाद से देवपतन तक के मार्ग के वर्णन में भी मेघदूत का अनुसरण लक्षित होता है। ये सब जैन सन्देश काव्य धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर अपनी कल्पना का रंग चढ़ाने में भले ही सफल हुये हों, किन्तु उनका साहित्यिक महत्त्व नगण्य है।

पवन-दूत—धोयी या धोयिक कवि ने द्वादश तथा त्रयोदश शतक में जिस 'पवन-दूत' की रचना की है, यद्यपि वह भी कालिदास के मेघदूत के आधार पर लिखा गया है, किन्तु उसका अपना महत्त्व है।

यह आत्मश्लाघी कवि बंगाल के लक्ष्मणसेन की सभा में राजकवि था, जो अपने लिये 'कवि नरपति' अथवा 'कविक्ष्माभृताम् चक्रवर्ती' आदि शब्दों का प्रयोग बड़ी निर्द्वन्द्वता से करता है। इसमें दिग्विजय के अवसर पर कनक नगरी निवासिनी कुवलयवती नाम की एक गन्धर्व कन्या लक्ष्मणसेन पर मुग्ध हो गयी है। वह वसन्त की वायु को अपना सन्देशवाहक बनाकर विरह-व्यथा सुनाने के लिये राजा के पास भेजती है। मलय पर्वत से बंगाल तक के मार्ग का रम्य वर्णन मन्त्र-मुग्धकारिणी शैली में प्रस्तुत किया गया है।

हंस-सन्देश—विक्रम के त्रयोदश शतक के आरम्भ में पूर्ण सारस्वत ने 'हंस सन्देश' की रचना की। काल्पनिक कथा यह है कि काञ्चीपुर नगर की कोई भक्त स्त्री श्रीकृष्ण की विजय-यात्रा देखकर उन पर मन्त्र-मुग्ध हो गई। कृष्ण की वियोगा-वस्था में ही पुष्प-वाटिका में उसे एक राजहंस दिखाई देता है। वह स्त्री उसका स्वागत एवं स्तवन करके उसे प्रिय कृष्ण के पास सन्देश ले जाने का भार सौंपती है। दूतकार्य में नियुक्त हंस जिन स्थानों में होकर जावेगा उसका रम्य वर्णन है। अन्त में उसे वृन्दावन जाने की अनुमति दी गई है। विशेषता यह है कि यहाँ नायिका नायक के पास हंस द्वारा सन्देश भेजती है जबकि मेघदूत में नायक नायिका के पास सन्देश भेजता है। इसमें कुल १०२ श्लोक हैं। मेघदूत का अनुकरण हंस-दर्शन, उसके सत्कार और कुशल वार्ता आदि के पूछने से स्पष्ट ही हो जाता है।

हंस-सन्देश—इसके उपरान्त विक्रम के चतुर्दश शतक में लिखा हुआ वेदान्त देशिका का भी हंस-सन्देश, अपना अलग महत्त्व रखता है। रामानुज सम्प्रदाय के इस महान् आचार्य का लिखा हुआ काव्य रामायण की कथा पर आश्रित होते हुए भी मौलिक है। सीता जी की खोज करके जब हनुमान जी लौट आते हैं, उस समय राम रावण पर आक्रमण करने से पूर्व सीता जी को सान्त्वना देने के लिये एक राजहंस को दूतरूप में लका भेजते हैं। इसमें माल्यवान् पर्वत से लंका जाने के दो मार्ग बताये

गये हैं—एक पश्चिमी मार्ग सह्य पर्वत होकर और दूसरा मद्रास प्रान्त के पूर्वी तट से होता हुआ पूर्वी मार्ग। पश्चिमी मार्ग में सतत वृष्टि रूप बाधा होने के कारण हंस को पूर्वी मार्ग से जाने का परामर्श दिया जाता है। इसकी कथावस्तु दो आश्वासों में विभक्त है, प्रथम आश्वास में साठ श्लोकों से मार्ग-प्रदर्शन किया है तथा द्वितीय आश्वास के ५१ श्लोक लंका-वर्णन तथा सन्देश-कथन में उपयुक्त हुए हैं। इसमें भी मन्दाक्रान्ता छन्द है तथा प्रसाद और माधुर्य गुणों वाली सरस शैली का प्रयोग किया गया है।

हंस-सन्देश—विक्रम के पञ्चदश शतक में किसी अनिर्ज्ञात लेखक का हंस-'सन्देश' अपनी अलग विशेषता रखता है। इस सन्देश काव्य के अन्तर्गत प्रतीकात्मक शैली में वेदान्त का विषय बड़े सरस ढंग से समझाया गया है। भक्त शिव भक्ति रूपी प्रेयसी के सम्पर्क से अद्वैत के आनन्द में मग्न है। संचित कर्मों के प्रभाव से माया के वस में आ जाने के कारण वह शिव-भक्ति से प्रयुक्त होता है। किन्तु समय बीतने पर वह अपने मन को हंस बनाकर दूत रूप में शिवलोक स्थित अपनी शिव-शक्ति रूपिणी प्रेयसी के पास अपना प्रेम-सन्देश भेजता है। इस स्थल पर पृथ्वी से लेकर शिवलोक तक के मार्ग, मध्यवर्ती प्रदेश और उन स्थलों के देवताओं का वर्णन बड़ा मनोरम है। इसमें जहाँ तक विषय-निरूपण का सम्बन्ध है, यह सन्देश-काव्य नवीन ही ढंग का है। इसमें अध्यात्म और मोक्ष के ऐसे शुष्क विषयों को कवि ने बड़े मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया है। यह 'मेघदूत' की शैली का एक सफल अनुकरण कहा जा सकता है—

आदौ तावच्छृणु कथयतो मार्गमव्याहतं मे,
सन्देशं ते श्रवणसुभगं सौम्ये वक्ष्यामि पश्चात्।
पीत्वा पीत्वा शशि-विगलितां शुभ्र पीयूष धारां,
पद्मे पद्मे विहित वसतिः प्रत्यहं यास्यसि त्वम्॥५॥

शुक-सन्देश—विक्रम की पंचदश शताब्दी में मालावार के एक भावुक कवि श्री लक्ष्मीदास ने 'शुक-सन्देश' नामक एक सुन्दर काव्य की रचना की, जो मालावार के प्रथम कोटि के काव्य के रूप में विश्रुत है। कथावस्तु इस प्रकार है—शरद् ऋतु की एक रात्रि में गुणकापुरी या गुणपुरी में दो स्निग्ध प्रेमी अपने प्रासाद में विहार मग्न हो जाते हैं। निद्रा आने पर नायक स्वप्न में ही वहाँ से एक शुक के द्वारा अपनी प्रेयसी के पास सन्देश भेजता है। रामेश्वरम् से गुणकापुरी तक के रम्य मार्ग का विशद वर्णन रामेश्वरम् के पूजन से आरम्भ होता है। फिर शुक को सागर तट, सेतुबन्ध, ताम्र-पर्णी सरित् और पाण्डय देश की राजधानी मणलूर (मनालोर) तथा सह्य पर्वत पार करके केरल देश को भेजने को प्रेषित किया जाता है। वहीं से कन्याकुमारी क्षेत्र को प्रणाम करके पुनः सह्य पर्वत पर आकर शिव के एक मन्दिर और खण्डहर के एक अग्रभाग का मनोहर वर्णन है। फिर एक आम्रवृक्ष पर विश्राम करके उषाकाल में ही शुक से फिर उड़ चलने का आग्रह किया जाता है। इस प्रकार विविध सरिताओं, पर्वतों तथा राजगृहों को पार करने वाले मनोरम मार्ग का वर्णन करके सन्ध्यावेला

में गुणकपुरी पहुँचकर यथावसर अपनी विरह-मधुरा प्रेयसी को उचित स्थान में सन्देश देने के उपरान्त शुक के प्रति आशीर्वचन एवं मंगलकामना के साथ काव्य का उपसंहार हो जाता है।

मेघदूत की भाँति शुक-सन्देश भी दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में केवल मार्ग-वर्णन है और द्वितीय भाग में नायिका की विरहावस्था तथा सन्देश-कथन का विधान है। इसमें भी मन्दाक्रान्ता छन्द का आश्रय लिया गया है।

भृङ्ग-सन्देश—पञ्चदश शताब्दी के अन्तिम तथा षोडश शताब्दी के अन्तिम दशकों में ही दक्षिण भारत के वासुदेव कवि ने 'भृङ्ग-सन्देश' नामक काव्य लिखा। इस काव्य में एक विरही स्थानन्दूर (त्रिवेन्द्रम) नगर में श्वेत दुर्ग में स्थित अपनी विरहिणी के पास एक भृङ्ग को सन्देशवाहक बनाकर भेजता है। संक्षिप्त कथा यों है कि दो प्रेमियों के सम्भोग की विलास क्रीड़ाओं में लीन होते समय कोई यक्षी प्रेमी के साहचर्य पर मुग्ध होकर उसे मलय पर्वत पर उड़ा ले जाती है, किन्तु मार्ग में यक्ष को आता देखकर स्थानन्दूर में पद्मनाभ स्वामी के मन्दिर के समीप पुष्पाराम में छोड़ जाती है। अपने को अकेला पाकर वह व्यक्ति व्याकुल हो उठता है। उसी समय एक भृङ्ग उसके पास आता है, तो उसे ही अपना सन्देशवाहक बनाकर श्वेत दुर्ग में स्थित अपनी प्रेयसी के निकट भेजता है, स्थानन्दूर से दूर श्वेत दुर्ग तक के मार्ग के वर्णन में मेघदूत के प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत के इस प्रसिद्ध काव्य को ही पढ़कर उद्दण्ड कवि ने उसके उत्तरस्वरूप अपने 'कोकिल-सन्देश' की रचना की। पूर्व भाग में मार्ग-वर्णन तथा उत्तर भाग में प्रेयसी के स्थान का तथा विविध विरहावस्थाओं का वर्णन मिलता है। मेघदूत की भाँति इसमें भी मन्दाक्रान्ता छन्द तथा सानुप्रास पदावली और मनोरम मार्ग-वर्णन का समावेश किया गया है।

कोकिल-सन्देश—विक्रम के पञ्चदश शतक के अन्त तथा षोडश शतक के आरम्भ में 'कोकिल-सन्देश' की रचना हुई। इसमें एक प्रेमी 'कालीकट' में स्थित अपनी प्रेयसी के पास कोकिल द्वारा सन्देश भेजता है, इसमें कालिदास के 'मेघदूत' का बड़ा सफल अनुकरण बन पड़ा है। कहा जाता है कि 'वासुदेव' नामक कवि ने अपना 'भृङ्ग-सन्देश' नामक काव्य 'उद्दण्ड' कवि के पास प्रेषित किया। उसी के उत्तर में 'उद्दण्ड' कवि ने 'कोकिल-सन्देश' काव्य की रचना की।

उद्दण्ड कवि का लिखा हुआ 'मल्लिका भारत' नाम का १० अङ्कों का एक प्रकरण भी है, जिसमें मालतीमाधव' का अनुकरण लक्षित होता है। उद्दण्ड कवि दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध विद्वान् था। जिसने विविध विद्या केन्द्रों में अपना साहित्यिक जीवन बिताकर यश की खोज में मालावार की ओर प्रस्थान किया और वहाँ राज-दरबारों में अनेक विरोधियों पर विजय प्राप्त की।

कथा इस प्रकार है—एक प्रेमी अपनी प्रेयसी के समीप ही सो जाता है। प्रभात होते ही वह देखता है कि काञ्ची नगरी में देवी के मन्दिर के पास वह खड़ा

है। वह यह आकाशवाणी भी सुनता है कि वरुणपुर से अप्सरायें विमान में उसे ले आई हैं और यदि पाँच महीने तक वह काञ्ची में रह ले तो उसे अपनी प्रेयसी से वियोग कभी न होगा। काञ्ची में ही वह किसी तरह तीन महीने काट लेता है किन्तु वसन्त-ऋतु के आने पर समीप ही कोकिल को कूकता देखकर वह विह्वल हो उठता है और उससे ही सन्देश ले जाने का निवेदन करता है। काञ्ची नगरी से चूर्णी नदी के किनारे जयन्त मंगल नाल प्रदेश तक के मार्ग का सरस वर्णन मिलता है। केरल देश के संस्कृत में लिखे सन्देश काव्यों में 'कोकिल-सन्देश' का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। दो भागों में ललित भाषा की प्रसाद-गुणोपेता शैली मन्दाक्रान्ता छन्द में खिल उठी है। इसमें मेघदूत का बड़ा सफल अनुकरण हुआ है।

मयूर-सन्देश-विक्रम सम्वत् पञ्चदश शतक में ही उदय कवि ने 'मयूर-सन्देश की रचना की। मालावार के प्रसिद्ध नृपवर श्रीकण्ठ के वंश का कोई राजकुमार अपनी रानी मारचेभन्तिका के साथ प्रासाद में विहार रत था। भ्रमवश विद्याधर उसे पार्वती-सहित साक्षात् शिव समझ बैठे। जब राजकुमार ने उसका उपहास किया तो विद्याधर ने राजा को प्रेयसी से एक मास तक वियुक्त रहने का शाप दे दिया। प्रार्थना करने पर स्थानान्दूर में रहने की अनुमति मिली। वर्षा ऋतु में वह विधुर राजकुमार एक मोर देखता है और उसे ही अपनी पत्नी के पास अलका नगरी से सन्देश वाहक बना कर भेजता है। मार्ग का वर्णन अत्यन्त मनोहर बन पड़ा है। फिर अलका नगरी और तच्चापीलि नामक गृह के समीप के आम्रवृक्ष, वापी, गृहवाटिका तथा आम्रवृक्षों से घिरे अपनी पत्नी के स्थान, लता, मन्दिर आदि का उल्लेख भावुक शैली में किया गया है।

नायिका के सौन्दर्य-वर्णन तथा उसकी वियोगावस्थाओं का करुण चित्र अङ्कित करके मयूर को अपना सन्देश सुनाकर और सुख कामना व्यक्त करके उसे अपनी प्रेयसी के पास भेज देता है। इसमें भी मेघदूत का अनुकरण स्पष्ट लक्षित होता है। मेघदूत की अपेक्षा इसकी परिस्थितियाँ बलवती विरह-व्यथा के लिये कृत्रिम-सी प्रतीत होती है, क्योंकि विरह की अवधि केवल एक मास है जबकि मेघदूत में यक्ष के विरह की अवधि एक वर्ष की है।

वामनभट्ट बाण ने विक्रम की पञ्चदश शताब्दी में हंसदूत की रचना की। यह वामनभट्ट 'नलाभ्युदय' 'पार्वती-परिणय' 'बाणासुरविजय' 'कनक-लेखा नाटक' तथा शृङ्गार-भूषण, भास के प्रसिद्ध-लेख हैं। 'हंसदूत' की कथा मेघदूत से बहुत साम्य रखती है। इसमें श्री अलकापुरी से निर्वासित एक यक्ष अपनी प्रियतमा को हंस द्वारा विरह-सन्देश प्रेषित करता है। अन्तर इतना है रामगिरि पर्वत के स्थान पर हंसदूत का यक्ष दक्षिण भारत के किसी कैलास पर्वत पर रहता है। मेघदूत की ही भाँति इसके भी पूर्वभाग में मार्ग-वर्णन है तथा उत्तर भाग में अलका नगरी का। यक्ष, गृह तथा नायिका के वर्णन के साथ सन्देश का कथन है। मलय पर्वत से लेकर हिमालय अलकापुरी तक का मार्ग-वर्णन मनोरम शैली में वर्णित है। विविध नदियों,

नगरों तथा प्रदेशों और पर्वतों को पार करते हुए काशी और अयोध्या होते हुए कुरुक्षेत्र पहुँचकर हिमालय, क्रौञ्चरंध्र और कैलास को पार करके हंस अलकापुरी जाता है। यक्ष के गृह का वर्णन तथा उसकी विरहिणी की विविध विरहावस्थाओं की सम्भावना के साथ यक्ष ने अपना सन्देश कहा है तथा हंस के प्रति मंगल-कामना के साथ काव्य समाप्त होता है। इसमें मध्यकालीन भारत का जीता जागता चित्र अंकित हो गया है।

मनोदूत—'मनोदूत' नाम का एक शान्त-रस-प्रधान सन्देश काव्य विक्रम को षोडश शती के पूर्वार्द्ध में ही विष्णुदास ने प्रस्तुत किया है। यह विष्णुदास चैतन्य महाप्रभु के मातुल थे। जैसा कि काव्य के आदि में लिखा है—'श्रीचैतन्यदेव मातुलविष्णुदास विरचित मनोदूत।'

विष्णुदास इस काल में एक भक्त के रूप में आते हैं। प्राणियों के दुःखों से व्याकुल होकर वे भगवान् कृष्ण की शरण में जाते हैं। मनोदूत में कवि-मन को दूत बनाकर और अपने नम्र निवेदन को संदेश का रूप देकर भगवान् के चरण कमलों में भेजता है। साथ में शम, दम, दया, क्षमा आदि सद्गुणों को ले जाने तथा दंभ, मद, मान, मोह, लोभ, क्रोध, समय आदि का परित्याग कर जाने का निर्देश दिया गया है। कृष्ण को वृन्दावन में ही कहीं पाकर यथेष्ट अवसर देखकर सन्देश देने की प्रार्थना भी मन से की गई है। विविध चिन्ताओं में पड़े हुये सांसारिक जीवों की शोचनीय दशा तथा भगवान् की महिमा का वर्णन भी सन्देश में निहित है तथा भगवान् के ही गुणगान में विमुग्ध रहने की बलवती इच्छा प्रकट करते हुये मन को भगवान् के चरणों में ही निवास करने की अनुमति देते हुए मन के प्रति शुभ-कामना के साथ काव्य का उपसंहार हुआ है। कवि ने मेघदूत से प्रेरणा तो ली है किन्तु विषय, भाव और छन्द की दृष्टि से उसका अनुकरण नहीं किया। इसमें वसन्तलिका छन्द का प्रयोग हुआ तथा १०१ श्लोकों में काव्य आबद्ध है। पूर्व भाग और उत्तर भाग का सा विभाजन भी इसमें नहीं है। मार्ग-वर्णन भी इसमें नहीं है, फिर भी कवि ने श्रीकृष्ण के ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले राजाओं का बड़ी सहृदयता से वर्णन किया है।

कोक-सन्देश—विक्रम के षोडश शतक में विष्णुगुप्त नामक विप्र ने 'कोक-सन्देश' लिखा। इसमें एक राजपुत्र श्री विहारपुर से कामराम नामक नगर को अपनी प्रेयसी के पास अपना प्रेम-सन्देश भेजता है। कथा इस प्रकार है कि राजपुत्र अपने नगर में सपत्नीक सुखपूर्वक रहता है। एक बार एक यात्री ने उसे उपहार में ऐसा यन्त्र दिया जिसके शीश में स्पर्श करते ही मनुष्य अपने देश से दूर पहुँच जाता है। कुतूहलवश एक दिन राजपुत्र उस यन्त्र को शीश में लगाता है और तत्काल अपने प्रासाद से दूरस्थ किसी स्थान में पहुँच जाता है। वियोग में व्याकुल होकर वह एक चक्रवाक पक्षी को देखकर उसे अपना विरह-वृत्तान्त सुनाता है और चक्रवाक से प्रेयसी के पास अपना सन्देश ले जाने के लिये निवेदन करता है। इस स्थल में नायक के स्थान विहारपुर से प्रेयसी के स्थान कामराम नगर के मार्ग का सुन्दर वर्णन बन पड़ा है।

प्रभात होते ही एक मन्दिर में भगवान् विष्णु के दर्शन करके चक्रवाक विहार-पुर से चल देता है। कुछ दूर पर वारणव्य स्थली में गणेश जी का पूजन करने के बाद वह एक पर्वत और उद्यान के पास पहुँचता है। उद्यान में एक मन्दिर है, जहाँ पार्वती की स्तुति करके वह सुन्दर माया सरोवर के समीप एक विशाल आम्रवृक्ष पर मध्याह्न के समय विश्राम करके निकटस्थ शिव मन्दिर में पूजन करता है। फिर सचन्द्रा नामक राजधानी में पहुँच जाता है। फिर उद्यान, नदी, वन पार करके एक शिव मन्दिर में रात बिताकर प्रातः चक्रवाक को आगे बढ़ने का परामर्श दिया जाता है। फिर पूर्णानन्द नामक भूतनाथ के क्षेत्र में शिव की पूजा करके उ० पू० दिशा में बढ़ने पर कामराम नामक नगरी में उसके पहुँचने का वर्णन है। सूर्योदय से पूर्व उत्तर की ओर चलने पर नायक ने अपने घर का वर्णन किया है। फिर प्रेयसी की विविध वियोगावस्था सम्भावित की जाती हैं तथा अन्त में नायिका के द्वारा शुभ सूचक चक्रवाक के देख लिये जाने की सम्भावना करके चक्रवाक को नायक ने अपना सन्देश कहने का परामर्श दिया है। फिर नायिका से अनुमति लेकर इच्छानुसार भ्रमण करके चक्रवाक के प्रति शुभ कामना प्रकट की गई है। मेघदूत की भाँति यह काव्य भी दो भागों में बँटा है। पूर्वभाग में १२० तथा उत्तर १८६ श्लोक हैं, इनमें भी मन्दाक्रान्ता छन्द का व्यवहार हुआ है।

उद्धव-सन्देश—षोडश शतक के उत्तरार्द्ध में रूपगोस्वामी ने 'उद्धव-सन्देश' की रचना की। इसकी कथा श्रीमद्भागवत पर आश्रित है। मार्ग के अनेक द्रष्टव्य स्थानों का काल्पनिक वर्णन करके गोपियों के चरित्र का कीर्तन तथा अन्य मनोहर प्रसंग लिखकर कवि ने काव्य को सभारा है। कथा यों है कि मथुरा में रहते-रहते सहसा श्रीकृष्ण को कुल का स्मरण आता है और दुःख को दूर करने के विचार से श्रीकृष्ण जी अपनी कथा उद्धव को सुनाते हैं और गोपियों की विरह-व्यथा सुनाकर राधा की मनो-व्यथा का उल्लेख करने लगते हैं और उन्हें सान्त्वना देने के लिये उद्धव से गोकुल जाने का निवेदन करते हैं। मथुरा से गोकुल तक के मार्ग का कथन यहाँ मनोहर ढंग से कहा गया है।

पहले तो उद्धव को मथुरा के गोकर्ण नामक शिव मन्दिर में जाने का परामर्श मिलता है, फिर यमुना सरस्वती संगम, अम्बिका कानन, अक्रूर तीर्थ, कालिय, ह्रद, बद्धहस्त ग्राम, रेहला, गोकुल का विद्युत्कारी नामक दक्षिण भाग आता है। वहाँ गोपियों के लीला कलाप तथा कर्मठ नर्म गोष्ठी और माघ कृष्ण की यात्रा के समय उनके करुण विलाप का भी वर्णन है। पहले कृष्ण की ओर से उद्धव को वृन्दावन के वृक्षों को शुभाशीर्वाद देकर गायों से उनके कुशल प्रश्न पूछकर वृद्ध गोपियों को प्रणाम कहने और श्रीदामा आदि सखाओं का आलिंगन करने तथा नन्द और यशोदा के चरणों में प्रणाम कहने का परामर्श दिया गया है। तब सामूहिक रूप से गोपियों को संदेश देकर चन्द्रावली, विशाखा और ललिता को कृष्ण ने विशेष सन्देश भेजा हैं। तब उद्धव से राधिका के समीप पहुँचने को तथा क्रमशः

अपना सन्देश कहने को कहा गया है, साथ ही पुनर्मिलन का आश्वासन भी दिया है। फिर कुछ समय गोकुल में ठहरकर ब्रज भूमि की यात्रा का परामर्श देते हुए, कृष्ण की प्रार्थना के साथ काव्य समाप्त कर दिया गया है। मेघदूत का अनुकरण इसमें भी स्पष्ट ही है। इसमें भी मन्द्राक्रान्ता छन्द का प्रयोग हुआ है। इसमें कुल १३९ श्लोक हैं। मेघदूत की भाँति इसमें भी नायक की ओर से नायिका के पास संदेश भेजा गया है।

हंस-दूत—चैतन्य महाप्रभु के प्रधान अनुयायी रूपगोस्वामी ने एक हंस-सन्देश की भी रचना की है। कथा उसकी भी काल्पनिक ही है और प्रेरणा भी श्रीमद्-भागवत से ही प्राप्त हुई है। भागवत की एक घटना जोड़ दी है। श्रीकृष्ण जब अक्रूर के साथ ब्रज से मथुरा चले जाते हैं तो खिन्नमना राधा अपनी सखियों के साथ यमुना तट पर पहुँच जाती हैं और वहाँ कृष्ण का स्मरण करके आने पर मूर्च्छित हो जाती हैं। सखियों द्वारा कमल-पत्रों से अच्छी होकर जब सचेत हो जाती हैं तब ललिता उन्हें कमल-पत्रों पर लिटा देती है। उसी समय एक हंस के दिखाई देने से वह उस हंस को ही दूत के रूप में कृष्ण के पास भेजती हैं। अक्रूर वाला मार्ग ही हंस से अपनाने को कहा गया है। पहले कदम्ब वृक्ष है जिस पर कृष्ण गोपियों के वस्त्र अपहृत करके कभी बैठे थे। रासस्थली, वनशाला सदन के बाद गोवर्द्धन पर्वत और कदम्ब बनवाटी से होते हुए भाण्डरि वन तथा ब्रह्मा के मोहन स्थान का वर्णन किया गया है। फिर हंस से कालिय ह्रद का जल पीकर और वृक्ष देवी की वन्दना करके एकादश और द्वादश वनों के पार मथुरा पहुँचने का परामर्श दिया गया है। इस प्रसंग में कृष्ण की अन्तःपुर और क्रीडास्थली का भी सरस वर्णन है। तब कृष्ण की माधुर्य मूर्ति को अवसर देखकर हंस को ललिता ने अपना संदेश भेजने को कहा है। इससे पहले कपिला गाय, वासन्ती लता, गोकुल और गोपियों की दीन-हीन दशा प्रकट की गई है, तब विरहविधुरा राधिका की विविध बलवती भावनाओं, चेष्टाओं और अवस्थाओं का मार्मिक और हृदयग्राही वर्णन है। पहले हंस से भगवान कृष्ण की वन-माला, मकराकृत कुण्डल और कौस्तुभ मणि की प्रशंसा करने को कहा गया है और अन्त में पाञ्चजन्य शंख का यशोगान करने के लिये कृष्ण को अपने अनुकूल करने के प्रयोजन में ही परामर्श दिया गया है। इसमें 'शिखरिणी छन्द का प्रमोग किया गया है।

उद्धव-दूत—माघ कवीन्द्र ने 'उद्धवदूत' का रचना विक्रम क सप्तदश शतक में प्रस्तुत की। श्रीकृष्ण उद्धव को अपना संदेश देकर मथुरा से गोपियों के पास गोकुल को भेजते हैं। वहाँ पहुँचते ही उन्हें श्रीकृष्ण का दूत जानकर राधा सभी गोपियों की और अपनी विरह-व्यथा सुनाने और कृष्ण को अपना उपालम्भ देने के साथ उद्धव को कृष्ण को देने के लिये अपना संदेश सुनाती है।

इसमें पहले यशोदा, नन्द, ग्वालों, कदम्ब वृक्षों आदि की 'विरहावस्था' का

वर्णन है। कृष्ण के कुब्जा प्रेम की भर्त्सना के साथ कृष्ण के गोपियों के भूल जाने पर भी मधुर आक्षेप निहित है। अक्रूर को भी बड़ी फटकार सुनाई गई है। आशा और निराशा में दोलायमान अपने क्षुब्ध मन के साथ राधा ने गोपियों के सुकुमार चित्त के साथ कठोरता न करने का निवेदन भी किया है। हृदयस्पर्शी उपालम्भ प्रस्तुत करते हुये व्याकुल हृदय से हाहाकार सुनाकर राधिका मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। उद्धव शीघ्रता से शीतल जल एवम् उत्तरीय पवन से उसे चेतना में लाते हुये धीरे से कान में अपना परिचय देते हैं, तो तत्काल राधा सचेत और स्वस्थ हो जाती है। तब उद्धव राधिका को अपने सखा का संदेश देते हैं, जिसमें मनस्ताप तथा राधा के निरन्तर स्मरण के साथ पुनर्मिलन की आशा भी बंधाई है। राधिका के नेत्रों से अजस्र अश्रुधार प्रवाहित देखकर उद्धव चरणों में प्रणाम ही नहीं करते अपितु कृष्ण का उत्तरीय भी उनके प्रेम के प्रतीकस्वरूप समर्पित कर देते हैं, फिर गोकुल से वृन्दावन होकर मथुरा जाते समय भी राधा और उद्धव दोनों के नेत्र डबडबा आते हैं। उद्धव के जाने पर राधा के संदेश के स्मरण में आनन्दमग्न होने का कवि ने मनोहर वर्णन किया है।

भ्रमर-दूत—विक्रम के सप्तदश शतक के उतरार्द्ध में बंगाल के रुद्रन्याय पञ्चानन ने 'भ्रमरदूत' की रचना की। यह प्रसिद्ध नैयायिक लगभग २६ ग्रन्थों का लेखक हुआ है। भ्रमरदूत की कथा रामायण पर आश्रित है। कवि ने अपनी कल्पना से मूलकथा में यह बढ़ा दिया है कि सीता-हरण के उपरान्त श्रीराम के माल्यवान् पर्वत पर पहुँचते ही वहाँ से हनुमान जी को लंका भेजा जाता है। जब वह सीता जी का चूड़ामणि लेकर लौट आते हैं तो उस समय रामचन्द्र जी निकट सरोवर में एक भ्रमर मिथुन को देखते हैं। उसी भ्रमर को वह अपना प्रेम संदेश अशोक वाटिका स्थित सीता जी के पास भेज देते हैं। पहले राम ने भ्रमर को अपना परिचय देकर दुःख के कारण अपनी दयनीय दशा बताई है। फिर वहाँ से लंका तक का मार्ग बताते हुये चित्रकूट; नर्मदा और विन्ध्याचल होते हुये चक्करदार मार्ग से जाने का निर्देश दिया है, तब कर्नाटक से कावेरी नदी पार कर काञ्ची नगर में पहिले शिवकाञ्ची फिर विष्णु काञ्ची जाने का परामर्श दिया जाता है, फिर नदनदी और समुद्र को पार करने के बाद लङ्का नगरी की अशोक वाटिका में सीता के दर्शन करने का निर्देश कथित है। इस प्रकार भ्रमर के वहाँ पहुँचने पर पहले सीता की कष्टमय अवस्था का वर्णन है, तब सीता जी से अपना सन्देश कहने का भ्रमर से आग्रह किया गया है। फिर भ्रमर के प्रति मंगलकामना प्रकट कर काव्य समाप्त किया गया है। बंगाल के सरस संस्कृत दूतकाव्यों में 'भ्रमर-दूत' का विशेष स्थान है। इसमें अनेक स्वतन्त्र कल्पनायें होते हुए भी भाव, भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से मेघदूत का ही अनुकरण मिलता है। इसमें १२३ श्लोक हैं। अन्त के दो श्लोकों में कवि ने अपना परिचय भी दिया है। कवि ने आद्योपान्त 'मंदाक्रान्ता' छन्द ही प्रयोग किया है।

पिकदूत—सम्भवतः रुद्र न्याय पञ्चानन का ही लिखा हुआ दूसरा सन्देश-काव्य पिकदूत है। इसमें राधा ने वृन्दावन से पिक को दूत बनाकर श्रीकृष्ण के पास मथुरा भेजा है। कृष्ण-विरह से व्याकुल राधा को वन में एक कोकिल दिखाई देती है। अपनी उन्मत्त अवस्था में वह कोकिल से ही अपना सन्देशवाहक बनने का निवेदन करती है। इस लघु सन्देश काव्य में अन्य सन्देशवाहक की अपेक्षा कोकिल की श्रेष्ठता का कथन करके उसकी यात्रा के योग्य गान, अश्व, सारथि आदि का भी उल्लेख है। वृन्दावन और मथुरा इतने सन्निकट है कि मार्ग-वर्णन का प्रश्न कवि के सामने उठा ही नहीं। अतएव सन्देश कथन के बाद काव्य समाप्त हो जाता है। इसमें केवल ३१ श्लोक हैं। मेघदूत से प्रेरणा तो ली गई प्रतीत होती है किन्तु छन्द शार्दूल-विक्रीड़ित' प्रयोग हुआ है।

भृङ्ग-दूत—शतावधान कवि कृष्णदेव ने विक्रम के अष्टादश शतक में 'भृङ्गदूत' की रचना की। कथा इस प्रकार है कि परमपुरुष कमलनेत्र श्रीकृष्ण के वियोग में एक गोपिका अत्यन्त व्याकुल हो उठती है और चान्दनी रात्रि उसे कल्प से विशाल लगती है, सूर्योदय होने पर मधुर गुञ्जार करता हुआ एक भ्रमर उसे दिखाई देता है, जिसे वह अपना दूत बनाकर वृन्दावन जाने की प्रार्थना करती है। इसमें वृन्दावन, नन्द के गृह और उद्यान तथा वृन्दावन की राज-वीथियों में गोपियों की विलास चेष्टाओं का सरस वर्णन हुआ है। यमुना के मार्ग वाले शिव और सरस्वती के मन्दिर का वर्णन आया है। मार्ग में कदम्ब वृक्ष पर गोपियों के चुराये हुये वस्त्र के लिए कृष्ण का भी चित्र अंकित है। यमुना पार करके वृन्दावन के द्वारों और वीथी के साथ गोवर्धन का भी वर्णन है जिसकी ऊँची चोटी पर चढ़कर भ्रमर से कृष्ण की लीला देखने का आग्रह किया गया है। क्रीड़ा-भूमि में गोपों एवं गोपियों के मध्य कहीं कृष्ण के मिलने पर उपयुक्त अवसर पाकर गोपिका ने भृङ्ग से अपना सन्देश सुनाने का अनुरोध किया है। पहले भृङ्ग से कृष्ण की स्तुति करने का आग्रह है, तब यह सन्देश कहा गया है कि गोपी रमण, एक गोपी ने अपनी विरहावस्था सुनाने के लिये मुझे आपके पास भेजा है। चाँदनी उसके लिये अग्नि के सदृश है, पत्तों की शय्या अंगारों सी पुष्पहार हो रही है। कमल-पत्र बाणों की भाँति चुभते हैं। मदिरा विष के समान और वंशी का स्वर तो उसे मूर्छित कर देता है। हे माधव, उसने यह सन्देश भेजा है कि आप सदा चित्त में रहते हैं। बाह्य जगत में भी प्रकाशित हैं, सभी वस्तुओं में तुम्हारा विलास हो रहा है। सभी प्राणी तुम्हारी माया के वश में हैं। मैंने मर्यादा के बन्धन तो तोड़ दिये हैं, प्रिय वस्तुयें छोड़ दी हैं। एकमात्र प्रार्थना है कि तुम्हारे कमल चरणों को सदा हृदय में धारण किये रहूँ। मैं मनसा वाचा कर्मणा से तुम्हारे ध्यान में लीन रहूँ। यही प्रार्थना है कि कोई अपराध हो तो उसे क्षमा करने की कृपा करें। इतना सन्देश देकर गोपी भृङ्ग को वृन्दावन के पुष्पों में विहार करने तथा कृष्ण की वैजयन्तीमाला में निवास पाने के लिये शुभाशीर्वाद देती है। सन्देश समाप्त होते ही भगवान् कृष्ण

साक्षात् प्रकट हो जाते हैं और उस गोपिका को अपने परमधाम को ले जाते हैं। यह काव्य भी 'मन्दाक्रान्ता' छन्दों में मेघदूत के अनुकरण पर लिखा गया है। इसमें १०६ श्लोक हैं। भाव तथा विचार ही क्या कहीं-कहीं तो मेघदूत की पदावली का प्रभाव भी इसमें स्पष्ट लक्षित होता है।

पदाङ्कदूत—महामहोपाध्याय श्रीकृष्ण सार्वभौम ने विक्रम सं० १७८० में 'पदाङ्क-दूत' नामक सन्देश काव्य की रचना की। बंगाल के दूतकाव्यों में इस छोटे से काव्य का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। कथा इस प्रकार है कि एक विरह-विधुरा गोपिका यमुना तट पर एक कुञ्ज के समीप हो कमल, कुलिश, रथ आदि के चिह्नों से युक्त श्रीकृष्ण का चरणचिह्न देखती है। मेघों का घोर गर्जन सुनकर विरह में उन्मत्त होकर वह कृष्ण के चरणचिह्न को ही दूत बनाकर श्रीकृष्ण के पास मथुरा भेजना चाहती है। सन्देश ले जाने के अभिप्राय से पहले गोपी ने नाना प्रकार से चरणचिह्न की प्रशंसा की फिर यमुना तट से मथुरा तक के मार्ग की मनोज्ञता, सुगन्धित और शीतल वायु द्वारा उसके स्वागत और तब उसकी निर्भीकता तथा सामर्थ्य का सहृदय-तापूर्ण वर्णन है। पैदल जाने में यदि चरण-चिह्न को कष्ट हो तो वह गोपी अपना मन रूपी अश्व देने को प्रस्तुत हो जाती हैं। इस प्रकार चरण-चिह्न को मथुरा जाने का प्रोत्साहन देकर वह गोपी अपनी विरह-व्यथा का भावपूर्ण कथन करती है, फिर कृष्ण से कहने के लिये अपना सन्देश सुनाती है।

सन्देश में कृष्ण को वृन्दावन का स्मरण दिलाकर कुब्जा प्रेम पर उन्हें उपालम्भ दिया गया है। कृष्ण के वियोग से उत्पन्न अपनी मानसिक वेदना सुनकर गोपी तृप्त हो जाती है। कथा की कथावस्तु इतनी ही है। इस दूतकाव्य की रचना 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध के तीसवें अध्याय में आये हुए २४, २५ तथा २६ वें श्लोकों के आधार पर की गई है।

मनोदूत—विक्रम सं० १८१४ में पञ्चनद निवासी तैलंग ब्रजनाथ ने 'मनोदूत' की रचना की। इसकी कथा द्रौपदी के चीर-हरण की घटना पर अवलम्बित है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में यज्ञ-सभा की समृद्धि देकर दुर्योधन को ईर्ष्या होती है। मणियों की आभा से वह भ्रमवश द्वार को भित्ति तथा भित्ति को द्वार समझ लेता है। इसी प्रकार गरुड़ मणियों से जटित स्थल को जल समझकर वह अपने वस्त्र समेटने लगता है, और कमलों से युक्त जल सहित तड़ाग को स्फटिक मणियों से निर्मित-स्थल समझकर पानी में गिर पड़ता है। दुर्योधन की इन भ्रान्तियों को देखकर भीम उसकी हँसी उड़ाता है और द्रौपदी उसे अंधा पुत्र कहती है। तिरस्कृत होकर दुर्योधन घर लौटता है और शकुनि को सब वृत्तान्त सुनाता है शकुनि दुर्योधन को भी एक यज्ञ करने का परामर्श देता है और पाण्डवों के पराभव का उपाय पूछे जाने पर शकुनि कहता है कि धर्मराज युधिष्ठिर कहीं द्यूत-क्रीड़ा के लिये तैयार हो जायें तो वह उनका सर्वस्व हरण कर सकता है। दुर्योधन को द्यूत-सभा में पाण्डवों के निमन्त्रित करने की अनुमति भी धृतराष्ट्र से प्राप्त हो जाती है। विदुर के द्वारा निमन्त्रण

पाकर युधिष्ठिर सपरिवार हस्तिनापुर आ जाते हैं और द्यूत में सारी सम्पत्ति के साथ अपने भाइयों को और द्रौपदी को भी हार जाते हैं। दुर्योधन द्रौपदी को दासी बनाने विचार से द्रौपदी को एक दूत भेजकर बुलवाता है। द्रौपदी के न आने पर दुश्शासन भेजा जाता है जो केश पकड़ कर बलपूर्वक राज-सभा में खींच लाता है। असहाय द्रौपदी श्रीकृष्ण का स्मरण करती है और अपने मन को दूत बनाकर श्रीकृष्ण के पास द्वारिका भेजती है। मन की प्रशंसा करके द्वारिका नगरी का वर्णन किया गया है। वहाँ पहुँचकर मन से कृष्ण को प्रणाम करके अपना सन्देश सुनाने को कहा गया है। दुर्योधन, कर्ण और दुश्शासन जैसे दुष्टों द्वारा पीड़ित अगाध दुःख सागर में पड़ी द्रौपदी प्रार्थना करती है कि संकट के समय हे कृष्ण तुम्ही मेरी रक्षा कर सकते हो।

सन्देश लेकर मन ज्यों ही द्वारिका की ओर चलने लगता है वैसे ही वहाँ श्रीकृष्ण भी चिन्ताकुल हो उठते हैं और द्रौपदी के संकट का ध्यान आते ही अपने गरुड़ पर चढ़कर हस्तिनापुर आ जाते हैं। जब दुश्शासन द्रौपदी के वस्त्र उतारता है तो श्रीकृष्ण अपनी शक्ति से नाना प्रकार के वस्त्रों से द्रौपदी को ढकते जाते हैं। दुश्शासन अन्त में व्याकुल होकर वहीं गिर पड़ता है तथा द्रौपदी के शील की रक्षा हो जाती है। यह सन्देश-काव्य २०२ शिखरिणी छन्दों में मेघदूत के अनुकरण पर ही लिखा गया है। कवि ने इस काव्य का दूसरा नाम 'सहृदय हृदयाह्लादन' रक्खा है। इसकी प्रसाद गुण-युक्त भाषा में बड़ा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वात-दूत—महामहोपाध्याय श्रीकृष्णनाथ भट्टाचार्य न्यायपंचानन ने विक्रम सं० १९२२ में वात-दूत की रचना की। कथा रामायण पर आश्रित है। रावण द्वारा हरण किये जाने के उपरान्त सीता अशोक वाटिका में अत्यन्त व्याकुल और चिन्तित हो उठती है। इसी समय दक्षिण से उत्तर की शीतल वायु प्रवाहित होने लगती है। उसी वायु को दूत बनाकर सीता जी श्रीराम और लक्ष्मण के पास अपना विरह-सन्देश भेजती हैं। मार्ग-वर्णन में अशोक वाटिका से चित्रकूट का वर्णन सागर पार करके विशाल वनों में होकर वायु के ऋष्यमूक पर्वत पर पहुंचने का वर्णन है। इस पर्वत से थोड़ी दूर उत्तर की ओर पम्पा सरोवर, फिर दण्डकारण्य और वहाँ से पूर्व की ओर जन-स्थान के समीप पञ्चवटी के आगे गोदावरी नदी के किनारे पर सीता जी ने अपना आश्रम बताया है और वहाँ श्रीराम के मिल जाने की सम्भावना प्रकट की गई है। उनके स्वरूप का वर्णन करके सम्भावित विरहावस्थाओं का वर्णन किया गया है। आश्रम में श्रीराम के न मिलने पर वायु अन्य कई स्थानों में उनकी खोज करते, उसी स्थल में वन-देवता से वार्तालाप करने और सीता का समाचार देने के उपरान्त जीमूत पर्वत के समीप लक्ष्मण जी सहित घूमते हुए श्रीरामचन्द्र जी के मिलने की आशा की गई है। अपनी विरह-व्यथा का निवेदन करने के उपरान्त वायु से सीता जी ने अपना सन्देश सुनाने की प्रार्थना की है। कुछ सन्देश केवल लक्ष्मण जी के लिये दिया है और कुछ सन्देश दोनों भाइयों की सेवा में भेजा गया है।

वायु को विदा करते समय कुछ प्रत्यभिज्ञान देकर सीता जी ने अपनी मङ्गल कामना प्रकट की है। १०० मन्दाक्रान्ताओं छन्दों वाले इस काव्य में भी मेघदूत से ही प्रेरणा ली गई है। अन्तर इतना ही है कि मेघदूत में नायक की ओर से नायिका को सन्देश प्रेषित किया गया है जबकि 'वात-दूत' में नायिका की ओर से नायक को सन्देश भेजा गया है।

पान्थ-दूत—बंगाल के ब्राह्मण कुलोत्पन्न भोलानाथ नामक किसी आधुनिक कवि ने पान्थदूत की रचना की है। यह काव्य 'श्रीमद्भगवद्गीता' के कृष्ण और गोपी प्रेम के आधार पर लिखा गया है। कोई गोपी यमुना तट पर कृष्ण का स्मरण करके मूर्छित हो जाती है। सेविकाओं के प्रयत्न से जब स्वस्थ और सचेत होती है तब उसे एक पथिक मथुरा की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। गोपियाँ उस पथिक को ही अपना दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजती हैं। पहले तुलसी की माला धारण करने वाले इस शिष्ट सदाचार और दक्ष-पथिक का वर्णन है, फिर एक गोपी पथिक को अपना सन्देश सुनाती है, जब वह सन्देश कहते-कहते मूर्छित हो जाती है तब दूसरी गोपिका अपना सन्देश कहने लगती है। इस सन्देश की समाप्ति पर ही काव्य का उपसंहार होता है।

हनुमद्-दूत—विक्रम सं० १९८५ में लिखा हुआ नित्यानन्द शास्त्री का 'हनुमद्-दूत' सन्देश काव्यों में एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी कथा 'वाल्मीकिरामायण' पर आधारित है। रामचन्द्रजी सुग्रीव आदि के साथ प्रश्रवण गिरि पर ठहरे हुये हैं। सीताजी की खोज के लिये विविध दिशाओं में वानरों के दल भेजे जा रहे हैं। हनुमान जी को विशेष बलयुक्त और दक्ष समझकर श्रीरामचन्द्र अभिज्ञान रूप में अपनी अंगूठी देकर सीता जी के लिये अपना सन्देश भी देते हैं, किन्तु सन्देश से पूर्व लंका तक के मार्ग का वर्णन है। प्रश्रवण गिरि से विन्ध्या पर्वत, नर्मदा और गोदावरी नदी तक मेखल, उत्कल और दशार्ण देशों से होकर वेगवती नदी पार करके अश्ववन्ती नगरी, फिर अवन्तिनगरी का वर्णन है। फिर वहाँ से हनुमान जी को विदर्भ देश, महिष, मत्स्य, कलिंग, कौशिक जाने का परामर्श दिया है। आगे भी अनेक प्रदेश, नदी और पर्वत पार करके महेन्द्र पर्वत के किसी उच्च शिखर पर चढ़कर समुद्र को लांघेंगे और लम्ब नामक पर्वत पर उतर कर लंका पहुंचने का आदेश है। लंका नगरी के बाहर किसी उद्यान में अशोक, मन्दार या शिंशपापा वृक्ष के नीचे सीता जी के मिलने की सम्भावना की गई है। तदुपरान्त राम ने अपना सन्देश सुनाया है। सन्देश लेकर हनुमान जी निर्दिष्ट मार्ग से जाकर सीता जी को राम का सन्देश सुनाते हैं और उनकी अंगूठी भी भेंट करते हैं। लौटते समय सीता जी का सन्देश और चूड़ामणि लेकर श्रीराम के समीप आते हैं। इसके उपरान्त वानरों की सेना लेकर राम लंका पर आक्रमण करते हैं। रावण का वध करके अयोध्या लौट आते हैं।

इस काव्य में मेघदूत के प्रत्येक पद की चतुर्थ पंक्ति को लेकर समस्या की

पूर्ति की गई है। अतः वाल्मीकि रामायण और मेघदूत इन दोनों का प्रभाव इस पर लक्षित होता है। उसी भाँति इसमें मन्दाक्रान्ता छन्द है। इसके पूर्वभाग में ६८ और उत्तर भाग में ५८ श्लोक हैं। प्रथम भाग में मार्ग-वर्णन और द्वितीय भाग में लंका का वर्णन सीता जी की चेष्टायें और अन्त में सन्देश कथन हैं। शृङ्गाररस का पुट सर्वत्र लक्षित होता है।

यद्यपि उपर्युक्त दूतकाव्यों के अतिरिक्त 'अनिलदूतम्' 'काकदूतम्' कीरदूतम्,' 'कृष्णदूतम्' और 'चन्द्रदूतम्' तथा 'अमर सन्देश', 'गरुड़ सन्देश', 'नातक सन्देश' 'चकोर सन्देश' आदि अन्य दूतकाव्य भी संस्कृत में लिखे गये हैं जो विविध पुस्तकालयों एवं व्यक्तियों के पास हस्तलिखित प्रतियों के रूप में विद्यमान हैं, किन्तु प्रधान सन्देश काव्यों की अपेक्षा उनकी रचना शैली तथा परिमाण आदि की दृष्टि से अत्यन्त सीमित और संकुचित होने के कारण यहाँ उन सबका वर्णन करना हमें अभीष्ट नहीं है। सन्देश काव्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रधान काव्यों का विवेचन करना ही हमारा लक्ष्य है जो इस निबन्ध से पूर्ण हो जाता है।

आधुनिक काल में भी कई अच्छे दूतकाव्यों का निर्माण हुआ है, जैसे--

१. भृङ्गसन्देशः (महालिङ्ग शास्त्री)
२. देवदूतम् (सुधाकर शुक्ल)
३. गन्धदूतम् (डॉ० परमानन्द शास्त्री)
४. पत्रदूतम् (डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी)
५. भारतसन्देशः (श्री शिवप्रसाद शास्त्री भारद्वाज)
६. भृङ्गदूतम् (वाशिष्ठ गणपति मुनि)
७. अलकामिलनम् (द्विजेन्द्रनाथ शर्मा पुरकायस्थ)

———

अध्याय

११ संस्कृत गद्य-साहित्य

उद्भव और विकास

भारतीयों की प्राचीन भाषा के दो सुस्पष्ट वर्ग दिखाई देते हैं—एक वैदिक और दूसरा लौकिक। वैदिक भाषा वैदिक साहित्य में—संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और सूत्रों में प्रयुक्त हुई है तथा लौकिक संस्कृत परवर्ती साहित्य में अनुस्यूत है। वैदिक साहित्य में भाषा उत्तरोत्तर विकसित होती दिखाई देती है, पर पाँचवी शताब्दी ईसवी पूर्व पाणिनि ने सदा के लिये उसे सुसंस्कृत बना दिया, अर्थात् व्याकरण के नियमों से उसका संस्कार, परिष्कार एवं संशोधन कर दिया। तब से संस्कृत इन ढाई सहस्र वर्षों में, पाणिनि के नियमों द्वारा ही बराबर नियन्त्रित होती आ रही है। उनके प्रतिकूल बोलना या लिखना अशुद्ध माना जाता है। वैदिक साहित्य जहाँ प्रारम्भ में पद्यात्मक और बाद में गद्यात्मक हो जाता है, वहाँ लौकिक संस्कृत का साहित्य अधिकांश पद्यात्मक है। यहाँ तक कि ज्योतिष, गणित, व्यवहार (कानून), आयुर्वेद जैसे शास्त्रीय विषयों में भी संस्कृत साहित्यकारों ने पद्य का ही आश्रय लिया, चाहे इससे स्पष्टता का भली-भाँति निर्वाह न हुआ हो। गद्य का प्रयोग व्याकरण-ग्रन्थों, भाष्यों, कथाओं, आख्यायिकाओं तथा आंशिक रूप से नाटकों में हुआ है। वस्तुतः गद्यकाव्य की सृष्टि पद्य-काव्य से लोक-कथाओं के माध्यम द्वारा ही हुई है।

संस्कृत साहित्य के विपुल विस्तार को देखते हुये उसमें गद्य का भाग बहुत, ही कम है। लेखकों और पाठकों का रुझान पद्य की ओर ही अधिक रहा है। कण्ठस्थ करने में सुगम होने के कारण पद्य के प्रति यह पक्षपात स्वाभाविक था, विशेषकर उस युग में जबकि अध्ययन-अध्यापन मुख्यतः मौखिक रहा हो। 'रामायण', 'महाभारत' तथा विशाल पुराण-साहित्य प्रायः सर्वांश में पद्य ही में रचे गये। पर शीघ्र ही गद्य ने अपने व्यावहारिक महत्व के कारण, साहित्य में प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया और उसे कवियों की सच्ची कसौटी माना जाने लगा—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" अर्थात् गद्य को कवियों की कसौटी कहते हैं। यह सुप्रसिद्ध वाक्य 'काव्यालङ्कारसूत्र' १/३/२१ पर वामन द्वारा (अपनी) 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में उद्धृत है।

वैदिक-गद्य

संहिता—जर्मन विद्वान् ओल्डेनवर्ग का अनुमान है कि 'ऋग्वेद' के संवादात्मक सूत्रों में बीच-बीच में गद्य की कड़ियाँ रही होंगी, जो समय के प्रवाह में लुप्त हो

गई। प्राचीनतम गद्य 'यजुर्वेद' में ही दृष्टिगोचर होता है। 'यजुर्वेद' के 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दोनों संस्करणों में गद्य प्रयुक्त हुआ है, किन्तु 'शुक्ल' की अपेक्षा 'कृष्ण' में गद्य की गरिमा अधिक लक्षित होती है। 'कृष्ण यजुर्वेद' का गद्यांश ब्राह्मणों की शैली के अनुरूप है। 'यजुर्वेद' की गद्य-स्तुतियों को 'यजुष' की संज्ञा दी जाती है। इन स्तुतियों का गद्य कहीं-कहीं सानुप्रास और कवित्वपूर्ण भी है। 'यजुर्वेद' की एक सुप्रसिद्ध गद्य-स्तुति देखिये—"पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रयाम शरदः शतम्, अदीनाः स्याम शरदः शतम्" (शु० यजु० ३६/२४)। 'अथर्ववेद' के १५वें १६वें काण्डों में भी गद्यांश पाये जाते हैं। वैदिक संहिताओं का यह गद्य मुख्यतः यज्ञसम्बन्धी, आर्ष एवं स्वरयुक्त है।

ब्राह्मण—ब्राह्मण-ग्रन्थों में आकर गद्य आर्यों के याज्ञिक क्रिया-कलापों का समर्थ माध्यम बन चुका था। उसका प्रभाव और प्रयोग बढ़ता गया। वैदिक साहित्य में 'ब्रह्मन्' शब्द 'यज्ञ' के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। अतः ब्रह्मन् अर्थात् यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण ये ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। विशेषता यह है कि सभी ब्राह्मण गद्य में विरचित हैं। कर्मकाण्ड सम्बन्धी विवेचना करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है। यज्ञों के अनुष्ठान की विधियों के साथ-साथ इनमें वैदिक मन्त्रों की पौराणिक एव धार्मिक व्याख्यायें भी दी गई हैं। इनमें ओज-पूर्ण गद्य का प्रयोग भाषा-विषयक ऊहापोह करने तथा परम्परागत आख्यानों का वर्णन करने में किया गया है। स्वभावतः यह गद्य कर्मकाण्ड के प्रभाव से आक्रान्त है। वाक्य-विन्यास और शब्दावली भी बहुत कुछ आर्ष है। ब्राह्मणों के गद्य को भी स्वर-सहित पढ़ने का विधान है। उनकी शैली सरल और शक्तिशाली है, पर शब्दबहुल और अपरिष्कृत भी है। प्रमुख ब्राह्मणों में उल्लेखनीय 'ऐतरेय ब्राह्मण', 'कोषीतकि ब्राह्मण', 'तैत्तिरीय ब्राह्मण', 'ताण्डच ब्राह्मण', 'गोपथ ब्राह्मण' 'शतपथ ब्राह्मण' आदि हैं।

आरण्यक—ब्राह्मणों के पिछले भाग में आरण्यक आते हैं, जिनमें कर्मकाण्ड के स्थान पर यज्ञों के आधिदैविक-स्वरूप को प्रधानता दी गई है तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। ये भी गद्य में विरचित हैं। इनकी भाषा लौकिक संस्कृत के निकट है।

उपनिषद्—ब्राह्मणों का अन्तिम भाग होने से 'उपनिषद्' को वेदान्त भी कहते हैं। उपनिषद् वेदों के ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। उनके सबसे प्राचीन वर्ग में 'एतरेय', 'कौषीतकि', 'बृहदारण्यक', 'तैत्तिरीय' और 'छान्दोग्य' गिने जाते हैं। इन्हें बुद्ध-पूर्व अर्थात् ६०० ई० पू० से पहले का माना जाता है। ये अधिकांश गद्य में हैं और इनकी शैली भी ब्राह्मणों की भाँति अपरिष्कृत है। दूसरे वर्ग में 'ईश, केन, कठ' श्वेताश्वतर, मण्डूक और महानारायण आते हैं, जो कि सब पद्यमय हैं। 'केन' जिसका कुछ अंश गद्यमय है और कुछ पद्यमय, इन दोनों वर्गों के बीच का है। तीसरे वर्ग के 'प्रश्न' 'मैत्रायणी' और 'माण्डूक्य' उपनिषदों की भाषा फिर गद्यमय हो गई है, पर पहले वर्ग के उपनिषदों से परिष्कृत है और प्राचीन लौकिक संस्कृत से अधिक मिलती-

जुलती है। चौथे वर्ग में परकालीन अथर्ववेदीय उपनिषदों की गणना है, जिनमें से कुछ गद्य में हैं और कुछ पद्य में।

उपनिषदों का गद्य स्वस्थ, प्रसन्न (प्रसाद-गुणयुक्त), निराडम्बर और चुहल से भरा होने के कारण अतीव आकर्षक है। जहाँ वैदिक गद्य, यज्ञ याग की काष्ठमयी प्रक्रिया के विस्तार के कारण नीरस है, वहाँ औपनिषद गद्य स्वच्छन्द प्रवाहयुक्त और स्वाभाविक है—उसमें आख्यात रूपों (क्रियापदों) की प्रचुरता है। पदों की पुनरुक्ति है और लम्बे समासों का प्रायः अभाव है।

सूत्र—उत्तर वैदिक काल में गद्यकारों ने एक अनूठी सूत्र शैली का आविष्कार किया, जो एक साथ लघुतम संक्षेप एवं विपुल विस्तार का आश्चर्यजनक उदाहरण है। श्रोत तथा गृह्यसूत्रों से इस गद्य-शैली का प्रयोग आरम्भ हो गया और शीघ्र ही यह लोकप्रिय बन गई। इस शैली में वेदाङ्गों की रचना की गई। संक्षिप्तीकरण के लिए सूत्रों में दीर्घकाय समास रूपी एक नया आश्रय ढूंढ़ लिया गया है जो बाद में लौकिक संस्कृत गद्य का एक सामान्य भूषण बन गया। पाणिनि (५०० ई० पू०) ने भी अपनी 'अष्टाध्यायी' को सूत्रों में पिरोया। सूत्रों की प्रक्रिया का उत्कृष्ट रूप यही है और इसी को हमारे छहों दर्शनकारों ने तथा पाणिनि के बहुत बाद आने वाले वैयाकरणों ने भी अपनाया है। सूत्रों की संक्षिप्तता के कारण उन्हें टीका की सहायता के बिना समझना असम्भवप्रायः होगया है। उदाहरणार्थ, पाणिनि के इस सूत्र में केवल ५ अक्षर हैं—इको यणऽचि—पर जिसके अर्थ में यह विपुल भाव भरा है कि यदि किसी शब्द के अन्त में इक् प्रत्याहार (इ, उ, ऋ और ऌ) हों और उसके बाद में आने वाले शब्द के प्रारम्भ में कोई भी स्वर हो तो इक के स्थान पर क्रमशः यण् (य, व, र और ल) हो जाते हैं।

संस्कृत गद्य के तीन प्रकार—

लौकिक संस्कृत-काल में गद्य प्रायः तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है—पौराणिक, शास्त्रीय और साहित्यिक। पौराणिक गद्य में वैदिक काल के बचे-खुचे आर्ष-प्रयोग रह गये हैं। इस प्रकार का गद्य कहीं-कहीं 'महाभारत', 'श्रीमद्भागवत' तथा 'विष्णु-पुराण' में मिलता है। यह गद्य वैदिक-गद्य और संस्कृत-गद्य को मिलाने वाली कड़ी का काम करता है। शास्त्रीय-गद्य में शाब्दिक सौन्दर्य और बाह्याडम्बर कम रहता है जबकि साहित्य-गद्य में आलंकारिक छटा के साथ काव्य का-सा आनन्द आता है।

शास्त्रीय-गद्य—शास्त्रीय-गद्य शैली का प्राचीनतम उदाहरण तीसरी शताब्दी ई० पू० में रचित पतञ्जलि का 'महाभाष्य' है जिसमें पाणिनि के सूत्रों पर तथा कात्यायन के वार्त्तिकों पर विस्तृत व्याख्यात्मक विवेचन मिलता है। 'पतञ्जलि' के अनुसार व्याकरण भाषा को गढ़ता नहीं, अपितु शिष्यों में प्रचलित भाषा का विवरण करता है। शिष्यों के इसी परिष्कृत-गद्य में 'पतञ्जलि' ने अपने 'महाभाष्य की रचना की है। फलतः उनका गद्य अत्यन्त प्राञ्जल, प्रसर्पी प्रशस्त एवं अभिव्यञ्जनाशील सम्पन्न हुआ है। वाक्य छोटे-छोटे, मोती जैसे विशद एवं सारगर्भित हैं। उसके क्रिया-

पदों की उठ-बैठ देखते ही बनती है और उसके नामिक देश की प्रचलित भाषा से चुने गये हैं। अपने गद्य में 'पतञ्जलि' ने न तो अवांछनीय संक्षिप्त शैली का पल्ला पकड़ा है और न कर्ण मधुर समासों को ही अपनाने का प्रयत्न किया है। उसमें उन्होंने कृत्रिमता का परिहार करके सरलता और मनोज्ञता का अभूतपूर्व समन्वय किया है। इससे व्याकरण-जैसा दुरूह शास्त्र भी रोचक और हृदयग्राही बन गया है। यही पातञ्जल 'महाभाष्य' के स्थायित्व का रहस्य है।

शास्त्रीय गद्य के उदाहरण दर्शन-ग्रन्थों में भी मिलते हैं। षड्दर्शनों पर रचित भाष्यों में जिस दार्शनिक गद्य के दर्शन होते हैं, वह निर्मल, गहन एवं गम्भीर है। मीमांसा सूत्रों पर शबरस्वामी का भाष्य, न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन का भाष्य तथा वेदान्त सूत्रों पर शंकराचार्य का भाष्य दार्शनिक गद्य के विशिष्ट उदाहरण हैं। शङ्कराचार्य के भाष्यों में प्रयुक्त प्रसन्न-गम्भीर गद्य इस नाते आदर्श हैं। उनके वाक्य सारगर्भित, प्रौढ़ और प्राञ्जल हैं तथा शैली विवेचनात्मक, विकसित एवं तर्कप्रवण है। परवर्ती दर्शन ग्रन्थों में, विशेषतः नव्यन्याय की कृतियों में इस तर्कप्रधान शैली की इतनी अति कर दी गई कि लेखक का अभिप्राय ही तर्क-वितर्कों के जटिल जाल में ऐसा उलझ जाता है कि भूषण भी दूषण रूप में, परिणत हो जाता है।

कतिपय शास्त्रीय ग्रन्थों में गद्य-पद्यमयी शैली का आश्रय लिया गया है। इनमें मुख्य विषय का विवेचन तो गद्य में किया जाता है तथा दृष्टान्त या समर्थन के रूप में अथवा सारांश-रूप में पद्यों का प्रयोग कर दिया जाता है। यह शैली चिकित्साशास्त्र और अलंकारशास्त्र के कतिपय ग्रन्थों में तथा व्यवस्थित होकर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में प्रयुक्त हुई है। पर लेखकों को शीघ्र ही यह अनुभव हो गया कि नपे-तुले शब्दों में तथ्य विवेचन के लिये यह शैली हानिकर है। अतः 'न्याय' (व्यवहार) की व्याख्याओं में तथा साहित्यशास्त्र की रचना में लेखकों ने गद्य को ही अधिक अपनाया। इन वैज्ञानिक ग्रन्थों का गद्य सूत्र-शैली से प्रभावित है। इसमें पारिभाषिक शब्दों की प्रचुरता तथा दीर्घ समासों की बहुलता सर्वत्र दीख पड़ती है।

साहित्यिक-गद्य—संस्कृत के साहित्यिक-गद्य अथवा गद्यकाव्य के प्रारम्भिक ग्रन्थ आज लुप्तप्राय हो गये हैं। इस कोटि के गद्य का सर्वप्रथम दर्शन हमें दण्डी, सुबन्धु और बाण की कृतियों में होता है, वह भी अपने परिपुष्ट रूप में। उनके पूर्वाचार्यों के बारे में हमें नहीं के बराबर जानकारी है, पर इतना तो सिद्ध है कि इन गद्याचार्यों से बहुत पहले ही इसप्रकार की काव्य प्रधान गद्य शैली का शताब्दियों तक अभ्यास किया जाता रहा होगा। कात्यायन ने आख्यायिकाओं का बहुवचन में उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने आख्यायिकाओं के उदाहरण में 'वासवदत्ता' सुमनोत्तरा', और 'भैमरथी' का नाम निर्देश किया है। भोज ने अपने 'शृङ्गार-प्रकाश' में 'मनोवती' और 'सातकर्णीहर' नामक रचनाओं की ओर संकेत किया है, जो ईस्वी सन् के प्रारम्भ में लिखी गई होंगी। दण्डी ने भी मनोवती' की प्रशंसा की है। हाल (७८ ईस्वी) के राजकवि श्रीपालित ने 'तरङ्गवती' कथा लिखी। रामिल-सोमिल ने

'शूद्रक-कथा' की रचना की। 'हर्षचरित' में बाण ने 'भट्टार-हरिचन्द्र' के मनोहारी एवं प्रसन्न गद्य की प्रशंसा की है। यद्यपि इन कृतियों और लेखकों के बारे में हमारी विशेष जानकारी नहीं है तथापि इन नामोल्लेखों में इतना तो प्रमाणित हो ही जाता है कि दण्डी, सुबन्धु और बाण के लगभग एक सहस्र वर्ष पहले से गद्य-काव्यों का सर्जन किया जाता रहा होगा। हो सकता है, ये गद्यकाव्य, अन्य उत्कृष्ट गद्य काव्यों की रचना हो जाने के कारण बाद में जनता द्वारा उपेक्षित होकर भुला दिये गये हों।

प्रशस्तियाँ—सरलता और स्वाभाविकता के बाद अलङ्करण और कृत्रिमता का युग आया करता है और पतञ्जलि के बाद भी ऐसा ही हुआ। अब संस्कृत गद्य लेखकों की रुचि अलङ्कार-प्रयोग द्वारा भाषा के सजाव या आडम्बर की ओर अधिक जाने लगी। यों तो अलङ्कारों का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में भी जगह-जगह मिलता है पर उनके विधान में खोज और प्रयास की गन्ध नहीं है, वे तो पक्षियों की भाँति मन्त्रद्रष्टाओं की प्रतिभा के मंच से अनायास ही उतरे हैं, पर पतञ्जलि के गद्य के बाद लेखकों की दृष्टि अलङ्कारों की खोज में रहने लगी, जिसका फल हमें १५० ई० में लिखे हुए महाक्षत्रप रुद्रदामन् के 'गिरनार' वाले शिलालेख में मिलता है। इसके गद्य में दीर्घसमास, अनुप्रास तथा अन्य अलंकार प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। इसमें ऐसे गद्य और पद्य का उल्लेख हुआ है, जो अलंकृत कविसमयों का अनुकरण करने के कारण उदात्त तथा स्पष्ट, लघु, मधुर आकर्षक और रमणीय शब्दों से निर्मित है (स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृत गद्य-पद्य)।

इस प्रकार रचना का प्रौढ़ रूप ३५० ई० के लगभग हरिषेण द्वारा रचित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में मिलता है, प्रयोग के एक स्तम्भ में उत्कीर्ण है। इसमें चन्द्रगुप्त प्रथम की राज्य-विश्रान्ति और समुद्रगुप्त के राज्यारोहण का सुन्दर कलात्मक एवं चमत्कृत वर्णन है। इसमें एक सुदीर्घ समास-बहुल और श्रुतिहारी गद्य-काव्य की मनोज्ञ छटा दर्शनीय है। इस प्रशस्ति में श्लेष का भी एक प्रयोग मिलता है, जो आगे चलकर गद्य काव्यकारों का एक अत्यन्त प्रिय उपकरण बन गया। हरिषेण का यह गद्य-गुच्छ स्पष्ट रूप से आडम्बर-बहुल रचना-शैली का अग्रदूत है जिसका परिष्कृत परिपाक बाण की कृतियों में उपलब्ध होता है।

पतञ्जलि के गद्य में और इन प्रशस्तियों के गद्य में आकाश, पाताल का अन्तर है। कहा जा सकता है कि इस अन्तर का कारण दोनों के विषय का मौलिक भेद है, किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ पतञ्जलि के गद्य में आख्यात अभीष्ट संख्या में उपलब्ध होते हैं, वहाँ प्रशस्तियों के गद्य में वे प्रायः चल बसे हैं और उनका स्थान नामिका शैली ने अपना लिया है। विभक्तियाँ ढूंढ़ने पर मिलती हैं, क्योंकि अब उनका काम लम्बे-लम्बे समास देने लगे हैं। देवता द्वन्द्व और बहुव्रीहि तो ऋग्वेद में भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं किन्तु देवता द्वन्द्वों के रूप में और शब्दों के बहुव्रीहि रूप में ही। इसके विपरीय प्रशस्तियों के गद्य में दस शब्दों को एक ही द्वन्द्व में टांग दिया जाता है और बहुव्रीहि समास में तो मनमाने शब्द-व्रीहि भर दिये जाते हैं।

कथा और आख्यायिका—

दण्डी, सुबन्धु और बाण से बहुत पहले भी गद्य-काव्यों का अनुशीलन किया जाता था, इसका एक प्रमाण यह भी है कि उनसे पूर्व ही 'कथा' और 'आख्यायिका' के नाम से गद्य-काव्य का भेद किया जाने किया था। उनके विशिष्ट लक्षण निर्धारित हो चुके थे और कथाकारों से इनके पालन करने को आशा की जाती थी। 'आख्यायिका' ऐतिहासिक आधार पर होनी चाहिये, पर 'कथा' कल्पना-प्रसूत होती है[1], जैसा कि 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के उदाहरण से ज्ञात होता है।

गद्य-काव्यों के इन दोनों वर्गों के विषय में, दण्डी और बाण के समय में कई मतभेद उठ खड़े हुए थे। दण्डी के अनुसार 'आख्यायिका' का वक्ता स्वयं नायक होता है, कथा का नायक कोई अन्य होता है। किन्तु यह नियम सर्वत्र घटित नहीं हुआ है। फिर वक्ता-रूप में स्वयं नायक हो अथवा अन्य कोई व्यक्ति, इसमें विशेष अन्तर नहीं है, इसलिये यह भेद अनावश्यक है। कुछ विद्वानों का मत था कि 'आख्यायिका' में वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग किया जाता है और उसमें कथांश उच्छ्वासों में बंटा रहता है। यद्यपि दण्डी ने प्रसंगवश कथा में भी इन लक्षणों का होना लिखा है और इस भेद को अस्वीकार किया है, तथापि बाण के 'हर्षचरित' में यह लक्षण अवश्य घटित होता है। दण्डी के मत में तो 'कथा' और 'आख्यायिका' में केवल नाम ही का भेद है दोनों की जाति एक है पर बाण ने हर्षचरित' की आख्यायिका और 'कादम्बरी' को कथा माना है। हर्षचरित' के आरम्भ में उन्होंने कहा है कि मैं इस आख्यायिका-रूपी समुद्र में चपलतावश जिह्वा का चप्पू चला रहा हूँ (करोम्याख्यायिकाम्बोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्)। 'कादम्बरी' की भूमिका में बाण ने उसे 'वासवदत्ता' और 'बृहत्कथा' इन दोनों को मात कर देने वाली कथा कहा है और वैसा ही प्रमाणित भी कर दिया है।

दण्डी—दण्डी (६०० ई०) दक्षिण भारत के निवासी थे। उन्होंने 'काव्यादर्श' नामक अलंकार-ग्रन्थ के अतिरिक्त दो गद्य-काव्य लिखे—'अवन्तिसुन्दरी-कथा' और 'दशकुमारचरित'। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' तो अपूर्ण है और उसे दण्डी की ही कृति मानने में विद्वानों में एकमत्य भी नहीं है। 'दशकुमारचरित' को भी कहते हैं, दण्डी ने आदि-अन्त लिखे बिना ही अधूरा छोड़ दिया था। बाद में लेखकों ने उसमें पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका जोड़कर उसे समग्र रूप दिया।

'दशकुमारचरित' में दस राजकुमारों के पर्यटनों और दुस्साहसों का हृदयग्राही वर्णन है। संस्कृत के गद्य-साहित्य में यह एक अनूठी रचना है। वह यथार्थवादी और रूढ़ि विरोधी है। दण्डी ने अपनी कृति में उस परम्परा का उल्लंघन किया है, जिसके अनुसार गद्यकाव्य में भी किसी उदात्त विषय का प्रतिपादन होना चाहिये और

---

१. (क) आख्यायिकोपलब्धार्था, । अमरकोष ।१/५/५
(ख) प्रबन्धकल्पना कथा । उक्त १/५/६

उसका नायक भी शालीन, धीर एवं लोकातीत गुणों से सम्पन्न होना चाहिये। 'दशकुमारचरित' के नायक इष्टसिद्धि के लिये उचित अनुचित साधनों में कोई अन्तर नहीं रखते। वे एक ऐसे समाज में विचरण करते हैं, जहाँ मान, मद, मोह और मत्सर का बोल-बाला है तथा छल, कपट, हिंसा, पर-स्त्री गमन और अवैध प्रेम का निस्संकोच आश्रय लिया जाता है। पाखण्डी, साधु, चतुर-जादूगर कामान्ध, रसिक, हृदयहीन वेश्यायें, धूर्त कुट्टनियाँ और कंजूस सेठ अपने अद्भुत व्यापारों से समस्त कृति को अतिशय सजीव और मनोरंजक बना देते हैं।

अपने सजीव कथानक के अनुरूप ही दण्डी ने चलती भाषा का व्यवहार किया है। उनका गद्य प्रासंगिक, नित्य के व्यवहार के योग्य चुस्त और प्रवाहपूर्ण है। वह न श्लेष के बोझ से बोझिल है, न समासों के प्रहार से प्रताड़ित है और न अलङ्कार-बाहुल्य से आक्रान्त। सहज भावाभिव्यक्ति—अर्थ की स्पष्टता—उनके गद्य की आत्मा है। उनका पद-लालित्य दर्शनीय है (दण्डिनः पदलालित्यं)। उनकी शब्द-योजना में रस छलका पड़ता है। हास्य वाक्पटुता एवं सूझ की चटकीली उर्वरता स्थल-स्थल पर दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपने कथानकों को इस प्रकार क्रमबद्ध किया है कि वे सर्वथा सुसंगठित होकर खिल उठे हैं। भाषा-वैभव का प्रदर्शन उन्होंने न किया हो, ऐसी बात नहीं, पर साहित्य अलंकरण में कहीं-कहीं फंस जाने पर भी दुरूह और अरुचिकर नहीं है। सुललित एवं सुलभ गद्य लिखने में दण्डी निष्णात हैं और उनकी कृति, कला से चमत्कृत सामाजिक कुरीतियों के विवरण से सम्पन्न एक महान् प्रौढ़ और रसपेशल-रचना के रूप में सम्पन्न हुए है।

सुबन्धु—गद्य-काव्यों के अलङ्कारों से बोझिल तथा शब्दाडम्बरों से चित्र-विचित्र बनाने की प्रवृत्ति, जिससे दण्डी अपने को बहुत कुछ मुक्त रख सके, उनके बाद बढ़ती गई। अलङ्कारशास्त्रियों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि गद्य-काव्य का उत्कर्ष शब्द-विन्यास के सौष्ठव, वर्णन की प्ररोचना, अलङ्कारों की सुभगता, दीर्घ एवं समस्त पदों की प्रयोग-चातुरी, विचार एवं ध्वनि तथा ध्वन्य के साटोप स्वनन और अवपतन में निगूढ़ है। इस कोटि के गद्य-काव्य की छटा, अपने उच्चतम उद्रेक में, सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में मिलती है। उसमें इस कला का चूड़ान्त निदर्शन है।

'वासवदत्ता' में राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता की प्रणय-कथा का वर्णन है। कथानक अत्यन्त लघु है, पर प्रकृति-वर्णन सौन्दर्य-चित्रण तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन द्वारा उसका विपुल विस्तार किया गया है, जिससे कथा-प्रवाह में बाधा सी पहुँची है। 'वासवदत्ता' एक श्लेष बहुल रचना है, उसके रचयिता का दावा है कि उसके काव्य के प्रत्येक अक्षर में श्लेष है (प्रत्यक्षरश्लेषमयपञ्चविन्यास वैदग्धनिधि प्रबन्धम्)। पौराणिक संकेतों से युक्त श्लेषों का उन्होंने एक सघन जंगल खड़ा कर दिया है, जिसमें रास्ता ढूंढ पाना पाठक के लिये एक श्रमसाध्य मानसिक व्यायाम हो जाता है। जैसे, 'नन्दगोप इव यशोदान्वितः' जरासन्ध इव घटितसन्धि-विग्रहः' अर्थात् यशोदा से युक्त नन्दगोप के समान यह यश और दया से युक्त थे, जरा

"हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्योऽपि पदक्रमः ।
भवेत्कविकुरंगाणां चापलं तत्र कारणम् ॥"

बाण की सर्वव्यापिनी प्रतिभा को लक्ष्य में रखकर ही 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' कहा जाता है । सत्य भी है ।

श्री चन्द्रदेव कहते हैं कि कुछ लोग श्लेष में, कुछ शब्दों के उपयुक्त गुम्फन में, कुछ रसाभिव्यक्ति में, कुछ अलङ्कार, अर्थव्यक्ति अथवा वर्णन में कुशल होते हैं, किन्तु बाण तो सभी प्रकार की कविता की विन्ध्याटवी में कवि कुञ्जरों के गण्डस्थल को विदीर्ण करने वाले सिंह हैं—

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरेऽ-
लङ्कारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने ।
आः सर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवी चातुरी-
संचारीकविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पंचाननः ॥

बाणभट्ट के पश्चात् भी गद्य-काव्य लिखे जाते रहे । उनमें प्रायः बाण की कृतियों का ही अनुकरण है । इनके कुछ गद्यकार ये है—

धनपाल (१००० ई० के लगभग)

बाणभट्ट के बाद की चार शताब्दियों में किन्हीं अज्ञात कारणों से, किसी गद्यकाव्य का प्रणयन नहीं हो सका । इस बीच जो गद्य लिखा गया वह शास्त्रीय ग्रन्थों में ही देखा जा सकता है । इसमें से कुछ दार्शनिकों जैसे शंकर और जयन्तभट्ट के गद्य शास्त्रीय गद्य की सामान्य परम्परा से कुछ हटकर साहित्यिक सीमा का स्पर्श अवश्य करते हैं, किन्तु उन्हें काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती । ऐसी स्थिति में बाण की 'कादम्बरी' को आदर्श मानकर, उसके ही समान टकसाली गद्य लिखने का साहस करके जिस व्यक्ति ने गद्यकाव्य के क्षेत्र में पदार्पण कर उसकी परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया, उसे निश्चय ही कोई महान् कवि होना चाहिए । इस बात का श्रेय मिलता है महाकवि धनपाल को जिसकी महान् रचना 'तिलकमञ्जरी' गद्यकाव्य के क्षेत्र में 'कादम्बरी' के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण मानी जाती है ।

धनपाल अन्य संस्कृत कवियों के समान अपने सम्बन्ध में मौन नहीं है । उसने 'तिलकमञ्जरी' के प्रारम्भ में जो कुछ कहा है और जिसकी पुष्टि 'प्रभावकचरित' आदि जैन-ग्रन्थों से भी होती है, उसके अनुसार वह उज्जयिनी वासी ब्राह्मण सर्वदेव का ज्येष्ठ पुत्र था । उसके भाई का नाम शोभन था, जिसने कुछ कारणों से बाद में जैनमुनि वर्धमान सूरि (श्वेताम्बर) के प्रभाव में आकर जैन दीक्षा ले ली थी । बाद में धनपाल ने स्वयं भी अपने भाई शोभन मुनि के उपदेश से प्रभावित हो जैन दीक्षा स्वीकार ली थी । इतना होने पर भी धनपाल को अपने विद्वत्व पर अधिक गर्व

दिखलाई पड़ता है, जैसा कि 'तिलकमञ्जरी' के श्लोक (तज्जन्मा[1] .....') से विदित होता है। 'तिलकमञ्जरी' के इसी श्लोक और 'प्रभावकचरित' से यह भी ज्ञात होता है कि वह धारा नरेश भोज का सभाकवि था और वह समय-समय पर जैनधर्म के सिद्धान्तों के उपदेश से राजा को प्रभावित करने का प्रयास भी करता रहता था। उसने कई बार राजा को अपने उपदेशों के प्रभाव से ही पशुओं के आखेट से विरत किया था। 'तिलकमञ्जरी' का उक्त पद्य यह भी सूचित करता है कि धनपाल धारा के दरबार में भोज से पहले मुञ्ज के समय से ही था। और 'मुञ्ज' ने उसे 'सरस्वती' की उपाधि से सम्मानित किया था। इससे यह प्रतीत होता है कि वह मुञ्ज के दरबार में ९८० के आस-पास आया होगा और भोज के शासनारूढ होने के कुछ दिन बाद तक धारा में रहा होगा। इससे उसका रचनाकाल १०वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से ११वीं शती के प्रथम चरण तक सिद्ध होता है। अब यदि यह मान लिया जाये कि वह पच्चीस वर्ष की अवस्था में मुञ्ज के दरबार में गया होगा तो उसका जन्म ९५० ई० के आस-पास हुआ होगा, ऐसा माना जा सकता है।

रचनाएं—धनपाल के मुख्य ग्रन्थ ये हैं :—

(१) पाइअलच्छी नाममाला—यह प्राकृत का एक लघुकाय कोश है। इसमें प्राकृत के सामान्य शब्दों के साथ देशज शब्दों का भी संकलन किया गया है। इसका रचनाकाल ९७२–७३ है। कुछ लोगों की दृष्टि में 'नाममाला' अलग पुस्तक है।

(२) ऋषभपञ्चाशिका—यह प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की भव्य स्तुति है। इसमें पचास पद्य हैं। इसकी भाषा प्राकृत है। इसकी रचना जैनधर्म में दीक्षित होने के बाद की गई होगी।

(३) तिलकमञ्जरी—यह 'कादम्बरी' के ढंग का कथात्मक गद्यकाव्य है और धनपाल की अक्षय कीर्ति का एकमात्र आधार थी। इसकी कथा के ढाँचे और वर्णन शैली को देखने पर विदित होता है कि इसकी रचना 'कादम्बरी' को ही आदर्श मानकर की गई है। फलतः 'कादम्बरी' के समस्त दोष और गुण भी इसमें उसी मात्रा में आ गए हैं। वर्णनों की विकट अटवी, श्लेष और परिसंख्या आदि अलङ्कारों की भरमार तथा शृंखलाबद्ध शैली आदि सब कुछ बाण जैसा ही है। किन्तु 'कादम्बरी' की अपेक्षा इसमें चित्र, संगीत और ज्योतिषशास्त्र आदि से सम्बद्ध सामग्री अधिक मिलती है, जिससे इस बात का आभास होता है कि कवि गम्भीर शास्त्रीय व्युत्पत्ति का धनी था। किन्तु स्थान-स्थान पर शास्त्रीय विवरणों की

---

१. तज्जन्मा जनकाङ्घ्रिपङ्कजरजः सेवाप्त विद्यालवो,
विप्रः श्रीधनपाल इत्यविशदामेतामवध्नात् कथाम्।
अक्षुण्णोऽपि विविक्तसूक्तिरचने यः सर्वविद्याब्धिना,
श्रीमुञ्जेन सरस्वतीति सदसि क्षोणीभृता व्याहृतः॥
(तिलकमञ्जरी, प्रास्ताविक पद्य)

अधिकता के कारण कथाप्रवाह में बाधा पड़ी है, जिसके कारण यह 'कादम्बरी' की तुलना में अधिक नीरस और अलोकप्रिय हो गई। इसके अधिक प्रचार न पाने का यही कारण है।

इसकी रचना महाराज भोज की जैनधर्म सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए गई थी—फलतः इसमें नायक समरकेतु और नायिका तिलकमञ्जरी की प्रणयकथा रूप कथानक के होते हुए भी बीच-बीच में जैनधर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का समावेश किया गया है, इससे कभी-कभी इसके धर्मग्रन्थ होने का भ्रम लगता है। यह धनपाल की वृद्धावस्था की रचना है।

'तिलकमञ्जरी' के बाद ग्रन्थों पर, विशेषकर जैन-ग्रन्थों पर धनपाल का बड़ा प्रभाव पड़ा है, और उन्होंने धनपाल की प्रशंसा की है। सोमेश्वर कहता है—

वचनं धनपालस्य चन्दनं मलयस्य च।
सरसं हृदि विन्यस्य कोऽभून्नाम न निर्वृतः॥

अर्थात् जिस प्रकार सरस (गीले) मलय चन्दन का हृदय पर लेप करने पर व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है, उसी प्रकार धनपाल के सरस वचनों को सुनकर अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति होती है।

धनपाल की 'तिलकमञ्जरी' में कालिदास जैसे कवियों के रसिक पाठक को तो उपर्युक्त रसानुभूति नहीं ही हो सकती, किन्तु गाढबन्धात्मक वाक्यों के पाठक को उसमें अवश्य ही अपने लिए बहुत कुछ मिलेगा। वैसे कुछ स्थलों को छोड़कर 'तिलकमञ्जरी' का गद्य आकर्षक और व्यावहारिक है। एतदर्थ नीचे दो अवतरण दिए जा रहे हैं—

(१) 'यथा न धर्मः सीदति, यथा न राजलक्ष्मीरुन्मनायते, यथा न कीर्तिर्मन्दायते, यथा न प्रतापो निर्वाति, यथा न गुणाः श्यामायन्ते, यथा न श्रुतमुपहस्यते, यथा न परिजनो विरज्यते, यथा न मित्रवर्गो ग्लायति, यथा न शत्रवस्तरलायन्तें तथा सर्वमन्वतिष्ठत्।' यह धनपाल की व्यावहारिक और सरल भाषा का सुन्दर उदाहरण है। इसकी गाढबन्ध वाली शैली का उदाहरण यह है—

(२) 'अस्ति रम्यता निरस्तसर्वलोका, स्वपदापहारशङ्कितशतक्रतुप्रार्थितेन शततमक्रतुवाञ्छाविच्छेदार्थमिव पार्थिवानामिक्ष्वाकूणामुत्पादिता प्रजापतिना, वृत्तोज्ज्वलवर्णशालिनी कर्णिकेवाम्भोरुहस्य, मध्यभागमलंकृत्य स्थिता भारतवर्षस्य, तुषारधवलवृत्तिना विशालवप्रेण परिगता प्राकारेण,·····मनोस्थानामपि दुर्विलङ्घेन प्लवमानकरिमकरकुम्भीरभीषणोर्मिणा·····महता खातवलयेन वेष्टिता·····अयोध्येति यथार्थाभिधाना नगरी।' (पृ० १–३)।

'तिलकमञ्जरी' के सम्बन्ध में उसके सांस्कृतिक स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान प्रस्तुत करने वाले डॉ० जी० पी० यादव ने अपने शोधप्रबन्ध 'Dhanpal and His Times' में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किया है—

Tilakamanjari is one of the important works in Sainskrita

prose-romance and sheds valuable ligh. on the contemporary social, religious economic and political conditions of the time. It contains vivid descriptions regarding habitation of cow-herds and the stir caused in a village by an army on the march. It graphically describes a naval expedition to Dvipantara and gives interesting information about Indian shipping and trade in south East India. (p.p. 19–20)

वादीभसिंह (९००० ई० के आसपास)

इनका वास्तविक नाम ओडयदेव था किन्तु वादी रूप हाथियों (इभ) के लिए सिंह सदृश भयङ्कर होने के कारण वादीभसिंह के रूप में प्रख्यात थे। ये जैनधर्मावलम्बी थे। इनके ग्रन्थ का नाम 'गद्यचिन्तामणि' है। इसमें सत्यधर और उनके पुत्र जीवन्धर की कहानी है जो गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' से ली गई है।

समस्त ग्रन्थ ११ लम्बकों में पूरा हुआ है। इसकी शैली पर बाण का विशिष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए सत्यधर चतुःपृष्ठात्मक वर्णन को लिया जा सकता है। बीच-बीच में जैनधर्मीय सिद्धान्तों को आवश्यकता से अधिक स्थान देने के कारण कथा-प्रवाह बाधित हुआ है और ग्रन्थ की कलात्मका दब गई है।

सोड्ढल (ग्यारहवीं शती)

ये कोंकण के राजा चित्तराज के आश्रित और गुजरात के कायस्थ थ। इनका रचनाकाल १०२५–५० के बीच माना जाता है। इनकी कृति का नाम 'उदयसुन्दरी-कथा' है।

इसमें आठ उच्छ्वास हैं। इसमें नायिका उदय सुन्दरी और नायक मलयवाहन की प्रणयकथा का अंकन सरस और मधुर गद्य में किया गया है। यद्यपि इसमें गद्यकाव्य के सभी उपकरणों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है, फिर भी कादम्बरी की गाढबन्धता और सरसता नहीं आ सकी है।

भट्टबाण (१५वीं शती) प्रतीत होता है कि इस कवि का नाम पहले कुछ और रहा होगा और बाद में बाणभट्ट जैसा गद्य लिखने के कारण उसी के नाम को उलटा कर इसका नाम रख दिया गया। अब यह इसी नाम स प्रसिद्ध है। इसकी कृति का नाम 'वेमभूपालचरित' है, जो कि 'हर्षचरित' जैसा आख्यान रूप गद्यकाव्य है। इसमें दक्षिण के रेडडी राजा वेमभूपाल का चरित्र अंकित किया गया है।

इस पर 'हर्षचरित' का आवश्यकता से अधिक प्रभाव पाया जाता है, जिसके कारण यह बहुत अरुचिकर लगता है।

विश्वेश्वर पाण्डेय

यद्यपि बाणभट्ट के गद्यकाव्यद्वय के रूप में संस्कृत-गद्य ने अपना चूड़ान्त उत्कर्ष

प्राप्त कर लिया था और उनके बाद की शताब्दियों में फिर वैसा सुन्दर और प्रौढ गद्य दृष्टिगत नहीं हुआ, जिस भी कवि ने उसका अनुसरण करने का प्रयास किया, वह असफल हुआ, क्योंकि बाणभट्ट की विकट कविता-विन्ध्याटवी के मार्ग पर चलना सबके बस की बात नहीं थी। ऐसी स्थिति में भी जिन कुछ कवियों ने साहस दिखाया और गद्यकाव्य की स्रोतस्विनी को प्रवहमान रखा उनमें 'मन्दारमञ्जरी' के रचयिता विश्वेश्वर पाण्डेय का नाम सादर उल्लेखनीय है।

व्यक्तित्व एवं कृतित्व—विश्वेश्वर पाण्डेय का जन्म १७८० में अलमोड़ा जनपद के एक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० लक्ष्मीधर पाण्डेय था। इन्होंने अपने पिता तथा तत्कालीन अन्य विद्वान् गुरुओं से व्याकरण, तर्कशास्त्र, मीमांसा, ज्योतिष और काव्यशास्त्र आदि विषयों का गम्भीर अध्ययन किया, जिनका प्रतिफलन इनकी रचनाओं में पदे पदे दृष्टिगत होता है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के काव्यों के अतिरिक्त अनेक शास्त्रीय रचनायें भी लिखीं। ये प्राचीन परम्परा के अन्तिम काव्याचार्य थे। इनके 'अलङ्कार कौस्तुभ' में 'अलङ्कारतत्व' अपने समस्त वैभव, पाण्डित्य और विस्तार के साथ मूर्तिमान् हो उठा है। विद्यमान 'अष्टाध्यायी' पर सूत्रक्रम से लिखी गई और काशी से प्रकाशित विपुलकाय व्याख्या वैयाकरण सिद्धान्तसुधानिधि' इनके प्रचण्ड वैयाकरणत्व को सिद्ध कर रही है। इनके अतिरिक्त भी उसके अन्य कुछ ग्रन्थ ये हैं—

(१) अलङ्कारमुक्तावली, (२) अलङ्कारप्रदीप, (३) रसचन्द्रिका, (४) कवीन्द्र-कर्णभरण, (५) आर्यासप्तशती, (६) रोमावली शतकम्, (७) वक्षोज शतकम्, (८) मन्दारमञ्जरी।

ग्रन्थों को देखने से ही स्पष्ट है कि विश्वेश्वर के व्यक्तित्व में पाण्डित्य और कवित्व का दुर्लभ मणिकाञ्चन योग था। इस दृष्टि से वे पण्डितराज जगन्नाथ के समान दिखाई देते हैं, इस अन्तर के साथ कि पण्डितराज के व्यक्तित्व में जहाँ दोनों समकक्ष थे, वहाँ विश्वेश्वर में पाण्डित्य कुछ अधिक ही उभरा हुआ है। इस तथ्य की पुष्टि उनके काव्यों और शास्त्रीय ग्रन्थों दोनों से होती है।

मन्दारमञ्जरी—उपर्युक्त ग्रन्थों में अन्तिम चार काव्यग्रन्थ हैं जिनमें 'मन्दारमञ्जरी', 'कादम्बरी' की शैली में लिखा हुआ कथात्मक गद्यकाव्य है। विश्वेश्वर के काव्यवैभव का सर्वाधिक सूचक ग्रन्थ है, इसलिए सम्प्रति इसी पर कुछ विशेष विचार किया जा रहा है।

'मन्दारमञ्जरी' अपने वर्तमान रूप में दो भागों में उपलब्ध होती है, जिनमें से केवल प्रथम भाग की रचना विश्वेश्वर ने की है और वही अब तक प्रकाशित भी है। उनके किसी शिष्य ने द्वितीय भाग की रचना कर ग्रन्थ को पूर्ण करने का प्रयास किया है। यह भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है।

'मन्दारमञ्जरी' का आदर्श बाणभट्ट की 'कादम्बरी' रही है, इसीलिए उसके सामान्य ढाँचे से लेकर उसके काव्य, वर्णन, शैली, भावपक्ष और कलापक्ष सबमें

कादम्बरी का प्रभाव दृष्टिगत होता है। कवि ने प्राणपण से यह प्रयास किया है कि उसकी रचना 'कादम्बरी' जैसी हो जाए, और अपने इस महान् उद्देश्य के लिए कवि ने अपने समस्त पाण्डित्य और काव्य वैभव का प्रयोग किया है। किन्तु इसी प्रयास में 'मन्दारमञ्जरी', 'कादम्बरी' में विद्यमान दोषों से और अधिक आक्रान्त हो गई है। और जिन गुणों ने कादम्बरी को लोगों का हृदयहार बना दिया है, उनसे वह सर्वथा रहित हो गई है। उदाहरण के लिए—'मन्दारमञ्जरी' की कथा 'कादम्बरी' की कथा से भी अधिक उलझी हुई है, उसकी मुख्य कथा—राजकुमार चित्रभानु और विद्याधर कुमारी मन्दारमञ्जरी की प्रणयकथा—अनेकानेक गौण कथाओं के साथ इस प्रकार उलझ गई है कि जब तक ग्रन्थ को पूरा न पढ़ लिया जाए, उसका सूत्र हाथ में नहीं आ पाता। इसके साथ उसमें अस्वाभाविकता भी आ गई है। कवि का ध्यान बाण के दोषों की ओर अधिक और गुणों की ओर कम था—इसके कारण भाषा लम्बे-लम्बे समासों वाली और जटिल किम्वा दुरूह शब्दों वाली शैली से बोझिल हो गई है। वर्णनों में अस्वाभाविकता की भरमार है और पाण्डित्य का आतङ्क इतना अधिक है कि ग्रन्थ के बहुत ही कम पृष्ठ ऐसे हैं, जिन्हें बिना टीका की सहायता से समझा जा सके। श्लेष, परिसंख्या और विरोधाभास जैसे—अलङ्कारों से सारा ग्रन्थ अटा पड़ा है। कुछ वर्णन अवश्य ही सुन्दर और सरस बन पड़े हैं, जैसे—कुमार शिक्षण, तपोवन और बिन्दुसरोवर का वर्णन है। और उन्हीं वर्णनों में ही 'मन्दारमञ्जरी' की समस्त काव्यात्मकता समाविष्ट है। 'मन्दारमञ्जरी' की शैली के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) 'हरलीलेव किराताश्रिता, रात्रिरिव प्राग्ज्योतिषोल्लसिता, ममुक्षुरिवाश्रितकाशिः, नर्मदेव मेकलाश्रिता, युवतिदृगिव साञ्जना·····प्राची दिग्।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने श्लेषोपमा के द्वारा प्राची दिशा का वर्णन किया है। वह (प्राची दिशा) भगवान् शङ्कर की लीला के समान किरातों पर आश्रित थी (किरात = (१) हरलीलापक्ष में—भील (२) प्राची पक्ष में—कड़वी औषधि विशेष), रात्रि के समान प्रागज्योतिषालंकृत थी रात्रि पूर्वदिशा (प्राक्) में स्थित प्रकाश (ज्योतिष) से अलंकृत होती है और पूर्वदिशा प्रागज्योतिष (कामरूप-असम) नामक प्रदेश से सुशोभित थी), मोक्ष चाहने वाले के समान काशी नगरी का आश्रय लिये हुए थी (मुमुक्षु मोक्ष की कामना से काशी (वाराणसी) का आश्रय लेता है और पूर्वदिशा में काशी भौगोलिक दृष्टि से स्वयमेव स्थित है), नर्मदा के समान मेकल के आश्रित है (नर्मदा नदी मेकल (अमरकंटक) पर्वत से निकलने के कारण उस पर आश्रित है, जबकि पूर्वदिशा मेकल से युक्त है), युवति की दृष्टि के समान अञ्जनयुक्त थी (युवति दृष्टि अञ्जन (काजल) से युक्त होती है जबकि यह पूर्वदिशा अञ्जन पर्वत से युक्त थी)।

निम्नलिखित पंक्तियों में परिसंख्या अलङ्कार का प्रयोग करते हुए शासन के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है—'याञ्चानिरासो मानिनीषु न दातृषु, अरक्षणमाक्षण-

मश्वमेधविधिषु रतप्रयोगेषु च न सद्गोष्ठीषु, द्विजपरीक्षणं लक्षणविचारेषु न दानेषु, श्रुतिलङ्घनं वधूनां कटाक्षेषु न जनेषु समभवन्, अर्थात् (उस राजा के शासन में) मानिनी स्त्रियाँ ही प्रेमियों की प्रणय-योचना को ठुकराती थी, कोई दाता याचक की धनयाचना को नहीं ठुकराता था, अश्लील वचनों का प्रयोग केवल अश्वमेध यज्ञों और संभोग के अवसर पर ही होता था सज्जनों की गोष्ठियों में नहीं, जिन क्रियाओं में गुणों पर विचार होता था केवल उन्हीं में ब्राह्मणों की परीक्षा होती थी न कि दान में (क्योंकि उसमें सबको अधिकार है), केवल स्त्रियों के कटाक्षों में ही श्रुतिलंघन आँख के कोरों का कर्णसीमा का स्पर्श करना या उसका अतिक्रमण कर जाना) पाया जाता था, लोग श्रुति अर्थात् वेद का अतिक्रमण नहीं करते थे ।

सन्ध्याकाल में तारों के उद्भव और पूर्वदिशा में तिमिरलेखा के छा जाने का यह कवित्वपूर्ण वर्णन कवि की स्निग्ध और सरल-सरस शैली में द्रष्टव्य है—

'दिनकरकराभितप्ताया दिवः स्वेदविन्दव इव तारकाः प्रादुरभवन्, पुरुहूत विरहसाहनायाः पुलोमजाया वेदनानिवेदनार्था तमालदलपत्रिकेव धनसार स्वरस लिखिताक्षरप्राया पूर्वस्यां ककुभि प्रादुर्बभूव तारकादन्तुरान्तरा तिमिरलेखा ।

स्पष्ट है, कवि में कवि सुलभ कमनीय कल्पनाओं, वर्णनसामर्थ्य और भाषा पर असाधारण अधिकार की कमी नहीं है, किन्तु उसमें बाण जैसी स्निग्धता, सरसता और संवेदनशीलता नहीं है ।

आधुनिक काल तक आते-आते जब संस्कृत साहित्य पुनः पूर्ववत् प्रवहमान स्रोतस्विनी प्रायः शुष्क हो चली थी और उसके पुनः पूर्ववत् प्रवहमान होने की सम्भावना पूर्णतया क्षीण हो गई थी, उस समय 'अवतीर्ण जिस एक महाकवि के प्रतिभ प्रवाह ने उसे इस सीमा तक भर दिया किया वह एक नई आभा और शक्ति के साथ पुनः गतिशील हो उसी, संस्कृत साहित्य में आधुनिक बाणभट्ट के नाम से प्रसिद्ध उस पं० अम्बिकादत्तव्यास को कौन आधुनिक संस्कृतज्ञ नहीं जानता । पं० व्यास ने संस्कृत के आधुनिक साहित्य को एक नई गति और जीवन दिया, उसकी जड़ता को तोडकर उसे इस योग्य बनाया कि वह अन्य साहित्यों के समान जनभावना का अनुगमन करते हुए जीवन्त बना रहे ।

व्यास जी का जन्म चैत्र शुक्ला अष्टमी वि० सं० १९१५ को जयपुर में हुआ था । इनके पिता का माम दुर्गादत्त था, जो अपने समय के अच्छे कवि और विद्वान् थे । अम्बिकादत्त जी उनके दूसरे पुत्र थे । पुत्र का नाम अम्बिकादत्त रखा गया । क्योंकि उसका जन्म नवरात्र की अष्टमी को हुआ था और नवरात्र की नवों तिथियों में दुर्गा का पूजन होता है, अतः उसका (दुर्गा=अम्बिका के द्वारा प्रदत्त होने के कारण) उक्त नाम सर्वथा सार्थक था । कुछ दिनों बाद उनके पिता दुर्गादत्त और देवीदत्त अपने पिता (अम्बिकादत्त के पितामह या दादा) के पास काशी आ गये, जो वहाँ पहले से ही निवास कर रहे थे ।

व्यास जी की प्रारम्भिक संस्कृत शिक्षा अपने घर पर ही हुई। कुछ ही दिनों बाद उनमें कवित्व का स्फुरण होने लगा और वह अच्छी कविता भी करने लगे। इसी के साथ-साथ वे हिन्दी और अंग्रेजी का भी अभ्यास करने लगे तथा काशी के ही उस समय के मूर्द्धन्य विद्वानों से साहित्य, तर्क और ज्योतिःशास्त्र का भी अध्ययन किया। इसी समय केवल १३ वर्ष की अवस्था में उन्हें विवाहसूत्र में बंध जाना पड़ा और जीवन निर्वाह हेतु पिता के साथ ही कथावाचन प्रारम्भ कर दिया। उनका कथावाचन इतना अच्छा होता था कि लोग उन्हें व्यास कहकर सम्बोधित करने लगे और तब से यह शब्द उनके नाम का अंग बन गया।

सम्वत् १९३७ में एक ओर उनके पिता का देहावसान हुआ और दूसरी ओर उन्होंने १३ विद्यार्थियों में अकेले ही साहित्याचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण कर एक कीर्तिमान् स्थापित किया। इसी समय वे भारतेन्दु जी के सम्पर्क में आए और संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में भी कविता करने लगे। कुछ दिनों बाद इनकी नियुक्ति मधुवनी (बिहार) के संस्कृत विद्यालय में प्रधानाचार्य के पद पर हो गई जहाँ रहकर इन्होंने अपनी साहित्य साधना जारी रखी। बाद में ये पटना कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक भी हो गए थे। इनका दारुण निधन १९ नवम्बर १९०० को केवल ४६ वर्ष की अल्प अवस्था में उस समय हो गया जब उनका एकमात्र अवशिष्ट पुत्र केवल नौ वर्ष का था।

व्यास जी ने अपने स्वल्प जीवन में हिन्दी और संस्कृत दोनों में काफी लिखा। उनकी प्राप्त समस्त रचनाओं की संख्या ६४ हैं। इनमें से उनकी प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं—

(१) शिवराज विजय (संस्कृत उपन्यास)

(२) सामवतम् (नाटक)। इसके अतिरिक्त कुछ नाटक और हैं।

(३) गद्य काव्य मीमांसा (इसमें प्राचीनों की गद्य-काव्य सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन करते हुए उसका सामान्य लक्षण और उसके भेद-प्रभेदों का विवेचन किया गया है। मूल रचना संस्कृत कारिकाओं और व्याख्या हिन्दी में है)।

(४) गुप्ताशुद्धिप्रदर्शनम्—इसका दूसरा नाम 'पण्डित पछाड़' है। इसमें इस प्रकार के स्वरचित श्लोकों का संग्रह है जिनमें अशुद्धियाँ तो होती हैं, किन्तु वे ऐसी होती हैं कि उन्हें सरलता से समझा नहीं जा सकता।

(५) कथाकुसुमम्—इसके कई भाग हैं जिनमें प्राचीन ढंग की स्वरचित उपदेशात्मक कथाएं संकलित हैं।

स्पष्ट है कि उनके विशाल साहित्य को देखकर उनकी असामान्य साहित्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है। उनमें एक साथ ही धारयित्री और भावयित्री—दोनों प्रकार की प्रतिभाएं विद्यमान थीं जिसके कारण वे एक ओर वे 'गद्य काव्य मीमांसा' जैसे शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना कर सके और दूसरी ओर 'शिवराजविजय' जैसे

अनल्पकल्पना संवलित उपन्यास (गद्यात्मक महाकाव्य) थी । उन्होंने गद्य-काव्य-मीमांसा में ऐसे मुद्दों को उठाया है जिसकी ओर प्राचीन आचार्यों का ध्यान तक नहीं गया था और गद्य काव्य का ऐसा लक्षण दिया है जिसमें गद्य काव्य की न केवल प्राचीन विधाएं, अपितु उसकी आधुनिक विधाएं भी सर्वात्मना समाविष्ट हो जाती हैं । जहाँ तक उनके रचनात्मक या कलात्मक साहित्य का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि उन्होंने कोई खण्डकाव्य और महाकाव्य नहीं लिखा, इसका कारण इस ओर उनकी रुचि का न होना ,संस्कृत में उनकी मात्रा का पहले से ही अधिक होना अथवा समय का अभाव कुछ भी माना जा सकता है । उन्होंने नाटक तीन लिखे हैं, जिनमें 'सामवतम्' को अच्छी ख्याति मिली है और वह प्रकाशित भी है । अन्य ग्रन्थों में 'शिवराजविजय' का महत्त्वाधिक है ।

'शिवराजविजय' आधुनिक संस्कृत साहित्य का युगप्रवर्तक ग्रन्थ है । उसे प्राचीन दृष्टि से गद्यकाव्य और आधुनिक दृष्टि से उपन्यास कहा जा सकता है । इस गद्य काव्य में प्राचीन गद्य काव्यों के दोषों से बचते हुए एक ऐसे मार्ग पर चला गया है, जिसमें गद्य काव्य के समस्त गुण तो आ ही जाते हैं, साथ ही आधुनिक उपन्यास की भी समस्त विशेषताएं उसमें आ गई हैं । इसमें महाराज शिवाजी के वीरतापूर्ण कार्यों का विवरण देते हुए मुगल साम्राज्य पर उनकी विजय दिखाई गई है । ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति से ग्रन्थकार की असीम प्रतिभा का परिचय मिलता है । इसमें भाषा और भाव का इतना सहज और सुन्दर समन्वय है कि पाठक को आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है । भाषा को ग्रन्थकार की वंशवदा सी होकर, विभिन्न भावों के अनुसार अपने को नित नए रूपों में ढालते देखा जा सकता है । संवादों और वस्तु-वर्णनों में भाषा और शैली अपने समस्त वैभव के साथ साकार हो उठी है । कथा में इतना प्रवाह है कि पाठक का मन थकता नहीं, बशर्ते कि उसका संस्कृत पर अच्छा अधिकार हो । इसका कारण यह है कि कवि बाणभट्ट की प्राचीन शैली का मोह नहीं छोड़ सका है और बीच-बीच में विशेषकर वस्तु-वर्णन में उसका प्रयोग करता चलता है, जिससे भाषा और शैली कहीं-कहीं सामान्य पाठक के लिए कुछ कठिन हो गई हैं— इसके साथ ही वह कुछ ऐसे शब्द का प्रयोग भी करता है, जिनका प्रयोग उसके पूर्व के साहित्य में कदाचित् ही कहीं हुआ हो । इस एक सामान्य दोष को छोड़ कर रचना बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है । इसके कई असामान्य गुणों में —महाराज शिवाजी का आदर्श वीर एवं धर्मसंक्षम रूप भी है जो पाठक पर अपना जबरदस्त प्रभाव डालता है । संक्षेप में 'शिवराजविजय' एक ऐसी रचना है, जो शताब्दियों में कभी-कभी लिखी जाती है । इस ग्रन्थरत्न को लिखकर व्यास जी तो स्वयं अमर हो ही गए, उससे सुरभारती भी अमर हो गई । नीचे कुछ ऐसे आवतरण दिए जा रहे हैं— जिनसे कवि की भावभूमि पर तो प्रकाश पड़ेगा ही उसकी भाषा और शैली का स्वरूप भी आलोकित हो उठेगा ।

व्यास जी को वस्तु वर्णन में बहुत सफलता मिली है । इस प्रकार के एक वर्णन (आश्रम वर्णन) का साक्षात्कार करें —

'कदलीदलकुंजायितस्य एतत्कुटीरस्य समन्तात् पुष्पवाटिका, पूर्वतः परम-पवित्रपानीयम्,परः सहस्र पुण्डरीकपटलपरिलसितम् पतत्रिकुलकूजितपूजितं सर आसीत् । दक्षितश्चैको निर्झरझर्झरवनि ध्वनित दिगन्तरः फलपटलाऽऽस्वादचपलित-चञ्चुपतङ्गकुलक्रमणाधिक विनतशाखशाखि समृद्धव्याप्तः सुन्दरकन्दरः पर्वतखण्ड आसीत् ।'

और संवाद की रुचिरता की आस्वादन निम्न शब्दों में करें—

'गौरसिंहः—कुतो रे यवनकुलकलङ्क ।

यवनयुवक.— आः । वयमपि कुत इति प्रष्टव्याः । भारतीय कन्दरिकन्द-रेष्वपि विचरामः, शृंगलाङ्गूलविहीनानां हिन्दुपदव्यवहार्यमाणानां च युष्माद्दक्षाणां पशूनामाखेट क्रीडया रमामहे ।

गौरसिंहः—(सक्रोधं विहस्य) वयमपि स्वाङ्कागत सन्ववृत्तमः शिवस्य गणा अत्रैव निवसामः । तत् सुप्रभातमद्य, स्वयमेव त्वं दीर्घदावदहने पतङ्गाचितोऽसि ।

यवनयुवकः—अरे रे वाचाल । हयो रात्रौ युष्मत्कुटीरे रुदती समायातां ब्राह्मणतनयां सपदि प्रयच्छ तत् कदाचित् दयया जीवितोऽपि त्यजेयम्, अन्यथा मदसिभुजङ्गिन्या दष्टाः क्षणात् कथावशेषाः संवर्त्स्यथ ।'

इस अवतरण में इस प्रकार में सभी गुण विद्यमान हैं । सारे ग्रन्थ में इसप्रकार के संवाद और पड़े हैं ।

पण्डिता क्षमाराव (१८९०-१९५४ई०)

जैसा कि संस्कृत-साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है कि उसके विकास और सम्वर्द्धन में केवल कवियों का ही योगदान नहीं था, अपितु शतशः कवयित्रियों ने भी अपनी प्रतिभा-सम्पन्न अथच सरस एवं कलात्मक रचनाओं के द्वारा उसको अलंकृत किया है । इन्हीं महान् कवयित्रियों और लेखिकाओं की अटूट परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में आधुनिक काल की महान् लेखिका सौ० पं० क्षमाराव का भी नाम सादर उल्लेखनीय है ।

क्षमाराव का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जो परम्परा से ही विद्वत्ता का केन्द्र था । उनके पिता पण्डित शंकर पाण्डुरंग उस समय के महाराष्ट्रीय विद्वानों में प्राच्य और प्रतीच्य दोनों ही विद्याओं में अग्रणण्य माने जाते थे । उनकी माता का नाम उपा था जो अपने समय की अप्रतिम सुन्दरी और विदुषी महिला थीं । क्षमा के-व्यक्तित्व में उनके उक्त माता और पिता के सभी गुणों की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है । वे निसर्ग सुन्दरी थीं । संस्कृत और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं की शिक्षा का क्रम यद्यपि घर से प्रारम्भ हो गया था तथापि पिता पाण्डुरंग के अकाल में ही काल-कवलित हो जाने के कारण उनकी विद्यालयीय शिक्षा मैट्रिक्युलेशन मे आगे नहीं हो

पाई। बाद में उच्च शिक्षा हेतु 'विल्सन कालेज' बम्बई में भी प्रवेश लिया, किन्तु उसी समय डॉ० राघवेन्द्रराव के साथ विवाह हो गया फलतः विद्यालयीय शिक्षा जहाँ की तहाँ रह गई। किन्तु अपने प्राक्तन और पारिवारिक संस्कारों के कारण घर पर ही उनका स्वाध्याय निरन्तर चलता रहा जो उनके महान् भावी साहित्य का बीज बना।

क्षमा जी को संस्कृत, मराठी, अंग्रेजी, गुजराती तथा अन्य कई देशी-विदेशी भाषाओं का बहुत अच्छा ज्ञान था। अंग्रेजी पर तो उनका इतना अच्छा अधिकार था कि उनकी प्रारम्भिक रचनाएं अंग्रेजी में ही लिखी गई थीं जिनमें से कुछ का अनुवाद उन्होंने स्वयं संस्कृत में किया। संस्कृत में रचना की ओर उनकी प्रवृत्ति १९ १ में हुई जो उनके जीवन भर विद्यमान रही। संस्कृत में भी आधुनिक ढंग की लघु कथाओं के अभाव को पूरा करने का प्रयास उन्होंने सबसे पहले किया। इसी बीच महात्मा गांधी से प्रभावित होकर वे स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान करने के लिए महात्मा गांधी से मिली, किन्तु महात्मा गान्धी ने उनकी पारिवारिक परिस्थितियों के कारण उनको ऐसा करने की अनुमति नहीं दी। फलतः क्षमा जी ने अपनी भावनाओं को साहित्य के माध्यम से व्यक्त किया। और सच देखा जाए तो क्षमा के समस्त साहित्य में स्वतन्त्रता की गूंज, गांधीवाद का शंखनाद और दुःखियों एवं पद-दलितों का आर्तनाद ही सुनाई पड़ता है। आधुनिक संस्कृत-साहित्य में शोषित और पीड़ित जनता की पृष्ठभूमि पर इतने महान् साहित्य की रचना करने वाला साहित्यकार उनके अतिरिक्त कोई नहीं है।

क्षमाराव का साहित्य अत्यन्त विशाल है, जिसमें से कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित है। उनके प्रकाशित साहित्य का विवरण उनके प्रकाशन क्रम के अनुसार इस प्रकार है—

(१) **सत्याग्रहगीता**—(१९३२ पेरिस) यह पद्यबद्ध रचना १८ अध्यायों में है। इसमें महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन से लेकर इरविन समझौते तक के आन्दोलन के माध्यम से महात्मा गांधी के महत्त्व को सरस और सरल पदावली में व्यक्त किया गया है।

(२) **कथापञ्चकम्**—(१९३४ बम्बई) यह आधुनिक शैली में पद्य में लिखी गई ५ लघु कथाओं का संकलन है। ये कथाएं पहले अंग्रेजी में लिखी गई थीं बाद में उनका अनुवाद संस्कृत में हुआ। इसमें संकलित कथाएं ये हैं—(१) बालिकादवाह संकटम् (२) गिरिजायाः प्रतिज्ञा (३) हरिसिंहः, (४) दन्तकेयूरम् (५) अनुसूयिनी। कथायें अपनी सरस शैली और उदात्त चरित्र के कारण बहुत अच्छी बन पड़ी हैं।

(३) **विचित्र परिषद् यात्रा**—(१९३८ बम्बई) यह क्षमाराव की पद्यबद्ध लघुतम रचना है। इसमें उन्होंने १९२२ में त्रिवेन्द्रम में हुए प्राच्य विद्या-सम्मेलन के अनुभवों को व्यक्त किया गया है।

(४) **शंकरजीवनाख्यानम्**—(१९३९ बम्बई) यह पद्य-बद्ध बड़ी रचना है,

जिसमें उन्होंने अपने विद्वान् पिता शंकर पाण्डुरंग के समस्त जीवन को बड़ी ही आत्मीयता के साथ सुन्दर अभिव्यक्ति दी है।

(५) मीरा लहरी—(१९४४ बम्बई) इस पद्यबद्ध रचना में हिन्दी की प्रसिद्ध कवयित्री मीरा के जीवन को व्यक्त किया गया है।

(६) कथामुक्तावली—(१९४५ बम्बई) यह गद्य में लिखी गई आधुनिक लघु कथाओं का महत्त्वपूर्ण संकलन है। इसमें संकलित कथाएं जीवन के विविध क्षेत्रों से ली गई हैं तथा वे अत्यन्त प्रौढ़ शैली में लिखी गई हैं।

(७) उत्तरसत्याग्रहगीता—(१९४८ बम्बई) यह एक पद्यबद्ध और बड़ी रचना है तथा 'सत्याग्रहगीता' का पूरक है। इसमें इरविन समझौते से १९४४ तक के स्वातन्त्र्य आन्दोलन को चित्रित किया गया है।

(८) तुकाराम चरितम्—(१९५० बम्बई) इस पद्यबद्ध रचना में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम के जीवन को अंकित किया गया है।

(९) रामदास चरितम्—(१९५३ बम्बई) यह भी पद्य-बद्ध रचना है और इसमें महाराष्ट्र के ही प्रसिद्ध सन्त और क्षत्रपति शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास के जीवन को व्यक्त किया गया है।

(१०) ग्रामज्योतिः—(१९५४ कलकत्ता) यह गुजरात की पृष्ठभूमि पर आधारित (१) रेवायाः कथा, (२) कटुविपाकः, (३) वीरभा इन पद्य-बद्ध रचनाओं का संकलन है। इनमें ग्रामी जीवद की अन्तर्व्यथा अत्यन्त सरल किन्तु प्रभावशाली शब्दों में व्यक्त हुई है।

(११) ज्ञानेश्वर चरितम्—(१९५५) इसका प्रकाशन लेखिका की मृत्यु के बाद हुआ। यह भी एकपद्यबद्ध रचना है और इसमें महाराष्ट्र के प्रसिद्ध ज्ञानी और भगवद्गीता का मराठी भाष्य प्रस्तुत करने वाले सन्त ज्ञानेश्वर के चरित्र को व्यक्त किया गया है।

(१२) स्वराज्यविजयः—(१९६२) यह लेखिका के दिवगंत हो जाने के पश्चात् प्रकाशित हुई पद्यबद्ध रचना है। इसमें, जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है, स्वतन्त्रता आन्दोलन के अन्तिम चरण से लेकर स्वराज्य की प्राप्ति तक का इतिहास अंकित है। इसके अतिरिक्त उनकी बहुत सी रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित पड़ी है।

स्पष्ट है कि क्षमारावं की रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों में हैं। गद्य में उन्होंने केवल आधुनिक ढंग की लघु कथाएँ लिखी हैं। ये कथाएं जीवन के सभी क्षेत्रों से ली गई हैं, किन्तु उनमें भी विशेषकर अबलाओं और दुःखियों के जीवन को कथा का विषय बनाया गया है। ये कथाएँ आधुनिक लघु कथा की टेकनीक पर पूर्णतया खरी उतरती हैं। उस समय पत्रिकाओं में इनकी अत्यन्त प्रशंसा हुई थी। उनकी गद्य रचनाएँ पद्य रचनाओं की अपेक्षा यद्यपि संख्या में कम हैं, तथापि उनके गद्य में भाषा का जो रूप उभरा है, वह बहुत ही प्रौढ़ और कमनीय है। उनके गाढ़ गधबन्ध को देख कर कभी-कभी उस पर बाण के गद्य का भ्रम होने

लगता है। और सम्भवतः इसी कारण भी हरिदत्त शास्त्री ने क्षमाराव की प्रशस्ति इस रूप में की—

'रावोपाह्वा क्षमा देवी गद्ये बाणायते ध्रुवम्।

कुल मिलाकर उनकी गद्य रचनाएं भाषा, भाव और कला की दृष्टि से अत्युत्तम बन पड़ी हैं और उनका पश्चाद्वर्ती संस्कृत साहित्य पर अपना व्यापक प्रभाव छोड़ा है।

उनकी पद्य रचनाओं का प्रमुख विषय महापुरुषों का जीवन और स्वतन्त्रता-आन्दोलन का चित्रण रहा है। इसके माध्यम से उन्होंने दीन-दुःखियों के मूक भावों को प्रखर अभिव्यक्ति दी है। ये रचनाएं भाषा और शैली दोनों दृष्टियों से प्रसन्न, सरल और सरस है। नारी जीवन की समस्त ममता और करुणा इसमें मूर्त हो उठी हैं। यद्यपि इनमें प्रायः अनुष्टुप् छन्द का ही प्रयोग किया गया है, किन्तु कहीं कहीं अन्य छन्दों का भी सफल प्रयोग पाया जाता है। कवयित्री का भाषा पर असाधारण अधिकार है। वह भावों के अनुरूप उसे यथेष्ट रूप देने में समर्थ है। नीचे दिए जा रहे गद्य और पद्यात्मक अवतरणों से उनकी भाषा और शैली के साथ-साथ उनके भावों को भी समझने में सहायता मिलेगी।

(१) कासारे कमलावलिः कलयति म्लानत्वमाकस्मिकं
हंसास्तस्य तटे निवृत्तगतपस्तिष्ठन्ति दूरे ह्रिया।
मीनाः संकुचितेक्षणाश्च विमुखा मज्जन्ति नीचैर्जले
जायन्ते परुवस्वराः परभृताश्चैत्रेऽपि मीरान्तके॥ (मीरा लहरी)

इसमें व्यक्त मीरा के सौन्दर्य का सरस और कलात्मक चित्रण देखने योग्य है।

(२) 'इत्यभिधाय विरतवचसि तरुणे गृहाभ्यागता विदेशीया निरुत्तरा तस्थौ। तत्र मन्दिराद् वहिः स्थिताया दनीयकाया उपर्याख्यातां कथा मूकविदीर्णहृदयेनाकर्णयन्त्या विह्वलाननस्य पाण्डुरता समवर्धततराम्। कथकस्यान्तिमपदं तीव्र व्यथितायास्तस्याः स्मृतिपटे जन्मान्तरोपात्त सस्कारानुबन्धेनेवापरिमितशोचनीयस्मृतिपरम्परां व्यरचयत्।' (शरद्लम्, कथामुक्तावली)।

संक्षेप में क्षमाराव का साहित्य देशभक्ति से ओतप्रोत, प्रसन्न, उदात्त, सरल और सरस है। डॉ० कपिलदेव द्विवेदी के स्मरणीय शब्दों में, हम उनके सम्बन्ध में कह सकते हैं—

'प्राच्यं प्रतीच्य समुपास्य शास्त्रं
नद्यं च पद्यं तनुतेऽनुषद्यम्।
कथाप्रबन्धे रुचिमादधाना
'क्षमा' क्षमेवाक्षतमोदमूर्तिः॥

लेखिका की विदुषी पुत्री श्री मती लीलाराव दयाल ने उनकी कई कथाओं के नाट्य रूप प्रस्तुत किये हैं।

म० म० नारायणशास्त्री खिस्ते

काशी प्राचीनकाल से ही संस्कृत के अध्ययन का केन्द्र रही है। अनेक तपोनिकृत विद्वानों ने वहाँ रहते हुए न केवल अध्ययन और अध्यापन के द्वारा ही संस्कृत भाषा की सेवा की है, अपितु अपनी न नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से समन्वित सुन्दर और प्रौढ़ रचनाओं से भी भारती के भण्डार को भरा है। विद्वानों की यह परम्परा वहाँ इस काल तक चली आई है। म० म० नारायण शास्त्री खिस्ते ऐसे ही आधुनिक विद्वानों में अन्यतम हैं।

नारायण शास्त्री का जन्म काशी के एक ऐसे 'खिस्ते' उपाधिधारी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण-परिवार में हुआ जो अपनी विद्वत्ता के लिए पीढ़ियों से प्रसिद्ध था। बालक नारायण ने अपनी प्रारम्भिक संस्कृत शिक्षा घर पर ही प्राप्त की। अनन्तर काशी के विभिन्न महान् विद्वानों के चरणों में बैठकर विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया। म० म० गंगाधर शास्त्री जैसे विद्वान् गुरु के शिष्यत्व में उन्होंने साहित्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर काशी के क्वींस कालेज से साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त की। अपनी साहित्यशास्त्रीय विद्वत्ता के कारण ही वे उक्त कालेज में, जो बाद में 'राजकीय संस्कृत कालेज' के रूप में प्रसिद्ध हुआ, संस्कृत साहित्य के प्राध्यापक हो गए। बाद में उन्होंने उक्त विभाग के अध्यक्ष पद को भी सुशोभित किया तथा वहाँ रहकर संस्कृत के बीस ग्रन्थों का 'सरस्वती भवन-पुस्तकालय से सम्पादन और प्रकाशन किया। काशी के वर्तमान महत्तम साहित्यविद् विद्वानों में अन्यतम, संस्कृत के महान् कवि और वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय के अवकाश प्राप्त संस्कृत साहित्य विभागाध्यक्ष पं० बटुक नाथ शास्त्री खिस्ते आपके ही सुपुत्र हैं।

रचनाएँ—

खिस्ते जी का सम्पादित साहित्य पर्याप्त विशाल सम्पादित है, जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(क) मौलिक रचाएँ—

(१) दक्षाध्वरविध्वंसनम्—यह वीर रस प्रधान खण्डकाव्य खिस्ते जी की प्रथम काव्य-रचना है। संभवतः उनकी यही एक ऐसी रचना है जो पूर्णतः पद्यों में लिखी गई है। इसकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़ और शैली ओजो गुणव्यंजक है। वीर रस का अच्छा परिपाक है।

(२) विद्वच्चरितचम्पूः—यह एक चम्पू (गद्य पद्य मिश्रित) काव्य है। इसमें काशी के ही म० म० शिवकुमार शास्त्री और म० म० गंगाधर शास्त्री आदि पाँच प्रमुख विद्वानों के चारु चरित्र चित्रित हुए है। इसका गद्य अत्यन्त प्रशस्त और उच्च कोटि का है।

(३) दरिद्राणां हृदयम् और (४) दिव्य दृष्टि—ये दोनों आधुनिक लघु उपन्यास

हैं। इनमें खिस्ते जी के भावों और विचारों का सहज प्रवाह तथा भाषा की सहजता और गम्भीरता देखते बनती है।

(ख) व्याख्याएँ—

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्—कालिदास की इस प्रसिद्ध रचना की उसके ही योग्य हिन्दी और संस्कृत व्याख्याओं से अलंकृत कर सुसम्पादित किया है।

(ग) संकलित—

खिस्ते जी ने कुछ ऐसे भी ग्रन्थ लिखे हैं, जिन्हें संकलित कहा जा सकता है। ऐसे ग्रन्थों में 'अलंकारसारमंजरी' मुख्य है। इसमें कुछ प्रमुख अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दूसरे ग्रन्थ से संकलित कर उनकी व्याख्या करके समझाया गया है। कहीं-कहीं उदाहरण अपनी ओर सभी दिये गये हैं। ऐसा ही एक उदाहरण 'विरोधाभास' का यहाँ प्रस्तुत है, जो उनकी भाषा शैली की सहजता और सरलता को स्पष्ट करता है—

'इयं विशालाऽपि च भूरिशाला
विराजते संस्कृत पाठशाला।'

संक्षेप में, नारायण शास्त्री खिस्ते ने यद्यपि बहुत अधिक नहीं लिखा किन्तु उनका जितना भी साहित्य है वह अपनी सहजता, सरलता और उदात्तता में अद्वितीय हैं और उससे संस्कृत भारती का भण्डार निश्चय ही वृद्धिगत हुआ है।

डॉ० रामशरण त्रिपाठी

महाकवि भट्टि ने 'रावणवधम्' या 'भट्टिकाव्यम्' की रचना करके जिस 'शास्त्रकाव्य' (ऐसा काव्य जिसमें कथा के साथ-साथ शास्त्रविशेष से सम्बद्ध तत्त्वों का उपदेश भी दिया जाता है। उदाहरण के लिए भट्टिकाव्य में रामकथा के प्रतिपादन के साथ ही व्याकरण की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं और नियमों का ज्ञान भी कराया गया है) की परम्परा का बीजवपन किया था, वह मध्यकाल में अंकुरित ही नहीं अपितु पर्याप्त रूप में पुष्पित और फलित भी हुआ। इस प्रकार के काव्य अधिकतर पद्य में ही लिखे गये, गद्य में इस प्रकार का कोई स्वतन्त्र प्रयास नहीं देखा गया, यदि कहीं है भी तो वह किसी गद्य काव्य की कुछ पंक्तियों तक ही सीमित है। ऐसी स्थिति में यदि आज के युग में, जब कि उक्त प्रकार के काव्यों की रचना लगभग समाप्त सी हो गई है और संस्कृत भाषा का पाण्डित्य भी तीव्रगति से ह्रास को प्राप्त हो रहा है, कोई कवि इस प्रकार की रचना वह भी पद्य में नहीं गद्य में करने का सफल प्रयास करे तो इसे एक महान् आश्चर्यजनक घटना मानने के साथ ही उस कवि के भाषा विषयक पाण्डित्य की भी दाद देनी पड़ेगी। यह विस्मयजनक हर्ष की बात है डॉ० रामशरण त्रिपाठी एक ऐसे ही साहित्यकार हैं।

त्रिपाठी जी का जन्म उत्तर प्रदेश के बांदा जिले के 'मरका' नामक गाँव में सन् १९०५ को हुआ था। उनकी शिक्षा जौनपुर से प्रारम्भ हुई और काशी से पूरी हुई। संस्कृत भाषा का चूडान्त ज्ञान प्राप्त कर वे मुरादाबाद के के० जी० के० कालेज के

संस्कृत-विभाग में प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए। यहीं पर अध्यापन करते हुए उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की और अन्त में १९७१ में अवकाश प्राप्त किया। अब, यद्यपि वे इस असार संसार से महाप्रस्थान कर नित्यलीला में लीन हो चुके हैं, तथापि उनके सुपुत्र डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, जो पिता के ही समान संस्कृत भाषा के महान् पण्डित तथा उदयपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में रीडर हैं, उनके कार्य को निरन्तर आगे बढ़ा रहे हैं।

त्रिपाठी जी के मुख्यतः तीन ग्रन्थ हैं—

१. ब्रह्मसूत्रप्रमुखभाष्यपंचकपर्यालोचनम्—यह त्रिपाठी जी का प्रबन्ध (थीसिस) है, जिस पर उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया गया है। इसकी रचना प्रसन्न और सरल संस्कृत में की गई है। इसमें बादरायण रचित ब्रह्म-सूत्रों पर समय समय पर लिखें गए पाँच प्रमुख भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

२. वेदान्तसूत्रभावबोधिनीव्याख्या—यह 'वेदान्त' के प्रारम्भिक ग्रन्थ 'वेदान्तसार' की महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। किसी समय इसका विश्वविद्यालयों के संस्कृत छात्रों में बहुत प्रचार था। व्याख्या संस्कृत और हिन्दी दोनों में है।

३. कौमुदीकथाकल्लोलिनी—यही वह ग्रन्थ है जिसके कारण त्रिपाठी जी की कीर्तिकौमुदी का प्रकाश सदैव फैलता रहेगा। यह कादम्बरी के समान एक कथात्मक गद्यकाव्य है।। इसमें महाराज उदयन के पुत्र नरवाहन दत्त की जन्म से लेकर उसके गन्धर्वराजपद पर अभिषेक तक की कथा कही गई है। इस प्रकार इसका स्रोत 'कथासरित्सागर' है। कथा के बीच-बीच में, 'कादम्बरी' के ही समान बड़े-बड़े वर्णन हैं, जो कवि के विशाल ज्ञानभाण्डागार के सूचक होने के साथ ही तत्तत् वस्तुओं के स्वरूप और व्यापार का बड़ा ही स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है इसमें व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्तकौमुदी' के व्याकरण-प्रयोगों का एक विशेष क्रम से सन्निविष्ट करना। ऐसा करने का मुख्य उद्देश्य अपने व्याकरणीय पाण्डित्य के प्रदर्शन के अतिरिक्त छात्रों को कथा के साथ साथ संस्कृत व्याकरण के प्रमुख प्रयोगों की शिक्षा भी देना रहा होगा। किन्तु आज के युग में जब आम विद्यार्थी को संस्कृत भाषा का सामान्य ज्ञान भी नहीं है, तब उसमें लिखी गई कथा के सहारे व्याकरण को कौन सीखेगा? आज आवश्यकता इस बात की है कि संस्कृत साहित्य को नये वेश और नई सजावट के साथ प्रस्तुत किया जाये; कि इस रूप में कि उसके लिए मस्तिष्क का व्यायाम करना अत्यावश्यक हो। वैसे प्राचीन विचारों और संस्कृत व्याकरण में व्युत्पन्न लोगों के लिए रचना निःसन्देह अच्छी है।

उसकी भाषा और शैली के लिए एक ही निदर्शन पर्याप्त होगा—

'(यत्र) विषप्रयोगः माण्डूकेयेषु, कापेयता कापेयेषु, गुणविच्छेदः, तन्तुवाच्येषु तीक्ष्णता तक्ष्णेषु नान्येषु दृश्यते स्म।' (कौमुदीकथाकल्लोलिनी)।

यहाँ वस्तु-वर्णन में एक ओर परिसंख्या अलङ्कार है ओर दूसरी ओर माण्डूकेय और कापेय आदि तद्धित प्रयोगों की शृंखला यह प्रदर्शित करती है कि 'मण्डूक' और कपि जैसे शब्दों से तद्धित में कैसे प्रयोग बनेंगे।

इस युग के कुछ अन्य गद्य लेखक ये हैं—

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री—ये जयपुर के रहने वाले और आधुनिक काल के महान् विद्वानों में अन्यतम थे। इन्होंने संस्कृत साहित्य को महाकाव्य, खण्डकाव्य, आलोचना, गीति काव्य, निबन्ध और गद्यकाव्य सभी से भरने का स्तुत्य प्रयास किया है। इनके 'जयपुरवैभवम्' और 'साहित्यवैभवम्' प्रसिद्ध महाभाष्यात्मक ग्रन्थ हैं। इन्होंने उर्दू और हिन्दी छन्दों में भी संस्कृत में एक महान् साहित्य का निर्माण किया है। भारती और 'संस्कृत रत्नाकर' के सम्पादक के रूप में इन्होंने गद्य में भी काफी लिखा है। इन्हीं पत्रों में प्रकाशित इनकी लगभग ३६ लघु कथाएँ भाषा, भाव और टेकनीक की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से लगभग २० कथाएँ ऐतिहासिक हैं। इनके अतिरिक्त इनके लिखे नि न्ध भी पर्याप्त संख्या में हैं। इनके सुपुत्र डॉ० कलानाथ शास्त्री भी सम्प्रति अपने सम्मान्य स्वर्गीय पिता के पथचिह्नों पर चलते हुए सुरभारती की सेवा में तल्लीन हैं।

श्री गणेशराम शर्मा—संस्कृत के जीवित कथा-लेखकों में प्रमुख श्री गणेशराम शर्मा राजस्थान के झालावाड़ जिले के रहने वाले हैं और वहीं के एक इन्टर कालेज में हिन्दी और संस्कृत के प्राध्यापक रहने के बाद अब अवकाश प्राप्त कर चुके हैं। इन्होंने खण्डकाव्य, निबन्धों लघु कथाओं के द्वारा सुरभारती की सेवा की है। इनके खण्डकाव्य का 'लक्ष्मण विलास काव्यम्' हैं, जो डूंगरपुर के राजा लक्ष्मण सिंह के जीवन पर लिखा गया है। संस्कृत रत्नाकर, भारती आदि पत्रिकाओं में इनकी पचासों कहानियाँ और निबन्ध अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी २० कहानियों का एक संकलन राजस्थान साहित्य अकादमी (उदयपुर) से प्रकाशित हो चुका है (१९७२)। इस संकलन की कहानियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों से ली गई हैं तथा कहानी-कला की दृष्टि से उत्तम हैं। शर्मा जी की लेखनी अभी भी अविराम चल रही है।

श्रीनिवास शास्त्री—शास्त्री जी कलकत्ता में निवास करते हैं और व्यवसाय से वैद्य हैं। संस्कृत साहित्य में आपकी विलक्षण गति है। आपने कई गीतकाव्यों (स्तुतिओं) और उपन्यासों की रचना की है। उनके दो उपन्यास 'चन्द्रमहीपतिः' और 'सूर्यप्रभा' प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें से 'चन्द्रमहीपति' उत्तर प्रदेश सरकार के सर्वोच्च पुरस्कार से पुरस्कृत भी हो चुका है। भाषा, शैली और वर्णन की दृष्टि से शास्त्री जी के उपर्युक्त उपन्यास अद्वितीय हैं।

डॉ० रामजी उपाध्याय—आधुनिक संस्कृत साहित्य के सन्दर्भ में कौन ऐसा संस्कृतज्ञ होगा, जो डॉ० उपाध्याय से अपरिचित न होगा। वे उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के मूल निवासी हैं और प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग से संस्कृत में

एम० ए० और डी० फिल् की डिग्री प्राप्त करके सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक के रूप में नियुक्त होकर अब उसके अध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त कर चुके हैं। डॉ० उपाध्याय ने संस्कृत गद्य में कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें से अधिकांश आलोचना और इतिहास के ग्रन्थ हैं । रचनात्मक साहित्य में उनका ' द्वासुपर्णा' उपन्यास बहुत प्रसिद्ध है, जो उपन्याय कला की दृष्टि से अत्यन्त सफल है। डा० उपाध्याय ने सागर विश्वविद्यालय से 'सागरिका' नामक त्रैमासिक शोध-पत्रिका प्रकाशित कर संस्कृत में शोध और आलोचनापरक लेखों को प्रोत्साहित करने का स्तुत्य प्रयास किया है ।

रत्नपारखी—रत्नपारखी आधुनिक संस्कृत साहित्य के उन लेखकों में हैं जिन्होंने थोड़ा लिखने के पश्चात् भी विपुल यश का अर्जन किया है। ये मूलतः कर्नाटक प्रान्त के रहने वाले थे किन्तु शिक्षा-दीक्षा गुरुकुलकांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में हुई, ये अपनी मातृ भाषा और संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी और फ्रेंच आदि भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता थे। अपनी बहुभाषा विज्ञता के कारण वे बहुत दिनों तक राज्यसभा में अनुवादक पद पर कार्य करते रहे। संस्कृत में उनकी दो रचनाएँ प्रकाशित हैं, प्रथम उनके कुछ एकांकी नाटकों का संकलन है और दूसरा है, 'कुसुमलक्ष्मीः' नामक उपन्यास । यह उपन्यास कला की दृष्टि से संस्कृत का सर्वाधिक सफल उपन्यास है । यह सम्प्रति मेरठ विश्वविद्यालय के एम० ए० पाठ्य-क्रम में निर्धारित है ।

चारुदेव शास्त्री—चारुदेव शास्त्री सम्प्रति भारत के वैयाकरणों में अग्रणी विद्वान् माने जाते हैं। ये पहले अम्बाला के डी० ए० वी० कालेज में प्रोफेसर थे। अब वहाँ से अवकाश प्राप्त कर अपने सुपुत्र डॉ० सत्यव्रत शास्त्री के साथ दिल्ली में रह रहे हैं। श्री शास्त्री ने व्याकरण के क्षेत्र में महान् कार्य किया है और इस समय भी कर रहे हैं। जिसे समस्त संस्कृतज्ञ जानते हैं। इन्होंने संस्कृत गद्य में दो साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की है—(१) गान्धीचरितम् और (२) प्रस्तावतरंगिणी । प्रथम ग्रन्थ में महात्मा गान्धी के जीवन को चित्रित किया गया है और दूसरे विभिन्न विषयक निबन्धों का संकलन है। शास्त्री जी की शैली होती तो हैं असमस्त, किन्तु व्याकरणीय पाण्डित्य का अत्यधिक प्रयोग होने के कारण कुछ दुरूह होती है ।

डॉ० मंगलदेव शास्त्री—डॉ० शास्त्री भारत के उन विद्वानों में रहे है, जिन्होंने संस्कृत का अध्ययन प्राचीन और अर्वाचीन दोनों पद्धतियों से किया है। वैदिक साहित्य और भाषाविज्ञान में इनकी आबाध गति है। डॉ० शास्त्री ने संस्कृत गद्य में 'प्रबन्ध प्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की है, जिसके दो भाग हैं। इसमें उनके लिखे हुए विभिन्न विषयक ललित निबन्धों का संग्रह है । शास्त्री जी की शैली सरल और व्यावहारिक है ।

डा० शिवप्रसाद भारद्वाज—भारद्वाज जी असामान्य प्रतिभा के धनी साहित्य-कार हैं । ये उत्तरांचल के मूल निवासी हैं और वैदिक अनुसंधान संस्थान,

होशियार में विभिन्न पदों पर काफी दिनों कार्यरत रहने के पश्चात् अब अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। ये 'विश्वसंस्कृतम्' के कई वर्षों तक प्रधान सम्पादक भी रहे हैं। भारद्वाज जी ने संस्कृत में खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, निबन्ध, कहानी और नाटक सभी विधाओं पर लेखनी चलाई है और बड़े अधिकार के साथ संस्कृत गद्य में इनकी दो महत्त्वपूर्ण रचनाएं मिलती हैं—(१) निबन्धमणिमाला और (२) निबन्ध रत्नकर दोनों ही निबन्धों का संग्रहरूप हैं—पहले में निबन्धों की संख्या कम है और दूसरे में अधिक। इनका भाषा पर असाधारण अधिकार है। भाषा और शैली भावानुगामिनी है।

आचार्य श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में संस्कृत के अनेक उद्भट विद्वान् प्रादुर्भूत हुए, परन्तु, जो गरिमा और यश आचार्य श्रीब्रह्मानन्द जी शुक्ल को मिला, उससे अधिकारी अन्य विद्वज्जन कम ही हो सके। इसका कारण स्पष्ट था—आचार्य शुक्ल जी की गहन साधना, दृष्टिकोण की उदात्तता एवं राष्ट्रीयता की सतत अभ्यर्चना उन्हें उनके समवर्ती विद्वानों से एकदम अलग ला बिठाती है।

उनकी जन्म-तिथि के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु १९०४ ई० को ही उनका जन्म वर्ष बताया जाता है। मुजफ्फरनगर जिले के चरथावाल' कस्बे में श्री पं० माईदयालु जी शुक्ल एवं श्रीमती तुलसादेवी के यहाँ आपका जन्म हुआ था। आपके पितामह का नाम श्री पं० बदरीदत्त जी शुक्ल था। यह परिवार बड़ा सम्पन्न था। किसी प्रकार का अभाव नहीं था, किन्तु श्री शुक्ल जी जब तीन-चार वर्ष के थे, तभी अनभ्र वज्रपात हुआ। वहाँ भयङ्कर प्लेग फैला और देखते ही देखते घर, बाग, दुकान, भाई-बन्धु सब कुछ उजाड़ हो गया। केवल श्री शुक्ल जी एवं उनके अनुज श्री पं० मित्रसेन जी शुक्ल बचे। पालन-पोषण ननिहाल-बेहड़ा आसा, मुजफ्फरनगर में हुआ। आपके मामा श्री पं० देवीदत्त जी शर्मा तथा उनके सुपुत्र श्री पं० प्यारेलाल जी शर्मा वैद्य से आपको असीम वात्सल्य प्राप्त हुआ।

एकमात्र अपने अध्यवसाय से ही जीवन बनाया। डेराबसी, कालका, मुजफ्फरनगर आदि संस्कृत-विद्यालयों में प्रधानाचार्य रहकर १९३५ ई० में आप खुरजा के सुप्रसिद्ध विद्याकेन्द्र श्री राधाकृष्ण संस्कृत कालेज में, अपने पूज्य गुरुवर विद्यावाचस्पति श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री के बुलाने पर आये। वर्षों वहाँ साहित्य-विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य किया और अनन्तर वहाँ के प्रधानाचार्य पद को सुशोभित किया। अन्तिम समय तक वे इन दोनों पदों पर कार्य करते रहे।

उन्होंने यावज्जीवन "अधीतमध्यापितमर्जितं यश्च" को अक्षरशः चरितार्थ किया। उनके हजारों शिष्य-प्रशिष्य देश भर में फैले हुए हैं।

संस्कृत पर उनका असामान्य अधिकार था। उनकी प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी। वे संस्कृत-हिन्दी में धारावाहिक रूप से लिखते थे। वे एक-साथ सफल अध्यापक, कुशल वक्ता, रससिद्ध कवि, मार्मिक टीकाकार, उत्साही संगठनकर्त्ता, मर्मज्ञ सम्पादक, निष्णात कथावाचक एवं कर्त्तव्यनिष्ठ प्रशासक थे।

उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। उनका जीवन सतत संघर्ष का रहा। बचपन में माता-पिता की छत्र-छाया सिर से उठ गयी, बड़े होकर अकेले ही सांसारिक समस्याओं में जूझना पड़ा, इतने पर भी अपनी भरी जवानी में उन्हें पुत्री के वैधव्य का दारुण दुःख देखना पड़ा और अन्तिम दिनों में भयङ्कर एवं दीर्घकालीन रुग्णता रही, फिर भी उनके साहित्य में कहीं भी अवसाद या दैन्य की छाया नहीं है।

वे यशोधन थे, सरस्वती का आराधन उनका धर्म था, धन्धा नहीं था। संस्कृत के वे अनन्य उपासक थे। अपने सभी बच्चों को संस्कृत पढ़ाकर इन्होंने इस प्रचलित धारणा का खण्डन किया कि संस्कृत के विद्वान् अपने बालकों को संस्कृत नहीं पढ़ाते।

वे परम आस्तिक एवं भक्त थे। ईश्वर में उनका अटूट विश्वास था, जो बड़ी-बड़ी विपत्तियों में भी डिगे नहीं। उनका चरित्र स्फटिक मणि के समान धवल था। किसी का अहित-चिन्तन तो वे जानते ही नहीं थे।

अपने जीवन-काल में ही वे प्रसिद्धि के चरम शिखर पर पहुँच गये थे। उनके महाप्रयाण से लगभग ६ मास पूर्व संस्कृत-परिषद्, अलीगढ़ ने उनके सम्मान में "संस्कृत-वैभवम्" नाम से जो 'अभिनन्दन ग्रन्थ' समर्पित किया था, उसमें उनकी संस्कृत-सेवाओं का मूल्यांकन इस प्रकार किया गया है—

रचनाएं—श्री शुक्लजी की हिन्दी-संस्कृत की निम्नलिखित मौलिक रचनाएँ उनके सामने प्रकाशित हो चुकी थीं। (१) 'श्रीगान्धिचरितम्', (२) 'श्रीनेहरूचरितम्' (संस्कृत-महाकाव्य), (३) 'उद्बोधन', (४) मणिनिग्रह (दोनों हिन्दी-काव्य)। (५) 'भारत-सुषमा' प्रकाशित नहीं हो पायी थी। 'आश्वासन' 'वस्त्रावतार' के कुछ अंशों की ही रचना वे कर पाये थे। टीका ग्रन्थ इनसे अलग हैं। 'मृच्छकटिक', 'मुद्राराक्षस', 'उत्तररामचरितम्', 'सावित्र्युपाख्यान' और 'हर्षचरित' आपके द्वारा व्याख्यात एवं सम्पादित ग्रन्थ हैं। उन्होंने हजारों श्लोक लिखे, किन्तु अपने साहित्य का संकलन अधिक नहीं किया। सैंकड़ों श्लोक उन्होंने दूसरों को दे दिये। एक 'दयालु' छात्र ने तो उनकी कविताओं के संग्रह की कापी ही चुरा ली। वे 'साधु' (ऋषिकेश) तथा 'विज्ञानज्योतिः' (खुरजा) मासिक पत्रों के सम्पादक भी रहे थे।

उनका संस्कृत-श्लोक-पाठ का ढंग निराला ही था। जिसने उनके श्रीमुख से श्लोक सुन लिये वह मन्त्र-मुग्ध हो जाता था। 'आकाशवाणी' से उनकी अनेक वार्ताएँ प्रसारित होती थीं। 'भारतधर्ममहामण्डल' काशी ने उनको 'कविरत्न' की उपाधि से सम्मानित किया था।

आचार्य शुक्ल जी का समस्त साहित्य स्वस्थ-परम्परा का साहित्य है और वे भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीयता के समर्थ गायक हैं। उनका 'नेहरूचरितम्' महाकाव्य संस्कृत-साहित्य का अनुपम महाकाव्य है। आचार्य श्री सीतारामजी चतुर्वेदी के शब्दों में "इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस शताब्दी में इतना सरल, काव्यकौशलयुक्त सरल और उपादेय महाकाव्य दूसरा नहीं रचा गया।

यह महाकाव्य उनके स्वर्गवास के डेढ़ मास पूर्व प्रकाशित किया गया था। इसके प्रकाशन से उन्हे परम सन्तोष मिला था।

वे कर्मयोगी थे। अतः 'संस्कृत परिषद्' अलीगढ़ के मन्त्रित्व-काल में उनको समर्पित किये जाने वाले 'अभिनन्दन' के सम्बन्ध में उन्हें निकट से देखने का अवसर मिला। उनके स्वर्गवास के कुछ समय पहले इन पंक्तियों का लेखक उनसे मिलने गया तो उनके द्वारा कहे गये ये शब्द अब भी उनकी साहित्य-साधना एवं कर्मयोगिता का स्मरण कराते हैं। वे कह रहे थे—"मस्तिष्क में अब भी बहुत कुछ कराने की योजना है—मुझे कोई वृद्ध कहता है तो मेरे हृदय पर चोट लगती है।"

सचमुच वे सरस्वती पुत्र थे। आजीवन सरस्वती का समाराधन करते हुये अन्त में वे 'वसन्तपञ्चमी' संवत् २०२६, मङ्गलवार, दि० १०-२-७० को सरस्वती की

पूजा करके अपने पूज्य गुरुवर विद्यावाचस्पति पं० परमानन्द जी शास्त्री के चित्र को मस्तक से लगाकर और सम्मुखस्थ शिष्य श्री ओमप्रकाश शास्त्री से बातें करते-करते वाग्देवता के चरणों में सदा के लिए लीन हो गये।

आचार्य श्री शुक्ल जी को समर्पित किये गये 'संस्कृत-वैभवम्'[1] नामक अभिनन्दन ग्रन्थ में विशेष रूप से उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासुओं को वहाँ से देखना चाहिये।

उनके सम्बन्ध में यहाँ यह कहना सर्वथा उचित होगा—

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥"

डॉ० रमेशचन्द्रशुक्ल—डॉ० शुक्ल संस्कृत भाषा के उन सुधी साधकों में अन्यतम हैं, जिन्होंने अपना समस्त जीवन ही वाणी की सेवा में समर्पित कर रखा है। आप एस० डी० कालेज अलीगढ़ के संस्कृत प्राध्यापक पद से अवकाश प्राप्त कर जनकपुरी, दिल्ली में रहते हुए संकृत सेवा में निरत है। अतः ७५ वर्ष की वय में भी उनमें युवकोचित उत्साह है। उन्होंने कई खण्ड और महाकाव्यों की रचना की है, जिनमें उनकी असामान्य प्रतिभा और काव्यक्षमता व्यक्त हुई है। गद्य के क्षेत्र में सबसे बड़ा योगदान 'प्रबन्धरत्नाकर' है, जो संस्कृत साहित्य का सबसे बड़ा निबन्ध ग्रन्थ है। शुक्ल जी की भाषा शैली में समयानुरूप सरलता और सरसता के साथ दुरुहता की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।

अन्य निबन्धकारों में डा० रामकृष्ण आचार्य, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी के निबन्धाञ्जलि' और 'निबन्धशतकम्' का संकृत गद्य साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हृषीकेश भट्टाचार्य (१८५०-१९१३)

'मुद्रयति वदनविवरं मृतभाषावादिनां मुहेराषाम्।
स्मरयति च भट्टवाणं भट्टाचार्यस्य सा वाणी॥

—गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

आधुनिक काल में जिन विद्वानों ने अपनी कृतियों से संस्कृत गद्य के विकास में अभूतपूर्व योगदान करने के साथ-साथ नूतनविधा और नूतन विषयों के द्वारा भी उसको समृद्ध किया है, उनमें पं० हृषीकेश भट्टाचार्य का नाम सर्वाग्रगण्य है।

भट्टाचार्य जी आधुनिक बंगलादेश (पूर्वी बंगाल) के जैसोर के धूलियापुर नामक गाँव के रहने वाले थे। उनका जन्म १८५० ई० में मधुसूदन शर्मा के घर हुआ था। बंगाल में ही भट्टाचार्य जी ने प्राचीन और नवीन पद्धतियों से संस्कृत-भाषा और तद्गत शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान अर्जित कर लिया था। वे अंग्रेजी आदि कई अन्य विदेशी भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता थे। उनके इसी प्रचण्ड वैदुष्य के आधार पर उनकी नियुक्ति लाहौर के तत्कालीन 'ओरियण्टल कालेज' में संस्कृत-प्राध्यापक पद पर हुई। लाहौर में रहकर उन्होंने कई एक संस्कृत और बंगला पुस्तकों का प्रणयन और सम्पादन किया। उन्होंने कई अंग्रेजी पुस्तकों के भी संस्कृतानुवाद किए हैं—जिनमें 'पर्यटक त्रिंशत्' और 'हेमलेट चरितम्' मुख्य हैं।

भट्टाचार्य जी ने लाहौर से ही १८७२ में 'विद्योदय' नामक प्रसिद्ध संस्कृत मासिक पत्रिका का सम्पादन और प्रकाशन प्रारम्भ किया जो उनकी मृत्यु (१९१३) तक अर्थात् ४५ वर्षों तक निरन्तर चलता रहा है तथा जिसे उनके पश्चात् भी काफी दिनों तक उनके सुपुत्रद्वय भवविभूति एवं भवभूति प्रकाशित करते रहे। इसके माध्यम से भट्टाचार्य ने संस्कृत में, पाश्चात्य शैली से प्रभावित नवीन व्यंग्यपूर्ण निबन्धों की रचना प्रारम्भ की, जिसे संस्कृत की दृष्टि से एक क्रान्तिकारी प्रयास कहा जा सकता है। भट्टाचार्य जी ने इन निबन्धों के लिए न केवल नए-नए विषयों का चुनाव किया, अपितु उनकी भाषा और शैली भी व्यंग्यात्मक निबन्धों के सर्वथा अनुकूल व्यावहारिक, प्राञ्जल, मुहावरेदार और चुहलबाजी से परिपूर्ण अपनाई। इस दृष्टि से भट्टाचार्य जी के निबन्ध आधुनिक संस्कृत साहित्य के लिए एक सर्वथा नए धरातल के सर्जक सिद्ध हुए हैं। यही कारण हैं कि 'विद्योदय' में, यद्यपि, उनकी अन्य प्रकार की काव्यात्मक रचनाएं भी समय-समय पर पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित हुई हैं, तथापि भट्टाचार्य जी को जो ख्याति उनके निबन्धों के कारण प्राप्त हुई वह अन्य रचनाओं के कारण नहीं हुई। उनके निबन्धों की प्रतिपादन शैली और भाषा के प्रवाह तथा प्रभविष्णुता ने मैक्समूलर जैसे प्रसिद्ध पाश्चात्य संस्कृतज्ञ को भी उनकी प्रशंसा करने को बाध्य कर दिया। म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के शब्दों में तो भट्टाचार्य जी की संस्कृत भाषा ने उन लोगों के मुंह को सर्वदा के लिए बन्द कर दिया जो संस्कृत को 'मृतभाषा' कहकर उसको व्यवहार में लाने का विरोध कर रहे थे—

मुद्रयति वदनविवरं मृतभाषावादिनां मुहेराणाम्।
स्मरयति च भट्टबाणं भट्टाचार्यस्य सा वाणी॥

सच है, भट्टाचार्य इस युग के बाणभट्ट हैं, जिन्होंने उस समय तक के अछूते विषयों पर अपनी लेखनी चलाई तथा जिसकी लेखन शैली का पश्चाद्वर्ती संस्कृत लेखकों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

यद्यपि भट्टाचार्य जी के निबन्ध पर्याप्त संख्या में हैं, और वे 'विद्योदय' के उपलब्ध अङ्कों में आज भी प्राप्य है, तथापि पं० पद्मसिंह शर्मा न 'प्रबन्धमञ्जरी' के नाम से उनके जिन ११ निबन्धों को चाँदपुर, बिजनौर से सन् १९३० में प्रकाशित किया था, उनमें उनकी विषयवैविध्य के साथ उनकी रचना शैलियों का भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिल गया है। इन 'संस्कृतभाषायाः वैशिष्ट्यम्', 'उदरदर्शनम्', 'महारण्यपर्यवेक्षणम्' और 'उद्भिज्जपरिषत्' नामक निबन्ध प्रतिपादन शैली और विषय गरिमा की दृष्टि से पर्याप्त उल्लेखनीय हैं। नीचे दिये जा रहे कतिपय अवतरणों से उनकी शैली और भाषापारव पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा, ऐसी आशा है :—

(१) 'अश्वत्थमहोदयः स्वशाखाहस्तमुत्थाप्य प्रतिपादयति—भो भो ! नाना-

दिग्देशसमागताः सुभद्रा वनस्पतयः । परमप्रियतमा लतावध्वश्च ! सावहिताः शृण्वन्तु भवन्तः । अद्यमानववार्तेवास्माकमालोच्य विषयः ।

मानवा नाम सर्वासु सृष्टिधारासु निकृष्टतमा सृष्टिः । समन्तादीमनवोत्तर-विलक्षणसृष्टिमुत्पादयता भगवता जगत्सवित्रा यादृक् बुद्धिप्रकर्षः सृष्टिनैपुण्य च प्रदर्शितम्, मानवसर्गं विदधता पुनरनेन तत्सर्वमेकपद एवापहारितम् ।'

(उद्भिज्ज-परिषद्)

(२) 'इह खलु रत्नाकरमेखलापरिवेष्टिते, बहुविधद्वीपमण्डलमण्डितेऽखण्डिते महीमण्डले ततत्प्रदेशप्राकृतभावाभेदसम्भूतप्रभूतभेदवयवसम्पन्नेषु मानवसमाजेषु नियतिकृतनियमवशाद् वा निरन्तरवैचित्र्यदर्शनानुरागिणः परिमेष्ठिनोऽवन्ध्याभिला-षाद् वा, दुर्बोधकार्यकारणधाराप्राबल्याद् वा मानवानां वागयन्त्रगतनैसर्गिकवैषम्यात् समुत्पन्नाः खलु परस्परं विभिन्नरूपा बहुविधा भाषाः ।' (संस्कृत भाषाय वैशिष्ट्यम्)

स्पष्ट है, भट्टाचार्य जी की भाषा और शैली पर बाणभट्ट के पर्याप्त प्रभाव के होते हुए भी सर्वत्र उनका निजी व्यक्तित्व भी प्रतिफलित हो रहा है । यही उनमें निबन्धों की असामान्य विशेषता है ।

संस्कृत गद्य-काव्य की विशेषतायें— संस्कृत गद्य काव्यों के कथानक का मूल प्रायः लोक-कथाओं में से लिया गया है । लोक कथाओं की भाँति कथा में उपकथा का सन्निवेश करने की प्रथा भी गद्य- काव्यों में देख पड़ती है । किन्तु गद्य-काव्यों की व्यञ्जना-प्रणाली लोक कथाओं से भिन्न है । इन गद्य-काव्यों में उत्कृष्ट एवं अलंकृत भाषा का प्रयोग तो हुआ ही है, साथ ही वर्णन-शैली का भी अत्यधिक परिष्कार हुआ है । दीर्घकाय समास, अनुप्रास, श्लेष, यमक, परिसंख्या आदि अलङ्कारों तथा सूक्ष्म पौराणिक संकेतों का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है । प्रकृति का विस्तृत चित्रण तथा नायक नायिका की शारीरिक एवं मानसिक दशाओं का अतिरञ्जित वर्णन भी हुआ है । शृङ्गार रस ही इनका प्रधान रस है । लोक कथाओं के सरल और प्रवाहयुक्त आख्यानों पर कल्पना और पाण्डित्य का गहरा रङ्ग चढ़ाया गया है । पद्य-काव्यों के व्यापक प्रभाव के कारण संस्कृत गद्य-शैली का विकास बहुत कम देख पड़ता है । संस्कृत के गद्य-काव्य इस धारणा के पोषक हैं कि कविता के लिए छन्द अनिवार्य नहीं हैं छन्दोबद्धता तो उसका केवल एक बाह्य परिच्छेद है । यही कारण है कि संस्कृत गद्य-काव्य सहृदयों के हृदय में वास्तविक काव्यानन्द का संचार करते हैं । यदि भाषा-सौष्ठव, वर्णन-नैपुण्य; कल्पना-वैचित्र्य, रसास्वाद, पद-लालित्य, श्लेष-चातुर्य और अलङ्कार-वैभव आदि समस्त काव्यात्मक गुणों का एकत्र अवलोकन करना हो तो संस्कृत के गद्य-काव्यों का अनुशीलन करना चाहिए ।

संस्कृत पत्र-पत्रिकायें

संस्कृत साहित्य के प्रचार, प्रसार एवं अभिवृद्धि में पत्र-पत्रिकाओं का एक विशिष्ट योगदान रहता है । संस्कृत-साहित्य की समृद्धि में भी इनका विशेष योग रहा है और है, परन्तु आधुनिक अंग्रेजी व हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के बाहुल्य को

देखकर सामान्य-जन को यह बात कुछ आश्चर्यजनक सी प्रतीत होती है कि संस्कृत भाषा में भी पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत के विद्वान् पत्र-पत्रिकाओं की ओर से प्रायः उदासीन ही रहे। दैनिक समाचार-पत्र भी कभी संस्कृत का प्रकाशित हुआ या नहीं प्रमाणपूर्व नहीं कहा जा सकता, पर इस २०वीं शताब्दी के इस अभ्युन्नतिकाल में संस्कृत के लेखकों का प्रयत्न भी विशेष रूप से सराहनीय है, यह भी विशेष इसलिये क्योंकि उन्होंने अर्थ-कष्ट, मुद्रण-कष्ट एवं ग्राहक-कष्ट की चिन्ता न करते हुए, विज्ञापन के सर्वथा अभाव में भी सर्वथा निःस्वार्थ होकर केवल संस्कृत भाषा की सेवा का पवित्रतम उद्देश्य रखकर संस्कृत-पत्रों का प्रकाशन किया है। कभी-कभी इन पत्रों के प्रकाशन में पत्र-प्रकाशकों को अपनी समस्त सम्पत्ति तो स्वाहा करनी ही पड़ी, फिर भी वे आवश्यक साधन न जुटा सके। पर्याप्त ग्राहक न बना सके। धनी-मानी लोगों की भी उन पर कृपा न हो सकी और अन्त में उन्हें अपनी इच्छा पर सुरभारती की सेवा करने की पवित्रतम भावना के कुठाराघात कर पत्र, प्रकाशन को बन्द करना पड़ा। परन्तु कुछ तपस्वी और भारतीय के अन्यान्य उपासक भक्त ऐसे भी हैं जिन्होंने सभी प्रकार के कष्टों का सामना करते हुये भी "विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति" को अक्षरशः चरितार्थ किया है, वस्तुतः वे धन्य हैं।

इन महात्माओं के सत्प्रयत्नों से अनेकानेक "साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, षाण्मासिक एवं वार्षिक पत्रिकाओं" ने जन्म लिया है। उनमें से कुछ विशिष्ट पत्रिकाओं की चर्चा हम इस स्तम्भ में करेंगे।

विद्योदय—श्री हृषीकेश भट्टाचार्य ने सन् १८७२ ई० में 'विद्योदय' नामक पत्र का सूत्रपात किया तथा यह आपके ही संरक्षण एवं पथ-प्रदर्शन में ५५ वर्षों तक चलता रहा। बाद में उनके सुपुत्र श्री भवविभूति 'विद्या-भूषण' एम० ए० तथा श्री भवभूति 'विद्यारत्न' एम० ए० ने इसका संचालन किया। पत्र के मुख पृष्ठ पर उल्लिखित इस श्लोक से पत्र का उद्देश्य परिलक्षित हो जाता है—

"चरतु राजकुलं प्रकृतिप्रियं भवतु वेदविदां परिवर्द्धनम्।
जयति सा विशदाम्बुजवासिनी सुमनसां मनसामभिनन्दिनी।
नानाशास्त्रकथारम्भो लोक वृत्तानुशीलनः।
विद्योदयो निराकुर्याद्विद्यातिमिरं भुवि॥

श्री भट्टाचार्य के विषय में महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्मा ने ठीक ही लिखा है—

मुद्रयति वदनविवरं मृतभाषावादिनां मुहेराणाम्।
स्मरयति च भट्टबाणं भट्टाचार्यस्य सा वाणी॥

संस्कृत-चन्द्रिका—श्री जयचन्द्र शर्मा 'सिद्धान्त भूषण' राशि बडेकर एवं श्री अप्पा शर्मा के सम्पादकत्व में कोल्हापुर से 'संस्कृत-चन्द्रिका' नामक पत्र सन् १९०१ में प्रकाशित हुआ जो कि सम्भवतः ८ वर्ष तक ही भारती की सेवा कर सका।

सुनृतवादिनी—इस पत्रिका का प्रकाशन मैसूर से सन् १९०५ में प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक थे डॉ० कुलभूषण जी, श्री गोविन्द राजनायक, श्री जगद्धर जाडू शास्त्री एम० ए० तथा श्री अप्पा शर्मा। इसमें बहुत ही चमत्कारपूर्ण रोचक तथा मनोग्राही ललित पदावली सम्पन्न रचनायें होती थी। सम्भवतः यह पत्रिका भी केवल १० वर्ष तक ही अमर भारती' के प्रसार में योग दे सकी। इसके मुखपृष्ठ पर यह पद्य उल्लिखित होता था—

"शिवपदसरसीरुहैकभृङ्गो, प्रियतमभारतधर्मदेशिकेयम्।
मदयतु सुधियां मनांसि कामं, चिरमिह सुनृत वादिनी' सुवृत्ता॥

मित्र गोष्ठी—सन् १९०६ में काशी से 'मित्र गोष्ठी' नामक पत्रिका का भी श्री विधुशेखर भट्टाचार्य की देख-रेख में प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

आर्य विद्या सुधाकर—सन् १९०१ में काशी से ही आर्य विद्या सुधाकर नामक मासिक-पत्र विशिष्ट शास्त्रीय लेखों से सुसज्जित हुआ था तथा इस पत्र के द्वारा अनेक दुर्लभ ग्रन्थ प्रकाश में आये।

संस्कृत रत्नाकर—उक्त पत्र-पत्रिकाओं का समकालीन पत्र 'संस्कृत रत्नाकर' आज भी डॉ० मण्डन मिश्र एम० ए० एवं श्री हनुमत् प्रसाद शास्त्री के प्रबन्ध से महामहोपाध्याय श्री परमेश्वरानन्द शास्त्री के सम्पादकत्व में १७२ डी० कमला नगर देहली से प्रकाशित होता है। इस पत्र का प्रकाशन-काय सन् १९२२ में श्री पं० गिरधर शर्मा, श्री भट्ट मथुरानाथ शास्त्री व श्री पं० बालचन्द्र के सम्मिलित उद्योग से प्रारम्भ हुआ था तथा श्री पं० बालचन्द्र जी मुद्रणालय से एक वर्ष पर्यन्त बिना मुद्रण शुल्क के ही मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था। इसके मुखपृष्ठ पर प्रारम्भ से ही यह पद्य प्रकाशित होता आ रहा है—

जयति द्विजपति मण्डलकलासमृद्धयासमेधमानोऽपि।
वेलामतिक्रामन् 'संस्कृत रत्नाकरो' जगति॥

भारतोदय—यह गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर का मुख्य पत्र है। इसका प्रकाशन सन् १९१० ई० में प्रारम्भ हुआ था। सर्वप्रथम इसके सम्पादक थे श्री पद्मसिंह जी शर्मा। उनके पश्चात् स्व० श्री नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ इसके सम्पादक हुए और उसके पश्चात् डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी० के सम्पादकत्व में उच्च कोटि की लेख मालाओं द्वारा सुरभारती के प्रचार एवं प्रसार में अक्षुण्ण योगदान करता रहा है। आज उक्त शास्त्री के दिवंगत हो जाने पर भी यह पूर्ववत प्रकाशित हो रहा है—इसका हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित होता है। इसका मुख्य पद्य इस प्रकार हैं—

अयि भारत भारतोदयोऽयं भवविभवोद्भव भावनाभिलाषी ।
भगवति भुवि भक्तिभावभाजां तितनिषति प्रमुदं प्रकामरम्यः ।।
निशम्य तां लेखललाम सञ्चय प्रकाशने येन कृतोऽति निश्चयः ।
गृहीतसद्धर्मविशेष संश्रयः चकास्ति सोऽयं भुवि 'भारतोदयः' ।।

शारदा—श्री पं० चन्द्रशेखर शास्त्री के सम्पादकत्व में सन् १९११ से प्रयाग "शारदा" नामक संस्कृति-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था । सम्भवतः श्री शास्त्री जी ने पूर्व वर्णित 'संस्कृत रत्नाकर' पत्र का भी कुछ काल तक सम्पादन-कार्य किया है।

इस "शारदा" के प्रकाशनकाल में ही 'सहृदया' नामक पत्रिका तथा 'बहुश्रुत नाम पत्र का भी जन्म हुआ था जो कुछ काल पश्चात् ही अदृश्य हो गये ।

सूर्योदय—श्री सुप्रभात के सम्पादकत्व में सन् १९२५ में एक 'सूर्योदय' नामक पाक्षिक संस्कृत-पत्र निकला । सम्भवतः यह अधिक समय तक न चल सका ।

सन् १९३० में 'भारतधममहामण्डल' काशी के संचालक के सद्प्रयत्नों से 'सूर्योदय' नामक एक पत्र का प्रवर्तन हुआ । सम्प्रति यह श्री अवधेश शर्मा के सम्पादन-काल में प्रकाशित हो रहा है । इसके विशिष्ट उद्देश्य को व्यक्त करने वाला यह श्लोक मुखपृष्ट पर उल्लिखित रहता है—

रागद्वेषः निशाटनं विघटयन् मोहं तमो नाशयन्,
तामिस्रं जडवादकैरवकुलं ज्ञानत्विषा ग्लापयन् ।
विद्वत्कोकमशोकयन् नयसुधीरोलम्बमुन्मीलयन्,
सञ्जातः सुमनोमनो मधुरयन् सर्वत्र 'सूर्योदयः' ।।

उद्योत—कवितार्किक केसरी श्री पं० नृसिंहदेव शास्त्री के सम्पादकत्व में 'उद्योत' नाम का मासिक-पत्र लाहौर से प्रकाशित हुआ था । इसकी महत्ता मुखपृष्ठ पर छपे इस श्लोक से सहज में आंकी जा सकती है—

विहन्मानस कञ्जकोश कलिकामुन्मीलयन्नादराद्
अज्ञानान्धतमोविनाश-पटुतां विख्यात-विश्वप्रभः ।
नानाशास्त्रं विमर्श-मौक्तिक-गणद्योतं समुद्योतयन्—
'उद्योतो' दशदिक्षु मां समधिकां विस्तारयन् राजते ।।

संस्कृत साहित्य-परिषद्—श्री क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री उपेन्द्रमोहन सांख्यतीर्थ के सम्पाकत्व में सन् १९३६ में संस्कृत-साहित्य-परिषद्' नामक पत्रिका का प्रकाशन कलकत्ता से प्रारम्भ हुआ था जो कि अधिक दिनों तक प्रकाश में न रह सकी ।

कलिन्दी—श्री डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री एम० ए० के सम्पादकत्व में आगरा से सन् १९३६ में "कालिन्दी" नामक मासिक-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था, जिसके मुखपृष्ठ पर शोभा पा रहा था यह श्लोक—

काव्यावर्त्तविवर्त्तिता सुमनसां नेत्रोत्पलाह्लादिनी,
ततच्छात्रनिगूढतत्त्वलहरी विस्तारसच्चातुरी ।

विद्वद्वृन्दमनोज्ञचारुचरितान्मेन्दिन्दिराघूर्णिता,
"कालिन्दी" प्रवहत्यजस्रममला स्तुर्नंतिघ्ना घना ॥

"मधुरवाणी"—सन् १९३९ ई० में श्री पं० पण्ढरीनाथाचार्य के सम्पादकत्व एवं संरक्षण में गदग (कर्नाटक) से "मधुरवाणी" नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था, जिसके मुखपृष्ठ पर छपता था—

सुधानिष्यन्दिन्या मधुरमधुरालापकलया,
चिरावज्ञामूर्च्छाभिरमपहरन्ती सुरगिरा।
मनोज्ञालंकारा रसिकजन चेतांसि सहसा,
वशीकुर्वाणैयं भुवि "मधुरवाणी" विजयते ॥

"संस्कृत संजीवनम्"—डॉ० नागेन्द्रपति त्रिपाठी के सम्पादकत्व में पटना (विहार) से "संस्कृत संजीवनम्" नामक पत्र सन् १९४० से निकलना प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक-मण्डल में स्व० श्री हरिशंकर पाण्डेय जैसे विद्वान् रहे हैं। उन्होंने स्वयं अपना परिचय देते हुये लिखा है—

बाल्यादेव समर्पितं निजवयः शब्दागमाराधने,
विद्वन्मौलिगुरोः पदाम्बुजरजोरागो हृदि स्थापितः।
शिक्षापद्धतिरीक्षिता प्रचलिता देशेष्वलं मे पुनः,
सिद्धान्तोऽयमजागरीदनुभवैः कल्याणकल्पद्रुमः ॥

"साधना"—सन् १९४४ में बड़ौदा से "साधना" नामक मासिक-पत्रिका श्री शान्ति-प्रपन्न जी के उद्योग से निकली थी, ४–५ मास की स्वल्पायु में ही इसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

"बाल संस्कृतम्—"बम्बई से 'बाल संस्कृतम्" नामक पत्रिका श्री रामस्वरूप जी शास्त्री वैद्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो रही है। इस मासिक-पत्रिका का प्रारम्भ सन् १९५० में हुआ था। इसके प्रकाशन का समस्त भार श्री वैद्य जी के ऊपर ही है। इस पत्रिका में बालोपयोगी लेखों का अच्छा संग्रह रहता है।

"संस्कृत भवितव्यम्"—"संस्कृत भवितव्यम्" नामक साप्ताहिक पत्र डॉ० भा० वर्णेकर एम० ए० के सम्पादकत्व में नागपुर से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ—जो आज भी डॉ० के रा० जोशी के मुख्य सम्पादकत्व में प्रकाशित हो रहा है। यह अद्यतन संस्कृत में प्रमुख है।

"महाराज संस्कृत पत्रिका"—मैसूर से "महाराज-संस्कृत-पत्रिका" प्रकाशित हो रही है। इसका समस्त प्रकाशन व्यय मैसूर महाराज ने वहन किया। यद्यपि इस पत्रिका के लेखों में संस्कृत-भाषा विशेष सशक्त एवं परिष्कृत नहीं होती, फिर भी प्रकाशन की दृष्टि से आकर्षक हैं।

"भारती"—कवि शिरोमणि श्री मथुरानाथ शास्त्री तथा उनके सुपुत्र देवर्षि कलानाथ शास्त्री एम० ए० के सम्पादकत्व में 'भारती' नामक मासिक-पत्रिका जयपुर

(राजस्थान) से निकल रही है। इसका प्रारम्भ १९५९ में हुआ था। इस पत्रिका के मुखपृष्ठ पर यह श्लोक प्रकाशित होता है—

भानुवत् भारतीनानां भास्वद्भुवनभासिनी।
भागीरथीव भावाढ्या भारते भातु "भारती" ॥

"सागरिका"—सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री प्रो० रामजी उपाध्याय एम० ए०, डी० लिट०, के द्वारा "सागरिका" नाम की त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है। इसका प्रारम्भ सन् १९६२ में हुआ था। इसका स्तर एक शोधपत्रिका का है।

"दिव्यज्योतिः"—आचार्य दिवाकरदत्त शास्त्री के उद्योग से सन् १९५७ में आनन्द लॉज, जाखू, शिमला, पञ्जाब से "दिव्य-ज्योति" का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह सम्प्रति भी प्रकाशित हो रही है।

"संस्कृत मञ्जूषा"—श्री क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय के सम्पादकत्व में कलकत्ते में "संस्कृत-मञ्जूषा" नामका पत्रिका प्रकाशित होती रही, जिसके मुखपृष्ठ पर यह पद्य रहता था—

शरणं तरुणेन्दुशेखरः शरणं मे गिरिराज कन्यका।
शरणं पुनरेव तावुभौ शरणं नान्यदुपैमि दैवतम् ॥

"विद्वत्कला"—यह पत्रिका वर्ष में दो बार (षाण्मासिक रूप में) गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर से प्रकाशित होती है।

"गुरुकुल पत्रिका"—गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी से विद्या-मार्त्तण्ड श्री धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति के सम्पादकत्व में "गुरुकुल-पत्रिका" नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई थी, जो आज भी डॉ० निगम शर्मा के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो रही है।

"ब्रह्मचारी—यह मासिक पत्रिका श्री स्वामी त्यागानन्द जी सरस्वती की प्रेरणा से गुरुकुल महाविद्यालय, अयोध्या से प्रकाशित हुई थी। कुछ वर्षों पश्चात् इसका प्रकाशन बन्द हो गया और वह महाविद्यालय की सीमा में हस्तलिखित प्रति के रूप में सीमित हो गई।

"सारस्वती सुषमा"—संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की यह त्रैमासिक मुख पत्रिका है। दार्शनिकता-प्रधान लेखों का प्रकाशन इसकी अपनी विशेषता है। इसके प्रकाशन का प्रारम्भ डॉ० मंगलदेव जी शास्त्री एम० ए०, डी० फिल० के प्रधानाचार्यत्व काल में प्रारम्भ हुआ था और सम्प्रति इसके प्रकाशन में श्री पण्डित व्रजवल्लभ जी द्विवेदी वेदान्ताचार्य का उद्योग विशेष रहता है।

"अमृतवाणी"—प्रो० म० रामकृष्ण भट्ट एम० ए० के सम्पादकत्व में ५५, विल्सन गार्डन बैंगलौर—२ से 'अमृतवाणी' पत्रिका का वार्षिक प्रकाशन होता है—जिसका मोटो (Motto) है।

"वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम् ।"

"संस्कृत प्रतिभा"—डॉ० बी० राघवन् के सम्पादकत्व में 'सस्कृत-प्रतिभा' नामक अर्धवार्षिक पत्रिका 'साहित्य अकादमी नई दिल्ली' के तत्त्वावधान कई वर्षों से प्रकाशित होती रही है। इस समय इसके सम्पादक डॉ० विद्यानिवास मिश्र हैं। विविध विषयों से विभूषित इस पत्रिका का उद्देश्य मुखपृष्ठ पर अंकित इस श्लोक से स्पष्ट होता है—

धर्मो ब्रह्म रसो नाम शिवं सत्यं च सुन्दरम्।
या त्रिधा तत्वमुचे तां संस्कृत-प्रतिभां नुमः॥

इस पत्रिका में 'वर्ष' की विलास एवं 'अंक' को उन्मेष नाम से व्यवहृत किया गया है।

"मालव मयूर"—श्री रुद्रदेव जी त्रिपाठी साहित्याचार्य तथा श्री जयदेव जी त्रिपाठी के सम्पादकत्व में मन्दसौर (राजस्थान) से 'मालव-मयूर' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन होता है। इसका समस्त व्यय-भार उक्त दोनों सम्पादक महानुभाव ही वहन करते हैं। प्रकाशन के विषय में वे लिखते हैं—

प्रकाशमायात् प्रति पौर्णमास्यामाशां वितन्वद् विबुध व्रजानाम्।
लेखैः नवैः साधु समस्यया च समन्वितं पत्रमिदं चकास्ति॥
साहित्यमिच्छद्भिरथो प्रकाश्यममातिथिं यावदिह प्रहेयम्।
स्पष्टं सुवाच्यं च तथैव पृष्ठस्थितं सदा मञ्जिम रञ्जित च॥

"संस्कृतम् —साकेत (अयोध्या) से श्री कालिप्रसाद शास्त्री के सम्पादकत्व में 'संस्कृतम् नामक पत्र प्रकाशित हुआ। इसके प्रवर्तक थे श्री कालीकुमार त्रिपाठी। इसके मुखपृष्ठ पर छपा करता था यह श्लोक—

यावद् भारतवर्षः स्यात् यावद् विन्ध्य हिमाचलौ।
तावद् गंगा च गोदा च तावदेव हि 'संस्कृतम्'॥

'ज्योतिष्मती'—सन् १९३९–४० के आस-पास श्री भुवनप्रसाद मिश्र के संरक्षकत्व में तथा कवि तार्किक चक्रवर्ती महादेव शास्त्री के सम्पदाकत्व में काशी से 'ज्योतिष्मती' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसका जीवन-काल केवल १॥ वर्ष मात्र ही रहा।

'संस्कृत प्रभा'—भारती प्रतिष्ठान मेरठ से सन् १९५९ में 'संस्कृत-प्रभा' नामक पत्रिका प्रकाशित हुई। इसका प्रकाशन श्री द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री (संस्कृत भाषा में ही संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखक) के तत्वावधान में हुआ। इसका केवल एक ही अंक प्रकाशित हुआ। इसके मुखपृष्ठ का श्लोक है—

यत्प्रभा पटलोद्भासा भासतेऽद्यापि भारतम्।
दिव्या सा सर्वसंसारे भासतां संस्कृतप्रभा॥

'प्रणवपारिजात'—कलकत्ते से श्री सीताराम ओंकार के सत्प्रयत्नों से 'प्रणव-पारिजात' नामक मासिक-पत्र प्रकाशित हुआ—जिसके मुखपृष्ठ पर छपता था—

विशाल विश्वस्य विधान बीजं, वरं वरेण्यं विधिविष्णुशर्वम्।
वसुन्धरावारिविमानवह्निवायुस्वरूपं प्रणवं प्रपद्ये॥

इनके अतिरिक्त भी अनेक संस्कृत की पत्र-पत्रिकायें प्रकाश में आई हैं जिनमें से कुछ तो सर्वथा ही अदृश्य हो गई तथा कुछ के दर्शन कभी-कभी भूले-बिसरे होते रहते हैं। निःसन्देह संस्कृत-पत्रों के प्रकाशन में सम्पादकों एवं प्रबन्धकों के समक्ष विकराल आर्थिक कष्ट सदा ही रहता है, फिर भी "सुरभारती' की प्रशस्य भावना का अप्रतिम धन लेकर जिन महारथियों ने संस्कृत-पत्र-प्रकाशन के क्षेत्र में पदार्पण किया है, उनका प्रयत्न और त्याग कभी भुलाया नहीं जा सकता। समय-समय पर विभिन्न स्थलों से जो पत्र-पत्रिकायें प्रकाश में आई उनमें से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं—

'वैदिक मनोहरा' काञ्चीवरम् से सुरभारती' बम्बई 'आन्ध्र संस्कृत साहित्य पत्रिका' आन्ध्र से, 'श्रीः' काश्मीर से 'श्री शारदा' मैसूर से, 'आर्य-प्रभा' कलकत्ता से, 'भारती' पूना से, 'अमरवाणी' राजस्थान से, मनोरमा' उत्कल से, 'कौमुदी' सिन्ध हैदराबाद से, 'अमृत भारती' कोचीन से, 'साहित्य-सुधा' पटना से, काव्य कादम्बिनी' लश्कर से, उच्छृङ्खलम्' काशी से, 'वल्लंरी' काशी से, ब्रह्मविद्या' मासिक, अडयार, मद्रास से तथा 'अमर भारती' गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस से।

इसके अतरिक्त विद्यालयों एवं महाविद्यालयों से जो पत्रिकायें निकलती है उनमें भी संस्कृत का पर्याप्त पठनीय भाग रहता है—पर उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया जा सकता।

———

अध्याय

१२ आख्यान-साहित्य : उद्भव और विकास

विश्व-साहित्य में भारतीय आख्यान-साहित्य का स्थान—

विश्व-साहित्य में भारतीय आख्यान-साहित्य का बहुत बड़ा स्थान है। मौलिकता, रचना-नैपुण्य तथा विश्व-व्यापक प्रभाव की दृष्टि से वह अनुपम और अद्वितीय सिद्ध हो चुका है। इतना ही नहीं वरन् अब तो यह भी सिद्ध हो चुका है कि कथा-साहित्य का उदय इसी भारत में हुआ और इसने ही संसार के समक्ष इस साहित्यिक साधन की उपयोगिता सर्वप्रथम प्रदर्शित की। इन आख्यानों में विशुद्ध कल्पना-क्षेत्र का पर्यवेक्षण किया गया है।

संस्कृत के आख्यानों की विशेषता—

विश्व के इस प्राचीनतम आख्यान-साहित्य के ज्ञान के लिये भी इस संस्कृत के आख्यान-साहित्य का ज्ञान परमावश्यक है। इन आख्यानों में नाटकों अथवा काव्यों की भाँति, पौराणिक या ऐतिहासिक पात्रों या कथानकों का उपयोग नहीं हुआ है। इनमें शुद्ध काल्पनिक जगत् का चित्रण मिलता है। उसमें कहीं उत्सुकता तथा कुतूहल है, कहीं घटना-वैचित्र्य है, कहीं हास्य और विनोद है, कहीं गम्भीर उपदेश का मर्म है और कहीं सरल काव्य की मधुर छटा चमक उठी है। हमारे आख्यान-साहित्य की मौलिकता एवं मनोरञ्जकता से सारा विश्व प्रभावित हो चुका है। पाश्चात्यों ने तो मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा की है।

आख्यानों के विभाग—नीतिकथा और लोककथा—

संस्कृत आख्यान-साहित्य दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-- नीतिकथा (Diadectic-fables) और लोककथा अथवा मनोरञ्जन-कथा (Fairy-tales) प्रथमकोटि की कथाओं का लक्ष्य होता है उपदेश और दूसरी का मनोरञ्जन।

नीतिकथाओं की विशेषतायें—

संस्कृत-साहित्य में स्थान-स्थान पर आदश या उपदेश की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। काव्यों और नाटकों में ऐसे अनेक पद्य मिलते हैं, जिनमें सूक्तियों के माध्यम से नीति अथवा सदाचार का उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है। इस उपदेशात्मक प्रवृत्ति का पूर्ण परिपाक नीतिकथाओं में स्पष्ट होता है। इन कथाओं का उद्देश्य है—रोचक कहानियों से त्रिवर्ग की बातों का मार्मिक उपदेश देना। इनका विषय है सदाचार, नैतिकता, राजनीति और व्यावहारिक ज्ञान। आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या इनके क्षेत्र में नहीं आती। इनमें दैनिक जीवन की

सफलता के उद्देश्य से, पशु-पक्षियों की कहानियों के द्वारा राजनीति तथा सदाचार के गूढ़तिगूढ़ सिद्धान्त बतलाये जाते हैं जिन्हें अपरिपक्व प्रज्ञा वाले बालक भी सरलता से हृदयङ्गम कर लेते हैं।

इनकी भाषा और शैली—

इसके अतिरिक्त ये कहानियाँ भाषा तथा शैली की सरलता, बोधगम्यता एवं रोचकता का भी प्रदर्शन करती हैं। इनमे कहानी गद्य में और नैतिक शिक्षा अथवा उपदेश देने तथा गम्भीर बात कहने के लिये पद्य में लिखी जाती है। इसके अतिरिक्त इनमें एक मुख्य कथा के बीच कई गौण कथाओं का भी समावेश पाया जाता है और ये गौण कथायें मुख्य कथा के पात्रों द्वारा अपने सिद्धान्तों के समर्थन के लिये प्रयुक्त की जाती हैं। इनमें चुभते हुए मुहावरों, अनूठी लोकोक्तियों तथा रोचक दृष्टान्तों का सर्वत्र प्राधान्य है।

नीतिकथाओं की उत्पत्ति और विकास—

भारतीय जीवन का प्राकृतिक पदार्थों के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था कि पशु-पक्षियों आदि के उदाहरणों से व्यावहारिक उपदेश देने की प्रवृत्ति वैदिक काल से ही लक्षित होती है। मनुष्य और मछली की कथा 'ऋग्वेद' में प्राप्त होती है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी उद्गीथ-श्वान का आख्यान वर्णित है। पुराणों में तो बहुत सी नीति-कथायें प्राप्त होती हैं। महाभारत में विदुर के मुख से ऐसी अनेक कथायें कहलाई गई हैं। तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व के भरहुत के स्तूप पर बहुत ही नीति-कथाओं के नाम खुदे हैं। पतञ्जलि (१५० ई०) ने अपने महाभाष्य' में भी 'अजाकृपाणीय' और काकतालीय' जैसी लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। जैनों और बौद्धों की लिखी हुई नीति-कथायें भी इसी समय की हैं। बौद्ध-ग्रन्थ 'जातक' ३८० ई० पू० में ही विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त ६६८ ई० के एक चीनी विश्व-कोष में अनेक भारतीय नीति-कथाओं के अनुवाद उपलब्ध होते हैं। ये कथायें जैसा कि उक्त विश्वकोष में निर्दिष्ट है, बौद्ध-ग्रन्थों से संगृहीत हैं, जिनकी संख्या प्रायः २०० लिखी हुई है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि नीति-कथायें भारत की ही अपनी वस्तु हैं, जिन्हें अन्य देशों ने उससे उधार लिया है तथा यह भी ज्ञात होता है कि यह ईसा पूर्व पर्याप्त संख्या में विद्यमान थीं।

पञ्चतन्त्र—'पञ्चतन्त्र' संस्कृत नीतिकथा-साहित्य का विश्व में अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें नीति की बड़ी उपादेय, शिक्षाप्रद और मनोहर कहानियाँ हैं। बीच-बीच में सारगर्भित और निष्कर्षमय पद्यों का सन्निवेश हुआ है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल का तो पता नहीं लगता है, पर यह ज्ञात होता है कि लगभग छठी शती के बादशाह नौशेरवाँ के आदेश से पहलवी भाषा में पञ्चतन्त्र का अनुवाद 'बुरजोई' नामक हकीम ने किया। यह अनुवाद उपलब्ध नहीं हैं। इसके सीरियन तथा अरबी रूपान्तर प्राप्त होते हैं जिनके नाम क्रमशः 'कलिलग दिमनग' (५३०) और 'कलिलह दिमनह' (७५०) है। इससे ज्ञात होता है कि पुस्तक का नाम उस समय कदाचित् 'करकट लौर दमनक' रहा होगा।

५५० ई० में उसके पहलवी में अनुदित किये जाने के समय के पूर्व ही पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुका था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का उस पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त उसमें स्वयं विष्णुगुप्त का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। 'दीनार' शब्द का प्रयोग भी ईसा के बाद की रचना सिद्ध करता है। यह ज्ञात होता है कि किस ईसा की दूसरी शताब्दी में राजसभाओं में संस्कृत भाषा को आदरणीय स्थान मिल जाने के कारण ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ गया था। इसलिये सरल एवं बोधगम्य भाषा में राजनीति की शिक्षोपयोगी पुस्तकों की आवश्यकता बढ़ी। ब्राह्मणों का यह अभ्युदय गुप्तवंश का शासनकाल था। अतः 'पञ्चतन्त्र' का रचनाकाल ३०० ई० के लगभग माना जा सकता है।

पञ्चतन्त्र का स्वरूप—

यद्यपि 'पञ्चतन्त्र' अपने मूल रूप में नहीं प्राप्त होता, परन्तु उसके कई संस्करण प्राप्त होते हैं, जिनसे उनकी भाषा, शैली और विषय का आभास मिलता है। (१) सीरियन तथा अरबी में अनूदित संस्करण। (२) इसका उत्तर-पश्चिम भारतीय संस्करण, जो गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' में अन्तर्निदिष्ट है, और जो अब सोमदेव के 'कथासरित्सागर' और क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा मञ्जरी' में निहित है। (३) तंत्राख्यायिका' में सुरक्षित रूप जिसके दो काश्मीरी संस्करण प्राप्त होते हैं। (४) पञ्चतन्त्र का सरल संस्करण, जो अधुना भारतवर्ष में प्रचलित है। (५) इसका दक्षिण भारतीय संस्करण, जो भारवि (६०० ई०) के बाद का है। (६) १६६० ई० में मेघविजयकृत 'पञ्चाख्यानोद्धार' में सुरक्षित। (७) पूर्णभद्र (११९७ ई०) के जैन संस्करण में २१ कथायें अधिक प्राप्त होती हैं। (८) नैपाली 'पञ्चतन्त्र' संस्करण। इस प्रकार से पञ्चतन्त्र एक विपुल आख्यान-साहित्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। ये सब संस्करण मूल 'पञ्चतन्त्र' के रूपान्तर हैं। इनके आधार पर श्री एफ० एडगर्टन (F. Adgerton) द्वारा सम्पादित संस्करण अब सबसे अधिक विश्वस्त, प्रामाणिक तथा प्राचीनतम रूप का परिचायक माना जाता है।

पञ्चतन्त्र की रचना का उद्देश्य—

पञ्चतन्त्र की रचना का मूल उद्देश्य राजनीति की शिक्षा देना है, जैसा कि लेखक विष्णुशर्मा ने स्वयं प्रस्तावना में लिख दिया है। इस ग्रन्थ में अब पाँच तन्त्र या भाग—मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धिविग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षितकारक के नाम से पाये जाते हैं, परन्तु जैसा कि प्राचीन स्वरूपों से ज्ञात होता है, इसके पहले १२ तन्त्र रहे होंगे।

ग्रन्थ की शैली—

ग्रन्थ में पशु-पक्षी आदि सदाचार, नीति एवं लोक-व्यवहार के विषयों में बातचीत करते हैं, जिनमें लेखक की चुहुल, विनोदप्रियता तथा छेड़-छाड़ सर्वत्र समान रूप से देख पड़ती है। ग्रन्थ की भाषा चलती हुई, सरल, मुहावरेदार तथा विषय के पूर्णतः अनुरूप है। उसका गद्य सुबोध है, वाक्य छोटे-छोटे से हैं तथा

वाक्य-विन्यास में दुरूहता नहीं है। कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है पर उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्यों में हैं, जो प्राचीन ग्रन्थों, महाभारत एवं जातक आदि से संगृहीत हैं। लेखक की कुशलता उन पद्यों के चयन तथा कथानक में यथास्थान उनके बैठाने में है।

'पञ्चतन्त्र' का विश्वव्यापी प्रचार—

'पञ्चतन्त्र' की कथाओं का प्रचार विश्वव्यापी हो चुका है। बाइबिल के बाद 'पञ्चतन्त्र' ही संसार की सबसे अधिक प्रचलित पुस्तक है, जिसका अनुवाद प्रायः ५० भाषाओं में हो गया है।

हितोपदेश—नीति-कथाओं में पञ्चतन्त्र के बाद हितोपदेश का स्थान सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के रचयिता नारायण पण्डित थे, जिनके आश्रयदाता धवलचन्द्र बंगाल के कोई राजा थे। इस ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि १३७३ ई० की प्राप्त होती है। अतः १४वीं शती के पूर्व ग्रन्थ की रचना होना सिद्ध हो जाता है। इस ग्रन्थ का आधार पञ्चतन्त्र है। इस तथ्य को ग्रन्थकार ने स्वयं अपनी प्रस्तावना में स्पष्टतः स्वीकार किया है—"पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते"। हितोपदेश की ४३ कथाओं में से २५ कथायें तो 'पञ्चतन्त्र' से ही ली गई हैं। प्रथम दो परिच्छेदों -मित्रलाभ और सुहृद्भेद का आधार पञ्चतन्त्र ही है। वैसे हितोपदेश में ४ परिच्छेद है—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि।

हितोपदेश की शैली—हितोपदेश में पद्यों की संख्या अधिक है। कहीं-कहीं तो इनका इतना अधिक बाहुल्य हो गया है कि कथा के प्रवाह की स्वाभाविक गति में व्याघात सा पड़ता प्रतीत होता है। ये पद्य अन्य प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कामन्दकी-नीतिसार से पर्याप्त मात्रा में लिये हैं और अत्यन्त उपदेशपूर्ण हैं। इसकी भाषा सरल, स्वाभाविक तथा सुबोध और शैली सहज ही में समझ में आ जाने वाली है।

हितोपदेश का प्रचार—इस ग्रन्थ का प्रचार भारतवर्ष में पञ्चतन्त्र से कहीं अधिक है। जैसा कि अभी लिखा जा चुका है, ये पद्य अत्यन्त उच्चकोटि की नैतिक शिक्षा के आदर्श को प्रतिपादित करते हैं। उदाहरणार्थ एक पद्य देखिये—

"व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं,
वध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान् मत्स्याः समुद्रादपि।
दुर्नीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभेगुणः,
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि॥"

लोककथा—उपदेश-प्रधान नीतिकथाओं के अतिरिक्त मनोरञ्जनात्मक लोक-कथाओं का भी अस्तित्व संस्कृत-साहित्य में प्राचीन काल से ही पाया जाता है। वैसे तो नीतिकथाओं की पर्याप्त विशेषतायें लोककथाओं मे आ गई हैं, परन्तु दोनों में प्रधानतया यही अन्तर है कि नीतिकथायें उपदेश-प्रधान हैं और लोककथायें कल्पना-प्रधान। नीतिकथायें पशु-पक्षियों से सम्बन्ध रखती हैं, जबकि लोककथायें मनुष्यमात्र के जीवन से अनुस्यूत ही नहीं अनुप्राणित भी हैं।

बृहत्कथा—

बृहत्कथा का समय—लोककथाओं का प्राचीनतम संग्रह 'बृहत्कथा' है, जिसका समय मूलर के अनुसार प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० है, परन्तु अब नवीन खोजों के आधार पर इसका समय ७८ ई० सिद्ध हो गया है।

बृहत्कथा का स्वरूप—मूल 'वड्ढकहा' जो कि पैशाची प्राकृत भाषा में थी, आजकल उपलब्ध नहीं होती है। इसमें एक लाख पद्य कहे जाते हैं। अब तो उसके केवल ३ संक्षिप्त संस्करण प्राप्त होते हैं। मूलकृति गद्यात्मक थी या पद्यात्मक, यह भी निश्चत नहीं हो सका है। काश्मीर की जनश्रुति के आधार पर ग्रन्थ पद्यात्मक था परन्तु दण्डी ने काव्यादर्श में इसे गद्यात्मक बताया है। 'बृहत्कथा' के जो तीन पद्यात्मक स्वरूप अधुना संस्कृत में उपलब्ध हैं वे ये हैं—

(१) **बृहत्कथाश्लोकसंग्रह**—नेपाल के बुध स्वामी कृत 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' का समय आठवीं अथवा नवीं शताब्दी है। इसके भी कुछ अंश उपलब्ध हैं, जिसमें २८ सर्ग और ४५२४ श्लोक हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनुमानतः १०० सर्ग और २५००० श्लोक थे। भाषा में प्राकृतस्वरूप भी मिल जाते हैं, जो सम्भवतः मूल ग्रन्थ के रहे होंगे।

(२) **बृहत्कथामञ्जरी**—'बृहत्कथामञ्जरी' के रचयिता क्षेमेन्द्र काश्मीरी राजा अनन्त के आश्रित थे। ग्रन्थ का समय १०३७ ई० ही है। इसमें ७५०० श्लोक हैं। यह 'बृहत्कथा' का संक्षिप्त स्वरूप है, परन्तु इसके कथानक में स्पष्टता की मात्रा कम है। शैली प्राञ्जल और कवित्वपूर्ण है।

(३) **कथासरित्सागर**—'बृहत्कथा' से सब संस्करणों में लोक-विश्रुत तथा प्रसिद्धतम सोमदेव का 'कथासरित्सागर' है। सोमदेव क्षेमेन्द्र के समकालीन थे। ग्रन्थ-रचना का समय ११वीं शती ही है। इसमें २४००० श्लोक हैं। संसार में यही सबसे प्राचीन विशालकाय कथा-संग्रह है। कथानक की सृष्टि कौशल से हुई है और ग्रन्थ-रचना के समय पर रचयिता ने पूर्ण सतर्कता से ध्यान रक्खा है।

तामिल संस्करण—बृहत्कथा के दो तामिल संस्करण अभी हाल ही में प्राप्त हुए हैं।

'बृहत्कथा' का स्थान और प्रसिद्धि—जिस प्रकार नीति-कथाओं में 'पञ्चतन्त्र' का स्थान सर्वोपरि है, उसी प्रकार लोक-कथाओं में 'बृहत्कथा' का स्थान भी अग्रगण्य है। 'रामायण' एवं 'महाभारत' के समान यह भी एक अपूर्व निधि मानी गई है। उसी के आधार पर संस्कृत के बहुत से ग्रन्थों की रचना हुई है। शूद्रक, भास तथा हर्ष आदि के नाटकों के पात्र प्रायः 'बृहत्कथा' से ही लिये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह बहुत लोकप्रिय रही है, क्योंकि इसका वर्णन दण्डी, सुबन्धु एवं बाण ने अत्यन्त आदर के साथ किया है। 'दशरूपक' के रचयिता धनञ्जय (१०.०० ई०) ने इसे 'रामायण' और 'महाभारत' के ही समान व्यापक और प्रभावपूर्ण माना है। ९वीं शताब्दी के कम्बोडिया (प्राचीन चम्पा नगरी) के शिलालेख में भी गुणाढ्य का उल्लेख

मिलता है। 'त्रिविक्रमभट्ट' अपने 'नलचम्पू' (९१५ ई०) और सोमदेव (९५९ ई०) ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में इसकी पर्याप्त प्रशंसा की है। बाण ने 'बृहत्कथा' को हरलीला के समान माना है। गोवर्धनाचार्य ने (१२०० ई०) ने 'आर्यासप्तशती' में गुणाढ्य को व्यास का साक्षात् अवतार कहा है। सोड्ढल ने भी अपनी 'उदयसुन्दरी' कथा में 'बृहत्कथा' की लोकप्रियता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

वेताल पंचविंशतिका—'बृहत्कथा' के अतिरिक्त अन्य अनेक कथा-संग्रह भी प्राप्त होते हैं। 'वेतालपञ्चविंशतिका' जिसका,आधार 'बृहत्कथा-मञ्जरी' और 'कथा-सरित्सागर' है पूर्ण रूप में प्राप्त होती है। इसके गद्यमय स्वरूप के रचयिता शिवदास (१२०० ई०) हैं और जैमलदत्त इसके पद्यमय स्वरूप के रचयिता हैं। इसमें प्रहेलिका के स्वरूप में २५ कौतूहलपूर्ण कहानियों का संग्रह है।

सिंहासन द्वात्रिंशिका—'सिंहासनद्वात्रिंशिका', 'द्वात्रिंशित्पुत्तलिका' अथवा 'विक्रमचरित' भी एक मनोरञ्जक कथा-संग्रह है। इसके ३ संस्करण गद्यमय, पद्यमय और गद्यपद्यमय प्राप्त होते हैं। इसमें भोज (१०१७-१०६३ ई०) के स्पष्ट उल्लेख से प्रतीत होता है कि इसकी रचना भोज के बाद की है।

शुकसप्तति—'शुकसप्तति' एक रोचक और लोकप्रिय कथा-संग्रह है, जिसके कर्ता का पता नहीं है। इसके ३ संस्करण प्राप्त होते हैं। इसकी रचना १४वीं शताब्दी से पूर्व की है, क्योंकि उस समय इसका फारसी में अनुवाद हुआ था, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें ७० कहानियाँ हैं।

अन्य कथा-संग्रह—इसके अतिरिक्त १५ वीं शताब्दी में विद्यापति-रचित एक ४४ कथाओं का संग्रह 'पुरुष परीक्षा' के नाम से प्राप्त होता है। शिवदासकृत कथार्णव में ३५ कथायें हैं। १६वीं शताब्दी के वल्लालसेन की एक रचना 'भोजप्रबन्ध' भी उपलब्ध है, जो दंतकथाओं का एक संग्रह है। कई पाश्चात्य कथा-संग्रहों का भी अनुवाद प्राप्त होता है। जगदबन्धु जी का 'आख्यायामिनी' (Arabian Nights) तथा नारायण बालकृष्ण का 'ईसब्नीति कथा' (Aesop's Fables) भी प्राप्त होते हैं।

बौद्ध तथा जैन कथा-संग्रह—बौद्ध कथा-संग्रह 'अवदान' कहलाते थे। इसके दो संग्रह 'दिव्यावादन' तथा 'अवदानशतक' पाये जाते हैं। आर्यशूर का संस्कृत का 'जातक-संग्रह' चतुर्थ शताब्दी का है। जैनकथा संग्रहों में हेमचन्द्र (१०८८ ई०) का 'परिशिष्टपर्वन्' भी उल्लेखनीय है।

आख्यायिकाओं का प्रचार और प्रभाव—संस्कृत की इन आख्यायिकाओं का इतना अधिक प्रचार हुआ कि प्रायः वे सभी विश्व के साहित्य का एक अनिवार्य अङ्ग बन गई हैं। इनका प्रसार तथा प्रचार बड़ा कौतूहल वर्धक, विस्मयोत्पादक तथा रोचक है, क्योंकि ये केवल एशिया तथा योरोप, जहाँ से व्यापारिक सम्बन्ध रहता था, में ही नहीं वरन् अफ्रीका की असभ्य और अर्ध-सभ्य जातियों तक में पाई जाती हैं।

पञ्चतन्त्र का प्रचार—भारतीय कथा-साहित्य की एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, 'पञ्चतन्त्र'। जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है, इसके अनुवाद

६वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गये थे। सर्वप्रथम पहलवी में अनूदित होकर इसका पुनः अनुवाद सीरियन तथा अरबी में हुआ। इस अरबी अनुवाद से पाश्चात्य देशों की प्रायः चालीस (४०) भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया। ये पाश्चात्य अनुवाद प्रायः ११वीं शताब्दी के ग्रीक अनुवाद से हुये हैं। १५७० ई० में सर थामस नार्थ ने इटैलियन से अंग्रेजी में इनका अनुवाद किया। जर्मन साहित्य पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। जर्मन विद्वान हर्टेल ने इनकी छानबीन में अथक परिश्रम किया है।

अन्य कथा-संग्रहों का अनुवाद और प्रचार—पञ्चतन्त्र के अतिरिक्त अन्य कथा-संग्रहों का भी समय-समय पर अनुवाद होता रहा है। 'वेतालपञ्चविंशतिका' का अनुवाद हिन्दी में होने के बाद क्रमशः प्रान्तीय भाषाओं तथा अंग्रेजी और जर्मनी में भी हो गया है। रूसी भाषा में सम्भवतः हो रहा है। मंगोलियन पुस्तक 'स्मिद्दीकूर' में इसके पर्याप्त अंश अनूदित प्राप्त होते हैं। १५७४ ई० में अकबर ने 'विक्रम-चरित' का अनुवाद फारसी में कराया था, जिससे कि उसका अनुवाद मंगोल, श्याम तथा चीन की भाषाओं में हुआ। १०वीं शताब्दी में 'शुकसप्तति' के फारसी अनुवाद का प्रभाव बहुत व्यापक हुआ। सिन्दबाद जहाजी की कहानियों का आधार यही है, जैसा कि 'किताबुल सिन्दबाद' के लेखक मसूदी (९५६ ई०) ने लिखा है कि वह कथा राजा कूरुष के समय भारत में लिखी गई थी और इसका आधार भारतीय ही है। इसका भारतीय नाम 'सिद्धपति की कथा' है जो कि अब अप्राप्त है। यद्यपि इसका यूनानी अनुवाद 'सितिपास' तथा हिब्रू 'संदबार' आदि प्राप्य हैं। 'परिशिष्टपर्वन्' तथा कथासरित्सागर के रूपान्तर चीनी भाषा में प्राप्त होते हैं। 'अवदानशतक' का तृतीय शताब्दी का चीनी अनुवाद भी उपलब्ध है। केवल अनुवाद ही नहीं वरन् कथा के अन्तर्गत कथाओं के सन्निवेश की शैली 'सहस्ररजनीचरित' (Arabian Nights) आदि में अनुसृत हुई है।

उपसंहार—इन अनुवादों ने न केवल कथा-साहित्य का ही प्रसार किया, वरन् भारतीय साहित्य के साथ ही साथ भारतीय संस्कृति का भी देश देशान्तरों में प्रसार किया तथा पूर्व एवं पश्चिम में एकता का सम्बन्ध स्थापित किया। एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि भारतीय आख्यान जितने विचित्र हैं उससे कहीं अधिक विचित्र आर्य आख्यान-साहित्य की विश्वविजय की कथा है।

——— —

अध्याय

१३ चम्पू-काव्य

"गद्य-पद्य मयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।"

गद्य-पद्य मिश्रित प्रयोगमय काव्य चम्पू कहे जाते हैं। इन काव्यों में गद्य और पद्य दोनों कथावस्तु के समान रूप से अंग होते हैं और दोनों का प्रयोजन भी विशेष न होकर समान ही होता है। संगीत के गीत और वाद्य के समान दोनों (गद्य-पद्य) पारस्परिक सम्बन्ध धारण करते हैं।

चम्पू-काव्य की शैली अति रमणीय होने से वह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है—

उदात्तनायकोपेता गुणवद्वृत्तमुक्तका।
जम्पूश्चहारयष्टिश्च केन न क्रियते हृदि॥ —त्रिविक्रमभट्ट

प्राचीन सन्दर्भ—'चम्पू' का विवेचन प्राचीन ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता है। महाभारत, जातकमाला और शिलालेखों में चम्पू का पूर्व रूप यत्र-तत्र देखा जा सकता है। सर्वप्रथम दण्डी ने 'चम्पू' का लक्षण दिया है। १०वीं शती ई० के पश्चात् हमें 'चम्पूकाव्य' के दर्शन होते हैं। चम्पूकाव्यों की संख्या लगभग २५० है। उन से कुछ का संकेत किया जा रहा है।

त्रिविक्रमभट्ट—'नलचम्पू' संस्कृत साहित्य का प्रथम 'चम्पू-काव्य' है। इसके लेखक त्रिविक्रम भट्ट हैं। इनका समय ९१५ ई० के आस-पास है। त्रिविक्रम ने 'मदालसा चम्पू' भी लिखा है। नलचम्पू एक अति प्रौढ़ कृति है। नलचम्पूकार भाव-प्रकाशन की शैली के पक्षपाती नहीं हैं। इनके अनुसार (१/२२) सुबन्धु के समान प्रत्यक्ष श्लेषमय रचना ही उदात्त काव्य कही जा सकती है। ये वस्तुतः प्रथम श्लेष कवि हैं इनकी रचना में सुन्दर और सरल श्लेष प्राप्त होते हैं। मनोहर पद-विन्यास एवं रमणीय शब्दावली सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। अनेक स्थल उदाहरण में प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

"प्रसन्नाः कान्ति हारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥"

नलचम्पू के अनेक सुन्दर पद्यों का उद्धरण भोजराज व विश्वनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थों में दिया है। 'नलचम्पू' के गद्य एवं पद्य दोनों उत्कृष्ट हैं।

सोमदेव—१०वीं शती ई० में दक्षिण में राष्ट्र-कूट नरेश कृष्णदेव राय के समकालीन जैन कवि सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना की है। इसमें सात आसव हैं जिसमें अवन्ति नरेश यशोधर की कथा का वर्णन है। नरेश अपनी कपटी रानी की अनुचित गतिविधियों से दुःखी होकर जैन धर्म ग्रहण कर लेते हैं। कृति को

कथा अत्यन्त मनोहर है, जो कि अति सुरुचिपूर्ण शैली में लिखी गई है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया जा सकता है, जो उनकी शैली की मनोहरता के लिये विख्यात है—

सरित्सरोवारिधिवापिकासु निमज्जनोन्मज्जनमात्रमेव।
पुण्याय चेत्तर्हि जलेचराणां स्वर्गः पुरास्यादितरेषु पश्चात् ॥

सोमदेव से हमें अनेक सूचनायें प्राप्त होती हैं, जो लेखकों और ग्रन्थों के विषय में हैं। ये ग्रन्थ यद्यपि आज उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु सोमदेव ने अपनी कृति में उनका उल्लेख किया है।

हरिश्चन्द्र—दसवीं शती ई० में 'जीवन्धर चम्पू' की रचना हरिश्चन्द्र के द्वारा हुई है। इस कृति में गुणभद्र के उत्तर पुराण से कथानक लिया गया है। माघ और वाक्पतिराज का अनुकरण इस कृति में पाया जाता है।

भोज—संस्कृत साहित्य एवं इतिहास में भी प्रख्यात धारानरेश राजा भोज ने 'रामायण-चम्पू' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसका समय ११वीं शती ई० है। कथानक राम-कथा है। भोज के द्वारा किष्किन्धाकाण्ड तक ही रचना हुई थी। बाद में लक्ष्मण भट्ट ने इसे युद्धकाण्ड तक निर्मित कर सम्पूर्ण किया है।

अनन्त—अनन्त कवि ने 'भारतचम्पू' की रचना की है। इसमें १२ स्तवक हैं। कथानक महाभारत का है।

सोड्ढल—'उदयसुन्दरी कथा 'चम्पू' संस्कृत साहित्य में विशेष विख्यात है। इसके रचयिता सोड्ढल गुजरात के कायस्थ वंशोद्भव थे। ११वीं शती के कोंकण नरेश मुम्मुणिराज उनके आश्रयदाता थे। सोड्ढल ने बाण का स्पष्ट रूप से अनुकरण किया है। प्रतिष्ठान नरेश के विवाह का जो नागराज की दुहिता उभयसुन्दरी से हुआ था, वर्णन है। सोड्ढल ने कृति में अपना परिचय दिया है। कृति की भाषा ललित एवं मधुर है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत है—

कमलिनी भुवनान्तरिते रवौ व्यपगतालिकलापशिरोरुहा।
परिदधे विधवेव सुधाकरद्युतिवितानमिषेण सितांशुकम् ॥

रानी तिरुमलाम्बा—डा० लक्ष्मी स्वरूप ने १९२४ ई० में तंजोर लाइब्रेरी से 'वरदाम्बिका परिणय-चम्पू' की पाण्डुलिपि उपलब्ध करके १९३२ ई० में उसका प्रकाशन एवं सम्पादन किया। इस कृति का रचनाकाल डा० स्वरूप ने १६वीं शती ई० में निश्चित किया है।

लेखिका ने अच्युतराय और वरदाम्बिका की कहानी के रूप में अपनी प्रणय-कथा भी लिखी है। रचना शैली से ज्ञात होता है कि रानी महान् विद्वान् एवं कला-निष्णात थी। संस्कृत भाषा पर उनका असामान्य अधिकार था। भाषा, दीर्घ समासों से युक्त होने पर भी आकर्षक है।

कविकर्णपूर—इनकी कृति 'आनन्द-विलास-चम्पू' है, जिसमें श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन है। कृति का समय १६वीं शती ई० है।

जीवर्णोस्वामी—इनकी कृति 'गोपाल-चम्पू' में श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का मनोहर वर्णन है।

नारायण—१७ वीं शती के इस लेखक ने स्वधा और चन्द्रमा की प्रणयकथा को लेकर 'स्वधासुधाकरचम्पू' की रचना की है। कविता आशु काव्य का उत्तम उदाहरण है।

वेंकटाध्वरि—'विश्वगुणादर्शचम्पू' में भारत के विभिन्न प्रान्तों की विशेषताओं का दो गन्धर्वों के द्वारा वर्णन है। कृति १७ वीं शती ई० की है। गन्धर्व विमानारूढ़ होकर भ्रमण कर रहे हैं।

शङ्कर कवि—काशी नरेश चेतसिंह की प्रशंसा में कवि ने 'शंकरचेतोविलास चम्पू' की रचना की है। कृति नूतनता से समन्वित एक सुन्दर रचना है।

आधुनिक चम्पूकाव्यों में दिलीपदत्त शर्मा का 'प्रतापचम्पू' एक प्रसिद्ध रचना है।

———

अध्याय

१४ नाट्यशास्त्र

ऐतिहासिक क्रम—पाणिनि (ई० पू० षष्ठ शतक[1]) ने अलङ्कार सूत्रों के विषय में कुछ नहीं कहा जब कि नटसूत्रों[2] की ओर स्पष्ट निर्देश किया गया है। संकेत मिलता है कि 'काव्यशास्त्र' के पूर्व ही नाट्यशास्त्र का उदय हो चुका था। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में गौण रूप से काव्यशास्त्र का उल्लेख हुआ है। शिलालिन और कृशाश्व नटसूत्रों के प्रवर्तक थे। इन नटसूत्रों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। सम्भव है, इन नटसूत्रों में नाट्यशास्त्र सम्बन्धी तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया हो और यह भी हो सकता है कि इनमें केवल नटों की कलाबाजी की ही चर्चा हो परिस्थितियों को देखते हुये प्रथम विकल्प ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि कलाबाजी के लिये निमित्त नटसूत्रों से गोत्र के चल पड़ने की सम्भावना की संगति नहीं बैठती। भरत के 'नाट्यशास्त्र' से पूर्व नाट्य-सम्बन्धी अन्य रचनायें रही होंगी। स्वयं भरत ने ब्रह्माजी को नाट्यवेद का रचयिता माना है। गान्धर्व वेद के प्रवर्तकों के रूप में स्वाति तथा नारद का नाम अनेक बार लिया है। प्रस्तुत 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य, अभिनय एवं संगीत का जो समृद्ध रूप मिलता है उससे स्पष्ट विदित होता है कि उसकी रचना के पूर्व अनेक नाटकों और नाट्य-सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। साथ ही लोक, वेद और अध्यात्म इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हुये भी भरत ने लोकप्रमाण पर अत्यधिक आस्था प्रकट की है। अत्यन्त विस्तृत, विशाल एवम् व्यापक क्षेत्र वाले 'नाट्यशास्त्र' से नाट्य के केवल साहित्य-पक्ष सम्बन्धी तथ्यों का चयन, संग्रह एवम् समाहार करके सारग्राही धनञ्जय ने 'दशरूपक' में ऐसा संक्षिप्त पुटपाक-सा प्रस्तुत किया है, जिसके प्रसाद के प्रभाव से रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनय, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ में से कोई भी परवर्ती नाट्यशास्त्राचार्य वञ्चित न रह सका।

भरत का 'नाट्यशास्त्र' भारतीय ललित कलाओं का विश्वकोष कहा जा सकता है। इसमें नाट्य की प्रधानता होने पर भी तदुपकारक होने के नाते अलंकारशास्त्र, संगीतशास्त्र तथा छन्दःशास्त्र आदि के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन सच्चे शास्त्रीय ढंग से हुआ है। कतिपय विद्वानों का मत है कि इसके ३६ अथवा 'अभिनवभारती' के अनुसार ३७ अध्यायों तथा ५००० श्लोकों की रचना अनेक शताब्दियों के दीर्घ साहित्यिक प्रयास का सरस फल है[3]। नाट्यशास्त्र में तीन अंश विद्यमान हैं—

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति (पृष्ठ ३१०)

२. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४/३/११० । (अष्टाध्यायी)
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः । ४/३/२१२। (वही)

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास, ले० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ३१६ सं० १९४५।

(१) सूत्रभाष्य ग्रन्थ के प्राचीनतम गद्यात्मक रूप, (२) कारिका तथा (३) अनुवंश्य श्लोक (गुरु-शिष्य परम्परा से आने वाले प्राचीन पद्य) जिन्हें अपने सूत्रों की पुष्टि में भरत ने संगृहीत किया है। अभिनवगुप्त की टीका के अनुसार ये पद्य भरतमुनि से भी प्राचीनतर आचार्यों द्वारा रचित हैं। इसके छठे, सातवें तथा सोलहवें अध्यायों में अलङ्कारशास्त्र का विवेचन आनुषंगिक रूप से किया गया है।

नाट्य-सिद्धान्त सम्बन्धी विविध तत्त्वों का वास्तविक मर्म समझने के लिये नाट्यशास्त्र के विषय-क्रम का विधिवत् पर्यवेक्षण अपेक्षित है।

नाट्यशास्त्र' का विषय विवेचन—'नाट्यशास्त्र' के नाट्योत्पत्ति विषयक प्रथम अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति, प्रयोजन तथा प्रयोग के विषय में आत्रेय आदि मुनियों के प्रश्न करने पर भरतमुनि ने उत्तर देते हुए ब्रह्मा द्वारा नाट्यवेद की उत्पत्ति, इन्द्रध्वज के उत्सव पर अपने शत-पुत्रों तथा अप्सराओं के द्वारा नाट्य प्रयोग के आरम्भ असुरों द्वारा विघ्नोत्पादन तथा जर्जर द्वारा उनके निरसन, पितामह की आज्ञा से विश्वकर्मा के द्वारा नाट्यवेश्म के निर्माण, नाटक की रक्षा हेतु रंग के विविध भागों में विभिन्न देवताओं की नियुक्ति तथा रंगदैवत पूजन के प्रयोजन का वर्णन किया है।

प्रेक्षागृहलक्षण नामक द्वितीय अध्याय में विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र इन तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों का वर्णन प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर प्रकारों में किया गया है। प्रत्येक के प्रमाण का निर्णय तथा मध्यम प्रमाण का मनुष्यों के योग्य होने, भूमि-विभाग करने, सूत्र का प्रसारण करके पृथ्वी नापने, रंगगृह-विभाग तथा मंडप बनाने, स्तम्भ-स्थापन करके मतवारणी तथा रंगशीर्ष रचने, दारुकर्म, भित्तिकर्म तथा चित्रकर्म करने का निर्देश करके चतुरस्र तथा त्र्यस्र (त्रिकोण) रंगशालाओं का लक्षण किया गया है।

रंगदैवत-पूजन नामक तृतीय अध्याय में पूर्वरंग के अन्तर्गत रंगदैवत-पूजन का विधान वर्णित है। देवताओं के साहाय्य की प्राप्ति के लिये नाट्याचार्य की स्तुति करने, जर्जर की अर्चना करने, पूजन के उपकरण जुटाने, वैदिक तथा लौकिक देवताओं की स्थापना करने, जर्जर को अभियन्त्रित करके मन्त्राहुतियुक्त हवन करने के उपरान्त नाट्याचार्य के द्वारा कुम्भभेदन करके रंग को प्रकाशित करने का वर्णन है। फिर रंग की पूजा करने तथा न करने के फलों का कथन हुआ है।

ताण्डवलक्षण नामक चौथे अध्याय में अमृतमन्थन नामक 'समवकार' तथा त्रिपुरदाह नामक 'डिम' के अभिनय का वर्णन करके पूर्वरंग के दो प्रकार बताये गये हैं, फिर तंडु द्वारा कहे गए ३२ अंगहारों के प्रयोग बताकर १०८ करणों के नामोल्लेख, उनके प्रयोग के प्रकार तथा सबके लक्षण, फिर ३२ अंगहारों तथा चार रेचकों के भी लक्षण किये गये हैं। तब ताण्डव का व्युत्पत्ति क्रम बताया गया है। ऋषियों के द्वारा नृत्त के प्रयोजन का प्रश्न फिर आने पर, नृत्त के प्रयोग के अवसरादि का वर्णन करके ताण्डव तथा वर्धमानक के लक्षणों तथा आसारित, पिंडी-प्रयोग, गीत छन्दक तथा नृत्त प्रयोग की विधियों का विवरण है।

पूर्वरंगविधि नामक पाँचवें अध्याय में पूर्वरंग के विषय में मुनियों के प्रश्न करने पर भरत द्वारा पूर्वरंग का लक्षण तथा प्रत्याहार आदि उसके १० अङ्गों का उल्लेख, नान्दी, ध्रुवा, रङ्गद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत, प्ररोचना आदि के लक्षण करके देवता, दैत्य, गन्धर्व राक्षसों और यज्ञों तथा पितरों आदि को सन्तुष्ट करने वाली विविध आश्रवण विधियों का कथन करते हुये निर्गीत की उत्पत्ति और प्रयोजन बताने के पश्चात् ध्रुवा और नान्दी की प्रयोगविधि और तत्पश्चात् स्थापक तथा प्रस्तावना का लक्षण करके ध्रुवा के पाँच प्रकारों—उत्थापनी, परिवर्ता, अपकृष्ट, अड्डिता तथा विक्षिप्ता का वर्णन किया गया है।

सविकल्प नामक छठे अध्याय में मुनियों के रसविषयक पाँच प्रश्नों का उत्तर देते हुए भरत रस तथा भाव आदि के संग्रह का प्रतिपादन करके संग्रह-कारिका तथा निरुक्त आदि की व्याख्या करते हैं। फिर आठ रस स्थायीभाव, संचारीभाव, आठ सात्विकभाव, चतुर्विध अभिनय तथा द्विविध धर्म का वर्णन करके चतुर्विध वृत्तियाँ, चार प्रवृत्तियाँ, दो सिद्धियाँ, दो प्रकार के स्वर, चार प्रकार के वाद्य, पंचविध गान, त्रिविध रंगशाला का विवरण देते हुए नाट्य-रस की व्याख्या की गई है। तब रसों और भावों का परस्पर सम्बन्ध तथा शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स रसों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक रसों की उत्पत्ति बताकर रसों के वर्णों एवं देवताओं की गणना और तत्पश्चात् आठों रसों का विशद वर्णन तथा शृङ्गार, करुण, वीर, भयानक, बीभत्स अद्भुत रसों में से प्रत्येक के त्रैविध्य का निरूपण किया गया है।

भावव्यञ्जन नामक सातवें अध्याय में भाव, विभाव तथा अनुभावों के लक्षण देकर विभावों और अनुभवों का लोकस्वभाव के अनुगत होना कहा गया है। फिर भाव के भेद करते हुये आठ स्थायीभावों, तेंतीस व्यभिचारी भावों, आठ सात्विक भावों का उल्लेख और बाद में सात्विक भावों के क्रम का कथन करके भावों का रस में विनियोग प्रदर्शित है।

उपांगविधान नामक आठवें अध्याय में मुनियों के अभिनय सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुये 'अभिनय' शब्द की निरुक्ति तथा अभिनय के चार प्रकार बताकर अंगाभिनय के त्रैविध्य तथा अभिनय की वस्तुओं का निरूपण और अकम्पित आदि १३ प्रकार के शिर-संचालनों का लक्षण किया गया है। फिर दृष्टि का सामान्य लक्षण और आठ रसपरक, आठ स्थायीभावपरक तथा २० प्रकार की संचारीभावजन्य दृष्टियों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् रसादि मे दृष्टियों का विनियोग, दर्शन के भेद, तारापुटों के कर्मों का नामोल्लेख और रसों में उनका विनियोग, भौंहों के ७ कर्मों का नामोल्लेख और उनके रस भाव और प्रयोजन, नासिका के ६ कर्म, कपोल के ६ कर्म, अधर के ३ कर्म तथा भावों में उनका विनियोग, चिबुक के सात कर्म और उनका भावों तथा कर्मों में विनियोग, ६ आस्यन कर्म और उनका विनियोग चार प्रकार के मुखराग और भावों, रसों एवं प्रयोजनों में उनके प्रयोगों, ग्रीवा के ९ कर्मों तथा प्रयोगों का वर्णन है।

हस्ताभिनय नामक नवम अध्याय में असंयुक्त-हस्त का लक्षण तथा पताका-हस्त आदि उसके २४ प्रकारों के लक्षण और कर्म, संयुतहस्त लक्षण और उसके १३ भेद हस्ताभिनय की विधि, हाथों के कर्म, विविध हस्त-प्रचार, ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम (पात्रों के) हस्तप्रचार की विधि तथा फिर पाँच प्रकार के हस्त प्रचारों का कथन हुआ है। फिर नृत्त समाश्रित हाथों के २८ भेद बताकर आवेष्टित, उद्वेष्टित व्यावर्तित और परिवर्तित ये चार प्रकार के हाथों के कारण तथा दशविध बहुप्रकारों का वर्णन है।

शरीराभिनय नामक दसवें अध्याय में आभुग्नादि पाँच प्रकार के मुर, अपसृत आदि पंचविध पार्श्व, पार्श्वों के कर्म, जठर के तीन प्रकार तथा उसके कर्म, कटि की पंचविधता, कटि कर्मों का विनियोग, कम्पन आदि घुटनों के पाँच कर्म, तथा रसों और भावों में उनका विनियोग आवर्तित आदि जंघाओं के पाँच कर्म तथा रसों और भावों में उनका भी विनियोग तथा (पद) चरण के उद्घट्टित आदि पाँच भेद, उत्तप्तपार्ष्णि और सूचीपाद के लक्षण बताकर पादचारी का कथन किया गया है।

चारीविधान नामक ग्यारहवें अध्याय में चारी-विधान समझते हुए चारी का लक्षण, व्यायाम, चारी, करण, खंड मंडल तथा चारियों की प्रयोजनीयता बताकर भौमीचारियों तथा आकाशिकीचारियों के नाम गिनाये हैं। तब समपादा आदि १६ भौमीचारियों तथा अतिक्रान्ता आदि १४ आकाशिकीचारियों के लक्षण करके चारी की विधि, वैष्णवस्थान आदि ६ स्थान, शस्त्र छोड़ने के भारत आदि चार लक्षण, न्याय शब्द की निरुक्ति, नाट्य में शस्त्रों की प्रयोगविधि, सौष्ठवांगलक्षण, चतुरग्रअंग, धनुष के चार करण तथा व्यायाम-विधान कहे गए हैं।

मंडलविधान नामक बारहवें अध्याय में मंडलों के नाम गिनाकर अतिक्रान्त आदि १० आकाशगामी तथा भ्रमर आदि १० भौम-मण्डलों के लक्षण करके मण्डल के प्रयोग की विधि बताई गई है।

गतिप्रचार नामक तेरहवें अध्याय में विविध प्रयोजनो तथा रसों के कारण रङ्ग में प्रवेश करते समय उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों के पादोत्क्षेप के कला, ताल और लययुक्त प्रकार, स्वच्छन्द गमन में गतिप्रचार का प्रयोग, प्रकृतियों (पात्रों) के दिव्या, दिव्यमानुषी तथा मानुषी ये तीन भेद, अवस्थान्तर में विविध पात्रों की गति के प्रकार, शृङ्गार, रौद्र, बीभत्स, वीर, हास्य तथा करुण रसों में गति के प्रकार, शीत से अभिभूत स्त्रियों तथा नीच प्रकृतियों की गति, भयानक रस में गति का प्रकार, वनियों तथा सचिवों की गति, यतियों, श्रमणों तथा सन्यासियों की गति, रथ की गति, आकाश-गमन तथा आकाश से गिरने की गति, उतरने चढ़ने की गति, जल से भीगते हुए की गति, नौका अथवा अश्वयान में बैठे हुए की गति, वनवासी, विट, कञ्चुकी अवृद्ध, वृद्ध कृश, व्याधिग्रस्त, दूर के यात्री, स्थूल मत्त, उन्मत्त, खंज, पंगु, वामन, विदूषक तथा नीचों, म्लेच्छों, विहगादिकों तथा

सिंहादिकों की गति का वर्णन है। तब स्थानविधि का निर्देश करके युवतियों, प्रौढ़ाओं, प्रेमिकाओं, अर्धनारियों, स्त्रियों कायरों तथा नपुंसकों की गति का कथन है। फिर अभिनय में प्रकृतिविपर्यय, स्त्रियों तथा पुरुषों का परस्पर अभिनयविपर्यय, स्त्री द्वारा पुरुषों का तथा पुरुष द्वारा स्त्रियों का अभिनय, विजातीय नारियों की गति, अभिनय में समपाद प्रयोग बताकर स्त्रियों तथा पुरुषों की आसनविधि स्पष्ट की गई है।

प्रवृत्तिधर्मव्यंजन नामक चौदहवें अध्याय में रंगपीठ के चारों ओर गृह, नगर, उद्यान, देश, ग्राम, वन, सागर, त्रैलोक्य, वर्ष, सप्तद्वीप, रसातलादि की कक्षाओं का निर्माण, जो जहाँ की घटना हो उसका अपनी कक्षा में ही प्रदर्शन, भारतवर्ष, हेमकूटादि अन्य वर्षों में विविध कक्षाओं का विधान बताकर दाक्षिणात्याश्रिता, आवन्त्याश्रिता, औड्रमागध्याश्रिता तथा पांचालाश्रिता प्रवृत्तियों के चार प्रकार, प्रवृत्तियों के विविध प्रयोग (आविद्ध तथा दिशादिविभाग) प्रयोग के दो प्रकार, नाट्य में उसके अङ्गों का आनुरूप्य तथा लोकधर्मी और नाट्यधर्मी ये धर्मों के दो भेद समझाये गये हैं।

वाचिकाभिनयच्छन्दोविभाग नामक पन्द्रहवें अध्याय में वाणी की प्रधानता, वाचिकाभिनय का लक्षण, द्विविध पाठ्य, संस्कृत पाठ्य, और उसके अङ्ग निबन्ध के दो भेद-चूर्ण तथा निबद्ध छन्द और उसका विभाग, नृत्त, छन्द तथा शब्द का परस्पर सम्बन्ध, अक्षरक्रम वृत्तों का विभाग, छन्दोगत विधि, सम्पदादि का लक्षण, निचृत् तथा स्वराट् आदि छन्दों के लक्षण, छन्दों की प्रस्तारसंख्या, आठ गण, लघुगुरु विभाग तथा यति, वृत्तों के तीन गण गायत्री आदि वृत्तों के अक्षरों का नियम, प्रस्तार की विधि तथा नष्टोद्दिष्टविधि का लक्षण करके छन्दोविचिति समझाई गई है।

छन्दोविचिति नामक सोलहवें अध्याय में सम, विषम और अर्धसम छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण देकर अन्त में चार श्लोकों में प्रस्तार की विधि समझाई गई है।

वागभिनय नामक सतरहवें अध्याय में पहले वागभिनय के २५ लक्षणों का वर्णन फिर है उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक इन चार अलङ्कारों का विवेचन है, जिनमें से उपमा ५ प्रकार की और यमक १० प्रकार के कहे गये हैं। तत्पश्चात् काव्य के १० दोषों और १० गुणों का निरूपण करके अन्त में अलङ्कारों का रसों में विनियोग, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतों का रसों में प्रयोग और नाट्य में समुचित शब्दों का प्रयोग समझाकर उपसंहार कर दिया गया है।

भाषाविधान नामक अठारहवें अध्याय में आरम्भ में प्राकृत पाठ्य का लक्षण तथा उसका त्रैविध्य बतलाकर संस्कृत की प्राकृत में परिवर्तित करने के नियम और उनके उदाहरण दिये गये हैं। तत्पश्चात् चतुर्विध देश, भाषा और उसके जाति-भाषा नामक प्रकार के दो उपभेदों का उल्लेख है। फिर यह बतलाया गया है कि किस

प्रकार के पात्रों के मुख से किसी भाषा का प्रयोग करवाना चाहिये। तब सात विभाषाओं का वर्णन और अन्त में विभिन्न देशवासियों के पाठ्य में भाषाविधान के नियमों का कथन है।

काकुस्वरव्यञ्जन नामक उन्नीसवें अध्याय में नाट्य में पात्रों के संभाषण की विधि, उनके नामकरण की विधि, पाठ्यगुण, सात स्वर और रसों में उनका विनियोग उर, कण्ठ और सिर ये तीन काकुव्यञ्जन स्थान और पाठ्य में उनका संप्रयोग वर्णित है। फिर चार वर्णों का उल्लेख और दो प्रकार के काकुओं का निरूपण है। तत्पश्चात् ६ अलङ्कार और रसादि से उनका विनियोग, ६ अङ्ग और उसका रसगत प्रयोग, विरामभेद और अभिनय में उनका समुपयोग बतलाया गया है। अन्त में यह निर्देश है कि पाठ्य को स्वरों और अलङ्करों से अन्वित होना चाहिये।

दशरूपविधान नामक बीसवें अध्याय में दश प्रकार के रूपकों का तथा लास्य का विस्तृत वर्णन है। इनमें नाटक सर्वप्रथम है जिसके अन्तर्गत अङ्क, उसके कार्य, प्रवेशक, विष्कंभक तथा नाटक में अवधेय अन्य कार्यों का विवरण है। फिर प्रकरण और नाटिका का वर्णन है। इसके बाद समवकार के अन्तर्गत नाटिका, तीन प्रकार के विद्रव, तीन प्रकार के कपट और तीन प्रकार के शृङ्गारों का वर्णन करने के साथ ही समवकार में हेय समझे जाने वाले वृत्तों का भी संकलन है। तत्पश्चात् ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, दो प्रकार के प्रहसनों शुद्ध और मिश्र तथा भाषा का वर्णन है। तब वीथी का लक्षण और उसके १३ अङ्गों का निरूपण हैं. अन्त में लास्य के १२ प्रकारों का वर्णन है।

संध्यंग-विकल्प नामक इक्कीसवें अध्याय में इतिवृत्त के ५ सन्धियों में विभक्त किये जाने का उल्लेख करके आधिकारिक तथा प्रासंगिक—इतिवृत्त के दो प्रकारों का वर्णन है। फिर आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्तिसंभव, फलप्राप्ति तथा फलयोग नामक पाँच अवस्थाओं का लक्षण करके पञ्चसन्धियों की व्याख्या की गई है। फिर बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक अर्थप्रकृतियों का लक्षण और उनकी व्यवस्था करके चार प्रकार के पताकास्थानक का कथन है। तब मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण इन पाँच सन्धियों के लक्षण करके दशरूपकों में सन्धियों की व्यवस्था की गई है। तत्पचात् २१ सन्ध्यन्तरों का उल्लेख मात्र करके सन्ध्यंगों का प्रयोजन और महत्त्व बतलाकर मुख-सन्धि के बारह, प्रतिमुखसन्धि के तेरह, गर्भसन्धि के तेरह, विमर्श सन्धि के तेरह और निर्वहण (संहार) सन्धि के चौदह अङ्गों का उद्देश्य कथन करके क्रमशः सबके लक्षण किये गये हैं फिर अङ्गों के प्रयोग की विधि बतलाकर विष्कंभक, चूलिका, प्रवेशक, अङ्कावतार तथा अङ्कमुख नामक पाँच अर्थोपक्षेपकों के लक्षण तथा नाटक और उसके लिये अपेक्षित गुणों का विशद वर्णन किया गया है।

वृत्तिविकल्प नामक बाईसवें अध्याय में भारती, सात्वती, कैशिकी और

आरभटी वृत्तियों का समुत्थान तथा उनकी निर्मिति बताकर बाद में वेदों से उनकी उत्पत्ति बतलाई गई है। तब भारती और उसके चार भेदों—प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन का उल्लेख करके प्ररोचना और आमुख तथा उसके अङ्गों का वर्णन है। तब सात्वती और उसके चार भेदों, कैशिकी और उसके चार भेदों तथा आरभटी और उसके चार भेदों का कथन करने के उपरान्त अन्त में वृत्तियों का रस में विनियोग और स्थायी रस का वर्णन है।

आहार्याभिनय नामक तेईसवें अध्याय में आहार्याभिनय का लक्षण, चार प्रकार का नेपथ्य, तीन प्रकार का पुस्त, अलङ्कार, पाँच प्रकार का माल्य, चार प्रकार के आभरण, पुरुषोचित तथा स्त्रियोचित आभूषणों का वर्णन, नाटक में भाव तथा रस के अनुसार उनका प्रयोग, अधिक आभूषणों के प्रयोग का वर्णन, दिव्यांगनाओं तथा मानुषियों के आभूषण और देशादि से उनके सामरूप्य का वर्णन करने के उपरान्त वर्णविधि और वर्तना का कथन है। तत्पश्चात् नाटक से वेष का प्रभाव, देवादि प्राणियों का उल्लेख तथा देवों और मनुष्यों की नेपथ्यसज्जा का विशद वर्णन हैं, जिसमें श्मश्रुकर्म, आच्छादन, विविध शेष, मुकुटधारणविधि तथा शिरःप्रसाधन के अन्य प्रकार आ जाते हैं। तब प्रहरण, जर्जर, दण्डकाष्ठ और पट्टी का विस्तृत निरूपण है। अन्त में नाटक के उपकरणों पर विचार किया गया है और आभरणविधि तथा शस्त्रविधि के वर्णन के साथ उपसंहार कर दिया गया है।

सामान्याभिनय चौबीसवें अध्याय में प्रारम्भ में सात्विकों की प्रधानता उनके भेद और उनकी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए स्त्रियों के दश स्वभावज अलङ्कारों का निरूपण है। पुनः स्त्रियों के ७ अयत्नज और पुरुषों के आठ सात्त्विकों, शरीराभिनय के ६ अङ्गों और ग्यारह अभिनयात्मक अलङ्कारों तथा उनके सात प्रकारों का वर्णन है। फिर आभ्यन्तर और बाह्य नाट्यों का प्रयोग, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और मन के विविध भावों के अभिनय का वर्णन करके काम और उसके भेदों का वर्णन है। फिर स्त्रियों के सुखमूलतत्व का विवेचन और शील के आधार पर इक्कीस प्रकार के स्त्रीचरित्रों का विश्लेषण है। तब उपचार के दो प्रकार का कामोपचार राजोपभोग उपचार, काम की उत्पत्ति, कामभाव के इङ्गितों और उसकी १० अवस्थाओं का वर्णन करके प्रच्छन्न कामियों के विप्रतमोत्थित भावों और राजोपचार की विधि का कथन है। अन्त में आठ प्रकार की नायिकाओं, उनके कामतन्त्र, अन्तःपुर में शृङ्गारविधि, नारियों द्वारा अपने प्रिय के प्रति प्रयोज्य वचनों और दिव्यांगनाओं का वर्णन है।

बाह्योपचार नामक पच्चीसवें अध्याय में वैशिक, उसके गुणों, दूती, उसके भेदों, गुणों और कर्मों का प्रारम्भ में कथन करके मदनातुरा नारी का वर्णन है। हृदय को ग्रहण करने के उपायों, स्त्रियों तथा पुरुषों की विरक्ति के कारणों, नारियों के भावाग्रही कर्मों तथा नारियों को ही विविध प्रकृति का भी वर्णन यहीं पर है। इसके बाद अभिनय में पाँच प्रकार के पुरुषों का वर्णन है। तत्पश्चात् कामतन्त्र के

अनुकूल स्त्रियों में पुरुषों की प्रवृत्ति, स्त्रियों के प्रति प्रयोज्य साम, प्रदान, भेद और दण्ड तथा उनके उपयोग का कथन करके मुखराग से नायक की प्रकृति के परिचय का वर्णन है। अन्त में वेश्याओं द्वारा धन के लिये पुरुषों के प्रति की जाने वाली नाना प्रकार की चेष्टाओं का निरूपण भी है।

चित्राभिनय नामक छब्बीसवें अध्याय में चित्राभिनय का लक्षण करते हुए प्रभातकालादि का अभिनय, भूमिस्थ का अभिनय, चन्द्रज्योत्स्नादि का, सूर्यादि का, मध्याह्न और सायं समय का सूर्याभिनय, सौम्य तथा तीक्ष्ण स्वभावों का अभिनय, सर्वार्थग्रहण का अभिनय, सिंहादि का अभिनय तथा गणना करने का अभिनय, श्रुत-वाक्यादि का अभिनय, शरदादि षड्ऋतुओं का अभिनय, ऋतुओं का रसानुकूल, नाट्य में प्रयोग, भावविभाव तथा अनुभाव का अभिनय, स्त्री-पुरुषों के भिन्न अभिनय, हर्ष, क्रोध और ईर्ष्या तथा झूले आदि का अभिनय वर्णित है। फिर आकाशवचनादि के नाम—अकाशवचन, आत्मगत, अपवारित, जनान्तिक, कर्णेनिवेद्य और पुनरुक्त गिनाये हैं। फिर जनान्तिक और अपवारित के अभिनय की विधि नाट्य में पुनरुक्त का प्रयोग, प्रकृति के अनुरूप भाव का अभिनय, स्वप्न के भाव का तथा पाठ्य का अभिनय, मरण का अभिनय, विषवेग के प्रकार और उनके अभिनय का विधि पात्र के स्वभावादि के अनुकूल अभिनय और नाट्य के तीन प्रकार के प्रमाण और प्रमाणानुरूप नाट्य की व्यवस्था का वर्णन है।

सिद्धिव्यञ्जन नामक सत्ताईसवें अध्याय में सिद्धियों का लक्षण करके वाङ्मयी और शरीरी सिद्धियों के कथन के उपरान्त मानुषी और दैविकी सिद्धियों के लक्षण किये गये हैं। फिर दैविक, आत्मसम्भूत, परप्रयुक्त तथा औत्पातिक इन चार घातों के लक्षण करके कुछ अन्य घात भी गिनाये गये हैं। काव्य में घातों के स्थान, घात से उत्पन्न अनिष्ट घातों के स्थान विशेष तथा घातों के अन्य प्रकार बतलाकर नाटक में गम्भीर अर्थों वाले शब्दों की योजना बताई गई है। फिर प्रेक्षकों के गुण, प्राश्निकों के भेद, प्राश्निकों का प्रयोजन, संघर्ष, प्रेक्षकों का आसन-विधान, पताका स्थान, सम, अङ्गमाधुर्य तथा नाट्यकारों का कथन हुआ है। तत्पश्चात् पूर्वाह्न, अपराह्न, प्रदोष तथा प्रभात में अभिनय नाट्य का कथन करके नाट्य-प्रयोग में निषिद्ध समयों का निर्देश है। फिर तीन गुणों, पात्रगत नाट्यविधि, प्रयोग, समृद्धि और अलङ्कार के लक्षण करके उपसंहार कर दिया गया है।

आतोद्यविधि नामक अट्ठाईसवें अध्याय में प्रारम्भ से आतोद्य की चार विधियाँ—उनका लक्षण तथा उनका तीन प्रकार से प्रयोग वर्णन करके कुतप के तीन प्रकार के विन्यासों का कथन है। संगीत के अलातचक्रप्रतिम होने पर बल दिया गया है। फिर गान्धर्व संगीत का लक्षण, उसकी योनि तथा उसका त्रैविध्य बतलाकर स्वरगत, तालगत और पदगत विधियाँ बतलाई गई हैं। फिर स्वरों का कथन करके इनकी श्रुतियाँ, ग्राम और मूर्च्छनाओं का वर्णन तथा अन्त में जातियों का निरूपण है।

लतातो द्यविधान नामक उन्नीसवें अध्याय में रसाश्रित जातियाँ, वाद्य-प्रयोग में विहित स्वर, वर्णालङ्कारों, गीतालङ्कारों की विधि और वर्णहीन अलङ्कारों का निरूपण करने के उपरान्त चार धातुओं और तीन वृत्तियों का वर्णन है। फिर तत्त्व, अनुगत और ओघ—वैणववाद्य के तीन प्रकारों का वर्णन और उनका प्रयोग कथन है। तब ६ प्रकार के विपंचीवाद्यों के नाम, लक्षण तथा प्रयोग वर्णित हैं। अन्त में आश्रावण, आरम्भ, क्वत्रपाणि, संघोटना, परिघट्टना, मार्गासारिता और लीलाकृत—इन सात प्रकार के बहिर्गीतों का लक्षण किया गया है।

सुषिरातोद्य-विधान नामक तीसवें अध्याय में सुषिर में वैणविधि का प्रयोग करने का निर्देश करके द्विक, त्रिक और चतुष्क इन वंशगत स्वरों का वर्णन है। इनके कम्पित, अर्धमुक्त और व्यक्तमुक्त—ये तीन भेद किये गये हैं।

तालव्यञ्जन नामक इकत्तीसवें अध्याय में प्रारम्भ में कला, लय और उसके तथा मन्द्रलय की त्रिविध कला का कथन है। फिर दो तालों के एक प्रकृति वाली होने का वर्णन है। फिर ताल और उसके तीन भेदों का कथन है। इनमें से मिश्र-ताल के दो प्रकार और समास के योग से उसी के तीन प्रकार कहे गये हैं। फिर पंचपाणि, ६ पातों, प्लुतादन्त और उद्घट्ट का वर्णन करने के उपरान्त ताल के प्रकारों और हस्तांगुलि विकल्प का वर्णन है। फिर ताल प्रकारों का कथन करके कामतन्त्र के अभिनय, तालभेदों का प्रपञ्च तथा आसारितविधि और वर्तमान विधि का विस्तृत निरूपण है। फिर गीतकों के लक्षण, उनके अङ्ग और उनकी वस्तु की कल्पना का वर्णन है। तब ध्रुवाओं का ताल-विधान दिया गया है। इसके बाद लास्य का लक्षण और उसके अङ्ग और तालों के अवधारण का प्रयोजन बतलाया गया है। अन्त में लयों के तीन प्रकारों का वर्णन करके अध्याय को समाप्त किया गया है।

ध्रुव-विधान नामक बत्तीसवें अध्याय में ध्रुव, उसके पाँच भेद और ध्रुवा के छन्दोवृत्तों का निदर्शन है। फिर प्रावेशिकी ध्रुवा की ५ जातियों का लक्षण और उदाहरण देकर अपकृष्टा की वृत्तजातियों और द्रुता के विविध वृत्तों का वर्णन है। तब उद्धता और पंक्ति की जातियों का त्रिकल्पन है। तत्पश्चात् सम वृत्तों का कथन गण मात्राओं के विकल्प, शीर्षकों के नत्कुटकों के लक्षण, ध्रुवाओं के विकल्पों के प्रकार और पाँच प्रकार के गानों का वर्णन है। तब ध्रुव का प्रपञ्च दिया गया है। अन्त में मांडाभिमत ग्रहों और गायकों तथा वादकों के गुण का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त उपसंहार कर दिया गया है।

तैंतीसवाँ अध्याय वाद्याध्याय है। इसमें आदि में अवनद्धवाद्यों की उत्पत्ति, उनके अङ्गों तथा प्रत्यंगों का कथन करके अवनद्ध का लक्षण और उसके भेदों का उल्लेख है। फिर त्रिपुष्कर आदि की वाद्यविधि तीन प्रकार की मार्जन तथा गुरु संचय एवं लघुसंचय का निरूपण है। तब अठारह जातियों और वाद्य-संचय प्रकारों और उनके प्रयोग का विस्तृत वर्णन है। अन्त में आतोद्यों और वादकों के लक्षण हैं।

प्रकृति-विचार नामक चौंतीसवें अध्याय में पात्रों की तीन प्रकार की उत्तम, मध्यम और अधम—प्रकृति का निरूपण है। पहले स्त्रियों की विविध प्रकृति और संकीर्ण प्रकृतियों का कथन है। फिर नायकों के चार प्रकार बतलाते हुए नायक का लक्षण किया गया है। प्रकृतियों के त्रिविध उपचार का कथन यहीं पर है। तब दश प्रकार की अन्तःपुर स्थित स्त्रियों का वर्णन है। फिर स्त्रियों का विशेषण बतलाते हुए अन्तःपुरस्थ अन्य जनों का संकलन और अन्तःपुर में बाह्य पुरुषों के संचार का वर्णन है।

भूमिका-पात्र-विकल्प नामक पैंतीसवें अध्याय में आरम्भ में भूमिकाओं के भू-भाग, प्रकृति का त्रिप्रकारत्व, भूमिका के विकल्प से अभिनय और आहार्य गुणों का वर्णन है। फिर सुधार-पारिपार्श्विक, विट, शकार, विदूषक, चेट, गणिका और नायिका के गुणों का कथन है। अन्त में भरतों के विकल्पन का विस्तृत संकलन है जिसमें विदूषक, तौरिक, नट, सूत्रधार, नाट्यकार, मुकुटकार, आभरणकर्ता, मालाकार चित्रकार, रजका, कारूक और कुशीलव आ जाते हैं।

नाट्यावतार नामक छत्तीसवें अध्याय में प्रश्नकर्ता ऋषियों के नाम, उनके प्रश्न, पूजाधिकार के लिये पूर्वरंग का विधान, पृथ्वी पर नाट्य का अवतरण और नटवंश की उत्पत्ति का वर्णन करके अन्त में नाट्यशास्त्र का माहात्म्य विशद रूप से कहा गया है।

चौखम्भा तथा गायकवाड़ के संस्करणों में अन्तर—

उपर्युक्त विषय-विवेचन चौखम्भा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के आधार पर है। 'अभिनव भारती' सहित गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज के संस्करण में आदि के नौ अध्यायों तक तो कोई अन्तर नहीं है किन्तु दशम अध्याय में शरीराभिनय का वर्णन न करके चारीविधान का विवरण दिया है जो काशी वाले संस्करण में ग्यारहवें अध्याय का विषय है। इसी प्रकार ग्यारहवें तथा बारहवें अध्याय का विषय क्रमशः मण्डल विकल्पन तथा गति प्रचार हैं जो काशी के संस्करण में क्रम से बारहव और तेरहवें अध्यायों में वर्णित हैं। फिर तेरहवें अध्याय में कक्षा विभाग तथा प्रवृत्ति धर्म, चौदहवें में छन्दोविधान, पन्द्रहवें में बहुलक्षण और सोलहवें से लक्षणालंकारों का वर्णन है जो काशी के संस्करण में क्रमशः चौदहवें, पन्द्रहवें, सोलहवें तथा सतरहवें अध्यायों में प्रतिपादित है। सतरहवें अध्याय में भाषा लक्षण, उसके नियम तथा काकु-स्वरूप का कथन है जबकि काशी के संस्करण में यही विषय अठारहवें तथा उन्नीसवें अध्यायों में भाषा-विज्ञान तथा काकुस्वर व्यञ्जन नामों से विभक्त कर दिया गया है। गायकवाड़ के संस्करण में दशरूपकों का लक्षण अठारहवें अध्याय का विषय है जबकि काशी के संस्करण में बीसवें अध्याय में मिलता है। इसी प्रकार उन्नीसवें, बीसवें, इक्कीसवें, बाइसवें तथा तेइसवें अध्यायों में सन्ध्यगविकल्प, वृत्तिविकल्प, आहार्याभिनय, सामान्याभिनय, एवं बाह्योपचार का कथन है जो काशी वाली प्रति में

क्रमशः २१वें, २२वें, २३वें, २४वें तथा २५वें अध्यायों में वर्णित है। चौबीसवें अध्याय का प्रकृति विचार काशी के संस्करण में चौतीसवें अध्याय का विषय बन गया है। २५वें अध्याय का चित्राभिनय काशी की प्रति में २५वें अध्याय में मिलता है जो गायकवाड़ संस्करण के विकृतिविकल्प नामक २६वें अध्याय में मिलता है। गायकवाड़ के संस्करण के विकृति विकल्प नामक २६वें अध्याय का अधिकांश विषय काशी वाले संस्करण में भूमिका पात्र-विकल्प नामक ३५वें अध्याय में तथा सिद्धिव्यञ्जन नामक २७वें अध्याय में ही निरूपित हुआ है। 'अभिनवभारती' सहित 'नाट्यशास्त्र' के गायकवाड़ संस्करण में इससे आगे के अध्याय सभी प्रकाशित नहीं हो सके। तीन भागों में केवल सत्ताइस अध्याय प्रकाश में आ पाये हैं। अतः काशी वाले संस्करण से इतने अध्यायों का ही अन्तर दिखाया जा सका है। पत्र लिखने पर गायकवाड़ ओरियंटल इन्स्टीट्यूट के डाइरेक्टर ने लिखा है कि चतुर्थ भाग अभी प्रेस में है, अतः देखने को नहीं मिल सकता।

भरत का काल-निर्णय—

नाट्याचार्य भरतमुनि के काल-निर्णय के प्रसंग में विद्वानों में पर्याप्त मत-वैपरीत्य लक्षित होता है, किन्तु अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्य प्रमाणों के बल पर युक्ति-युक्त ढङ्ग से किसी निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होना श्रेयस्कर है और सम्भव भी है।

भरत के नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र-व्याकरण तथा यास्क के उद्धरण तो प्राप्त होते हैं किन्तु पाणिनि का कोई सूत्र उद्धृत नहीं मिलता।[1] स्पष्ट विदित होता है कि या तो भरत के समय में पाणिनि का उदय ही नहीं हुआ था और यदि पाणिनि का व्याकरण बन भी चुका था तो भी उसे वह ख्याति प्राप्त न हो पाई थी, जो भरत जैसे लोकदर्शी आचार्य का ध्यान आकृष्ट कर पाती। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में 'नाट्यशास्त्र' के १५वें अध्याय पर 'कातन्त्र-व्याकरण' का प्रभाव लक्षित माना है तथा उस 'कातन्त्र' का समय ५वीं-छठी शताब्दी विक्रम पूर्व बतलाया गया है।

संस्कृत साहित्य के एक इतिहास में श्री एस० एन० दास गुप्ता तथा एस०के० डे महोदय का मत है कि भरत का 'नाट्यशास्त्र' सम्भवतः दूसरी या तीसरी शती की रचना है। इस उक्ति में कोई बल नहीं है। उपर्युक्त कथन से लेखकों की धारणा बड़ी संदिग्ध प्रतीत होती है। श्री पी० वी० काणे तथा डा० मनमोहन घोष के मत में भरत एक काल्पनिक व्यक्ति है। कुछ लोगों का यह मत है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत नहीं किन्तु उनका कोई शिष्य था। अभिनवगुप्त के समय में भी ये मत प्रचलित थे। इसी से उन्होंने इन मतों का डटकर विरोध किया है और यह सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र 'भरत' की ही रचना है। अपने खण्डन का उपसंहार करते हुये अभिनव ने अपनी 'अभिनव भारती' में लिखा है—

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, कृष्णमाचार्यर, पृष्ठ ८११।

"एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनं ब्रह्मामतसारताप्रतिपादनाय ।
मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम् ।
नतु मुनिरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम् ॥"

'इण्डियन ड्रेमिटिक्स' में एच० एच० ध्रुव, 'दि म्युजिक ऑफ इण्डिया में एच० ए० पोपले, एच० पी० शास्त्री, टी० गणपति शास्त्री, पी० आर० भण्डारकर, पिशत तथा रैप्सन आदि संस्कृत साहित्य के इतिहासज्ञों ने ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर दूसरी शती ईसवी के बीच में, अपने-अपने ढङ्ग से अलग-अलग समय निर्धारित करते हुये नाट्यशास्त्र के निर्माणकाल की ओर निर्देश किया है ।

कीथ का कथन—"नाट्यशास्त्र का समय कालिदास तथा भास से भी पूर्व निश्चित किया जा सकता है"[1] । बात यह है कि कालिदास[2] अपने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में, भरत का उल्लेख, देवताओं के नाट्याचार्य के रूप में, बड़े गौरवपूर्ण शब्दों में करते हैं । रूपकों के आठ रसों के विकसित होने तथा अप्सराओं के अभिनय करने की ओर भी निर्देश मिलता है । इस आधार पर भरत का काल ईसवी पूर्व प्रथम शती के उपरान्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो लोग कालिदास को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (४१३ ई०) का सम-सामयिक मानते हैं, उन्हें भी यह ध्यान रखना पड़ता है कि कालिदास के द्वारा जिस आचार्य (भरत) के लिये मुनि शब्द का प्रयोग हुआ है, उसको देवताओं के नाट्याचार्य के रूप में ख्याति प्राप्त कर लेने के लिये ५०० वर्षों की कल्पना कोई अधिक नहीं, अपितु अल्प ही है । फिर, अब तो विद्वानों की यह धारणा प्रतिदिन प्रबल होती जा रही है कि कालिदास को पाटलिपुत्र के परम वैष्णव गुप्त सम्राटों की अपेक्षा परमारवंशी महेन्द्रादित्य के पुत्र, उज्जयिनी के परमशैव, शकारि विक्रमादित्य का समसामयिक मानना अधिक युक्तियुक्त होगा, क्योंकि कालिदास से अपने सभी काव्यों तथा नाटकों के आदि में, विष्णु की नहीं, शिव की वन्दना की है और रघुवंश लिखकर अपने नृपति के पूर्व पुरुषों का गुणगान किया है ।[3] क्षत्रियों का परमार-कुल सूर्यवंश का ही एक अङ्ग माना जाता है । जो भी हो, इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये हमें पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि भरतमुनि का समय निर्धारित करने के लिये ईसवी पूर्व प्रथम शती को उसकी अन्तिम सीमा निश्चित की जा सकती है ।

जो लोग नाट्यशास्त्र के निर्माण काल की अन्तिम सीमा ईसा की चतुर्थ या पञ्चम शती तक मानते हैं, उनसे भी सिद्धान्ततः हमारा कोई विरोध नहीं है । उसमें प्रक्षिप्तांशों का सर्वथा अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता । हाँ, जो लोग ईसा को

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास ले० ए० बी० कीथ, १९२७ संस्करण पृष्ठ ३७२ ।

२. मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः, विक्रमोर्वशीयम् ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्तामरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥

३. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—सा० नि० कानपुर, चतुर्थ संस्करण १९५४, पृ० ३२–३९ ।

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ या पंचम शती इदमित्थं रूप से नाट्यशास्त्र का रचनाकाल मानते हैं, उनसे हमारा मत सर्वथा भिन्न है।

'नाट्यशास्त्र' में जो प्राकृत भाषायें रूपकों के लिये स्वीकृत हैं, वे भास के नाटकों की प्राकृतों से मिलती-जुलती है। साथ ही नाट्यशास्त्र[1] में अर्धमागधी का प्रयोग विहित माना गया है, जो भास तथा अश्वघोष के नाटकों में तो मिलता है, किन्तु बाद के नाटकों में नहीं दिखाई देता। महाराष्ट्री प्राकृत को भरत ने स्वीकार नहीं किया और न भास तथा अश्वघोष ने ही अपने नाटकों में उसका प्रयोग किया है, जबकि परवर्ती नाटककारों की रचनाओं में उसका पर्याप्त प्रयोग मिलता है।

भास ने 'नाट्यशास्त्र' का एक ग्रन्थ के रूप में सुस्पष्ट उल्लेख किया है। अविमारक के द्वितीय अङ्क में विदूषक भोजनार्थ निमन्त्रित हो सकने की अपनी योग्यता को प्रमाणित करते हुए, चेटी के द्वारा अवैदिक कहे जाने पर उत्तर देता है—"कस्मादहमवैदिकः। श्रृणुतावत्। अस्ति रामायणं नाट्यशास्त्रम्। तस्मिन् पंचश्लोका असम्पूर्णं संवत्सरे मयापठिताः।"[2] विदूषक की इस उक्ति के प्राकृतपाठ में नाट्यशास्त्रम् के स्थान पर 'णट्टसत्थ' का प्रयोग हुआ है, जो हमारे पूर्वकथन की पुष्टि करता है। यहाँ तो यह निर्णय निकलता है कि आज नाट्यशास्त्र का जो स्वरूप हमें उपलब्ध है, वह प्राचीन रूप में कालिदास और भास को भी ज्ञात नहीं था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक में बड़े गौरवपूर्ण शब्दों में भास का उल्लेख किया है[3] जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय तक भास, एक यशस्वी नाटककार के रूप में विख्यात हो चुके थे[4]। कालिदास से लगभग १०० वर्ष पूर्व भास का स्थितिकाल मानने में आपत्ति न होनी चाहिये। इस प्रकार भास का समय द्वितीय शती ईसवी पूर्व के बाद का कैसे हो सकता है? कालिदास को गुप्तकाल में मानने वाले यूरोपीय विद्वान् भास का समय द्वितीय या तृतीय शती ईसवी निर्धारित करते हैं। उन्हें देखना चाहिये कि कालिदास ने तीन नाटककारों का उल्लेख करते हुए सबसे पहले भास का नाम लिया है। अतः उनके अनुसार भी भास का स्थितिकाल दूसरी शताब्दी ईसवी से उतरकर नहीं माना जा सकता।

फिर भास ने नाट्यशास्त्र का उल्लेख रामायण जैसे आदिकाव्य के साथ किया है। इसका भी कुछ महत्त्व है। भाषा, विषय प्रतिपादन व शैली की दृष्टि से नाट्यशास्त्र की प्राचीनता सिद्ध है। भरत के लिए नान्यदेव ने 'सूत्रकृत्' शब्द का

---

१. दी संस्कृत ड्रामा ले० कीथ (१९२४ संस्करण) पृ० २९२।

२. भासनाटकचक्रम् सं० सी० आर० देवधर, पूना ओरियन्टल सीरीज ५४, १९३७ संस्करण, पृ० ११९।

३. पारिपार्श्वकः मा तावत्। प्रथितयशसांभाससौमिल्लकविपुत्रादीना प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथ बहुमानः (माल० मि०, प्र० ग्रं०) कालिदास ग्रन्थावली पृ० २६१ (द्वितीय संस्करण)।

४. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—(चतुर्थ संस्करण)

प्रयोग किया है—'कलानामानि सूत्रकृदुक्तानि यथा'–अभिनवगुप्त ने भी 'नाट्यशास्त्र' को भरतसूत्र कहा है—'पटत्रिशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्'। इन सब प्रमाणों के आधार पर हमारा अनुमान है, भरत के नाट्यशास्त्र का रचना-काल भास से कम से कम दो शती से बाद का नहीं है। इस प्रकार भी भरत का स्थिति-काल प्रथम शती ईस्वी के उपरान्त नहीं खींचा जा सकता। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र की रचना[1] विक्रम पूर्व छठी शताब्दी से लेकर प्रथम शती ई० पश्चात् तक के मध्य में किसी समय हुई होगी।

भरत और आदिभरत या वृद्धभरत—प्राचीन ग्रन्थों में भरत का नाम दो रूपों में मिलता है—एक वृद्धभरत या आदिभरत, दूसरे केवल भरत। कहा जाता है कि 'नाट्यशास्त्र' के भी दो रूप मिलते हैं। एक 'नाट्यवेदागम,' दूसरा 'नाट्यशास्त्र'। प्रथम ग्रन्थ 'द्वादशसाहस्री' तथा दूसरा 'षट्साहस्री' भी कहा जाता है। शारदानय[2] के अनुसार षट्साहस्त्री प्रथम ग्रन्थ का ही संक्षिप्त रूप है। बहुरूप मित्र ने भी अपनी 'दशरूपक की टीका' में द्वादशसाहस्री एवं षट्साहस्री नाट्यसंहिताओं का उल्लेख किया है। भण्डारकर प्राच्य संस्थान में सुरक्षित हस्तलिखित प्रतियों में एक पुस्तक 'नाट्य-सर्वस्वदीपिका' नाम की है। अनुमानतः यह आदिभरत की टीका है। इसके अनुसार आदिभरत में ५ स्कन्ध १२ अध्याय २२१ प्रकरण तथा ६००० श्लोक थे।

यह कहना कठिन है कि आदिभरत एवं भरत में से किसकी संहिता प्राचीन-तर है। अभिनवगुप्त पादाचार्य ने अपनी 'अभिनव भारती' नाम की टीका छोटी संहिता पर लिखी थी। धनञ्जय ने छोटी प्रति का ही उपयोग किया था, पर भोज ने बड़ी संहिता का आश्रय लिया था। प्रायः देखा जाता है कि आदि, वृहद् या वृद्ध विशेषण से युक्त ग्रन्थ अपेक्षाकृत पीछे की रचना होती है, किन्तु श्री रामकृष्ण कवि के मतानुसार बृहत्पाठ वाली संहिता अधिक प्राचीन है।

भरतपुत्र—'मत्स्यपुराण' (२४, २७–३२) में 'नाट्यशास्त्र' के प्रवर्तक भरत-मुनि का नाम पाँच बार आया है। इन श्लोकों के मतानुसार भरतमुनि ने देवलोक में 'लक्ष्मी-स्वयम्वर' नाटक की योजना की। इसमें उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी, पर देवसभा में स्थित पुरुरवा को देखकर वह ऐसी मोहित हुई कि अपना अभिनय भूल गई। अतः अप्रसन्न होकर भरतमुनि ने उर्वशी और पुरुरवा दोनों को शाप दे दिया। कालिदास ने भी विक्रमोर्वशीयम् (२-१८) नाटक में भरत तथा उनकी कृति का उल्लेख इस प्रकार किया है—भरतमुनि ने आठ रसों का आश्रयस्वरूप जो नाट्या-भिनय तुम अप्सराओं में संचारित किया था उसी ललिताभिनय को आज मरुत्पति इन्द्र लोकपालों सहित देखना चाहते हैं। फिर भी 'मत्स्यपुराण' तथा कालिदास के पौर्वापर्य का निश्चय करना कठिन है।

---

१. नाट्यशास्त्र—साहित्य निकेतन कानपुर १९५४ भूमिका पृष्ठ २५।

२. एवंद्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः॥ (भावप्रकाशनम्)॥

'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में भरतमुनि के १०० अथवा १०५ पुत्रों के नामों की पुनरावृत्ति अन्तिम अध्याय में भी हुई है। कोहल तथा दत्तिल की रचनाओं के उद्धरण 'अभिनव भारती' में मिलते हैं, इससे प्रकट होता है कि उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' पर ग्रन्थ-रचना की होगी। प्रथम अध्याय के नामों में से अश्मुकुट्ट, नसकुट्ट और बादरि या बादरायण के नाम से भी कुछ उद्धरण सागरनन्दिन् तथा विश्वनाथ की रचनाओं में मिलते हैं। सम्भवतः ये भी 'नाट्यशास्त्र' की आलोचनायें लिखने वाले व्यक्ति थे। शेष भरत-पुत्रों के विषय में अभी कुछ ज्ञात नहीं है। सम्भव है भविष्य में उनकी कुछ कृतियाँ भी प्राप्त हो सकें।[1]

भरत-पुत्रों में एक नाम शालिकर्ण है, जिसका एक रूपान्तर शालकर्णी भी है। शालकर्णी नाम के राजाओं के अनेक उत्कीर्ण लेख मिले हैं। कालिदासकृत 'रघुवंश' के[2] त्रयोदश सर्ग में एक शातकर्णी मुनि का वर्णन है, जो इन्द्र के द्वारा भेजी हुई अप्सराओं के माया-जाल में फंस गये थे और उनके (एक सरोवर के भीतर स्थित) स्थान से उठी हुई सङ्गीत की ध्वनि आकाशचारी पुष्पक विमान के भीतर भी चमक रही थी। यही शातकर्णी नाट्यविद्या में निपुण रहे होंगे—यह कल्पना असङ्गत नहीं प्रतीत होती।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' या सूत्रों पर अनेक टीकायें, विवृत्तियाँ व व्याख्यायें लिखी गई जिन्होंने नाट्यशास्त्र के विकास में योग दिया। इनमें ये भरतटीका हर्षकृतवार्तिक, शाक्याचार्य राहुलकृत कारिकायें, मातृगुप्तकृत टीका और कीर्तिधरकृत टीका आज उपलब्ध नहीं हैं। कुछ उद्धरण व मत 'अभिनव भारती' से मिलते हैं। भरत के प्रसिद्ध रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' पर भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त की व्याख्यायें प्रसिद्ध हैं। 'अभिनव' ने अपनी 'भारती' में अन्य तीनों पर प्रकाश डाला है। हो सकता है कि अभिनव की भाँति लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक ने भी भरत के नाट्य-शास्त्र पर व्याख्यायें लिखी हों।

भट्टलोल्लट (लगभग ८५० ई०)[3]—सम्भव है लोल्लट ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर कोई व्याख्या लिखी हो जो उपलब्ध नहीं, क्योंकि अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में भट्टलोल्लट के मतों का उल्लेख किया है। भरत के रससूत्र—विभावानुभावव्यभि-चारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः की व्याख्या सर्वप्रथम भट्टलोल्लट ने ही की। उन्होंने 'संयोगात्' से कार्यकरण भावरूप सम्बन्ध तथा 'निष्पत्तिः' से उत्पत्ति अर्थ लिया। रस की स्थिति उन्होंने रामादि अनुकार्य पात्रों में मानी है, नटों या सहृदयों में नहीं। लोल्लट अभिधावादी मीमांसक थे। उन्होंने अभिधाशक्ति को ही समस्त काव्यार्थ का

---

१. ना० शा०—पं० भोलानाथ शर्मा (१९५४) पृ० २८।
२. रघुवंश—१३/२८—४०।
३. कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स, वाल्यूम १, पृष्ठ २ (१९५० संस्करण)।

साधन माना है। उनके अनुसार शब्द के प्रत्येक अर्थ की सिद्धि अभिधा से उसी भाँति हो जाती है जैसे बाण स्वयं ही कवच को भेदकर, शरीर में प्रवेश कर प्राणों को हर लेता है। मम्मट ने इसी मत को 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' रूप में उद्धृत किया है और ध्वनिवादी होने के नाते उपर्युक्त मत के मानने वालों को 'देवानां प्रियाः' कहा है। 'दशरूपककार' धनञ्जय तथा अवलोककार धनिक पर भी कुछ सीमा तक लोल्लट का प्रभाव पड़ा है। लोल्लट का समय ध्वनिवाद के उदय के बाद माना जाता है। यह काश्मीरी थे, जैसा इनके नाम से ही विदित होता है। लोलल्ट 'स्पन्दकारिका' के लेखक भट्ट कल्लट के समसामयिक थे। 'नाट्यशास्त्र' पर व्याख्या लिखने के अतिरिक्त इन्होंने 'स्पन्दकारिका'[1] पर भी भाष्य लिखा था। इस नाते लोल्लट ने नाट्यशास्त्र एवं शैव दर्शन दोनों की परम्पराओं का ज्ञान अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से प्राप्त किया था।

श्री शंकुक (नवीं शती ई०)[2]—सम्भव है कि श्री शंकुक ने भी भरत के नाट्य-शास्त्र पर कोई व्याख्या लिखी हो। अभिनव ने ही 'भारती' में इनके मत का भी उल्लेख किया है। शंकुक नैयायिक थे। उन्होंने विभावादि कारणों तथा रसरूपकार्य में अनुमाप्य-अनुमापकभाव की कल्पना की है। वह रस को अनुमेय मानते हैं और उनका सिद्धान्त 'अनुमितिवाद' के नाम से विख्यात हैं। उन्होंने चित्रतुरगादिन्याय की भी कल्पना की है, जिसके अनुसार नट सच्चे रामादि न होकर चित्र में लिखे घोड़े की भाँति रामादि हैं। इस कल्पना से दशरूपककार ने भी लाभ उठाया है। यह बात यथावसर दिखाई जायेगी। जैसे घोड़े के चित्र को देखकर दर्शक यथार्थ घोड़े का अनुभव करता है, वैसे ही नट को देखकर सहृदय या सामाजिक अनुकार्य का अनुभव कर लेता है, अतः रस की स्थिति शंकुक ने सामाजिक में ही मानी है। लोल्लट के उत्पत्तिवाद तथा सहृदयों में रसानुभव न मानने के सिद्धान्त का खण्डन सर्वप्रथम शंकुक ने ही किया है। शंकुक लोल्लट के समसामयिक तथा काश्मीरी थे। 'राजतरंगिणी' के साक्ष्य के अनुसार शंकुक 'भुवनाभ्युदय' काव्य के लेखक थे और वह काश्मीर के राजा जयापीड के राज्यकाल में विद्यमान थे।

अथ मम्मोत्पलकोरुदभूद्रुणोरणः
रुद्धप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः।
कविर्बुधमनः सिन्धुशशांकः शंकुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्॥

इस आधार पर भरत के व्याख्याकार, अनुमितिवाद के प्रतिष्ठापक तथा 'भुवनाभ्युदय' काव्य के रचयिता शंकुक का समय नवीं शताब्दी में माना जा सकता है। कुछ लोग 'शार्ङ्गधर पद्धति' तथा 'सूक्तिमुक्तावली' के आधार पर शंकुक को

---

१. कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स वाल्यूम १, अध्याय १, पृष्ठ २८ (१९५० संस्करण)।
२. दशरूपक–डॉ० भोलाशंकर व्यास, भूमिका-पृष्ठ १४ (१९५५ ई० संस्करण) राजतरंगिणी ४, ७०३-४

सूर्यशतक के रचयिता मयूर का पुत्र मानते हैं जिसके अनुसार वह सातवीं शती के निकट रखे जा सकते हैं, किन्तु विद्वान् लोग 'नाट्यशास्त्री' शंकुक को इस काल का मानने में[1] आपत्ति करते हैं।

भट्टनायक (नवीं शती का उत्तरार्ध)[2]—

अभिनवगुप्त ने अपनी 'भारती' में रससूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक तथा उनके मत का विशद उल्लेख किया है। जयरथ, महिमभट्ट तथा रुय्यक ने भी भट्टनायक के मत का वर्णन किया है, साथ ही साथ इन सब ने 'हृदयदर्पण' को भट्टनायक की रचना के रूप मे स्वीकार किया है, किन्तु इस विषय में मतवैपरीत्य रहा है कि 'हृदयदर्पण' उनका स्वन्त्र ग्रन्थ है अथवा भरत के नाट्यशास्त्र' की टीका मात्र। सुना जाता है कि 'हृदयदर्पण' की एक प्रति[3] दक्षिण में थी, जिससे उसका नाट्यशास्त्र' की टीका होना स्पष्ट है, किन्तु वह प्रति अब उपलब्ध नहीं है। लोल्लट तथा महिमभट्ट की भाँति भट्टनायक भी अभिधावादी होने के नाते व्यञ्जनावृत्ति या ध्वनि की कल्पना को स्वीकार नहीं करते। सम्भवतः भट्टनायक काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८४) के राजकवि थे। आनन्दवर्धन के आश्रयदाता भी अवन्तिवर्मा थे। अतः भट्टनायक आनन्दवर्धन के समसामयिक सिद्ध होते हैं।

भट्टनायक ने काव्य में भावकत्व एवं भोजकत्व नामक दो व्यापारों की कल्पना करके भाव्य-भावक सम्बन्ध से भुक्तिवाद का सूत्रपात किया है। यह रस की स्थिति पूर्णतः सहृदय में सिद्ध करते हैं। साधारणीकरण के सिद्धान्त के सर्वप्रथम प्रवर्तक होने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। इन्होंने अपने रस-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन सांख्यदर्शन के आश्रय से किया है। धनञ्जय तथा धनिक पर भट्टनायक के स्थायी प्रभाव का विश्लेषण यथावसर किया जायेगा।

अभिनवगुप्त (दसवीं शती का अन्त तथा ग्यारहवीं का पूर्व भाग)—

'नाट्यशास्त्र' के प्रसिद्ध आचार्य होने के साथ ही साथ अभिनवगुप्त ध्वनि-सम्प्रदाय के संस्थापक तथा शैवदर्शन के उद्भट आचार्य माने जाते हैं। यद्यपि इन्होंने ध्वनि तथा 'नाट्यशास्त्र' पर स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखे, किन्तु आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक' पर लोचन तथा भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनव-भारती' नाम की टीकायें लिखकर बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। ये दोनों टीकायें अलङ्कारशास्त्र तथा रसशास्त्र सम्बन्धी मूर्धन्य रचनायें हैं जिनका महत्त्व आकर-ग्रन्थों से कम नहीं है। तन्त्रशास्त्र तथा शैव आगम पर भी इनके ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें से 'तन्त्रालोक' और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' पर लिखी विमर्शिनी टीका अधिक प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि अभिनवगुप्त ने 'काव्यकौतुकविवरण' नामक एक साहित्यशास्त्र सम्बन्धी

---

१. दशरूपक— डॉ भोलाशङ्कर व्यास, पृ० १४।
२. दी संस्कृत ड्रामा—ले० ए० बी० कीथ, पृ० २९१।
३. दशरूपक—डॉ० भोलाशङ्कर व्यास, पृ० १४।

ग्रन्थ भी लिखा था जो अब उपलब्ध नहीं है। इन्होंने लगभग चालीस ग्रन्थों की रचना की है[1]।

अभिनवगुप्त नरसिंहगुप्त या चुखुलुक के पुत्र थे[2]। उनके गुरु भट्टेन्दुराज[3] तथा भट्टतौत थे। इनके पिता परम शिवभक्त तथा शैवागम के धुरन्धर पण्डित थे। अभिनव ने 'लोचन' में अपने गुरु भट्टेन्दुराज के पद्य भी उद्धृत किये हैं। भट्टतौत प्रसिद्ध मीमांसक माने जाते हैं। उनसे अभिनव ने मीमांसाशास्त्र तो पढ़ा ही होगा, साथ ही रसों की व्याख्या करते हुये अभिनव ने 'भारती' में शान्तरस की जो प्रतिष्ठापना की है, उससे भी उन पर भट्टतौत का समुचित प्रभाव लक्षित होता है, क्योंकि भट्टतौत ने अन्य रसों की अपेक्षा शान्तरस को प्रधानता दी है। यद्यपि भरत ने आठ रसों का अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु अभिनव ने भरत के अनुसार ही शान्त को भी रस पदवी से अलंकृत कर दिया है। अनुमान है कि साहित्यशास्त्र का अध्ययन अभिनव ने भट्टेन्दुराज तथा भट्टतौत दोनों से किया होगा। अभिनवगुप्त का रस-विषयक सिद्धान्त शैवदर्शन एवं व्यञ्जनावाद के पुष्ट आधारों पर अवलम्बित है[4]। उन्होंने रस को व्यंग्य माना है और भरतसूत्र के 'संयोगात्' का अर्थ 'व्यंग्यव्यञ्जकभावरूपात्' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्तिः' प्रतिपादित किया है। उन्होंने रस दशा को शैवों की विमर्श दशा से जोड़ते हुये रस की स्थिति सहृदय में मानी है। 'अभिनव भारती' में नन्दिकेश्वर, तुम्बरु, विशाखिल एवं सदाशिव की रचनाओं की ओ[illegible] [illegible]त मिलते हैं। उसमें कात्यायन, राहुल एवं हर्ष की रचनाओं के उद्धरण भी प्राप्त होते हैं।

धनञ्जय और धनिक को आनन्दवर्धन के व्यक्तिवाद तथा रससम्बधी मत का पूरा पता था, किन्तु समसामयिक होने के नाते वे अभिनव के सिद्धान्तों से परिचित थे या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, 'दशरूपक' की कारिकाओं में तथा अवलोकवृत्ति में व्यञ्जना जैसी तुरीयावृत्ति की कल्पना का तथा रस के व्यंग्यत्व का डटकर विरोध किया गया है। धनञ्जय व धनिक शान्त नाम के नवम रस को नाट्य में कोई स्थान नहीं देते। जैसा ऊपर कहा जा चुका है—भरत के नाट्यशास्त्र में आठ ही रस अभीष्ट हैं, फिर भी भरत के आधार पर ही अपने शैवदर्शन के सिद्धान्त

---

१. दशरूपक—डॉ० भोलाशंकर व्यास (पृष्ठ १५)।

२. तस्यात्मजश्चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः॥
(तन्त्रालोक ३७)

३. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभितोऽहम्॥
(ध्वन्यालोक-लोचन)

४. डॉ० कां० चं० पाण्डेय की 'अभिनवगुप्त' हिस्टोरिकल एण्ड फिलासोफिकल स्टेडी'।

से संगति निभाने के लिये, अभिनव ने भारती में, शान्त का नवम रस बड़ी प्रवीणता से प्रतिष्ठित किया है।

अभिनव ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' के रचनाकाल की ओर निर्देश करते हुये लिखा है—

इति नवतितमेशे वत्सरान्ते युगांशें,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां,
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितश्शम्भुपादैः॥

इस पद्य के अनुसार कलिसंवत् ४०९० अथवा १११५ ई० में 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी' की रचना हुई थी। संस्कृत में नाट्यशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त पादाचार्य का नाम सर्वोत्कृष्ट आचार्यों के साथ लिया जाता है।

सागरनन्दी (दशम शताब्दी के लगभग)—

'नाट्यशास्त्र' के उपरान्त इस विषय की अन्य कृतियाँ एक दीर्घकाल तक उपलब्ध नहीं होती हैं। जो रचनायें भरत से लगभग एक सहस्राब्दी बाद प्राप्त होती' हैं, उनमें ऐसे अनेक ग्रन्थकारों का नामोल्लेख मिलता है जिनका उदय 'नाट्यशास्त्र की रचना के बाद हुआ। सागरनन्दिन् के 'नाटक-लक्षण रत्नकोष' में एसे कई नाटकों तथा नाट्यशास्त्र सम्बधी लेखकों का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ में चारायण, कात्यायन, राहुल, गर्ग, हर्ष(या हर्ष विक्रम) विक्रम तथा मातृगुप्त का उल्लेख हुआ है और उनके उद्धरण भी मिलते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हर्ष को नाट्यशास्त्र के वार्तिक-कार होने की ख्याति प्राप्त है तथा मातृगुप्त को कुछ लोग नाट्यशास्त्र का टीकाकार और दूसरे उस विषय का स्वतन्त्र लेखक मानते हैं : अभिनवगुप्तपादाचार्य की अभिनव-भारती में भी कात्यायन, राहुल तथा वार्तिककार हर्ष की रचनाओं के उद्धरण[२] प्राप्त होते हैं। सागरनन्दिन् का 'नाटक-लक्षण रत्नकोष' मुख्यतया भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' पर आश्रित है तथा धनञ्जय के 'दशरूपक' से थोड़े ही आगे-पीछे की रचना है। अतः सागरनन्दिन् तथा धनञ्जय के एक-दूसरे से प्रभावित होने का कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होता है।

धनञ्जय (दशम शताब्दी ई० का उत्तरार्ध)—

'दशरूपक' के रचयिता धनञ्जय विष्णु के पुत्र तथा मालवा के परमारवंशी राजा मुञ्ज (वाक्पतिराज द्वितीय) के राजकवि थे; जिनका समय ९७४-९९५ ई० माना जाता है। लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में अपने पिता व आश्रयदाता को निर्देश किया है। धनञ्जय ने 'दशरूपक' की कारिकाओं में, मुख्यतया भरत नाट्यशास्त्र के साहित्यपक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों का संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत किया है। अभिनय, संगीत-वृत्त एवं प्रेक्षागृह के विविध प्रकारों का विवरण देना उन्हें अभीष्ट नहीं था, क्योंकि

---

१. नाटकलक्षण रत्नकोष—ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस।
२. ना० शा०—प्रो० भोलानाथ शर्मा – भूमिका पृष्ठ २८।

नाट्यशास्त्र का ऋण स्वीकार करते हुये उनका स्पष्ट वचन है—"नाट्यानां किन्तु किंचित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि" ।

धनञ्जय की मौलिकता—

नाट्यशास्त्र के विकासोन्मुख क्षेत्र में धनञ्जय अतीत के आचार्यों के अध्ययन का परिपाक और वर्तमान नाटकों के अभिनयों का अनुभव प्राप्त करके भविष्य में अभिनीत हो सकने वाले रूपकों का स्वरूप स्थिर करने के लिये स्वतन्त्र सूझ-बूझ लेकर अवतरित हुये । भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' को उन्होंने आदर्श माना किन्तु अपनी सतर्क पर्यवेक्षण शक्ति, अपूर्व प्रतिभा एवं महती कल्पना के बल पर अनेक क्रान्तिमयी नवीन उद्भावनायें प्रस्तुत कर दीं । कतिपय आचार्यों का विरोध चलता रहा किन्तु अधिकांश परवर्ती आचार्यों पर उनकी युक्तियुक्त तथा न्यायसंगत मान्यताओं का इतना स्थायी प्रभाव पड़ा कि 'नाट्यशास्त्र' पर लेखनी उठाने वाले को धनञ्जय द्वारा प्रतिपादित पद्धतियों का ही अनुसरण करना पड़ा । भरत को आदर्श मानकर 'नाट्यशास्त्र' पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने वालों ने भी कठिन स्थलों पर धनञ्जय का ही अनुकरण किया है । जिन आचार्यों ने ऐसा नहीं किया, उनमें अनेक दोष लक्षित होते हैं । उदाहरणार्थ रामचन्द्र गुणचन्द्र तथा विश्वनाथ ने भरत के पदचिह्नों का अनुसरण करके पैंसठ सन्ध्यंगों के लक्षण गिनाये हैं जबकि भरत को भी चौंसठ सन्ध्यंग ही मान्य हैं—चतुष्षष्टिर्बुधैस्तुयान्येतान्यंगानि सन्धिषु । (ना० शा० स० २१ श्लोक ६९)

धनञ्जय ने गर्भसन्धि के अन्तर्गत 'प्रार्थना' नामक अंग को अस्वीकार करके उपर्युक्त त्रुटि का निरास कर दिया है । इसीलिए विद्यानाथ को और शारदातनय जैसे आचार्यों को चौंसठ सन्ध्यंग मानने के नाते 'प्रार्थना' नामक गर्भाङ्ग को ही अस्वीकार करना पड़ा है, और इस प्रकार दशरूपककार का अनुसरण सफल हो गया है तथा वे असावधानी के दोषारोपण से बच गये हैं । सन्ध्यंगों के प्रयोजनों का उल्लेख शारदातनय ने ही नहीं, विश्वनाथ ने भी, उनका उद्देश्यकथन करने के पूर्व न करके धनञ्जय के अनुकरण पर, सबका लक्षण करने के पश्चात् ही किया है ।

भरत ने कैशिकी वृत्ति के नर्म नामक अङ्ग को तीन प्रकार का माना है, जबकि धनञ्जय ने उसके अठारह भेद स्वीकार किये हैं । सात्वती के अङ्गों का क्रम भी धनञ्जय ने मनोविज्ञान के आधार पर भरत से भिन्न कर दिया है, जिन्हें अधिकांश बाद के आचार्यों ने स्वीकार्य माना है ।

धनञ्जय द्वारा निरूपित भारती वृत्ति का लक्षण तो शारदातनय तथा विश्वनाथ जैसे आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में शब्दशः ग्रहण कर लिया है । वृत्तियों की विवेचना करते हुये महाराज भोज ने भरत का अनुसरण करते हुये भ्रमवश प्रस्तावना के ५ अङ्गों को वीथी के अङ्गों के रूप में स्वीकार किया है । इस स्थल पर यदि धनञ्जय का अनुकरण किया होता तो विद्यानाथ की भाँति वह भी यह भयानक भूल करने से बच जाते ।

नायकों के क्रम एवं लक्षणों का निरूपण करते हुये भी भरतमुनि की विविध

मान्यताओं को धनञ्जय ने स्वीकार नहीं किया। धीरोदात्त तथा धीरोद्धत नायकों के विषय में जो नवीन दृष्टिकोण धनञ्जय ने अपनाया है, उसे प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने ही स्वीकार किया है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अवश्य भरत का ही अनुसरण किया है किन्तु बाद के आचार्यों को उनके विचार मान्य नहीं हुए।

नायिका भेद के अन्तर्गत भरत द्वारा गिनाये हुए आठ प्रकारों को धनञ्जय ने नायिका के स्वतन्त्र भेद न मानकर विविध नायिकाओं की प्रेमगत दशा के विभिन्न रूप मात्र माना है। उन्होंने स्वकीया, अन्या, साधारणा तथा मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा आदि नायिका के सोलह भेद स्वतन्त्र रूप से माने हैं। जिन परवर्ती आचार्यों ने भरत के आठ प्रकारों को मान्यता दी है, वे भी धनञ्जय द्वारा प्रतिपादित नायिका भेद की उपेक्षा नहीं कर सके।

रस के विषय में भट्टलोल्लट की तात्पर्यवृत्ति, मिट्टी के हाथी आदि के रूप में शंकुक के चित्रतुरगादिन्याय और भट्टनायक के भाव्यभावक-सम्बन्ध का समन्वय करके धनञ्जय ने जो संग्रह की प्रवृत्ति दिखाई वह लोकदर्शी आचार्य के लिये सर्वथा संगत थी। रस की निष्पत्ति उन्होने सामाजिकों के हृदय में मानी है क्योंकि रस का आस्वादन उसी को होता है। निर्भर आनन्द की संवेदात्मकता प्राप्त होने पर स्थायी भाव ही रस की कोटि में पहुँच जाता है। इस प्रकार मीमांसकों, नैयायिकों एवं सांख्यवादियों की सहानुभूति को अपनी ओर आकर्षित करके उन्होंने ध्वनिवादियों के विरुद्ध एक दल खड़ा कर दिया, साथ ही युक्तियुक्त उक्तियाँ देकर शान्तरस के लिये नाटक का द्वार भी सदा को बन्द कर दिया।

इससे प्रकट होता है कि लेखक का उद्देश्य प्रकृष्ट गुणों वाली रचना के द्वारा नाट्यों के लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत करना है। यही कारण है कि धनञ्जय वस्तु, नेता तथा रस के विश्लेषण के साथ ही साथ रूपकों के प्रमुख दश भेदों के वर्णन तक ही अपने प्रतिपाद्य विषय को सीमित रखते हैं।[1]

दशरूपक का विषय-प्रतिपादन—

दशरूपक चार प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में ६८ कारिकाओं के अन्तर्गत रूपकों के उद्देश्य कथन के साथ नाट्य, नृत्त एवं नृत्य का वर्णन है, फिर कथावस्तु के भेदोपभेदों के साथ अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं, पंच सन्धियों तथा ६४ सन्ध्यंगों के लक्षण किये गये हैं, तब अर्थोपक्षेपकों तथा आकाशभाषितादि विविध उक्तियों का कथन करके वस्तुभेद का उपसंहार किया गया है। द्वितीय प्रकाश की ७२ कारिकाओं में नायक-भेद के अन्तर्गत नेता का सामान्य लक्षण करके ललित, शान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत्त तथा दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल नायक के ये सोलह प्रकार बताकर उसके सहायकों तथा प्रतिनायक का कथन किया है। फिर नायिका-भेद, नायिकाओं के गुणों, क्रियाओं तथा सहचरों का वर्णन है, तब कैशिकी,

---

१. विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुंजमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्। द० रू० चतुर्थ उ० श्लोक ८६

सात्वती तथा आरभटी वृत्तियों के भेदोपभेद तथा नियम समझाकर संस्कृतादि पाठ्य के नियम तथा आमन्त्रण के प्रकार बताए गए हैं। तृतीय प्रकाश की ७६ कारिकाओं में रूपकों के अन्तर्गत पूर्वरंग तथा भारती वृत्ति के भेदों आदि का प्रयोग समझाते हुए नाटक का सलक्षण विश्लेषण तो विशद रूप से किया ही गया है, प्रकरण, नाटिका, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक तथा ईहामृग के विषय-विभाग का भी वर्णन है। चतुर्थ प्रकाश में ८६ कारिकाओं के भीतर रस-निरूपण करते हुए विभाव, अनुभाव, भाव तथा सात्त्विक भाव के लक्षण तथा प्रकार बताकर ३३ व्यभिचारी भावों तथा ८ स्थायी भावों का कथन करके नाटक में समरूप-स्थायीभाव वाले शान्त रस के लिये विप्रतिपत्ति प्रस्तुत करते हुए धीरोदात्तादि अवस्थाओं का रसहेतुत्व सामाजिकों के आस्वाद का हेतुत्व, नट में भी आस्वाद की स्थिति और आस्वाद का लक्षण तथा भेद स्पष्टतः समझाकर शृङ्गार रस के भेद, करुण और अयोग-शृङ्गार में भेद, वीर, वीभत्स, रौद्र, (छह भेदों सहित) हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण रसों का वर्णन, प्रीति, भक्ति आदि तथा भूषणादि का इन्हीं में अन्तर्भाव करके प्रशस्ति-परक दो श्लोकों के साथ ग्रन्थ का उपसंहार कर दिया गया है।

दशरूपक का रचना काल—दशरूपक की रचना महाराज मुञ्ज के सभापंडित तथा राजकवि धनञ्जय ने की थी, यह बात 'दशरूपक' के अन्तिम श्लोक से विदित होती है।[1] यह तथ्य भी दशरूपक के एक उद्धरण से सिद्ध होता है कि यह महाराज मुञ्ज वाक्पतिराज भी कहलाते थे। एपीग्राफीका इण्डिया, वाल्यूम १ पृ० २२२-२३८ पर, ह्यूलर महोदय ने उदयपुर-प्रशस्ति के आधार पर मालवा के राजाओं को निर्देश किया है तथा एपीग्राफीका इण्डिका, वाल्यूम २, पृ० १८०–९४ पर कौलहार्न नामक विद्वान् ने नागपुर-प्रशस्ति के आधार पर मालवा के परमार राजाओं की वंशावली का उल्लेख किया है। उपर्युक्त दोनों स्थलों में परमार वंश के मालव राजाओं की वंशावलियाँ एक सी हैं, जिनके अनुसार यह निर्देश मिलता है कि उपेन्द्र का उत्तराधिकारी वैरिसिंह प्रथम था तथा उसके उत्तराधिकारी मुञ्ज और सिंधुराज (नवसाहसांक) ये दो व्यक्ति थे। वाक्पतिराज मुञ्ज के उत्तराधिकारी वैरिसिंह तथा हर्ष ये दो व्यक्ति थे और सिंधुराज (नवसाहसांक) का उत्तराधिकारी भोज था। इस परम्परा के अनुसार वाक्पतिराज तथा सिंधुराज समकालीन माने जा सकते हैं। भोजराज इनसे एक पीढ़ी बाद हुए थे।

एलबरूनीकृत 'इण्डिका' में महाराज भोज का समय १०३० माना गया है।[2] भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह था जिसका १०५५ ई० का दानपात्र प्राप्त हुआ है। इससे यह विदित होता है कि भोज ने १०५० ई० के लगभग तक शासन किया था।

इधर वाक्पतिराज का एक शिलालेख ९७४ ई० का है, जिसके अनुसार उसने अहिक्षत्र देश से आये हुए किसी धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को कुछ

---

१. द० रू० चतुर्थ उ०, श्लोक ८६।

२. इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ६ पृ० ५३-५४।

पृथ्वी दान में दी थी। साथ ही ९७९ ई० के लेखपत्र में लिखा है कि वाक्पतिराज ने एक ग्राम वसन्तदेवी को समर्पित किया था। उपर्युक्त घटनाओं से प्रकट है कि ९७४ ई० से ९७९ ई० के मध्य में वाक्पतिराज सिंहासनारूढ़ हो चुका होगा। उसके शासन की अंतिम सीमा निश्चित करने के लिये निम्नांकित तथ्य विचारणीय हैं—

इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ३६ पृ० १७० लिखा है कि तैलप द्वितीय ने वाक्पतिराज पर विजय प्राप्त करके उसका वध किया था। तैलप द्वितीय का मृत्यु-काल लगभग ९९७ या ९९८ में स्वीकार किया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्पतिराज का वध ९९७ ई० से पूर्व ही हुआ होगा। किसी अमितगति नाम के कवि ने 'सुभाषित संदोह' की रचना मुञ्ज के राज्यकाल में की थी। इसका रचना-काल विक्रम संवत् १०५० तदनुसार ९९३ या ९९४ ई० दिया गया है। अतएव मुञ्ज की मृत्यु ९९३ या ९९४ ई० से पूर्व नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार मुञ्ज का काल ९७४ से ९९४ ई० निर्धारित होता है। 'दशरूपक' की रचना के समय धनञ्जय महाराज मुञ्ज की सभा में विदग्धता प्राप्त कर चुके थे, यह मुञ्ज के शासन का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। राज्य में बाह्य एवं आन्तरिक शान्ति स्थापित करने के उपरान्त ही कोई नृपति साहित्य एवं कला की उन्नति से दत्तचित होता है। इस प्रकार दशरूपक का रचनाकाल ९८ ई० के लगभग स्थिर किया जा सकता है।

अवलोक टीका का रचनाकाल (९९४–१००० ई०)—

धनिक की अवलोक टीका का रचनाकाल निश्चित करते हुए यह तथ्य महत्त्व-पूर्ण है कि धनिक ने अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त 'नवसाहसांकचरित' के उद्धरण भी अपनी टीका में दिये हैं। इस महाकाव्य की रचना पद्मगुप्त नामक कवि ने सिंधुराज की आज्ञा से की थी।[1] वाक्पतिराज के उपरान्त सिंहासनारूढ़ हुए थे। ह्यूलर ने उदयपुर प्रशस्ति के आधार पर लिखा है कि धनिक उत्पलराज या वाक्पतिराज के महासाध्यपाल थे। यदि यह ठीक है तो धनिक मुञ्ज के शासनकाल में ही पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके होंगे। अतः अवलोक टीका उन्होंने सिन्धुराज के शासन काल के आदि में ही लिखी होगी। सिन्धुराज का शासन काल ९९४ से आरम्भ हुआ होगा, तो धनिक ने अपनी टीका ९९४ से १००० ई० के मध्य में लिखी होगी। वाक्पतिराज के ९७५ ई० के शिलालेख में लिखा है कि उसने अहिक्षत्र देश से आये हुए किसी धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को कुछ पृथ्वी दान में दी थी। अनुमान है कि वसन्ताचार्य धनिक के सुयोग्य पुत्र थे, जिनके पाण्डित्य से प्रसन्न होकर वाक्पतिराज ने दान दिया होगा। उस समय वसन्ताचार्य लगभग २० वर्ष के होंगे तो धनिक की आयु लगभग ४५ वर्ष रही होगी। इस प्रकार लगभग ६५ वर्ष की अवस्था में धनिक ने अवलोक टीका रची होगी।

---

१. द० रू०—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, भूमिका पृ० ८।

धनिक (११ वीं शती का पूर्वार्द्ध)

दशरूपक की कारिकाओं पर अवलोक वृत्ति के रचयिता धनिक विष्णु के पुत्र थे, जैसा कि अवलोक के प्रत्येक प्रकाश के अन्त की पुष्पिका से विदित होता है—"इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः।" इन्हें धनञ्जय का छोटा भाई माना जाता है, क्योंकि धनञ्जय और धनिक दोनों ही किसी विद्वान् विष्णु पण्डित नामक आचार्य के पुत्र थे।

कतिपय प्राचीन विद्वान् कारिका भाग तथा वृत्तिभाग को एक ही व्यक्ति की रचनायें मानते हैं। इस भ्रान्त मत को स्वीकार करने वालों में 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' के रचयिता विद्यानाथ तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ प्रमुख हैं, जिन्होंने दशरूपक की कारिकायें धनिक के नाम से उद्धृत की हैं। अवलोक में ऐसे अनेक स्थल हैं जो इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हैं कि कारिका भाग तथा वृत्ति भाग दो भिन्न व्यक्तियों की रचनायें हैं। जब मूलग्रन्थ के रचयिता की बात कही गई है तब केवल धनञ्जय का ही उल्लेख मिलता है तथा टीका में टीकाकार धनिक का उल्लेख किया गया है। यदि दोनों एक ही व्यक्ति के नाम होते तो 'दशरूपक' में इस तथ्य को स्पष्ट करने वाला एक न एक श्लोक अवश्य होना चाहिये था। दूसरे, कारिकाओं तथा उनकी टीकाओं के ध्यानपूर्वक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि टीकाकार मूलग्रन्थ के लेखक के मतों से पूर्णतः सहमत नहीं हैं। ऐसे स्थलों पर उसने अपने दृष्टिकोण को भी स्पष्ट कर दिया है। तीसरे, धनिक ने अवलोक में जहाँ कहीं धनञ्जय के मत का समर्थन किया है वहाँ उन्होंने अपने लिये एकवचन का प्रयोग न करके बहुवचन 'अस्माभिः' आदि का प्रयोग किया है। अतएव हमारी दृढ़ धारणा है कि धनञ्जय एवं धनिक दो विभिन्न व्यक्ति थे।

धनिक पक्के अभिधावादी तथा ध्वनि-विरोधी है। रस के सम्बन्ध में वह भट्टलोल्लट व श्री शंकुक के मतों का कुछ मिश्रण करके भट्टनायक के ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। नाटक में शान्त रस को वह कोई स्थान नहीं देते जैसा रस-प्रकरण में स्पष्ट किया जायेगा।

अवलोक टीका के अतिरिक्त धनिक ने 'काव्यनिर्णय' नामक साहित्यशास्त्र पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की थी। अवलोक के चतुर्थ प्रकाश में धनिक ने स्वय 'काव्य-निर्णय' का उल्लेख करते हुए उससे ७ कारिकायें उद्धृत की हैं, 'यथावोचाम-काव्य-निर्णये' इत्यादि। प्रतीत होता है यह ग्रन्थ कारिकाओं में रचा गया था। अवलोक में स्थान-स्थान पर उदाहरणों के रूप में धनिक ने अपने पद्यों के उद्धरण भी दिये है, जिससे प्रकट होता है कि वह उच्चकोटि के कवि भी थे।

रामचन्द्र गुणचन्द्र (११वीं शताब्दी)—'नाटयदर्पण' के ये दोनों रचयिता सुविख्यात जैन महापुरुष हेमचन्द्राचार्य के शिष्य थे। इसमें बारह प्रकार के रूपकों

---

१. दशरूपक (निर्णय सागर सं० १९४१) पृष्ठ ९५।

और तेरह प्रकार के उपरूपकों का वर्णन मिलता है। 'नाट्यदर्पण' चार विवेकों में विभाजित है। प्रथम नाटक-निर्णय नामक विवेक में नाटक-लक्षण, दशाओं के पाँच भेदों, पाँच सन्धियों तथा पैंसठ सन्ध्यंगों का विशद वर्णन किया गया है। प्रकरणों का दशरूप निर्णय नामक द्वितीय विवेक के प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम, उत्सृष्टिकांक' ईहामृग तथा वीथी इन ग्यारह रूपकों के लक्षण करके वीथी के तेरह अंगों का वर्णन है। वृत्तिरस भावाभिनय-विचार नामक तृतीय विवेक में चार वृत्तियों, नवरसों, रसदोषों, स्थायी तथा व्यभिचारी भावों, अनुभावों एवं चार प्रकार के अभिनयों का निरूपण मिलता है तथा सर्वरूपक साधारण लक्षण-निर्णय नामक चतुर्थ विवेक में नान्दी, ध्रुवा, मुख्य नायक के गुण, नायिका भेद तथा उपरूपकों के तेरह भेद गिनाये गये हैं।

'नाट्यदर्पण' का आधार 'नाट्य-शास्त्र' तथा अभिनव भारती ही है। दोनों लेखकों ने ग्रन्थ के साथ एक वृत्ति भी जोड़ दी है जिसमें अनेक प्राचीन तथा अनुपलब्ध काव्यों में नाटकों के उद्धरण भी आ गये हैं। इसलिये भी ग्रन्थ का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। इसमें विशाखदेव या विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' जैसे ऐतिहासिक नाटक के उद्धरण भी मिलते हैं।

रामचन्द्र के तीन-चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु इनके लिखे लगभग एक सौ ग्रन्थ कहे जाते हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का समय निरूपण—'नाट्यदर्पण' के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र का विशद और स्पष्ट जीवनवृत्त अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' की कारिकायें और वृत्तियाँ सर्वप्रथम प्रो० सिल्वाँ लेवी ने १९२३ ई० जर्नल एशियाटिक में प्रकाशित की थीं।

रामचन्द्र गुणचन्द्र का समय प्राप्त आधारों के अनुसार यह है कि उन्हें हम सिद्धराज (१०९३—११४३ ई०), कुमारपाल (११४३—११७२ ई०) और अजयपाल (११७२–११७५ ई०) का समसामयिक कह सकते हैं। यह अन्तिम राजा अजयपाल रामचन्द्र की मृत्यु का कारण कहा जाता है। इसने रामचन्द्र को अग्नि से तपे ताम्र-पत्र पर खड़े होने की आज्ञा दी, जिसके परिणाम स्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी। किंवदन्ती ऐसी कही जाती है कि सिद्धराज के द्वारा उत्तराधिकारी पूछे जाने पर आचार्य हेमचन्द्र ने रामचन्द्र की ओर संकेत किया था। आचार्य हेमचन्द्र का समय ११०० ई० स्वीकार किया जाता हैं। अतः उसका शिष्य रामचन्द्र ११०० से ११७५ ई० के मध्यकाल में रहा होगा, यह सिद्ध होता है। रामचन्द्र के गुजरात में पैदा होने और निवास करने के विषय में कोई सन्देह नहीं है।

गुणचन्द्र के विषय में हमें बहुत ही कम ज्ञात है। वह रामचन्द्र का साथी

१, ना० द०, प्र० वि०, पृ० ५९–११४।

२. ना० द०, भूमिका, पृ० २–३।

विद्यार्थी था। वे दोनों आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। गुणचन्द्र ने कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा है, जबकि रामचन्द्र ने लगभग [illegible] ग्रन्थों की रचना की। प्रबन्ध-शतकर्ता के रूप में उनकी प्रसिद्धि है। अपने एकादश के लगभग नाटकों से उन्होंने 'नाट्यदर्पण' में ही उद्धरण दिए हैं। रामचन्द्र एक विनोदी विद्वान् थे। उनकी विनोद-प्रिय प्रकृति उनके ग्रन्थों से परिलक्षित होती है। किन्तु उनके सहकारी गुणचन्द्र गम्भीर प्रकृति के विद्वान् थे। उन्होंने रामचन्द्र को नाटकों और दूसरे ग्रन्थों के निर्माण में सहयोग नहीं प्रदान किया। वे 'द्रव्यालङ्कारवृत्ति' तथा 'नाट्यदर्पण' जैसे गम्भीर ग्रन्थों और विषयों के निर्माण में ही लगे रहे।

शारदातनय (१२वीं शती का उत्तरार्ध और १३वीं शती का पूर्वार्ध)[1]—

शारदातनय कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। उनके प्रपितामह लक्ष्मण ने तीस वैदिक यज्ञ किये थे तथा वेदभूषण नाम का वेदभाष्य लिखा था। उनके पुत्र कृष्ण वेदों और शास्त्रों में समान रूप से निष्णात थे। कृष्ण के पुत्र भट्टगोपाल भी १८ विद्याओं में पारंगत थे। उन्होंने शारदा देवी को प्रसन्न करके शारदातनय नामक पुत्र प्राप्त किया था।

'शारदातनय' के 'भावप्रकाशन' में 'नाट्यशास्त्र' सम्बन्धी सभी विषयों का समावेश हुआ है। आकार में यह भरत के नाट्यशास्त्र के समान है। इसमें दश अधिकारों के अन्तर्गत रूपकों तथा उपरूपकों के स्वरूप का सोदाहरण निरूपण किया गया है। इसमें नन्दिकेश्वर, सदाशिव, पद्मभू, व्यास, द्रौहिणि तथा आंजनेय नामक नाट्याचार्यों का उल्लेख तथा वासुकि, नारद, व्यास, कोहल तथा भोज आदि के मतों का निर्देश मिलता है। प्रधानतः इस ग्रन्थ में भरत के 'नाट्यशास्त्र' की प्रणाली का अनुसरण किया गया है, किन्तु जब कोई प्रसिद्ध आचार्य भरत के मत से वैपरीत्य रखता हुआ दिखाई दिया है, तब लेखक ने उसका मत प्रस्तुत कर दिया है। सन्धियों तथा सन्ध्यंगों के निरूपण में अर्थोपक्षेपकों के प्रयोगों तथा लक्षणों में नायक-नायिकाओं के भेदोपभेदों तथा विविध रसों के साथ अलग-अलग वृत्तियों के प्रयोगादि में शारदा-तनय ने धनञ्जय के 'दशरूपक' का ही अनुसरण किया है। यहाँ तक कि विष्कम्भक, धीरोदात्त नायक तथा भारती वृत्ति आदि का लक्षण करते हुये तो लेखक ने 'दशरूपक' की कारिकायें ज्यों की त्यों उद्धृत कर ली हैं। यथासमय उपर्युक्त कथन की पुष्टि में प्रमाण प्रस्तुत किये जायेंगे।

अभिनवगुप्त के समान शारदातनय ने भी रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है और अलङ्कार, गुण तथा रीति आदि को उसका उपकारक-मात्र माना है। कुछ स्थलों में उनकी धारणायें अभिनवगुप्त का यह मत स्वीकार नहीं करते कि उत्तम काव्य में रस सदा व्यंग्य ही होने चाहिये वाच्य नहीं। यहाँ शारदा-तनय ने दशरूपककार का अनुसरण करते हुये यह माना है कि रस-काव्य की आत्मा

---

१. भावप्रकाशन (भूमिका)।

है, चाहे काव्य का वाच्य हो अथवा व्यंग्य। इसी प्रकार वे शब्दों की तात्पर्य वृत्ति के अतिरिक्त व्यंजनावृत्ति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते और ध्वनि को तात्पर्य शक्ति के अन्तर्गत मान लेते हैं। उनका कथन है कि ध्वनि और तात्पर्य में यदि कोई अन्तर है तो वह वैसा ही अन्तर है जैसा कि ब्राह्मण और ब्रह्मचारी में। अभिप्राय यह है कि तात्पर्य के व्यापक क्षेत्र के अन्तर्गत ध्वनि का एक गौण स्थान है।

रससिद्धान्त के निरूपण के विषय में भी शारदातनय अभिनवगुप्त से सर्वथा भिन्न मत रखते हैं। लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के रसनिष्पत्ति-परक विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो चुकने पर प्रायः परवर्ती आचार्यों ने अभिनवगुप्त का ही मत स्वीकार किया है, किन्तु शारदातनय ने धनञ्जय और धनिक द्वारा परिमार्जित एवं परिवर्धित किये हुये लोल्लट तथा शंकुक के मतों से पुष्ट भट्टनायक के ही मूलसिद्धान्त का ग्रहण तथा निर्धारण किया है। रस और काव्य में उन्होंने भाव्य भावक भाव सम्बन्ध स्वीकार किया है न कि व्यंग्य-व्यंजकभाव सम्बन्ध। उनके अनुसार शब्द की अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य वृत्तियाँ सामाजिकों को काव्यार्थ या रस के समझने में सहायक होती है और दर्शक भावना वृत्ति के द्वारा रस का योग करता है, जो ब्रह्मानन्द सहोदर है। साथ ही भट्टलोल्लट द्वारा निरूपित तथा धनञ्जय द्वारा गृहीत यही मत शारदातनय ने भी स्वीकार किया है कि काव्य और रस में कार्य कारण सम्बन्ध है, क्योंकि जब सामाजिकों के समक्ष नाटकादि का प्रदर्शन होता है तब विभावादि ही दर्शक के मन में रसानन्द उत्पन्न करते हैं।

शान्त रस की प्रकृति के विषय में भी शारदातनय ने अभिनववादी अन्य नाट्याचार्यों का खण्डन किया है। सर्वप्रथम उद्भट्ट ने शान्त को रसकोटि में स्थापित किया था, आनन्दवर्धन ने उसे स्वीकृति दी। भट्टलोल्लट ने उसे पुष्टि प्रदान की तथा अभिनव ने उसे सब रसों के बीच में अद्वितीय स्थान दे डाला। यहाँ भी धनञ्जय का अनुकरण करते हुए शारदातनय ने उपर्युक्त सब आचार्यों का खण्डन करते हुए यह मत प्रकट किया है कि रंगमंच पर शान्तरस का अभिनय नहीं किया जा सकता क्योंकि शान्त रस के शम नामक स्थायीभाव के द्वारा अपने अनुरूप विभावानुभाव तथा सात्विक भावों का प्रदर्शन नहीं कराया जा सकता। साथ ही शारदातनय ने रसों के बीच में शान्त को प्रधान स्थान दिया है, जो धनञ्जय को ग्राह्य नहीं है।

संक्षेप में 'भावप्रकाशन' में लेखक का उद्देश्य भरत के परवर्ती और अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों एवं सिद्धान्तों का संग्रह तथा उनकी परीक्षा करके आवश्यक परिमार्जनों के साथ उनके अन्तिम स्वरूपों का निरूपण करना था। भरत द्वारा निरूपित रससिद्धान्त के अडिग समर्थक होते हुए भी, शारदातनय ने भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' द्वारा प्रस्तावित प्रणाली से, शृङ्गाररस का पूर्ण विकास प्रदर्शित किया है।

शैली—यद्यपि शारदातनय ने अपना ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' तथा 'दशरूपक'

की ही शैली में लिखने का यत्न किया है, किन्तु असावधानी-वश शैली अत्यन्त शिथिल हो गई है। व्याकरण के प्रयोगों में स्खलनादि की सम्भावना होने पर ही लेखक ने नवें अधिकार के आदि में अधोलिखित शब्दों में क्षमायाचना कर ली है—

भरतादि प्रणीतत्वादर्थे दोषो न कश्चन।
शब्दे विभक्तिव्यत्यासाल्लिंगव्यत्यासातोऽपि वा ॥
धात्वर्थस्य विपर्यासाद्दोषो यद्यपि दृश्यते।
सद्भिस्तत्क्षम्यतामत्र को लोके न प्रमाद्यति ॥

इनकी शैली का दूसरा दोष यह है कि ये एक ही विषय का बारम्बार पिष्ट-पेषण करते हैं। अपने इस दोष का निराकरण करते हुए लेखक कहता है कि भरत के १०१ शिष्यों में से जिनके मत उसने दिये हैं, उनमें पर्याप्त समानता है, अतः शैली में यह दोष आना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

शारदातनय का काल—तर्कयुक्त प्रमाणों के आधार पर शारदातनय का समय १२वीं शती का उत्तरार्ध स्थिर होता है, क्योंकि उसने भोज के 'शृङ्गार-प्रकाश' और मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से उद्धरण लिये हैं। इन दोनों ग्रन्थकारों का समय ११वीं शती का पूर्वार्ध ठहरता है। शारदातनय ने अपने ग्रन्थ में एक सोमेश्वर का उल्लेख किया है, इससे भी उनका समय १२वीं शती का अन्तिम भाग सिद्ध होता है।

परन्तु सोमेश्वर नाम के चार प्रसिद्ध लेखकों का उल्लेख आता है। वे इस प्रकार हैं।

(१) 'कीर्ति-कौमुदी' और 'सुरथोत्सव' के लेखक, (२) 'काव्यादर्श' के लेखक, (३) 'मानसोल्लास' के लेखक, (४) 'संगीतरत्नावली' के लेखक।

देखना यह है कि इन चार में से जिस सोमेश्वर का शारदातनय ने उल्लेख किया है, उसका समय क्या है?

'कीर्तिकौमुदी' और 'सुरथोत्सव' के लेखक सोमेश्वर, कुमार के पुत्र थे तथा यह राजा भीमदेव द्वितीय के राजदरबार में तथा वीरधवल और बीसलदेव के यहाँ भी थे। इन राजाओं ने ११७९ से १२६२ तक शासन किया।

द्वितीय सोमेश्वर 'काव्यादर्श' के लेखक हैं, जिसमें 'काव्यप्रकाश' की आलोचना है यह अवश्य ही सोमेश्वर प्रथम से भिन्न हैं, क्योंकि वे अपने को भरद्वाजगोत्रीय भट्टदेवक का पुत्र मानते हैं। इनके समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है केवल एक ही प्रमाण इस सम्बन्ध में उपलब्ध है और वह है एक हस्तलिखित प्रति, जिसका सम्बन्ध उनके ग्रन्थ से है। इसका समय संवत् १२८३ अर्थात् १२२७ ई० है, जैसा भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट के सूचिपत्र में दिया है। इससे सिद्ध होता है कि वे उस समय से, जबकि उनकी कृति की अनुलिपि बनी ५० वर्ष पूर्व हुये होंगे।

सोमेश्वर तृतीय जो 'मानसोल्लास' अथवा 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि' के

लेखक है, कल्याणी के चालुक्य वंश के विक्रमादित्य चतुर्थ के पौत्र थे। उन्होंने सन् १२३१ में मानसोल्लास की रचना की।

'संगीतरत्नावली' के लेखक सोमेश्वर चतुर्थ के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल डॉ० ह्यूलर के पास और सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा के बुलेटिन नं० ८ में प्रतिलिपियाँ मिलतीं हैं।

शार्ङ्गदेव ने (सन् १२१०–१२४७ ई०) अपने 'संगीतरत्नाकर' में एक सोमेश्वर का उल्लेख किया है, जो भोज आदि के साथ संगीत के लेखक थे। एम० आर० तैलंग इन सोमेश्वर को 'संगीत-रत्नावली' का सोमेश्वर मानते हैं तथा उन्हें ही सोमदेव परमर्दि नियत करते हैं। परन्तु ऊपर लिखी हुई प्रतिलिपि से मि० तैलंग का यह निश्चय सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि 'संगीतरत्नावली' के लेखक, वहाँ बिना परमर्दि के सोमराजदेव हैं। शार्ङ्गदेव के उल्लेख से कम से कम इतना तो सिद्ध होता ही है कि संगीतशास्त्र के लेखक एक सोमेश्वर थे। इससे यह भी पता चलता है कि 'संगीतरत्नावली' के लेखक सोमराजदेव थे। जो सम्भवतः शार्ङ्गदेव के ही सोमेश्वर हैं। यह संदिग्ध है कि तैलंग महाराज द्वारा कथित परमर्दि सोमेश्वर की उपाधिमात्र है। परन्तु दूसरी ओर यह भी प्रतीत होता है कि परमारदी उपर्युल्लिखित सोमेश्वर से भिन्न पुरुष है। इस काल में हमें परमर्दि या परमाल नामक एक राजा का उल्लेख मिलता है, जो चंदेल वंश के थे और जिनका समय ११६५ से १२०३ ई० है। उनके मन्त्री वत्सराज के लेखों से मालूम होता है कि परमर्दिदेव कवियों के आश्रयदाता थे। अतः सब सम्भावनाओं से यह परमर्दि (११६५ ई०) शार्ङ्गदेव की सूची में उल्लिखित संगीत के लेखक हैं।

उपर्युक्त संकेतों से इतना तो स्पष्ट है कि चारों सोमेश्वर १३१ वर्षों के समय में हुए, जो ११३१ से १२६२ ई० है।

अब हमको यह देखना है कि चारों में कौनसे सोमेश्वर का, शारदातनय ने उल्लेख किया है। यहाँ पर वर्णित विचारों से यह तो स्पष्ट है ही कि वे संगीतशास्त्र और भारती आदि वृत्तियों से सम्बद्ध है इसी आधार पर प्रथम दो सोमेश्वर इस प्रश्न की परिधि से निकल जाते हैं, क्योंकि उनके ग्रन्थों में संगीत और वृत्तियों की प्रभूत सामग्री नहीं मिलती।

यह भी सम्भव हो सकता है कि सोमेश्वर कोई राजा हो क्योंकि इस पुस्तक में जहाँ भी उनका वर्णन हुआ है, वे राजा भोज के साथ उल्लिखित हैं। चारों सोमेश्वर में से केवल दो सोमेश्वर ही राजा हैं और प्रथम दो सोमेश्वर की भाँति कोरे कवि या आलोचक ही नहीं है। अतः इससे सिद्ध होता है कि शारदातनय के सोमेश्वर इन बाद के दो सोमेश्वरों में से एक है। इससे यह सम्भव है कि जिन सोमदेव की ओर शार्ङ्गदेव ने संकेत किया है तथा जिनका ग्रन्थ 'संगीत-रत्नावली' है वे ही शारदातनय द्वारा उल्लिखित हैं। इसका कारण यह है कि संगीत-शास्त्र का क्षेत्र भारती आदि वृत्तियों पर ही आधारित है। यह मुख्य संगीत से अतिरिक्त है,

जैसा कि 'संगीतरत्नाकर' से यह स्पष्ट है। परन्तु यह भी संभव है कि शारदातनय के सोमेश्वर 'मानसोल्लास' के सोमेश्वर का निर्देश नहीं कर सकते यद्यपि ग्रन्थ में संगीत के विषय का विस्तृत विवेचन है, जो राजकुमारों के लिये आवश्यक है। इसमें वृत्ति और भारती आदि पारिभाषिक शब्द नहीं आ सकते।

ये दोनों सोमेश्वर बारहवीं शती के तीन चौथाई से बाद के नहीं हो सकते। शारदातनय के समय-निर्धारण की ऊपरी सीमा १२ शती के शेषांश में ससंकोच बताई जा सकती है। परन्तु कम से कम समय की सीमा अधिक विश्वास के साथ बताई जा सकती है। रस और संगीत के परवर्ती आचार्य सिंगभूपाल, कुमारस्वामी और चतुर-कालीनाथ ने अपने ग्रन्थों में 'भावप्रकाशन' से अवतरण लिये हैं और उसका समय १३०० ई० माना है, जबकि कुमारस्वामी और कालीनाथ १५वीं शती के प्रारम्भ में हुए। रसार्णव सुधाकर के लेखक सिंहभूपाल का समय ई० सन् १३२० है। यह निम्न सीमा फिर ५० वर्ष कम की जा सकती है और अन्तिम सीमा १२५० ई० के लगभग ठीक बैठती है। इसका अवतरण 'रसरत्नदीपिका' में भी मिलता है, जिसके लेखक अल्लाराजा हैं। अल्लाराजा अपने को हम्मीर का पुत्र मानते हैं, जो परम विद्वान् थे। इन हम्मीर को इसी नाम के मेवाड़ के चौहान राजा के साथ जोड़ा जाता है, जिनकी जीवनी न्यायचन्द सूरी ने 'हम्मीर महाकाव्य' में दी है। न्यायचन्द ने इस चौहान राजा को दक्षिण देशों के विजेता के रूप में चित्रित किया है। हम्मीर का शासनकाल १३३९ संवत्' तदनुसार १२८३ ई० माना जाता है। इसलिये उनके पुत्र अल्लाराजा का समय भी १४वीं का पूर्वभाग होना सम्भव है। 'रसरत्नदीपिका' में जहाँ लेखक ने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का उल्लेख किया है (जहाँ से उसने विषय और योग्यता को प्राप्त किया) वहीं 'भावप्रकाशनम्' का भी नाम मिलता है। भानुदत्त ने अपनी रसतरंगिणी' में 'रसरत्नदीपिका' का उल्लेख किया है। इसका समय ई० १३०० से १३५० के बीच निश्चित है और यदि हम ५० वर्ष का समय इस ग्रन्थ की ख्याति के लिये मान लें, जिससे लेखकों ने अवतरण लिये हों, शारदातनय का समय १२५० ई० सिद्ध होता है। इस प्रकार 'भावप्रकाशन' की रचना ११७५ से १२५० ई० के मध्य में हुई होगी। 'साहित्यदर्पण' के रचयिता विश्वनाथ 'भावप्रकाशन' से परिचित नहीं प्रतीत होते, यद्यपि उनसे पूर्व शारदातनय हो चुके थे। उपरूपकों के सम्बन्ध में समानता के स्थान पर असमानता ही पाई जाती है।

यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि यह समय-निरूपण ठीक नहीं है, क्योंकि लेखक ने अपनी सामग्री 'कल्पलता' नामक पुस्तक से ली है, जो इसके बाद की है। परन्तु वास्तव में दो 'कल्पलतायें' हैं। पहली के लेखक अरिसिंह हैं और दूसरी के देवेश्वर, जिनका समय क्रमशः १३वीं शती और १४वीं शती का प्रारम्भ है।

इसके विषय में भी यह प्रश्न उठ सकता है कि इन दोनों में लेखक द्वारा निर्दिष्ट कोई भी 'कल्पलता' नहीं हो सकती। शारदातनय की 'कल्पलता' में रस, शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध तथा नायिका के नायक प्रति व्यवहार का वर्णन

है। परन्तु उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में शारदातनय के रस और भावों का वर्णन नहीं है। अरिसिंह की 'कल्पलता' में अवश्य अर्थों के साथ शब्दों के सम्बन्ध का एक स्थल है, परन्तु इसमें शब्दार्थ तीन प्रकार के हैं, जबकि शारदातनय के अनुसार उसके चार प्रकार हैं। अतः 'कल्पलता' के आधार पर शारदातनय के समय का निरूपण नहीं हो सकता। यह 'कल्पलता' मम्मट से भी प्राचीन है, क्योंकि शारदातनय के अनुसार मम्मट ने भी इससे सामग्री ली है।

कुछ लोग 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार भट्टगोपाल को शारदातनय का पिता मानते हैं। पर यह पूर्णरूप से ठीक नहीं है, किन्तु इस सम्बन्ध में दो बातों की सम्भावना अवश्य होती है—एक तो टीकाकार भट्टगोपाल मम्मट के परवर्ती किसी ग्रन्थ का निर्देश नहीं करते, दूसरे १५वीं शती के कुमारस्वामी आदि ने उनसे अवतरण लिये हैं।

विद्यानाथ (१४वीं शती का पूर्व भाग)—विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' दक्षिण भारत में बड़ा लोकप्रिय है। इसमें कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण, ये तीन भाग हैं। इसके सभी उदाहरण विद्यानाथ द्वारा रचित हैं। जिनमें प्रतापरुद्रदेव नामक काकतीय वंश के नरेश की प्रशंसा है। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं। तीसरे प्रकरण में नाटक के स्वरूप का विवेचन किया गया है तथा लक्षणों के उदाहरणस्वरूप 'प्रतापरुद्र कल्याण' नामक एक नाटक भी लिखकर विद्यानाथ ने इसी में निर्दिष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्रदेव ने १२७१ से १३०९ ई० के मध्य में किसी समय देवगिरि के राजा राजदेव को परास्त किया था। १२९८ ई० से १३१७ ई० तक के इनके शिलालेख उपलब्ध होते हैं। मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में विद्यानाथ का उल्लेख अनेक बार किया है। साथ ही विद्यानाथ ने रुय्यक का उल्लेख किया है। इन निर्देशों से भी विद्यानाथ के समय पर प्रकाश डालने का यत्न किया जायगा।

विश्वनाथ के नायक-नायिका भेद, अर्थोपक्षेपकों के वर्णन तथा सन्धियों के लक्षण बहुत कुछ धनञ्जय के 'दशरूपक' के आधार पर किये गये है, यथा-स्थान उनका निरूपण किया जायगा। जहाँ तक उनके समय का सम्बन्ध है, आगे की पंक्तियों में विशद रूप से विचार किया जा रहा है।

विद्यानाथ का युग (तेरहवीं शती का अन्तिम तथा चौदहवीं शती का प्रथम चतुर्थांश)—

लेखक की तिथि उन अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर सरलता से निर्धारित की जा सकती है, जो उसकी कृति में प्राप्त होते हैं। एकशिला या ओरंगल के काकतीय राजाओं के लेखों से भी विद्यानाथ के युग पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

आन्तरिक प्रमाण—विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ में आश्रयदाता प्रतापरुद्र का इतना अधिक वर्णन किया है कि ग्रन्थ का नाम ही 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' हो गया है। ग्रन्थ में नायक के यशोवर्णन को ही ग्रन्थ और ग्रन्थकार की प्रसिद्धि का मुख्य कारण बतलाया गया है। काव्य की विशेषताओं एवं दूसरे लक्षणों तथा सम्बन्धित नियमों के उदाहरण दिये गये हैं, वे सब के सब प्रतापरुद्र के ही गौरव एवं सम्मान के अभिव्यञ्जक हैं। इससे सिद्ध है कि लेखक प्रतापरुद्र के समय में जीवित था। जहाँ तक

प्रतापरुद्र का सम्बन्ध है, उसके विषय में अनेक बातों का ज्ञान तो हमें ग्रन्थ से ही हो जाता है। उसके लेखों और पत्रों से पता चलता है कि वह एक काकतीय राजा था और काकतीय वीर-रुद्र कहा जाता था; क्योंकि वह काकती नाम की एक देवी की पूजा किया करता था, जिसे दुर्गाशक्ति कहकर अभिहित किया गया है और जो उसकी कुल-देवता थी तथा एकशिला नगरी में स्थापित थी। एकशिला नगरी आंध्र प्रदेश की राजधानी थी, जिसे त्रिलिंग देश भी कहा जाता था, क्योंकि वहाँ पर भी शैल, कालेश्वर तथा डाक्षाराम बरावर से तीन प्रसिद्ध लिंग हैं। गोमती नदी और हनुमदचल इस राजधानी के पास ही स्थित थे। दुर्गादेवी का वर्णन काकतीय वंश की कुलदेवता के रूप में किया गया है। प्रतापरुद्र को रुद्र भी कहा जाता है। वह महादेव और मनमुदी या मम्बदम्बा का पुत्र था। विद्यानाथ कहते हैं कि वह प्रतापरुद्र इसलिये कहा जाता था कि वह सूर्य के समान प्रतापी था और वीर-रुद्र इसलिये कहा जाता था कि वह विष्णु का अवतार था, जो कलयुग में मनमुदी का पुत्र होकर प्रकट हुआ था। वही त्रेता में राम और द्वापर में कृष्ण के रूप में विद्यमान था। वह विद्या को प्रोत्साहन देता था और स्वयं विद्वान् था। उसके वीरों को आन्ध्रक्षमाभृत्य कहा गया है। उसकी ध्वजा का चिह्न शूकर था तथा उससे हारे हुये शत्रु अपने वक्षस्थल पर शूकर का चिह्न धारण करके उसे प्रसन्न करते थे। वह 'चलमतिर्गण्ड' उपाधि धारण करता था।

इसके अतिरिक्त 'प्रतापरुद्रकल्याण' नाटक जो कि ग्रन्थ के नाटक-प्रकरण में उदाहरणस्वरूप दिया गया है, वह प्रतापरुद्र और काकतीय वंशों के सम्बन्ध में अन्य तथ्यों का उद्घाटन करता है। स्वयम् (शिव) का कुलदेव के रूप में वर्णन किया गया है जो समस्त वंशजों को उनके कर्तव्य के विषय में निर्देश करते हैं। ऐसा भी वर्णन है कि उन्होंने स्वप्न में रुद्रराज को दर्शन दिया था, जो वस्तुतः गणपति की कन्या होते हुये भी उसके द्वारा पुरुष नाम से अभिहित की गई थी। टीकाकार कुमार-स्वामिन् के अनुसार उसका वास्तविक नाम रुद्राम्बा था। गणपति के बाद एकशिला सिंहासन की वही उत्तराधिकारिणी बनी। उसे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रुद्र या रुद्रदेव कहकर पुकारा जाता था और उसकी महत्ता इसी से प्रकट है कि स्वयम् उमा उसकी माता थी, जो लोक में सोमा नाम से विख्यात थी तथा पिता स्वयम् प्रथम आदि गणों के स्वामी (गणपति) शिव थे। जो स्वप्न रुद्रदेव को शिव ने दिया उसमें उन्होंने प्रतापरुद्र की महानता की प्रशंसा की तथा उसे परामर्श दिया कि कुमार के कन्धों पर राज्य का भार रख दे, जो कि उसका पौत्र था तथा उन्हीं (शिव) की आज्ञा से पुत्र के रूप में गोद लिया गया था। तब युवराज के रूप में अभिषिक्त होने के पूर्व, राजकुमार दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है। विजय प्रस्थान में सर्वप्रथम वह पूर्व को चलता है और कलिंगों को जीतता है। तदुपरान्त दक्षिण को जाता है और पाण्ड्यों को जीतता है। पश्चिम में जाकर वह अपनी विजय वैजयन्ती फहराता है तथा नर्मदा को पार कर उत्तर की ओर बढ़ता है। वहाँ अङ्ग, बङ्ग और मालव लोग मिलकर उसका विरोध करते हैं। प्रताप के सेनानायक उन्हें गर्वपूर्ण शब्दों में

चुनौती देते हैं। यहाँ पर गुर्जरों, तम्बाकों, अङ्गों, कोकंणों, महाराष्ट्रों, हूणों इत्यादि का उल्लेख है। आगे चलकर चोल राजा, काश्मीर के राजा, नैपाल, सुहमा, कम्बोज, सेवण, गौड़, लालसिंहल, बर्नाट मोज, केरल, पांचाल, कीकट और काम्पित राजाओं के नाम मिलते हैं।

सेवण, जो यादवों के वंश का राजरत्न था, प्रतापरुद्र की सेना का नगाड़ा सुनकर ही भाग गया था। एक अन्य स्थान में उसका वर्णन है कि प्रतापरुद्र के सैनिकों से अपमानित होकर उस भागने वाले की पराजयों का हाल गौतमी नदी जानती हैं। इसका अर्थ यह है कि इस यादवराज ने एकशिला के पास गौतमी नदी को पार किया था, जिसके दूसरी ओर अवश्य ही उसका राज्य रहा होगा। यह यादव राजा रामदेव या रामचन्द्र रहा होगा, जो देवगिरि के यादवों में छठा था (शक सं० ११९३-१२३१ तथा ईसवी सन् १२७१ से १३०९ तक विद्यमान था।

प्रतापरुद्र कल्याण में वर्णित है कि गणपति ने भगवान् शंकर की मूर्ति स्थापित की थी। नाटक में वर्णित प्रतापरुद्र की वंशावली इस प्रकार है—

गणपति (सोमा से विवाहित)
|
रुद्राम्बा (रुद्रनाम से विख्यात)
|
मुम्मदम्बा (महादेव से विवाहित)
|
प्रतापरुद्र

प्रतापरुद्र और उसके पूर्वजों के शिलालेखों से निम्नलिखित सूचनायें मिलती हैं—

(१) प्रतापरुद्र का कांजीवरम् का संस्कृत और तामिल शिलालेख बताया है कि उसके किसी सेनापति मुप्पिड़ी ने किसी भानवीर को कांजी का (गवर्नर) शासक बनाया था। लेख में दी हुई तिथि (१२३८ शक स० अर्थात्) १३१६ ई० है। इस प्रकार १३१६ ई० में कांजीवरम् प्रतापरुद्र का करद राज्य था जिसे एकशिला नगरी का काकतीय महामण्डल चक्रवर्ती कहा गया है।

(२) प्रतापरुद्र का एक दूसरा लेख त्रिचनापल्ली के पास जम्बुरेश्वर मन्दिर के पास पाया गया है। इनमें मन्भडगंडगोपाल का उसके अधीनस्थ के रूप उल्लेख है[1]। इसका उल्लेख नेतोर के लेख में है और इसकी तिथि शक सं० १२२१ अर्थात् १२९९ ई० है।

(३) प्रतापरुद्र के तीन अन्य लेख बेजवाड़, वारंगल और पल्लीवेला में मिले हैं। उनमें क्रमशः शक सं० १२२० (१२९८ ई०), १२३५ (१२१३ ई०) और १२३९ (१३१७ ई०) दी हुई है।

(४) काकतीय महामंडलेश्वर रुद्रदेव का अन्मकोड में संस्कृत और तेलगू

---

१. तत्राप्रजल्मुतो मन्भोगंडगोपाल भूपतिः। प्रतापरुद्रभूपस्य प्रसादार्जितवैभवः॥

में लेख हैं, उसकी राजधानी अन्मकोड थी जो बारंगल से थोड़ी दूर पर है । लेख की तिथि शक सं० १०८४ (११६२ ई०) है । इस लेख का उद्देश्य यह बतलाना है कि काकत्य या काकतीय वंश के रुद्रदेव ने अपनी राजधानी में, रुद्र, वासुदेव और सूर्य की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की । इस लेख से अभिज्ञात वंशपरम्परा इस प्रकार है—

त्रिभुवनमल्ल
|
प्रोल या प्रोलराज
|
रुद्रदेव

लेख में प्रोल के विषय में यह वर्णित है कि उसने चालुक्यभूषण तैलपदेव को युद्ध में बंदी बनाया था तथा गोविन्द नामक एक राजा को पराजित कर उसका राज्य राजा उदयसिंह को दे दिया और मन्त्रकूट में राजा मुण्ड को जीत लिया । उसके समय में अन्मकोड जगद्देव के द्वारा घेरा गया था, किन्तु वह हार गया और उसे भागना पड़ा । रुद्रदेव ने किसी डोम्भ को जीता था और उसका शक्तिशाली विरोधी भीम था, जिसे उसने पराजित किया और जंगल में भगा दिया । उसके राज्य के दक्षिण में श्रीशैल, पश्चिम में चालुक्यों का राज्य और उत्तर में माल्यवान् का क्षेत्र था ।

(५) काकतीय गणपति के समय का गणपेश्वरम् का लेख शक सं० ११५३ (१२३१ ई०) का है । यह लेख कृष्ण जिले के मछलीपट्टम् ताल्लुके के अन्तर्गत गणपेश्वरम् नामक ग्राम में बने हुये दुर्गाम्बा मन्दिरे के सामने एक खम्बे पर उत्कीर्ण है । प्रोल के विषय में अन्मकोड लेख वाली सूचनायें देने के अतिरिक्त यह लेख यह भी बतलाता है कि प्रोल ने मप्यता से विवाह किया और उसके रुद्रदेव और महादेव नामक दो पुत्र हुए । अपने पिता का उत्तराधिकारी रुद्र हुआ और उसका उत्तराधिकारी महादेव हुआ । महादेव का पुत्र (वय्याम्बिका से) गणपति हुआ । उसने चोल, कलिंग, कर्नाट और लाट को हराया और नारमा (नारंभा), और पैरमा (पेराम्या) से विवाह किया, जो जाय (जायन) को बड़ी बहनें थी । जायन उसकी सेना का हस्तिनायक था ।

(६) कांजीवरम् के एकाप्रनाथ मंदिर में प्राप्त गणपति और उसके मन्त्री सेनापति सामन्त भोज की तिथि (शक सं० ११७२) १२५० ई० है । एकाप्रनाथ का वह शिव-मन्दिर काँचीं के समस्त मन्दिरों में सबसे बड़ा है तथा यह लेख इसकी-दीवाल पर खुदा हुआ है । इसमें गणपति ने सूर्य से अपनी उत्पत्ति का वर्णन किया है । उनके जिन वंशजों का उल्लेख है, वे हैं वेत्मराज (त्रिभुवनमल्ल), प्रोलराज, रुद्रदेव तथा महादेव । प्रोलराज के विषय में लिखा है कि उसने एक झील बनवाई थी, जिसका नाम उसने 'जगति केसरी तटाक' रखा था, क्योंकि उसका उपमान

जगतकेसरी था।[1] गणपति के विषय में उल्लेख है कि उसने यादवों के राजसिंहण और कलिंग-राज को जीत लिया था। उसने लाट और गौड़ राजाओं से अपनी अधीनता स्वीकार करवा ली थी।[2] सिंहण के पिता जैत्रपाल या जैतुगी ने गणपति के चाचा रुद्रदेव को मार डाला था, जैसा कि यादवराज रामचन्द्र के (शक संवत् ११९३—१२३१) १२७१—१३०९ ई० वाले पैठन अभिलेख से तथा हेमाद्रिरचित 'व्रत-खण्ड' के आमुख से प्रतीत होता है।[3] इसी पैठन अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि गणपति जैतुगी प्रथम और सिंहण द्वितीय का समकालीन था।

(७) काकतीय राजकुमारी गणपाम्बा के 'येनमदल' लेख, जो संस्कृत और तेलगू में हैं, की तिथि (शक सं० ११७२) १२५० ई० है। इसमें माधव का उल्लेख प्रोल के पुत्र रूप में हुआ है। इस माधव ने एक युद्ध में वीरगति प्राप्त की।[4] गण-पाम्बा या गणपाम्बिका गणपति की पुत्री थी। उसने वेत नामक एक सामन्तपुत्र से विवाह किया। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसने पवित्र जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया तथा रति की स्मृति के रूप में वेतेश्वर का मन्दिर बनवाया। उपर्युक्त लेख उसके पिता के जीवनकाल में ही लिखा गया था।

(८) अन्तिम महत्त्वपूर्ण लेख—जायका 'चेब्रोतु लेख'। इसका पद्य-भाग संस्कृत में हैं और गद्य-भाग तेलगू में। यह कृष्ण जिले के 'चेब्रोतु' नामक स्थान पर बने हुये नागेश्वर मन्दिर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इनमें राजा गणपति की वंश-परम्परा का वर्णन है और वंश का प्रारम्भ सूर्य देवता से दिखाया गया है। सूर्य के पुत्र मनु थे, मनु के इक्ष्वाकु, फिर सगर, ककुत्स्थ, दिलीप, दशरथ तथा रामचन्द्र इत्यादि। इसी वंश में दुर्जय हुआ, जो कि गणपति के ऐतिहासिक पूर्वजों में सर्वप्रथम था। तदुपरान्त वेत (वेत्म) प्रोल, रुद्र, महादेव और गणपति का उल्लेख है, जो छल-मतिगंडविरुद धारण करता था। जाय वा जायण गणपति की हस्तिसेना का एक सेनापति था और उसे गणपति से पणमुख या ताम्रपुरी नामक ग्राम भेंट स्वरूप प्राप्त हुआ था।

---

१. हृषदुपहृतदृप्यद्दन्तिमेघकराशो निरविशदथ भूमिं प्रोडराजः (महीन्द्रः)।
प्रतिनिधिमुदधीनां संवचयन् तोयसृष्टेरकृत जगतिकेसर्य्याख्ययावस्तटाकम्॥
(९ वीं पद्य)

२. यदुदयकृतचेतोरिखगः सिंहणो यच्चटुलसुभटघाटीदत्तभंगः कलिंगः।
अपि च यदुपसेवाजीविनौ लाटगौड़ौ गणपतिनृपतेः कः श्लाघते विक्रमाय॥ १४

३. डा० रा० गो० भंडारकर-भर्तो हिस्ट्री आफ दी डेकन पृ० ८२ तथा ११३–१४।

४. जातोमाधवभूपतिर्गुणगिरस्तस्मान्महीवल्लभात्
यस्सुप्त्वा सुमहाहवे गजवधूकुम्भद्वयस्योपरि।
प्रख्याताप्परसस्स्तनमद्वयतटे प्रावोधि योधाग्रणीः
लोकेख्यातविशालनिर्मलयशा वीरश्रियामाश्रयः॥ (५ वाँ पद्य)

लेखों से एकत्रित सामग्री के अनुसार काकतीय वंश के शासकों की वंशावली इस प्रकार होगी—

वेत्म (उपनाम त्रिभुवनमल्ल)
|
प्रोल (उपनाम जगतकेसरी)
|
रुद्र — महादेव
|
(११६२ ई०) — गणपति (१२३१–१२५० ई०) (नारमा तथा पेरमा से विवाहित)
|
गणपाम्बा या गणपाम्बिका (१२५० ई०) (वेत से विवाहित)

'प्रतापरुद्रकल्याण' नाटक में गणपति की स्त्री का नाम सोमा लिखा है। उनकी पुत्री नाटक में रुद्रदेव के रूप में उपस्थित होती है। उसका नाम कुमार स्वामी (टीकाकार) ने रुद्राम्बा लिखा है। इस प्रकार वह छठी शासिका सिद्ध होती है और उसका दौहित्र प्रतापरुद्र काकतीय वंश का सप्तम शासक सिद्ध होता है।

राबर्ट शिवले ने अपनी पुस्तक 'स्केच आफ दी डाइनेस्टीज ऑफ सदर्न इण्डिया' में प्रतापरुद्र को १२९५ से १३२३ ई० के बीच का माना है। इण्डिया आफिस में रखे हुए संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र में तथा शेषगिरि शास्त्री के संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रतिवेदन में उसका शासनकाल १२६८ से १३१९ ई० तक माना गया है। १३०३ में मुसलमानों ने वारंगल राज्य पर आक्रमण किया, किन्तु उन्हें लौटना पड़ा। १३१० में उन्होंने मलिक काफूर के अधीन पुनः आक्रमण किया और इस बार प्रतापरुद्र को मठ तथा वार्षिक कर देने को विवश किया। किन्तु १३१६ में वह फिर स्वतन्त्र हो गया। १३२१ में मुहम्मद तुगलक ने अपने पुत्र उलुग खाँ के सेनापतित्व में एक सेना वारंगल को जीतने के लिये भेजी, पर यह प्रयास असफल रहा। १३२३ ई० में किया हुआ दूसरा आक्रमण सफल हुआ। वारंगल का पतन हो गया और प्रतापरुद्र बन्दी बना लिया गया। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र कृष्ण था। उसने दूसरे हिन्दु राजाओं की सहायता से पहले तो मुसलमानों को हरा दिया, किन्तु अन्त में मुसलमानों से उसकी पराजय हुई। १३२४ ई० में अहमदशाह बहमनी ने वारंगल के राजा को मार डाला। १३३८ ई० में फिर युद्ध हुआ तथा फलस्वरूप वारंगल कुतुबशाही राज्य के एक अंगरूप में परिवर्तित हो गया।

प्रतापरुद्र का समकालीन होने के नाते विद्यानाथ का समय भी तेरहवीं शती का अन्तिम चतुर्थांश तथा चौदहवीं शती का प्रथम चतुर्थांश निश्चित होता है।

शिंगभूपाल (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—[1]

शिंगभूपाल का जन्म रेचल्ल वंश मे हुआ था। यह अपने ६ पुत्रों के साथ

ना० शा०—भोलानाथ शर्मा. पृ० ३०।

जगतकेसरी था।[1] गणपति के विषय में उल्लेख है कि उसने यादवों के राजसिंहण और कलिंग-राज को जीत लिया था। उसने लाट और गौड़ राजाओं से अपनी अधीनता स्वीकार करवा ली थी।[2] सिंहण के पिता जैत्रपाल या जैतुगी ने गणपति के चाचा रुद्रदेव को मार डाला था, जैसा कि यादवराज रामचन्द्र के (शक संवत् ११९३—१२३१) १२७१—१३०९ ई० वाले पैठन अभिलेख से तथा हेमाद्रिरचित 'व्रत-खण्ड' के आमुख से प्रतीत होता है।[3] इसी पैठन अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि गणपति जैतुगी प्रथम और सिंहण द्वितीय का समकालीन था।

(७) काकतीय राजकुमारी गणपाम्बा के 'येनमदल' लेख, जो संस्कृत और तेलगू में हैं, की तिथि (शक सं० ११७२) १२५० ई० है। इसमें माधव का उल्लेख प्रोल के पुत्र रूप में हुआ है। इस माधव ने एक युद्ध में वीरगति प्राप्त की।[4] गण-पाम्बा या गणपाम्बिका गणपति की पुत्री थी। उसने वेत नामक एक सामन्तपुत्र से विवाह किया। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसने पवित्र जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया तथा रति की स्मृति के रूप में वेतेश्वर का मन्दिर बनवाया। उपर्युक्त लेख उसके पिता के जीवनकाल में ही लिखा गया था।

(८) अन्तिम महत्त्वपूर्ण लेख—जायका 'चेब्रोतु लेख'। इसका पद्य-भाग संस्कृत में हैं और गद्य-भाग तेलगू में। यह कृष्ण जिले के 'चेब्रोतु' नामक स्थान पर बने हुये नागेश्वर मन्दिर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इनमें राजा गणपति की वंश-परम्परा का वर्णन है और वंश का प्रारम्भ सूर्य देवता से दिखाया गया है। सूर्य के पुत्र मनु थे, मनु के इक्ष्वाकु, फिर सगर, ककुत्स्थ, दिलीप, दशरथ तथा रामचन्द्र इत्यादि। इसी वंश में दुर्जय हुआ, जो कि गणपति के ऐतिहासिक पूर्वजों में सर्वप्रथम था। तदुपरान्त वेत (वेत्म) प्रोल, रुद्र, महादेव और गणपति का उल्लेख है, जो छल-मतिगंडविरुद धारण करता था। जाय वा जायण गणपति की हस्तिसेना का एक सेनापति था और उसे गणपति से पणमुख या ताम्रपुरी नामक ग्राम भेंट स्वरूप प्राप्त हुआ था।

---

१. हृपदुपहृनदृप्यद्दन्तिमेघकराशो निरविशदथ भूमिं प्रोडराजः (महीन्द्रः)।
प्रतिनिधिमुदधीनां संवचयन् तोयसृष्टेरकृत जगतिकेसर्य्याख्ययावस्तटाकम्॥
(९ वीं पद्य)

२. यदुदयकृतचेतांरिखगः सिंहणो यच्चटुलसुभटघाटीदत्तभंगः कलिंगः।
अपि च यदुपसेवाजीविनौ लाटगौड़ौ गणपतिनृपतेः कः श्लाघते विक्रमाय॥ १४

३. डा० रा० गो० भंडारकर-भर्तो हिस्ट्री आफ दी डेकन पृ० ८२ तथा ११३–१४।

४. जातोमाधवभूपतिर्गुणगिरस्तस्मान्महीवल्लभात्
यस्सुप्त्वा सुमहाहवे गजवधूकुम्भद्वयस्योपरि।
प्रख्याताप्सरसस्स्तनमद्वयतटे प्राबोधि योधाग्रणीः
लोकेख्यातविशालनिर्मलयशा वीरश्रियामाश्रयः॥ (५ वाँ पद्य)

लेखों से एकत्रित सामग्री के अनुसार काकतीय वंश के शासकों की वंशावली इस प्रकार होगी—

वेत्म (उपनाम त्रिभुवनमल्ल)
|
प्रोल (उपनाम जगतकेसरी)
|
| रुद्र (११६२ ई०) | महादेव
| गणपति (१२३१–१२५० ई०) (नारमा तथा पेरमा से विवाहित)
| गणपाम्बा या गणपाम्बिका (१२५० ई०) (वेत से विवाहित)

'प्रतापरुद्रकल्याण' नाटक में गणपति की स्त्री का नाम सोमा लिखा है। उनकी पुत्री नाटक में रुद्रदेव के रूप में उपस्थित होती है। उसका नाम कुमार स्वामी (टीकाकार) ने रुद्राम्बा लिखा है। इस प्रकार वह छठी शासिका सिद्ध होती है और उसका दौहित्र प्रतापरुद्र काकतीय वंश का सप्तम शासक सिद्ध होता है।

राबर्ट शिवले ने अपनी पुस्तक 'स्केच आफ दी डाइनेस्टीज ऑफ सदर्न इण्डिया' में प्रतापरुद्र को १२९५ से १३२३ ई० के बीच का माना है। इण्डिया आफिस में रखे हुए संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र में तथा शेषगिरि शास्त्री के संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रतिवेदन में उसका शासनकाल १२६८ से १३१९ ई० तक माना गया है। १३०३ में मुसलमानों ने वारंगल राज्य पर आक्रमण किया, किन्तु उन्हें लौटना पड़ा। १३१० में उन्होंने मलिक काफूर के अधीन पुनः आक्रमण किया और इस बार प्रतापरुद्र को मठ तथा वार्षिक कर देने को विवश किया। किन्तु १३१६ में वह फिर स्वतन्त्र हो गया। १३२१ में मुहम्मद तुगलक ने अपने पुत्र उलुग खाँ के सेनापतित्व में एक सेना वारंगल को जीतने के लिये भेजी, पर यह प्रयास असफल रहा। १३२३ ई० में किया हुआ दूसरा आक्रमण सफल हुआ। वारंगल का पतन हो गया और प्रतापरुद्र बन्दी बना लिया गया। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र कृष्ण था। उसने दूसरे हिन्दु राजाओं की सहायता से पहले तो मुसलमानों को हरा दिया, किन्तु अन्त में मुसलमानों से उसकी पराजय हुई। १३२४ ई० में अहमदशाह बहमनी ने वारंगल के राजा को मार डाला। १३३८ ई० में फिर युद्ध हुआ तथा फलस्वरूप वारंगल कुतुबशाही राज्य के एक अंगरूप में परिवर्तित हो गया।

प्रतापरुद्र का समकालीन होने के नाते विद्यानाथ का समय भी तेरहवीं शती का अन्तिम चतुर्थांश तथा चौदहवीं शती का प्रथम चतुर्थांश निश्चित होता है।

शिंगभूपाल (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—[1]

शिंगभूपाल का जन्म रेचल्ल वंश मे हुआ था। यह अपने ६ पुत्रों के साथ

ना० शा०—भोलानाथ शर्मा, पृ० ३०।

राजाचल नामक राजधानी में रहता था और विन्ध्याचल से लेकर श्रीशैल नामक पर्वत के मध्य स्थित देश पर राज्य करता था। 'बायोग्राफिक स्केचेज आफ दी राजाज आफ वेंकटगिरि' नामक पुस्तक के आधार पर शेषगिरि शास्त्री ने शिंगभूपाल को सिंगम नायडू से अभिन्न माना है जो ठीक है, क्योंकि 'रसार्णवसुधाकर' के आरम्भ में शिंग ने अपने आपको शूद्र बतलाया है तथा दक्षिण में आज भी नायडू की गणना शूद्र वर्ण में होती है। इनका समय १३३० ई० के लगभग माना जाता है।

शिंगभूपाल ने दो ग्रन्थों में नाटक की विवेचना की है। 'नाटक-परिभाषा' में तो नाटक का ही विषय है किन्तु इस ग्रन्थ की अधिक ख्याति नहीं है और न यह प्रकाश में ही आया है। यह पद्य में हैं। इनका दूसरा ग्रन्थ 'रसार्णवसुधाकर' है। इसके आदि में लेखक ने अपने वंश का पूरा परिचय दिया है, जिससे विदित होता है कि यह शिंगप्रभु के पौत्र तथा अनन्त (अन्नपोत) के पुत्र थे। यह ग्रन्थ ३ विलासों में विभक्त है। 'रंजकोल्लास' नामक प्रथम विलास में नायक, नायिकाओं के स्वरूप तथा उनके गुणों का वर्णन विस्तार से मिलता है। तदुपरान्त चारों वृत्तियों के स्वरूपों तथा प्रभेदों का विशद विवेचन है। रसिकोल्लास नामक द्वितीय विलास में रस का वर्णन हैं, जिसमें रति के वर्णन प्रसङ्ग में भोज के मत का खण्डन किया गया है। भावोल्लास नामक तृतीय विलास में रूपक के वस्तु का विस्तृत वर्णन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में नेता. रस तथा वस्तु का सांगोपांग विवेचन हुआ है।

विश्वनाथ (१४वीं शती का उत्तरार्द्ध)—विश्वनाथ कविराज उत्कल के एक प्रतिष्ठित महापात्र कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता चन्द्रशेखर एक अच्छे कवि, विद्वान् तथा सान्धिविग्रहिक थे। सम्भवतः विश्वनाथ अपने पिता की भाँति कलिंग देश के अधिपति के सान्धिविग्रहिक थे।

विश्वनाथ का सबसे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' दश परिच्छेदों में विभक्त है। इसके षष्ठ परिच्छेद में नाटक के लक्षण तथा भेदों का पूर्ण निरूपण हुआ है। विश्वनाथ व्यञ्जनावादी है तथा इसके विषय में उनके सिद्धान्त अभिनवगुप्त के मत से अत्यन्त अधिक प्रभावित हैं। उन्होंने वात्सल्य नामक दसवें रस की स्थापना भी की है। नाटकीय तत्वों के प्रसंग में कार्य की पाँच अवस्थाओं, अर्थोपक्षेपकों, नायक तथा नायिका भेदों एवं दशरूपकों के वर्णन में ये 'दशरूपककार' के मतों से बहुत अधिक प्रभावित हैं। विष्कम्भक, धीरोदात्त नायक तथा विविध रसों के साथ अलग-अलग वृत्तियों के प्रयोग के प्रसंग में तो इन्होंने 'दशरूपक' की ही कारिकायें अपने 'साहित्य-दर्पण' में उद्धृत कर ली हैं तथा धनञ्जय का नाम तक नहीं लिया। ये उच्चकोटि के कवि भी थे। इनके लिखे हुए (१) राघवविलास (संस्कृत-महाकाव्य) (२) कुवलयाश्व-चरित (प्राकृत भाषा का काव्य), (३) प्रभावती परिणय, (४) चन्द्रकला-नाटिका, (५) प्रशस्ति रत्नावली आदि ग्रन्थों का निर्देश साहित्यदर्पण में मिलता है।

कीथ ने संस्कृत साहित्य के इतिहास में 'साहित्यदर्पण' का रचनाकाल १३५० ई०

के लगभग माना है[1]। एस० एन० दास गुप्ता तथा एस० के० डे ने संस्कृत साहित्य के इतिहास में इसकी रचना १३८४ ई० मानी है[2]। कृष्णमाचार्यर[3] ने इस आधार पर कि साहित्यदर्पण में चंडीदास तथा श्रीधर का वर्णन मिलता है, उसकी रचना १४वीं शती में स्वीकार की है। 'साहित्यदर्पण' की अन्तरंग परीक्षा से यह समय और भी निश्चित हो जाता है। साहित्यदर्पण के एक श्लोक में अल्लावदीन नामक एक मुसलमान राजा का उल्लेख है, जो सन्धि के समय सर्वस्व हरण कर लेता था और युद्ध करने पर प्राणों का हरण करता था—

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥ (सा० द० ४/१४)

यह अल्लावदीन दिल्ली का सुलतान अलाउद्दीन खिलजी प्रतीत होता है, जिसका कठोर एवं निष्ठुर व्यवहार १२९६–१३१६ ई० तक प्रत्येक भारतवासी को खल रहा था। सम्भवतः यह पद्य अलाउद्दीन के समय में ही लिखा गया। अतः विश्वनाथ का समय ईसा की १४वीं शती में निश्चित होता है।

रूपगोस्वामी (१६वीं शती का पूर्वार्ध)[4]—ये गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के भक्त थे। इन पर चैतन्य महाप्रभु के मत का समुचित प्रभाव था। अपनी 'नाटक चन्द्रिका' में इन्होंने नाटक के स्वरूप की विवेचना की है। आरम्भ में उन्होंने लिखा है कि इस ग्रन्थ की रचना के लिये उन्होंने भरत नाट्यशास्त्र तथा 'रसार्णवसुधाकर' का आलोडन किया है तथा भरत के सिद्धान्त से प्रतिकूल होने के कारण 'साहित्यदर्पण' के निरूपण को छोड़ दिया है। इस ग्रन्थ में विषयों का क्रम निम्नांकित प्रकार से निरूपित है—नाटक का सामान्य लक्षण, नाटक, रूपक के अंग, सन्धियाँ तथा सन्ध्यंग, अर्थोपक्षेपक (विष्कम्भकादि के भेद), नाटक के अंकों का विभाजन, भाषा-विज्ञान, वृत्तिविचार तथा रसों के अनुसार प्रयोग। इसके उदाहरण प्रायः वैष्णव ग्रन्थों से ही लिये गये हैं।

परिणाम—नाट्यशास्त्रपरक ग्रन्थों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत में नाट्य-विषय पर विशाल एवं व्यापक साहित्य की रचना हुई थी, साथ ही परम्परावादी भारतीय पण्डितों तथा कवियों ने भरत तथा अभिनवगुप्त की नाट्य-सम्बन्धी मान्यताओं को अन्तिम मान लिया था। इस विषय पर नई उद्भावनाओं, कल्पनाओं एवं विचारों को प्रकट करने की लगन न रह गई थी। धनञ्जय ने अपनी प्रखर प्रतिभा एवं अनोखी सूझबूझ के बल पर एक अपूर्व कार्य करके नाट्यशास्त्र के आचार्यों की आगामी पीढ़ी के लिये, मौलिक किन्तु व्यावहारिक उद्भावनाओं से पूर्ण एक नवीन मार्ग प्रशस्त कर दिया। सम्भवतः इसी

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—कीथ पृ० ३९५।
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास—एस० एन० दासगुप्ता पृ० ५६४।
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास—कृष्णमाचार्यर पृ० ७५७।
४. साहित्यशास्त्र—प्रथम भाग—बलदेव उपाध्याय।

लिये 'अभिनवभारती' एवं 'दशरूपक' के उपरान्त बने हुए नाट्यशास्त्र-परक ग्रन्थ या तो भरत के नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त रूप हैं अथवा दशरूपक के अनुकरण-मात्र कहे जा सकते हैं। यों तो १४वीं शती ई० से ही नाट्यशास्त्र-परक रचनायें दीख पड़ रही थीं और काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में भी प्रसंगवश नाट्यशास्त्र का वर्णन होने लगा था, किन्तु १६वीं शती के उत्तरार्द्ध से तो नाट्य-शास्त्र-परक ग्रन्थों की रचना होना बिल्कुल बन्द हो गया। इसका एक कारण राजनैतिक उथल-पुथल कहा जा सकता है, क्योंकि यवनों के भारत में आने से भारत की कला को ठेस लगना स्वाभाविक था। विशेषकर संस्कृत दृश्य-काव्यों के रंगमंच तो समाप्तप्राय हो गये। दूसरे, कवियों की प्रवृत्ति भी जटिलता एवं पाण्डित्य प्रदर्शन की ओर ऐसी अग्रसर हुई कि संस्कृत रंगमंच से सम्पर्क छूट सा गया। मुरारिकृत 'अनर्घराघव' नाटक इसका ज्वलन्त प्रमाण है। भट्टनारायणकृत 'वेणीसंहार' तथा हर्षकृत 'रत्नावली' में सन्धियों तथा सन्ध्यंगों के निर्वाह की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है, उसे एक प्रकार से स्वतन्त्र कला में बाधा उपस्थित करने वाले अंकुर का श्रीगणेश कहा जा सकता है।

अध्याय

१५

अलङ्कारशास्त्र

संस्कृत अलङ्कारशास्त्र अपनी सूक्ष्म आलोचना पद्धति में अद्वितीय है। राजशेखर ने इसकी महान् विशेषताओं को देखकर इसे वेद का अङ्ग स्वीकार किया है। उन्होंने साहित्य-विद्या को, प्रसिद्ध ४ विद्याओं—तर्क, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति का निचोड़ स्वीकार किया है। यथा—

"पंचमी साहित्य विद्या इति यायावरीयः।
सा हिचतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः॥"

अभिधान—इस शास्त्र का नाम 'अलङ्कारशास्त्र' अत्यन्त प्राचीन है। भामह ने अपने प्रथम अलङ्कार-ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' इसी दृष्टि से ही रखा है। भामह की यह कृति उस युग की रचना है, जब काव्य पर अलङ्कार की महत्ता सर्वाधिक थी। राजशेखर ने इस शास्त्र को 'साहित्यविद्या' की संज्ञा दी है।

भामह के अनुसार—

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"

अर्थात् काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ का उचित समन्वय हो। 'साहित्य' शब्द का भाव इसमें सन्निहित है।

कुन्तक और भोजराज ने साहित्य की कल्पना के आधार पर ही अपने महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों का निर्माण किया है। वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में साहित्यशास्त्र का नाम 'क्रियाकल्प' आया है। कामसूत्र में ६४ कलाओं के अन्तर्गत 'क्रियाकल्प' भी एक कला स्वीकार की गई है। किन्तु अन्य अधिक प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर सके हैं। काव्य के क्षेत्र में 'अलङ्कारशास्त्र' नाम को ही महती प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। वामन आदि आलङ्कारिकों ने अलङ्कार को केवल बाह्य शोभाकारक धर्म नहीं माना है, प्रत्युत उसे अन्तः बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्य का वाचक कहा है; वस्तुतः अलङ्कार शब्द का व्यापक अर्थ यही हो सकता है।

प्राचीनता—राजशेखर ने इस शास्त्र की उत्पत्ति भगवान् शंकर से मानी है। शंकर ने इस शास्त्र का उपदेश ब्रह्मा को दिया और ब्रह्मा ने इसका उपदेश अन्य देवों और ऋषियों को दिया। पुराणों के अन्तर्गत अग्निपुराण में इसका विषय आया है। रुद्रदामन आदि के द्वितीय शती का शिलालेख तत्कालीन अलङ्कारशास्त्र के अभ्युदय का सूचक हैं। हरिषेण की समुद्रगुप्त सम्बन्धी प्रशस्ति भी आलङ्कारिक है।

यास्क तथा गार्ग्य आदि प्राचीन आचार्यों ने उपमादि अलङ्कारों का प्रयोग एवं विवेचन विस्तृत रूप में किया है।

अलङ्कारशास्त्री भरतमुनि—पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में 'भिक्षुनटज्ञ्रयो'

का उल्लेख किया है; किन्तु ये सूत्र आज उपलब्ध नहीं हैं। इनके आधार पर निर्मित ग्रन्थ भरत-नाट्यशास्त्र एक प्राचीन रचना है। यह ग्रन्थ ललित कलाओं का विश्वकोष है। इसमें नाट्यय, अलङ्कार, छन्द, संगीत, नृत्य वस्तु आदि अनेक कलाओं और विद्याओं का विशद विवेचन है। इस ग्रन्थ में ३६ अध्याय और ५००० श्लोक हैं।

भरत रस-सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इनकी सम्मति में नाटक में रस की प्रधानता रहती है। इनका ग्रन्थ निश्चय ही कालिदास की रचनाओं से बहुत प्राचीन है। भरत का समय ईस्वी संवत् के आधार पर प्रथम शती से पूर्व का है। विक्रमोर्वशीय में कालिदास ने भरत का अत्यन्त आदर के साथ उल्लेख किया है। अतः भरत का समय ईसा पूर्व की दूसरी-तीसरी शती से बाद का नहीं है। इस सम्बन्ध में विशद विवेचन 'नाट्यशास्त्र के इतिहास' के प्रकरण में कर दिया गया है, अतः वहीं द्रष्टव्य है।

भामह—भरत के पश्चात् अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो गयीं, जिन्हें हम अन्धकार युग की संज्ञा दे सकते हैं। भामह का 'काव्यालङ्कार' ही भरत के पश्चात् अलङ्कारशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ मिलता है। इसमें अलङ्कार नाट्य से स्वतन्त्र होकर गौरवपूर्ण रूप में हमें दृष्टिगोचर होता है।

भामह के पिता का नाम रक्रिलगोमी था। सम्भवतः यह काश्मीर निवासी थे। भामह निश्चित रूप से दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। भामह का ग्रन्थ काव्यालङ्कार परिच्छेदों में विभक्त है। इसमे, काव्य, अलङ्कार, दोष आदि का पूर्णरूपेण सम्यक् विवेचन है। इसमें ४०० श्लोक हैं। भामह अलङ्कारशास्त्र के जन्मदाता के रूप में विख्यात हैं। इनका समय षष्ठ शतक का मध्य भाग है।

दण्डी—इस दाक्षिणात्य कवि और अलङ्कारशास्त्री ने दोनों क्षेत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण, स्थान बना रखा है। 'काव्यादर्श' इनका परमप्रसिद्ध ग्रन्थ है।। इनमें ४ परिच्छेद और ६६० श्लोक हैं, तिब्बती और कन्नड़ में भी इसके रूपान्तर प्राप्त हुए हैं। दण्डी काव्य, रीति, गुण, अलङ्कारशास्त्री होकर भी रीतियों का सम्यक् विवेचन करने के कारण रीतिवादी माने गये हैं। इनका समय सप्तम शतक है।

वामन—रीतिसम्प्रदाय के महान् प्रस्थापक के रूप में विख्यात वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का उद्घोष किया हैं। ग्रन्थ का नाम है—'काव्यालङ्कारसूत्र'। इन्होंने इस कृति में सूत्र और वृत्ति दोनों की रचना की है। सूत्रों की संख्या ३१९ है। ग्रन्थ में कुल ५ परिच्छेद (या अधिकरण) हैं। रीति, गुण, दोष और अलङ्कारों का विवेचन इनके ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली ये तीन रीतियाँ इन्होंने स्वीकार की हैं। वामन का समय अष्टम शतक का अन्तिम भाग है। वामन काश्मीर नरेश जयापीड के मन्त्री थे।

उद्भट—ये काश्मीर नरेश जयापीड की सभा के सभापति थे। कल्हण की राजतरङ्गिणी के अनुसार इन्हें प्रतिदिन एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें मिलती थीं।

ये वामन के समकालीन थे। वामन रीतिवादी थे तो उद्भट अलङ्कारवादी। दोनों अपने विषयों के आराधनीय एवं मान्य आचार्य हैं। इन्होंने भामह के ग्रन्थ पर 'भामह विवरण' नामक व्याख्या-ग्रन्थ लिखा है, पर यह अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। आपकी कीर्ति 'काव्यालङ्कार-सार-संग्रह' नामक ग्रन्थ पर अवलम्बित है। इसमें ६ वर्ग तथा ७९ कारिकायें हैं, जिसमें ४१ अलङ्कारों का वर्णन है। इसमें 'प्रतीहारेन्दु' की टीका उपलब्ध होती है। अलङ्कारवादी होते हुये भी भामह से इनका मतभेद है। इनके सिद्धान्तों का खण्डन मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के नवम उल्लास में किया है।

रुद्रट—ये काश्मीर के रहने वाले थे। राजशेखर (९३० ई०) ने 'काव्य-मीमांसा' में इनके नाम का निर्देश 'काकु वक्रोक्ति' को शब्दालङ्कार मानने के अवसर पर किया है। "काकु वक्रोक्ति शब्दालङ्कारोऽयमिति रुद्रटः"। इन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार में अलङ्कारशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा की है। इस ग्रन्थ में पद्यों की संख्या ७३४ है। भाषा, रीति, रस तथा वृत्ति की मीमांसा होने पर भी अलङ्कार की समुचित समीक्षा ही ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है।

रुद्रट अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्य हैं। अलङ्कारों की व्यवस्था करना ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। रसों का वर्णन भी इन्होंने किया है और कुछ नये अलङ्कारों की भी कल्पना की है।

आनन्दवर्धन—आनन्दवर्धन का नाम साहित्य-शास्त्र के इतिहास में अमर रहेगा। "ध्वन्यालोक" इनका एक महान् ग्रन्थ है, । जिसमें इन्होंने नवीन युग का सूत्र-पात किया है। यह ग्रन्थ अत्यन्त मौलिक, प्रामाणिक व मूल्यवान् है। आनन्दवर्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे, जिनका समय नवीं शताब्दी है। इसमें १२९ कारिकायें, उनकी वृत्ति और उदाहरण हैं। आनन्दवर्धन की महती विशेषता है। ध्वनि, विरोधियों के प्रबल सिद्धान्तों का खण्डन तथा ध्वनि एवं व्यञ्जनों की स्थापना। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' का प्रभाव बाद के ग्रन्थकारों के ऊपर बहुत पड़ा। इनके इसी ग्रन्थ ने ध्वनि-सम्प्रदाय को जन्म दिया।

अभिनवगुप्त—आनन्दवर्धन को एक बड़े ही विद्वान् टीकाकार उपलब्ध हुये है जिन्होंने इनके सिद्धान्तों के मर्म को भली-भाँति समझा दिया है। इनका नाम था आचार्य अभिनवगुप्त। काश्मीर निवासी ये लगभग दशवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुये हैं। ये शैव दर्शन के माननीय आचार्य थे। इनका एक ही ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोष है। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में इनकी दो कृतियाँ हैं और ये दोनों टीकायें हैं। ध्वन्यालोक पर 'लोचन टीका' और नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती टीका'। सहित्यशास्त्र के ये महान् विद्वान् थे। इनकी समता किसी भी अन्य संस्कृत-साहित्य-शास्त्री से नहीं की जा सकती है। इनका विवेचन वैज्ञानिक, सूक्ष्म और विशद है।

कुन्तक—इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम है 'वक्रोक्तिजीवित' किन्तु यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त होता है इसके उपलब्ध-अंशों से ही लेखक की मौलिकता तथा सूक्ष्म

विवेचन शैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का अत्यन्त विशद वर्णन किया गया है। इन्होने वक्रोक्ति के अन्तर्गत ध्वनि को भी माना है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत समस्त साहित्यिक तत्वों को सम्मिलित कर लिया है।

महिमभट्ट---महिमभट्ट के ग्रन्थ का नामा व्यक्तिविवेक' है। इसमें तीन विमर्श हैं। इस ग्रन्थ में ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत स्थापित करके उसी का एक प्रकार कहा है। इन्होंने ध्वनि को कोई पृथक् सिद्धान्त नहीं माना है अपितु अनुमान का ही भेद प्रतिपादित किया है। यह ग्रन्थ इनके महान् पाण्डित्य का प्रदर्शक है।

धनञ्जय—धनञ्जय और इनके भाई धनिक दोनों धारा के नरेश मुञ्ज की सभा के पण्डित थे। इसका समय १० वीं शताब्दी है। धनञ्जय ने 'दशरूपक' नामक ग्रन्थ की रचना की है, जिस पर धनिक ने 'अवलोक' नामक टीका लिखी है। दशरूपक में चार प्रकाश और ३०० के लगभग कारिकायें हैं इनका भावकत्व-वादीरस सिद्धान्त साहित्यशास्त्र में प्रसिद्ध है। इनके विषय में पूर्ण विवेचन नाटशास्त्र वाले प्रकरण में किया गया है जो द्रष्टव्य है।

भोजराज—भोजराज ने दसवीं शताब्दी में दो विशालकाय अलङ्कार-ग्रन्थ लिखे हैं, पहला है ---'सरस्वतीकण्ठाभरण' और दूसरा है शृङ्गारप्रकाश'। पहिले में अलङ्कार, गुण और दोष का विस्तृत विवेचन हैं तो दूसरे में रस का अत्यन्त व्यापक और मार्मिक विवेचन हैं। भोज के अनुसार शृङ्गार रस सब रसों का मूलभूत प्रकृत-रस है। अन्य रस इसके विकारमात्र हैं। शृङ्गार-प्रकाश' आज तक भी अभी पूरी तरह से प्रकाश में नहीं आया है।

मम्मट—मम्मट का समय ११ वीं शताब्दी है। यह बहुत बडे उद्भट विद्वान् थे, इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यप्रकाश' है, जिसकी अनेक टीकायें हुई हैं। इसमें १४२ कारिकायें, वृत्ति तथा उदाहरण हैं। यह ग्रन्थ १० उल्लासों में विभक्त है। काव्यप्रकाश ग्रन्थ नितान्त प्रौढ़ व पाण्डित्यपूर्ण है। ध्वनिवाद का इसमें सुन्दर विवेचन है। इस ग्रन्थ के कुछ भाग को अल्लट नामक किसी काश्मीरी विद्वान् ने लिखकर पूरा किया है।

क्षेमेन्द्र—मम्मट के समकालीन आलङ्कारिक क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों में हमें अनेक मौलिक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। ये काश्मीर के निवासी थे। इनका समय भी ११ वीं शताब्दी है। छन्दःशास्त्र में इनकी कृति 'सुवृत्ततिलक' है। इनका सबसे महान् ग्रन्थ 'औचित्य-विचार-चर्चा' जिसमें औचित्य की महत्ता बड़े उत्कृष्ट रूप में समझाई गई है।

रुय्यक---आचार्य रुय्यक काश्मीर नरेश जयसिंह के सन्धि विग्रहिक मंखक के गुरु थे। इसलिये इनका समय १२वीं शताब्दी का मध्य भाग है। इनकी कृति का नाम 'अलङ्कार सर्वस्व है' जिसमें ८१ अलङ्कारों का वर्णन है।

हेमचन्द्र—१२वीं शताब्दी के इस महान् लेखक ने 'काव्यानुशासन' नामक

एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। इसमें ८ परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ में प्राचीन ग्रन्थों का संकलन-सा कर दिया है।

विश्वनाथ कविराज—ये उत्कल राजा के सन्धि-विग्रहिक थे। इन्होंने परम प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' की रचना की है। इनका समय १४वीं शताब्दी है। इस ग्रन्थ में १० परिच्छेद हैं। यह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' की शैली पर लिखा गया है। इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता किसी से छिपी नहीं है। इसका विशेष विवरण भी नाट्यशास्त्र वाले प्रकरण में पठनीय है।

पण्डितराज जगन्नाथ—इनकी परम प्रसिद्ध कृति 'रसगंगाधर' है। ये महान् प्रतिभाशाली कवि व आलोचक थे। इनकी प्रतिभा भी अलौकिक थी। 'रसगंगाधर' साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में अलौकिक रचना है, जिसकी प्रौढता की टक्कर का अन्य कोई ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में विद्यमान नहीं हैं। इनकी समीक्षायें सूक्ष्म-बूझ, गम्भीर और नवीन विचार मौलिक हैं। शैली प्रौढ़ और विवेचन पाण्डित्य की कसौटी पर खरा उतरने वाला है।

राजशेखर—राजशेखर सम्भवतः महाराष्ट्र प्रदेशीय थे। राजशेखर नाम के अनेक विद्वान् हो चुके हैं। राजशेखर के नाटकों से यह ज्ञात होता है कि ये कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल के उपाध्याय थे। इनका समय १०वीं शताब्दी था। इनका अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है।

मुकुलभट्ट—इनका समय १०वीं शताब्दी है। इनका ग्रन्थ 'अभिधावृत्ति मातृका' है जिसमें अभिधा और लक्षणा की विस्तृत समीक्षा है, जिसका खण्डन काव्यप्रकाश में यत्र-तत्र किया गया है।

वाग्भट्ट—वाग्भट्ट संभवतः १५वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में थे। इनका 'वाग्भट्टालङ्कार' ग्रन्थ हैं जो अलङ्कारों का ग्रन्थ है। इसमें दोष, गुण, वृत्ति, रस तथा अलङ्कारों का सरल विवेचन है।

रामचन्द्र—रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों की सम्मिलित रचना 'नाट्यदर्पण' है जिसमें नाटक के अंगों का उपादेय वर्णन है। इनका भी विशद विवरण नाट्यशास्त्र के प्रकरण में कर दिया गया है।

शारदातनय—शारदातनय का समय १३वीं शताब्दी माना जाता है। इनका ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' है। इसके अधिकरणों में रस तथा भाव का बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है, जिसका विवेचनात्मक विवरण नाट्यशास्त्र वाले प्रकरण में दृष्टव्य है।

इसके अतिरिक्त जयदेव का 'चन्द्रालोक' विद्याधर की 'एकावली', विद्यानाथ का 'प्रताप-रुद्रयशोभूषण', कवि कर्णपूर का 'अलङ्कारकौस्तुभ', अप्पयदीक्षित का 'कुवलयानन्द' अलङ्कारशास्त्र के माननीय ग्रन्थ हैं। आधुनिक काल के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में श्री छज्जूराम शास्त्री का 'साहित्यबिन्दु' संकलन की दृष्टि से तथा डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी का 'काव्यालङ्कारकारिका' नवीन स्थापनाओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

———

अध्याय

१६ धर्मशास्त्र

(१) धर्म का अर्थ—ऋग्वेद में धर्म शब्द प्रायः संज्ञा अथवा विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक संस्कृत में इसका अर्थ निर्धारण करना अशक्य है। वैसे यह शब्द धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना, आलम्बन देना या पालन करना।

कहीं धर्म का अर्थ निश्चित नियम (व्यवस्था अथवा सिद्धान्त) अथवा आचरण-नियम है।

अथर्ववेद (९–९–१७) में 'धर्म शब्द का प्रयोग—"धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण" के अर्थ में हुआ है। मनुस्मृति की व्याख्या के आधार पर स्मृतिकारों ने धर्म के ५ स्वरूप माने हैं—

(१) वर्ण धर्म, (२) आश्रम धर्म, (३) वर्णाश्रम धर्म, (४) नैमित्तिक धर्म (प्रायश्चित्त), (५) गुण धर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण सम्बन्धी कर्त्तव्य)।

कतिपय धर्मविषयक व्याख्यायें इस प्रकार प्रस्तुत की गई हैं—

(१) "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (पूर्वमीमांसा १-१-२)

(२) यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक सूत्र)

(३) श्रुतिप्रमाणको धर्मः (कुल्लूक)

(४) आनृशंस्यं परोधर्मः (वनपर्व २७६-७६)

(५) आचारः परमोधर्मः (मनुस्मृति १-१०८)

(६) श्रुतिप्रमाणको धर्मः (हारीत)

समीक्षा—इसमें कुछ परिभाषायें पूर्ण रूप से और कुछ आंशिक रूप से धर्म की व्याख्या करती हैं। एकांकी परिभाषाओं का आधार पूर्व धर्म-ग्रन्थों से भिन्न नहीं है। समन्वयात्मक दृष्टि डालने पर धर्म की व्याख्या वही तथ्यपूर्ण मानी जा सकती है जो लौकिक एवं पारलौकिक प्रयोजन प्राप्ति में सहायक हो और सबके लिये कल्याण-रूपिणी हो। जिसके अभाव से लोकस्थिति यथानुरूप नहीं रहती, वही धर्म है।

(२) धर्म के स्रोत—'गौतम धर्म सूत्र' के अनुसार वेद धर्म का मूल है[1]। आपस्तम्ब के अनुसार जो धर्मज्ञ वेदों के ज्ञाता हैं, उनका ही मत धर्म है[2]। मनुस्मृति के कर्त्ता का मत है कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय धर्म का मूल है[3]। इसी प्रकार

---

१. गौतम धर्मसूत्र (१-१-२) वेदोधर्ममूलम् तद्विदां च स्मृति शीले।

२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१-१-१-२) धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च।

३. मनुस्मृति (२/६) वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।

याज्ञवल्क्यस्मृति का दृष्टिकोण है। उपर्युक्त प्रमाण इसकी पुष्टि करते हैं कि धर्म का मूलस्रोत वेद ही है। साथ ही स्मृतियों के अनुसार लोक परम्परा में प्रचलित शिष्टाचार आदि धर्म की कोटि में माने जाने के योग्य हैं।

वेदों में लगभग ३० ऐसे स्थल हैं जहाँ धार्मिक विषयों के संकेत प्राप्त हैं। उन से विवाह, विवाह-प्रकार, पुत्र-प्रकार, गोद लेना, सम्पत्ति-विभाजन, रिक्थलाभ (वसीयत), श्राद्ध, स्त्रीधन आदि पर प्रकाश पड़ता है[1]। महामहोपाध्याय पी० वी० काणे इस पर विवेचन करते हुये लिखते हैं—

"Vedas donot contain positive precepts on Dharma but give information incidently."

वैदिक क्षेत्र से स्मृतिकारों ने धर्म सम्बन्धी नाना विचारधारणायें ग्रहण कर स्मृतियों की रचना कीं। वैसे सूत्रग्रन्थों में धर्मशास्त्र का पर्याप्त विकसित रूप हमें प्राप्त होता है। स्मृति-ग्रन्थों का आधार सूत्र ग्रन्थ ही प्रमुख रूप से रहे हैं। वेदों में धर्मसामग्री विच्छिन्न रूप से पाई जाती है। इसका संकेत करते हुये श्री काणे ने लिखा है—

"The authors of Dharma Shastra were quite justified in looking up to the Vedas as a source of Dharma. They contain only disconnected statements on the various aspects of Dharma."

(History of Dharm Shastra)

समीक्षा—वस्तुतः वेदों में धर्म सम्बन्धी कोई प्रबन्ध नहीं है, उनमें यत्र-तत्र प्रसंगवश धर्म से सम्बन्धित बाते आ गई हैं। वास्तव में धर्मशास्त्र के विषयों के यथातथ्य विवेचन करने के लिये हमें सर्वाङ्ग रूप से स्मृतियों का अध्ययन करना पड़ता है। प्रायः क्रमबद्ध रूप से धर्मशास्त्र हमें उन्हीं में उपलब्ध होता है। तभी तो डा० काणे ने लिखा है—

"We have to turn on the Smrities for a formal and connected treatment of the topics of Dharma."

वैसे धर्मशास्त्रियों ने जो धर्म का स्रोत वेदो को बताया, वह सर्वथा स्वीकार्य तथ्य है; वेदों से धर्म सूत्रग्रन्थों में आया, तत्पश्चात् उत्कर्ष प्राप्त किया, फिर स्मृतियों में आगे चलकर पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ।

(३) प्रमुख स्मृतिकार एवं धर्मशास्त्री—उत्तरकालीन स्मृति व्याख्याकार अनेक धर्म-शास्त्रियों की व्याख्यायें (टीकायें) धर्म-विषयक अपना नवीन-नवीन दृष्टिकोण व्यक्त करती रही हैं। एक ही स्मृति-ग्रन्थ के ऊपर टीकाकारों के मन्तव्यों में वैपरीत्य उत्पन्न होकर मूल दृष्टिकोण को भी अस्पष्ट करता रहा है। अतः

१, जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच—रॉयल एशियाटिक सोसायटी (जिल्द २६) १९२२ पृष्ठ ५७–८२।

२. History of Dharm Shastra.

आवश्यक है कि मूल स्मृतिकारों से परिचित होकर उनकी स्मृतियों का अध्ययन किया जाय।

प्रायः हमें मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र, अंगिरा, आपस्तम्ब, पराशर, नारद, गौतम, हारीत आदि स्मृतिकारों की धर्मशास्त्र विषयक कृतियों के दर्शन हो जाते हैं। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में निम्नलिखित स्मृतिकारों के नाम गिनाये हैं—

मन्वत्रिविष्णु हारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिरा,
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ।
पराशरव्यासशंखलिखितादक्षगौतमौ,
शाततपोवसिष्ठश्चधर्मशास्त्रप्रवर्तकाः ॥

याज्ञ० स्मृति (१–४–५)

इन उपर्युक्त स्मृतिकारों की सुप्रसिद्ध स्मृतियों पर कतिपय विद्वान् धर्मशास्त्रियों ने अपनी अति उत्तम टीकायें प्रस्तुत करने के साथ अपना अत्यधिक ठोस धर्म विषयक दृष्टिकोण भी दिया है, जिसे स्वीकार करने से धर्मशास्त्र का विषय पूर्णता प्राप्त करता है।

उन धर्म-शास्त्रीय टीकाकारों में विख्यात हैं—श्री विज्ञानेश्वर (याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार), कुल्लूक भट्ट (मनुस्मृति), मेधातिथि (मनुस्मृति), विश्वरूप (याज्ञवल्क्य स्मृति), जीमूतवाहन, हेमाद्रि, अपरार्क, माधव, रामायण, विश्वेश्वर, रघुनन्दन, नीलकण्ठ गोविन्दराज आदि। इनका धर्मशास्त्र में बड़ा योग रहा है। इन सभी का वर्णन आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

धर्म-सूत्र साहित्य की रूपरेखा—प्रायः प्रारम्भिक धर्म-सूत्रों का आज अभाव है। कालान्तर के कुछ धर्म-सूत्र विद्यमान हैं, जिनका सम्बन्ध आर्य जाति के मानवों के आचार-नियमों, कार्य-पद्धतियों से है। ये धर्म-सूत्र आगे सभी शाखाओं के लिये प्रामाणिक ग्रन्थ बन गये। इन धर्म-सूत्रों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं।

(१) **गौतम का धर्म-सूत्र**—यह विशेषतः सामवेदानुयायी लोगों के पढ़ने का विषय है। प्रायः सभी धर्म-सूत्रों में यह सर्व प्राचीन है।

टीकाकार हरदत्त के अनुसार इस धर्म-सूत्र में कुल २८ अध्याय हैं। कलकत्ता के संस्करण में एक अध्याय और छपा है, जो १९वें अध्याय के बाद आया है।

यह धर्म-सूत्र केवल गद्य है, इसमें पद्य नहीं है।

वर्ण्य-विषय—धर्म के उपादान, संस्कार, वर्णाश्रम-धर्म, गृहस्थ के नियम, ब्राह्मण वृत्ति, स्नातक-गृहस्थ के कर्तव्य, जन्म-मरण की अपवित्रता के नियम, पाँचों श्राद्ध, नारियों के कर्तव्य, प्रायश्चित्त नियम, व्रत, श्राद्ध आदि।

(२) **बोधायन धर्म-सूत्र**—कृष्ण यजुर्वेद के आचार्य बोधायन द्वारा इसकी रचना हुई है, किन्तु सर्वाङ्ग रूप में यह धर्म-सूत्र उपलब्ध नहीं हो सका।

डॉ० बर्नेल ने बोधायन के इन सूत्रों को ६ प्रकरणों में, जिनमें धर्म-सूत्र ४ प्रश्नों में है, विभक्त कर सम्पादित किया है।

इस प्रकार डॉ० कैलेण्ड, आर० शर्मा शास्त्री आदि ने अपने-अपने ढङ्ग से इस धर्म-सूत्र को रूपबद्ध किया है।

उपलब्ध 'बोधायन धर्म-सूत्र' का कुछ अंश निश्चित रूप से गौतम धर्म-सूत्र के बाद का ही प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें गौतम का नाम आया है। वहाँ से कुछ उद्धरण भी लिये गए हैं।

(३) आपस्तम्ब का धर्म सूत्र—हरदत्त की सम्पूर्ण टीका के साथ यह कुम्भकोणम् में छपा है, जिसका भूमिका सहित अनुवाद ह्यूलर महोदय ने किया है।[1] इसके संस्करण कई बार निकले हैं।

वर्ण्य-विषय—धर्मज्ञों के आचार, व्यवहार, चतुर्वर्ण और उनका प्राधान्य, ब्रह्मचारी के कर्तव्य पंचयज्ञ, यज्ञोपवीत-संस्कार, वर्णों के नियम, स्नातकों के नियम, वेदाध्ययन काल, संस्कार के मन्त्र प्रयोग, पापाचरण, प्रायश्चित्त, दण्ड-विधान, व्रत आदि इसके वर्ण्य-विषय के अंश हैं। इसमें दो प्रश्न हैं प्रत्येक प्रश्न ११ पटलों में विभाजित है। दोनों प्रश्नों में क्रमशः ३२ और २९ कण्डिकायें हैं। आपस्तम्ब पूर्व-मीमांसा से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। आपस्तम्ब ने मनु को श्राद्ध-परम्परा का संस्थापक स्वीकार किया है। आपस्तम्ब का काल 'गौतम सूत्र' और 'बोधायन' के पश्चात् है। सम्वत् ६००–३०० B. C के बीच में समय मान्य होना चाहिये।

(४) हिरण्यकेशि धर्म-सूत्र—स्वतन्त्र रूप से इसे धर्म-सूत्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनेक सूत्र 'आपस्तम्ब धर्म-सूत्र' से ज्यों के त्यों उतार लिये गये हैं। इसके गृह्यसूत्र का सम्पादन हो चुका है।[2] श्रौत-सूत्र का भी सम्पादन हुआ है।[3]

(५) वसिष्ठ धर्म-सूत्र—इसका प्रकाशन कई बार हुआ है। डा० फुरहर के संस्करण में ३० अध्याय, जीवानन्द के संग्रह में २० अध्याय हैं। इसका काल ३००–२०० ई० पू० के मध्य में माना जाता है।

वर्ण्य-विषय—इसमें धर्म की परिभाषा, चतुर्वर्ण, आश्रम, स्नातक के आचार नियम, वर्जित-अवर्जित भोजन, गोद लेने के नियम, प्रतिलोम जातियाँ, कर्मों के रूप, पाप-प्रायश्चित्त, नारी-प्रशंसा, धर्म-प्रशंसा आदि का वर्णन हुआ है।

(६) विष्णु धर्म-सूत्र—इसका भी प्रकाशन कई बार हुआ है। वर्तमान 'मनुस्मृति' से इसका विचित्र सम्बन्ध है। साथ ही 'वसिष्ठ धर्मसूत्र' से भी घनिष्ठ समानता है। पद्य पर्याप्त मात्रा में हैं तथा यह परमदेव द्वारा प्रणीत माना गया है। कहीं-कहीं 'मनुस्मृति' के पद्य-गद्य में लिखे प्रतीत होते हैं। इनका काल-निरूपण करना कठिन है। वर्ण्य-विषय कोई विशेष नवीनता नहीं लिये हैं। प्रारम्भ में पौराणिकता है।

(७) हारीत का धर्म-सूत्र—केवल उद्धरण रूप में प्राप्त है। स्वतन्त्र संस्करण

---

१. सैक्रेड बुक ऑफ दी ईस्ट (5 B. P.) जिल्द २।

२. मातृदत्त भाष्य के आधार पर डा० किर्स्ते (वियेना १८८९ ई०) ने सम्पादन किया।

३. आनन्दाश्रम पूना ने प्रकाशन किया।

समुपलब्ध नहीं है। आपस्तम्ब ने हारीत का बहुत उल्लेख किया है। हारीत ने वेद-वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र आदि की ओर भी अनेक संकेत किये हैं।

शङ्खलिखित का धर्मसूत्र—याज्ञवल्क्य ने शङ्खलिखित को धर्मशास्त्री स्वीकार किया है, पराशर ने भी इसी प्रकार अपनी स्मृति में (1.24) एक स्थल पर इसका निर्देश किया है। इनके धर्मसूत्र की कोई प्रतिलिपि नहीं मिल सकी, केवल उद्धरणों में कुछ सामग्री मिली है। वैसे इनके धर्मशास्त्र का काल 300–100 B. C. के बीच रहा होगा।

मानव धर्मसूत्र का अस्तित्व ?—मैक्समूलर तथा वेबर की विचारधारा के अनुसार वर्तमान मनुस्मृति के पूर्व मानव धर्म का अस्तित्व था, किन्तु कोई ठोस प्रमाण नहीं है। कोई श्लोक, छन्द सूत्रकाल में बहुत कम प्रचलित था। ह्वूलर मैक्समूलर के विचार का समर्थन करते हैं। उनका आधार वसिष्ठ IV है। वसिष्ठ (19.37) मनु के श्लोक को उद्धृत करते हैं, जो अनुष्टुप् नहीं है तथा वर्तमान मनुस्मृति में उपलब्ध भी नहीं हैं। ह्वूलर इसी आधार को रखकर उसे मानव धर्मसूत्र मानते हैं। 'कामन्दकीय नीतिसार' भी ह्वूलर का आधार है, जहाँ राजा की तीन विधायें बनाकर मानव-मत का निर्देश किया है, जबकि कामन्दकीय नीतिसार केवल कौटिल्य अर्थशास्त्र का शब्द परिवर्तन है। कुमारिल, शंकर तथा विश्वरूप आदि 'मानव' शब्द मनुस्मृति के लिये ही प्रयुक्त करते हैं। कहीं भी मानव धर्मसूत्र का स्पष्ट उल्लेख नहीं दिया है। ह्वूलर 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' तथा 'बौद्धायन' धर्मसूत्र के सादृश्य-आधार पर 'मानव' से 'मानव धर्मसूत्र' की कल्पना कर देते हैं। अतः मानव धर्मसूत्र का अस्तित्व काल्पनिक है। मैक्समूलर, ह्वूलर आदि की आलोचना करते हुए श्री काणे महोदय ने लिखा है—

On the materials so for available, the theory that manava Dharmsutra once existed and that extant Manusmriti is a recast of that Sutra must be held not proved."

(History of Dharm Shastra)

समीक्षा—काणे महोदय के उपर्युक्त कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'मानव धर्मसूत्र' का कोई अस्तित्व नहीं है और न 'मनुस्मृति' उस नाम के धर्मसूत्र का संशोधित संस्करण ही है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत इसके विपरीत है। बलदेव उपाध्याय तथा वाचस्पति गैरोला आदि मानव धर्मशास्त्र को ही वर्तमान 'मनुस्मृति' का उपजीव्य किंवा आधार मानते हैं। गैरोला जी के अनुसार 'धर्मशास्त्र' की एकमात्र प्रतिनिधि कृति मनुस्मृति आज हमें जिस रूप में उपलब्ध होती है, उसका सम्पूर्ण कलेवर 'मानव धर्मसूत्र' के ध्वंसावशेषों पर ही निर्मित हुआ है।[1] यद्यपि 'मानव धर्मसूत्र' आज सामान्यतः उपलब्ध नहीं है, परन्तु श्रीरामगोविन्द त्रिवेदी ने गिल्डनर द्वारा इसके प्रकाशन का उल्लेख किया है।[2]

---

१. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास (पृष्ठ ७४८)

२. रामगोविन्द त्रिवेदी : वैदिक साहित्य (पृष्ठ १९५)

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रमुख स्मृतियों का सम्पूर्ण वर्ण्य-विषय सभी सूत्र-ग्रन्थों से (चाहे उनकी सामग्री हमें आज उद्धरण रूप में ही प्राप्त होती हो) घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। स्मृतिकारों की प्रतिभा ने उसे अपने मौलिक रूप में मानो ढाल लिया है। धर्मशास्त्र की एक बड़ी सामग्री, जो इतने विस्तृत इतिहास के लम्बे काल में अपना निश्चित रूप बना पाई है, इन धर्मसूत्रों में प्रच्छन्न बीजरूपों में समाहित थी।

'मनुस्मृति' (लेखक एवं काल) की प्रामाणिकता—

भूमिका—मनु मानव-जाति के आदि पुरुष (पिता) रूप में माने गये हैं। वैदिक साहित्य में उनका उल्लेख आया है। गौतम, आपस्तम्ब तथा महाभारत में मनु का आचार निर्देशक (Law-giver) के रूप में उल्लेख हुआ है, किन्तु महाभारत में मनु का कभी स्वायम्भुव मनु तो कभी प्राचेतस मनु नाम आया है।

नारद-स्मृति की भूमिका के अनुसार ज्ञात होता है कि मनु ने १००००० श्लोकों, १०८० अध्यायों तथा २४ प्रकरणों के एक धर्मशास्त्र की रचना की। उसी आधार पर नारद ने १२००० श्लोक जमकर मार्कण्डेय को पढ़ाये और मार्कण्डेय ने ८००० श्लोकों में संक्षिप्त रूप देकर सुमति भार्गव को पढ़ाये। सुमति भार्गव ने भी संक्षिप्तीकरण करके ४००० श्लोकों में विषय का प्रतिप्रादन किया।

'मनुस्मृति' का वर्तमान रूप उसके प्राचीन रूप से पर्याप्त भिन्नता रखता है। इसमें हमें २६९४ श्लोक १२ अध्यायों से मिलते हैं।

उपलब्ध 'मनुस्मृति' के प्रथम अध्याय के आदिम ३२ श्लोकों के आधार पर ज्ञात होता है कि कैसे ब्रह्मा ने प्रकट होकर मनु को उत्पन्न किया। मनु से किस प्रकार ऋषि हुए जिसमें मनु और नारद भी थे? कैसे मनु को ब्रह्मा ने धर्मशास्त्र पढ़ाया और मनु ने दस ऋषियों को और दसों ने सभी वर्णों को धर्मशास्त्र पढ़ाया। कर्तृत्व के सम्बन्ध में आदि मनु को जोड़ना जँचता नहीं।

श्री० पी० वी० काणे के अनुसार—

"The author of Manusmriti is not the first legislator. It is almost impossible to say who composed the Manusmriti. It goes without saying that mythical Manu, Progenator of mankind even in Rigveda could not have composed it." (History of Dharmshastra)

अन्तः एवं बाह्य साक्ष्य—

विश्वरूप—मनु-रचित 'मनुस्मृति' के कुछ श्लोक (२/८, ६८, ७०, ७०, १०५ आदि) उद्धृत करता है जबकि भृगुस्मृति से विश्वरूप द्वारा उद्धृत श्लोक मनुस्मृति में प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार अपरार्क द्वारा मनु के उद्धृत श्लोक (२/९०) मनुस्मृति में प्राप्त नहीं होता है।

अतः मनुस्मृति के कर्तृत्व का श्रेय भृगु को प्राप्त नहीं हो सकता है।

मनुस्मृति का अस्तित्व बहुत पहले से है, जिसके विषय का ज्ञान बहुत कुछ बाह्य प्रमाणों के आधार पर प्राप्त होता है—

(i) मेधातिथि का भाष्य (९०० A. D.)—इसमें 'मनुस्मृति' से कुछ श्लोक उद्धृत हैं।

(ii) विश्वरूप (याज्ञवल्क्य स्मृति का टीकाकार)—अपने ग्रन्थ में मनुस्मृति से २०० श्लोक पूर्णतः या अंशतः उद्धृत करता है।

(iii) शंकराचार्य—अपने 'वेदान्त-सूत्र-भाष्य' में मनुस्मृति को बार बार उद्धृत करते हैं।

(iv) कुमारिल का 'तंत्रवार्तिक' मनुस्मृति से विशेष रूप से सम्बन्ध रखता है।

(v) मृच्छकटिक का ९·३९ श्लोक मनु के नियम का संकेत देता है। (ब्राह्मण की अवध्यता)।

(vi) बलभी का राजा धर्मसेन—(५०० A. D.) मनु के नियम का पालन करना राजा के लिये आवश्यक बताता है।

(vii) जैमिनि सूत्रों के भाष्यकर्त्ता शबरस्वामी—(५०० A. D. के पूर्व) कहते हैं—"उपदिष्टवन्तश्च् मन्वादयः"।

(viii) बृहस्पति—(५०० ई० के पूर्व) मनु की लोकप्रियता का संकेत देते हैं।

(ix) अश्वघोष—'वज्रसूची' में मनु के कई श्लोक उद्धृत करते हैं।

(x) रामायण—(किष्किन्धा १८-३०-३२) मनुस्मृति से कुछ श्लोक लिये गये हैं।

(xi) महाभाष्य में १२ श्लोक (II १२०) उद्धृत हैं।

(xii) प्रतिमानाटकम्—मानवीय धर्मशास्त्र तथा 'प्राचेतस श्राद्धकल्प' का संकेत देता है।

इन सब आधारों पर इसका काल 200 A. D. तक मान लेना चाहिये। श्री पी० वी० काणे ने लिखा है—

"It must be presumed that the Manusmriti had attained its present form atleast before 200 A. D"–(History of Dharm Shastra)

अन्तःसाक्ष्य—(i) उपलब्ध मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत प्राचीन है, क्योंकि मनुस्मृति के न्याय के नियम अधूरे तथा बड़े अटपटे प्रतीत होते हैं जबकि याज्ञवल्क्यस्मृति के ऐसे नहीं हैं। अतः 300 A. D. के पूर्व मनुस्मृति मानी जा सकती है।

(ii) विदेशी जातियों का वर्णन—यवन, कम्बोज, गंधार, शक तथा पल्लव आदि जातियों का उल्लेख (१०/४८) होने से वर्तमान मनुस्मृति (300 B. C.) के पूर्व नहीं हो सकती।

(iii) ब्राह्मण का शूद्र राज्य में निवास निषेध—(चतुर्थ अध्याय का ६१वाँ श्लोक)।

(iv) शूद्रन्यायाधीश की नियुक्ति की निन्दा—(८/२०-२१)

(v) प्राचीन धर्मशास्त्र के विकसित सिद्धान्तों का क्रमबद्ध रूप प्राप्त होता है। इसे ध्यान में रख (Buhler) ने लिखा था--

"The extant Manusmriti was composed between the II century B. C. and II century A. D."

(vi) 400 B. C. के पूर्व स्वायंभुव मनु तथा प्राचेतस मनु के धर्मशास्त्र और राजधर्म सम्बन्धी ग्रन्थों की सम्भावना के आधार पर २०० ई० पू० से २०० ई० के बीच कोई प्रतिनिधि एक ग्रन्थ अवश्य रहा होगा और वह मनुस्मृति ही होगी।

(vii) यास्क, गौतम, बौधायन तथा कौटिल्य मनु के मतों का उद्धरण देते हैं।

मनुस्मृति का विदेशों में प्रभाव—(i) कम्बोडिया या कम्बाज के शिलालेख में मनुस्मृति का III–70–80 श्लोक उद्धृत हैं।

(ii) बर्मी सरकार के नियम 'Dhamm That' मनुस्मृति पर आधारित है।

(iii) Dr. E. C. Jonker के अनुसार प्राचीन 'Old Jawanease Law book' का स्रोत भारतीय कानून ग्रन्थ (मनुस्मृति) ही है।

समीक्षा—मनुस्मृति बहुत समय से लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। इसका लेखक न कहें तो जन्मदाता अवश्य ही किसी मनु नाम से जुड़ा है, वह चाहे स्वायंभुव मनु हो या प्राचेतस मनु, वृद्ध या वृहन्मनु, किन्तु मनु अवश्य है। इसका अस्तित्व 300 B. C. के पूर्व ही होगा। यदि अन्तिम रूपदाता कोई भृगु है तो उसका काल (ग्रन्थ प्रमाणाधार पर) 200 B. C. से 200 A. D. ही मान सकते हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति—'मनुस्मृति' के बाद धर्मशास्त्र साहित्य से सम्बन्धित स्मृतियों में 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का विशेष स्थान है। इसकी प्रामाणिकता तथा महत्ता को सिद्ध करने वाली नाना टीकायें हैं। प्रधान रूप से इसकी चार टीकायें ही विख्यात हैं--

(i) अपरार्क की टीका। (ii) विश्वरूप की टीका। (iii) विज्ञानेश्वर की टीका (मिताक्षरा)। (iv) बालम्भट्टी टीका।

सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित टीका ज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा' टीका है, जो देश-विदेश में सम्मानित है। इसके अंग्रेजी में दो अनुवाद हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति का समय—

याज्ञवल्क्य स्मृति की सम्भावित सीमा 100 B. C. से 300 A. D. की है, जिसके विषय में विद्वानों में वैमत्य पाया जाता है। वैसे इसकी काल प्रामाणिकता के इस प्रकार संकेत प्राप्त होते हैं—

(१) लंकावतारसूत्र—(गाथा ८१४–१६) में 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का उल्लेख हुआ है।

(२) वाचस्पति मिश्र—(800 A. D.) 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का आधा छन्द उद्धृत करते हैं।

(३) अपरार्क---प्रायः सर्वाधिक महत्त्व देकर इसे ही उद्धृत करते हैं।

(४) डॉ० जॉली—'Grek Astrology' के आधार पर 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का काल 400 A. D. निर्धारित करते हैं।

(५) डॉ० जैकाबी का सिद्धान्त—'Week day after Planets' भी २०० A. D. के बाद इसे स्वीकार करता है।

(६) डॉ० काणे—"There is nothing to prevent us from holding that extant Smriti was composed during the first two centuries of the Christians era or even a little earlier."

समीक्षा—उक्त प्रमाणों में डा० जॉली का मत जो ग्रीक ज्योतिष पर आधारित है, भ्रमपूर्ण है, उससे अवधि काफी बढ़ जाती है। वैसे भी भारतीय ज्योतिष ज्ञान का विकास वैदिक युग में ही हो गया था, वह ग्रीक से प्रभावित नहीं हुआ है। याज्ञवल्क्य स्मृति १०० ई० पूर्व से २०० ई० तक अवश्य ही वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर चुकी थी, इसमें सन्देह का स्थान भी नहीं रहता।

याज्ञवल्क्य स्मृति और मनुस्मृति की तुलना—

(१) दोनों स्मृतियों की शब्दावली में पर्याप्त समानता है।

(२) प्रायः याज्ञवल्क्य स्मृति के सिद्धान्त मनुस्मृति को ही संक्षिप्त, संयत एवं शुद्ध करके रख दिये गये हैं।

(३) याज्ञवल्क्य स्मृति सृष्टि की उत्पति के सम्बन्ध में मौन है, जबकि मनुस्मृति में हम इसे विशद रूप में पाते हैं।

(४) याज्ञवल्क्य स्मृति की शैली मनुस्मृति की अपेक्षा अधिक सैद्धान्तिक, परिष्कृत तथा सुन्दर है।

(५) याज्ञवल्क्य स्मृति में ग्रहशान्ति, विनायक शान्ति का उल्लेख है, जबकि मनुस्मृति में नहीं है।

(६) मनु ब्राह्मण को शूद्र-कन्या से विवाह की अनुमति देते हैं, जबकि याज्ञवल्क्य अनुमति नहीं देते।

(७) मनु वियोग की निन्दा करते हैं, याज्ञवल्क्य नहीं करते।

(८) मनु जुआ खेलने की निन्दा करते हैं, याज्ञवल्क्य नहीं करते।

समीक्षा—मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में वैषम्य होते हुए भी बहुत समानता है। श्री काणे के अनुसार—

"Manu and Yagn. Differ on several points and Yagn. represents a more advanced state of thought than Manu."

(History of Dharmshastra)

अन्य स्मृतियों मे 'नारद स्मृति' का रचनाकाल १०० ई०–३०० ई० के बीच का माना गया है। इसके दो संस्करण प्राप्त होते हैं—वृहत् और लघु। यद्यपि यह स्मृति कुछ बातों में अन्य स्मृतियों से भिन्न है, तथापि इसको 'मनुस्मृति' का पूरक माना जाता है। 'पराशरस्मृति' के दो संस्करणों में से इस समय केवल लघु संस्करण

ही उपलब्ध होता है। इस पर विजयनगर के माधवाचार्य (१२९७—१३८६ ई०) की टीका मिलती है। इसका रचनाकाल १००—५०० ई० के मध्य माना जाता है। 'बृहस्पति स्मृति' इस समय अधूरी ही मिलती है। इसे 'मनुस्मृति' की समीक्षा माना जाता है। इसका रचनाकाल ई० की छठी शताब्दी के लगभग है। इस प्रकार वर्तमान काल तक स्मृतियों का निर्माण होता रहा है। वरदाचारी के अनुसार इनकी संख्या १५० के ऊपर है। आधुनिक स्मृतियों में डॉ० भगवानदास का 'अभिनवमानवधर्मशास्त्रम्' ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

धर्मशास्त्र के क्षेत्र में स्मृतियों के अतिरिक्त उन ग्रन्थों का भी बहुत महत्त्व है, जिन्हें विधिग्रन्थ कहा जाता है। ये ग्रन्थ संख्या में अत्यधिक होने के साथ-साथ अत्यन्त प्रामाणिक भी माने जाते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में 'धर्मरत्न' की रचना १२वीं शताब्दी (ई०) में जीमूतवाहन ने की। इसके तीन विभाग हैं—कालविवेक, व्यवहारमातृका और दायभाग। इसका दायभाग वाला अंश बंगाल में अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। इसी शताब्दी में एक ओर कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र के मन्त्री लक्ष्मीधर ने 'स्मृतिकल्पतरु' की रचना की तो दूसरी ओर बंगाल के सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन के आश्रित पण्डित हलायुध ने 'ब्राह्मण सर्वस्व' नामक ग्रन्थ की रचना की। ई० की तेरहवीं शताब्दी में लिखे गये 'स्मृति चन्द्रिका' (देवण्णभट्ट), 'स्मृति संग्रह' (वरदराज) और 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' (हेमाद्रि) इस श्रेणी के विशिष्ट ग्रन्थ हैं। १४ वीं शताब्दी में विश्वेश्वर ने 'मदनपारिजात', हरिसिंहदेव के मन्त्री चण्डेश्वर ने 'स्मृति रत्नाकर' जैसे महान् ग्रन्थों की रचना कर उक्त परम्परा को बनाये रखा। १५ वीं शताब्दी में वाचस्पति ने 'विवादचिन्तामणि' और 'व्यवहार चिन्तामणि' की रचना की। १६वीं शती में उत्कल के प्रतापरुद्रदेव 'सरस्वती विलास', रघुनन्दन ने 'तत्त्व' ('तिथितत्त्व' आदि) २८ ग्रन्थों तथा विद्यानाथ दीक्षित ने स्मृतिमुक्ताफल' की रचना की। १७वीं शती में भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई, जैसे भट्टोजिदीक्षित का तिथिनिर्णय', कमलाकरभट्ट का 'निर्णयसिन्धु', नीलकण्ठ का 'भगवन्त भास्कर' और मित्रमिश्र का 'परिविनोदय'।

इस प्रकार स्मृति-ग्रन्थों और तदाधारित विधिग्रन्थों की रचना १७ वीं शताब्दी ही नहीं अपितु बीसवीं शताब्दी तक चलती रही है, किन्तु इनका महत्व 'मनुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' जैसा नहीं रहा। आधुनिक काल के ग्रन्थों में समाज के विधानों से सम्बद्ध कुछ नई बातें अवश्य उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टि में 'भारतीय संविधान' के कुछ अंशों का डॉ० मंगलदेवशास्त्रीकृत संस्कृत-अनुवाद विशेष महत्त्वपूर्ण है।

———

अर्थशास्त्र की प्राचीनता प्रमाणित होती है। आचार्य कौटिल्य ने जिन पाँच अर्थ-शास्त्रीय सम्प्रदायों का उल्लेख किया है उनमें बार्हस्पत्य समुदाय प्रमुख है—

"Brihaspati was an ancient teacher of Arthshastra follows from the Kautilya where in the Barhaspatyas are cited six times."
—History of Dharmashastra. P. V. Kane

(३) औशनस अर्थशास्त्र—

Ushanas wrote a work on Politics, follows from several circumstances."
"Some aspects of Ancient Indian Politics."
— Sir K. V. Rangaswami Iyanger.

पौराणिक अनुश्रुतियों में प्रख्यात असुरगुरु शुक्राचार्य का ही अपर अभिधान 'उशनस्' है। 'चरक संहिता' तथा 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' में 'औशनस अर्थशास्त्र' का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।

"उशना ने बृहस्पति प्रोक्त त्रिसहस्राध्यायात्मक ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण किया था, जो अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु ऐसा विदित होता है कि 'शुक्रनीतिसार' उसी का एक संस्करण सा है।"
—वाचस्पति गैरोला (संस्कृत साहित्य का इतिहास)।

"दण्डनीतिरेव विद्या इति औशनसाः"—कौटिल्य अर्थशास्त्र के इस उद्धरण से 'औशनसा अर्थशास्त्र' की ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है। संस्कृत साहित्य के (विशाखदत्त, कालिदास प्रभृति) चोटी के साहित्यकारों के द्वारा आदर्श रूप में दण्डनीति का ही उल्लेख किया है।

उक्त उद्धरणों की सामूहिक आधारशिला पर प्रतिष्ठापित 'औशनस अर्थशास्त्र' अर्थशास्त्रपरक ग्रन्थों में विशिष्ट स्थान रखता है।

(४) भरद्वाज का अर्थशास्त्र—कौटलीय अर्थशास्त्र के १२वें अध्याय में उल्लिखित—"न शौचं शयनासन···इति भरद्वाजः तथा महाभारत के शान्तिपर्व के १४वें अध्याय में भरद्वाज सौवीर संवाद में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिपादन से भरद्वाज के अर्थशास्त्रविद् होने पर प्रकाश पड़ता है।

(५) अंगिरा—"महर्षि अंगिरा अर्थशास्त्र-विद् थे। महाभारत के कतिपय श्लोकों से उनकी राजनीति विषयक प्रवीणता का ज्ञान होता है।"

(६) राजपुत्र—"नीतिवाक्यामृत" की टीका में उद्धृत राजपुत्र के राजनीति-

---

1. "A work Styled Shukra niti-sar was edited by geevnand (Cal. 1892) translated by Benay Kumar Sarkar in S. B. M. series."
—History of Dharmashastra—P. V. Kane

२. अर्थशास्त्र (गणपति शास्त्री की टीका)

शास्त्र-विषयक श्लोकों से, राजपुत्र (वास्तविक नाम चन्द्रपुत्र बुद्ध) के अर्थशास्त्रकार होने का प्रमाण मिलता है।

(७) पिशुन—अर्थशास्त्र के अध्ययन से 'पिशुन अर्थशास्त्र' के अस्तित्व का ज्ञान होता है, साथ ही साथ यह भी पता चलता है कि पिशुन का बृहद् अर्थशास्त्र विष्णुगुप्त के समय तक था। पिशुन का ही अपर नाम नारद है, जिनका उल्लेख रामायण और महाभारत में हुआ है।

(८) भागुरी—महाभाष्य में उल्लिखित भागुरी नाम्नी अर्थशास्त्रविद विदुषी का 'लौकायतशास्त्र' नाम का एक भगिनी अर्थशास्त्र ग्रन्थ उपलब्ध होता है। सम्भवतः यह विदुषी वैयाकरण भागुरि की रही होगी, लोगों का यह अनुमान है।

(९) आचार्य कोणपदन्त—त्रिकाण्डकोश में भीष्म नाम से अभिहित आचार्य कोणपदन्त एक अर्थशास्त्र के रचयिता थे। महाभारतकाल में जितने अर्थशास्त्रकार हुए, कोणपदन्त उनमें प्रमुख हैं।

(१०) वातव्याधि—इनका दूसरा नाम उद्धव था। 'महाभारत' में वर्णित वृष्णि-अन्धकों के सात मन्त्रियों में से उद्धव भी एक थे। 'मत्स्यपुराण' में उद्धव के पाण्डित्य-प्रदर्शक सूत्र मिलते हैं। 'अर्थशास्त्र' (कौटलीय) में इनके मतों का उल्लेख बड़े आदरपूर्वक हुआ है।

(११) दीर्घचारायण—अर्थशास्त्रविदों की सुदीर्घ परम्परा में आचार्य दीर्घ-चारायण का स्थान अत्यन्त श्रेष्ठ है। 'चारायण अर्थशास्त्र' के सम्प्रदाय का उल्लेख अष्टाध्यायी, महाभाष्य और काशिकावृत्ति आदि व्याकरण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

उक्त ग्यारह अर्थशास्त्रविदों का समुचित उल्लेख हमें ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता है, जो कि 'कौटिल्य' के पूर्व विद्यमान थे तथा जिनका आभार-प्रदर्शन स्वयं कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को एक सर्वाङ्ग सम्पन्न रचना होने का सौभाग्य बहुत कुछ इन्हीं ग्रन्थों पर आश्रित होने से प्राप्त है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र—अभी तक जिन अर्थशास्त्रकारों का उल्लेख हुआ, वे केवल हमारे अनुमान के विषय रह गये हैं, किन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसकी सानी का, इस विषय में अन्य ग्रन्थ नहीं है। यह अभूतपूर्व तो है ही, भविष्य में ऐसे सार्वभौम ग्रन्थ के निर्माण की आशा भी कम है।

"This work is the finest essence of Aryan Political wisdom as was interpreted and expounded by बृहस्पति, भरद्वाज, वातव्याधि and others and illumined by Kautilya's genius."

—M. V.Krishna Rao

विषय, वर्णन, विस्तार, संक्षेप में सभी दृष्टिकोणों से कौटिल्य का अर्थशास्त्र अपूर्व है।[1]

---

1. "A treatise on the art of government and administration."

—A. A. Macdonell

कौटिल्य का दूसरा नाम विष्णुगुप्त' चाणक्य था। ये एक अद्भुत पारंगत राजनीतिज्ञ थे, जो मौर्य साम्राज्य के विपुल यश के साथ एकप्राण होकर भारत के राजनीतिक इतिहास में आज भी अपनी कीर्ति-पताका को अमर बनाये हुये हैं। अर्थशास्त्र के रचनाकाल पर पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है किन्तु बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रमाणों के बल पर कौटिल्य का समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी सिद्ध किया जा चुका है। अपने पूर्व के ग्रन्थों का संकलन करके कौटिल्य ने अपनी राजनीति प्रतिभा से परवर्ती अर्थशास्त्रियों के लिये प्रभूत सामग्री प्रस्तुत कर दी है। जितने भी परवर्ती अर्थशास्त्रीय ग्रन्थ हैं, सब में 'अर्थशास्त्र' का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यह कहा जा सकता है कि एक तरह से कौटिल्यकृत 'अर्थशास्त्र' के ही विविध अंश हैं।

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के लेखक और काल की प्रामाणिकता :--

डॉ० शाम शास्त्री के प्रथम अनुवाद (१९०९) ने इस ग्रन्थरत्न को बहुत ही जनप्रिय बना दिया है। यह अधिकांशतः धर्मशास्त्र और राजनीति से सम्बन्धित है। 'अर्थशास्त्र' 'अथर्ववेद' का उपवेद कहा गया है जिसका प्रतिनिधित्व 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' करता है। इस ग्रन्थरत्न के कर्त्ता तथा काल के सम्बन्ध में काफी भ्रान्तियाँ हैं जिन्हें बाह्य और अन्तः प्रमाणों के आधार पर हम दूर कर सकते हैं :

बाह्य प्रमाण–निम्नलिखित ग्रन्थों में कौटिल्य या विष्णुगुप्त को अर्थशास्त्र का कर्त्ता मान कर उसके प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है—

(१) कामन्दकीय नीतिसार, (२) तन्त्राख्यायिका, (३) पंचतन्त्र, (४) दशकुमारचरित, (५) कादम्बरी, (६) बृहत्कथा (गुणाढ्य), (७) मुद्राराक्षस, (८) कामसूत्र, (९) बृहज्जातक, (१०) नीति वाक्यामृत (सोमदेवसूरीकृत), (११) मृच्छकटिक।

सारांश--नाना भारतीय ग्रन्थों में इसका उल्लेख इस ग्रन्थ की प्राचीनता तथा लोकप्रियता को व्यक्त करती है।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में—अर्थशास्त्र कौटिल्य की कृति नहीं है। धर्मशास्त्र के इतिहास में इसका उल्लेख करते हुए डॉ० काणे लिखते हैं—

Jolly, Winternitz and Keith hold that extent work is not by the minister of Chandra Gupta.

किन्तु यह तथ्य गलत है। उनके तर्क के आधार ही सत्य पर नहीं टिके हैं। वे सिद्ध ही नहीं होते।

अर्थशास्त्र का काल-निर्धारण में निम्नलिखित तथ्य योग देते हैं--

(i) अर्थशास्त्र की सूत्र-शैली—काफी प्राचीन है। पाणिनि के बाद की है। इसके समक्ष याज्ञवल्क्य की शैली आधुनिक सी लगती है।

(ii) मनुस्मृति से सामञ्जस्य—बहुत मामञ्जस्य है, केवल वियोग में मत वैपरीत्य है। इसके अतिरिक्त व्यवहार पद, विधवा विवाह, तलाक और जुआ में भी अन्तर है। इस आधार पर 'अर्थशास्त्र' मनुस्मृति से काफी प्राचीनतर प्रतीत होता है।

(iii) मानव व्याख्या (ग्रन्थ सम्बन्धी कौटिल्य के ५ संकेत हैं), जिनमें केवल दो के दृष्टिकोण प्राप्त मनुस्मृति में नहीं मिलते हैं।

(iv) आचार्यों की दृष्टि—गौतम, आपस्तम्ब के बाद कौटिल्य का काल है, किन्तु मनुस्मृति के पूर्व है।

समीक्षा—यदि उपर्युक्त प्रमाणों के साथ ऐतिहासिक प्रमाण भी ग्रहण करे तो कौटलीय अर्थशास्त्र २९६–३२६ B C. के लगभग लिखा गया होगा।

अन्य प्रमाण—(i) ५० बार कौटिल्य ने अन्य आचार्यों के मत उद्धृत कर उनके प्रति अपनी विपरीतता प्रकट की है। वे आचार्य निःसन्देह प्राचीनतम हैं।

(ii) कामसूत्र से सहमति—डा० जॉली और कीथ अर्थशास्त्र और कामसूत्र को समकालीन स्वीकार करते हैं।

(iii) अर्थशास्त्र में अन्य देशों का उल्लेख—चीन से रेशम, नेपाल से कम्बल आदि का अर्थशास्त्र में उल्लेख है।

(iv) राजशब्दोपजीविनः—का अर्थ (VI, I) अर्थशास्त्र याज्ञवल्क्य स्मृति से भिन्न किया गया है।

(v) अर्थशास्त्र में म्लेच्छों के बच्चे बेचने का उल्लेख, दण्ड विधान नहीं है।

(vi) बौद्ध वस्तुओं का संकेत—आजीवक (शूद्र) को देवपूजा में निमन्त्रित करने पर १००० पण दण्ड का निर्देश है।

(vii) अर्थशास्त्रकार को महाभारत पाठ के ज्ञान में संशय है।

(viii) उसमें मगध तथा सूत को मिश्रित जातियों से भिन्न माना गया है।

(ix) कौटिल्य को जडी-बूटियों का ज्ञान था।

(x) रसद का उल्लेख किया गया है।

(xi) दुर्ग के मन्दिरों में स्कन्द, शिव, ब्रह्मा आदि देवों की मूर्तियों की स्थापना।

समीक्षा—उक्त प्रमाणों के आधार पर तत्कालीन सामाजिक या धार्मिक प्राचीन परम्पराओं पर प्रकाश पड़ता है। अतः कौटिल्य ने मध्य पूर्व युग अर्थात् 300 B. C. में अर्थशास्त्र की रचना की होगी।

श्री पी० वी० काणे के अनुसार—

The Kautilya has certainly an ancient atmosphere about it and all that has so far been gathered from it agrees with its traditional date of 300 B. C. (more likely to be correct than 300 A. D.)

—History on Dharmshatra.

ऐतिहासिक प्रमाण भी कौटिल्य या चाणक्य को 325 B. C. का स्वीकार करता है। अर्थशास्त्र न कोई संस्था है और न कोई लेखक ही वरन् एक ही व्यक्ति (चाहे उसके कितने ही नाम क्यों न हों) की रचना है। उसका काल 300 B. C. के आस-पास मानना न्याय्य है। व्यर्थ के भ्रमात्मक विवादों में पड़ने की आवश्यकता नहीं।

आधुनिक काल में 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के अनुसंधान पूर्ण वैज्ञानिक (प्रयोगात्मक) अध्ययन की आवश्यकता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के परवर्ती अर्थशास्त्रकार

(१) कामन्दकनीतिसार—अर्थशास्त्र के ठीक बाद यह ग्रन्थ 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के आधार पर लिखा गया। इसकी स्वीकृति स्वयं ग्रन्थकार कामन्दक ने प्रस्तावना में की है—

"नीतिशास्त्रामृतं·····नीतिसारः" ॥६॥ (कामन्दकीय नीतिसार)

"It has rather the nature of a didactic poem than of a manual of Politics."

—A. A. Macdonell–India's Past.

नीतिवाक्यामृत—ईसा की दशम शताब्दी में जैन लेखक सोमदेव सूरीकृत 'नीतिवाक्यामृत' अर्थशास्त्र पर लिखा गया एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है—इसे Mecdonell ने Nectar of Political doctrines कहा है।

'It shows close dependance of the अर्थशास्त्र with which it often verbally agrees.

—Pt. Sham Shastri.

वस्तुतः यह राजनीति विषयक ग्रन्थ राजनीति की व्याख्या नहीं करता, प्रत्युत उसके एक प्रमुख अङ्ग 'राजा' के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों को एक शिक्षापूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करता है, उसके दृष्टिकोण में नीति केवल राजनीतिक बुद्धि की ही द्योतक नहीं प्रत्युत उसमें 'नैतिक' एवं 'चारित्रिक' व्यवहार का भी कथन होता है।

(३) लघ्वर्हन्नीति—१२वीं शताब्दी में जैन आचार्य हेमचन्द्र विरचित लघ्वर्हन्नीति' अर्थशास्त्रीय तथा धर्मशास्त्रीय विषयों पर लिखी गई एक सर्वाङ्गपूर्ण कृति है।

"It deals with civil and criminal laws in connection with Dharma Shastras."

—Dr. Buhlar.

इनके अतिरिक्त धारा-नरेश, भोज ने (११ वें शतक) में "नीतिकल्पतरु" तथा चण्डेश्वर ने 'नीतिरत्नाकर' एवं जनमेजय ने 'नीतिप्रकाशिका' आदि ग्रन्थों का प्रणयन कर अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा को शाश्वत प्रवहमान बनाये रखने का यथासम्भव प्रयत्न किया। अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थों के निर्माण की परम्परा लगभग १८ वीं शताब्दी तक पहुँचती है। अर्थशास्त्र का अन्तिम-युग नितान्त अवनति का है।

१४वीं से १८ वीं शताब्दी तक के ग्रन्थकारों में चन्द्रशेखर, मित्रमिश्र और नीलकण्ठ प्रमुख हैं, जिनके ग्रन्थ क्रमशः 'राजनीतिरत्नाकर', 'वीरमित्रोदय' और 'राजनीति मयूख' है। चन्द्रशेखर के ग्रन्थ में दो अन्य धर्मशास्त्र-ग्रन्थों का उल्लेख है—

(१) 'राजनीतिकल्पतरु' जिसके रचयिता लक्ष्मीधर हैं और
(२) 'राजनीतिकामधेनु'

इस प्रकार 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के परवर्ती आचार्यों ने तीन युगों में अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया।

पहला युग—नवम और दशम शतक तक है।

दूसरा युग—११ वें से १४ वें शतक तक का है।

और तृतीय युग—१४वीं से १८वीं शताब्दी तक माना जाता है। इसके अनन्तर के अर्थशास्त्रविदों को प्राचीन अर्थशास्त्रियों की धारा में परिगणित नहीं किया जा सकता।

समीक्षा—भारतीय अर्थशास्त्र की परम्परा और इतिहास पर आपाततः दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही समग्र अर्थशास्त्र-विषयक साहित्याकाश का सूर्य है, जिसके सम्मुख अन्य समस्त ग्रन्थ-नक्षत्र और उडुगण ही कहे जा सकते हैं। उनके पृथक् अस्तित्व की कल्पना उसी प्रकार नहीं की जा सकती—जैसे मार्त्तण्ड के उदित रहते दिवस में नक्षत्र गणों का समूह दृष्टिगत नहीं होता। इसका एकमात्र कारण है कि 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' एक ऐसी सर्वाङ्गीण कृति है, जिसमें ग्रन्थकार ने राजनीति, राज्य, राजा तथा प्रजा एवं समस्त (ऐहलौकिक) भौतिक ज्ञान को ऐसे सार-सम्पुट रूप से भर दिया है कि उसमें अन्य शास्त्रियों को कुछ न्यूनता निकालकर, उसकी पूर्ति करने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। पूर्ववर्ती आचार्यों के सारभूत तथ्यों का संक्षेप में संकलन करके उन्होंने अपने पूर्व के अर्थशास्त्रियों को तो नगण्य बना ही दिया, साथ ही परवर्ती आचार्य भी, स्वच्छन्दतापूर्वक उनके अतिरिक्त किसी नवीन तथ्य का प्रतिपादन न कर सकने से अमरकीर्ति के अधिकारी न हो सके। किसी विद्वान् से विद्वान् व्यक्ति को भी कौटिल्य की प्रतिभा के सामने नतमस्तक होना पड़ता था। यही कारण हैं कि अर्थशास्त्रकारों की परम्परा पूर्ववर्ती भारतीय वसुन्धरा पर बहुत दिनों तक अक्षुण्ण न रह सकी। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र ही एकमात्र सतत स्रोत रह गया, जिससे नित्य नवीन नीति-धाराओं का प्रवाह होता रहता है।

———

अध्याय

१८ व्याकरणशास्त्र

वेदाङ्ग रूप में व्याकरण का वर्णन यथास्थान किया जा चुका है, किन्तु व्याकरण एक शास्त्र भी है, जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। विचारों के प्रकट करने का माध्यम ही भाषा कहलाती है। उस भाषा का ठीक-ठीक अर्थों में संकेतानुरूप वैज्ञानिक नियमन करना ही व्याकरण का कर्त्तव्य है। या यों कहा जा सकता है कि भाषा के विशृङ्खलित प्रवाह को बांधकर सुर-सरिता की भांति धर्मार्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय को प्रदान करने वाली भाषा को अपने नियमों के दृढ़ कछारों से बाँधने की सामर्थ्य व्याकरण में ही है। अतः संक्षेप में भाषा और विचारों के क्रमबद्ध इतिहास को बाँधने वाला शास्त्र ही व्याकरण है।

भारतीय वाङ्मय के अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन से विदित होता है कि ब्रह्मा से लेकर इन्द्रादि देवताओं और प्रज्ञा सम्पन्न महर्षियों के समय तक व्याकरण-शास्त्र की विभिन्न विधियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं। गार्ग्य, गालव, शाकटायन-शाकल्प आदि की संचित निधि को पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ने सम्हाल कर अपने हाथों में सुरक्षित किया। इसके अनन्तर इन्हीं तीनों मुनियों को कोटिशः प्रणामाञ्जलियाँ भेंटकर सैंकड़ों वैयाकरणों ने वार्तिक, व्याख्या और टीकाओं द्वारा व्याकरण-ज्ञान की परम्परा का विस्तार किया।

व्याकरण की उत्पत्ति और विकास—संसार का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सभी शास्त्रों के आदिम वक्ता महाज्ञानी ब्रह्मा जी थे।[1] ऋक्तन्त्र में लिखा है कि इस व्याकरणशास्त्र के ज्ञान को 'ब्रह्मा' ने बृहस्पति से कहा और वही ज्ञान क्रमशः सभी शास्त्रों के आदिम वक्ता महाज्ञानी 'ब्रह्मा' ने बृहस्पति से कहा और वही ज्ञान बृहस्पति से इन्द्र, इन्द्र से भरद्वाज, भरद्वाज से ऋषियों और ऋषियों से ब्राह्मणों के पास आया। यद्यपि इसका अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता है कि इन्द्र भी वैयाकरण थे, फिर भी 'महाभाष्य' और 'ऋक्तन्त्र' दो ही ग्रन्थ इन्द्र को वैयाकरण सिद्ध कर देते हैं। 'महाभाष्य' में लिखा है कि बृहस्पति ने इन्द्र के लिये प्रतिपद पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था।[2]। इन्द्र ने उसको प्राप्त कर उन पदों में प्रकृति प्रत्यय आदि विभाग की कल्पना की थी। यह इन्द्र की अपनी देन थी।

अष्टाध्यायी में प्राचीन वैयाकरणों का उल्लेख है। 'निरुक्त' के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने आठ शाब्दिक आचार्यों का उल्लेख किया है। वे आठ आचार्य हैं—'वोपदेव' कृत 'कविकल्पद्रुम' में वर्णित—इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशालि, शाकटायन पाणिनि, अमर और जैनेन्द्र हैं। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख इस प्रकार मिलता है। जैसे 'लीलावती' में आठ का, देवनन्दी में सात का,

१. ऋक्तन्त्र १/४ २. महाभाष्य १/१/१

रामायण और गीतासार में ९ का उल्लेख है। विचित्र बात यह है कि 'काशिका' वृत्ति में केवल पाँच वैयाकरणों का ही संकेत है।[1] इन ग्रन्थों के देखने के पश्चात् यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा ग्रन्थ पहले का है और ठीक है।

'पाणिनी' व्याकणरशास्त्र के प्राण माने जाते हैं। उन्होंने शब्दानुशासन में ये संख्यायें कुछ और ही लिखी है। आपिशालि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भरद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन ये दश नाम दिये गए हैं।[2]

प्राक्पाणिनि—प्राक्पाणिनि और उत्तर पाणिनि ये ही व्याकरण के केन्द्र-बिन्दु हैं।

प्राक्पाणिनि—प्रथम आचार्य 'इन्द्र' हैं उनके पिता का नाम कश्यप और माता का 'अदिति' था। 'दक्ष' प्रजापति इन्द्र के नाना थे। वेदान्त, मीमांसा, दर्शन और शब्दशास्त्र का ज्ञान इन्होंने 'प्रजापति' से प्राप्त किया था। भरद्वाज, भन्वन्तरि, काश्यप, वशिष्ठ, भृगु, अत्रि आदि इनके शिष्य थे। इनका स्थितिकाल ८५०० वि० पूर्व में रखा जा सकता है।

वायु—ये इन्द्र के समकालीन थे। इन्द्र और वायु ने ही सर्वप्रथम व्याकरण-शास्त्र का संस्करण किया। वाणी को 'ऐन्द्रावायव:' नाम देने का यही अभिप्राय था। ब्रह्मा से वायु ने पुराणों की शिक्षा भी प्राप्त की थी।[3] वही पुराण उन्होंने अपने शिष्य 'उशना' कवि को दिये। वायुपुराण के रचयिता वायु ही थे।

भरद्वाज—ये बृहस्पति के पुत्र थे। 'काशिकावृत्ति' में भरद्वाज की ११ संताने बताई गई हैं। 'रामायण' से मालूम पड़ता है कि प्रयाग के गंगा-यमुना संगम पर इनका आश्रम था। 'रामायण' के अनुसार वे राम के समय में भी थे, अत: उनका संभावित समय त्रेतायुग के अन्तिम चरण में ७५०० वि० पूर्व माना जा सकता है।

भागुरि—इसके पिता का नाम भागुरि था। बहुत कुछ सम्भव है कि महा-भाष्य में उल्लिखित लोकायत शास्त्र की प्रणेत्री 'भागुरि' की बहन थी[4]। इनके गुरु का नाम बृहद्गर्ग था। इनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं। 'भागुरि व्याकरण' सामवेदीय शाखा 'ब्राह्मण' अलंकार ग्रन्थ, त्रिकांड कोष, सांख्यदर्शन भाष्य और दैवत ग्रन्थ। इनका समय ३१०० वि० पू० था।

पौष्करसादि—इनके पिता का नाम पुष्करसत् था। सम्भवत: इनका निवास

---

१. काशिका वृत्ति ४।२।६०।

२. अष्टाध्यायी ६।१।९२, १।२।२५, ८।३।२०, ७।१।७४, ६।१।१३०, ७।२।६३, ६।४।१११, १।१।१६, ५।४।११२ और ६।१।१२३।

३. वायु० १०३।५९।

४. महाभाष्य ७।३।४५।

स्थान अजमेर के समीप किसी पुष्कर नामक स्थान में रहा।[1] ये सम्भवतः भारत युद्ध के आस-पास ३१०० वि० पूर्व हुए थे।

चारायण—पाणिनि और रौढि के साथ इनका नाम महाभाष्य में लिया गया है। ये कृष्ण यजुर्वेद की चारायणी शाखा के प्रवक्ता थे और 'काश्मीर' से प्राप्त 'चारायणी शिक्षा' के रचयिता थे इनका काल ३१०० वि० पूर्व माना जाता था।

काशकृत्स्न—'महाभाष्य' और 'कविकल्पद्रुम' में इनका और इनके सूत्रों का उल्लेख 'महाभाष्यप्रदीप' तथा 'वाक्यप्रदीप' आदि ग्रन्थ में हुआ है। इनका समय भी भारत युद्ध के आस-पास था। 'युधिष्ठिर मीमांसक ने गम्भीर विश्लेषण के पश्चात् यह पता लगाया है कि 'त्र्यध्यायी' व्याकरण-ग्रन्थ तथा 'चतुरध्यायी 'मीमांसाशास्त्र का प्रणयन इन्होंने किया था।

वैयाघ्रपाद—इनके व्याकरण को विद्वानों ने १० अध्याय का बताया है। इनके विषय में यह ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यक ग्रन्थों में जिस 'वैयाघ्रपाद' का उल्लेख है वह वैयाकरण 'वैयाघ्रपाद' ही थे। इनका समय ३१०० वि० पू० था।

माध्यन्दिनि—इनके पिता का नाम 'मध्यंदिन' था। इनका उल्लेख पाणिनि ने किया है।[2] ये पाणिनि से पूर्व लगभग ३००० वि० पू० में हुये थे। इनकी रचनाओं का 'शुक्लयजुः पदपाठ' और माध्यंदिन शिक्षा है।

रौढि—इनके सम्बन्ध में केवल यही पता लगता है कि यह वैयाकरण थे। इनकी रचनाओं का पता नहीं है[3]। काशिकाकार ने इनका उल्लेख किया है।

शौनक—इनके सम्बन्ध में कुछ पता नहीं चलता है। टीकाकार 'जज्जट' ने इनका 'चरकसंहिता' में एक उदाहरण दिया है। शौनक के द्वारा रचित 'बृहद्देवता' व 'चरणव्यूह' उपलब्ध हैं किन्तु इनका लिखा व्याकरण-ग्रन्थ नहीं मिलता।

गौतम—ये पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। 'गौतमगृह्यसूत्र' तथा 'गौतम धर्म-शास्त्र' के रचयिता हैं। 'गौतमी शिक्षा' काशी से प्रकाशित हो चुका है। इनका काल ३००० वि० पू० है।

व्याडि—यद्यपि ये 'पाणिनि' के पूर्ववर्ती आचार्य हैं, परन्तु इनका नाम 'अष्टा-ध्यायी' में कहीं नहीं मिलता है। 'ऋक्प्रातिशाख्य' में इनके मतों के उद्धरण मिलते हैं। इनका दूसरा नाम 'दाक्षायण' था। 'वामन' ने 'काशिका' में दाक्षि' नाम से स्मरण किया है। ये पाणिनि के ममेरे भाई माने जाते हैं। किन्तु ये वास्तव में पाणिनि के मामा थे। इन्होंने व्याकरण विषय में 'संग्रह' की रचना की है। 'बालचरित', 'अमरकोष टीका', 'परिभाषा पाठ', 'व्याडीय परिभाषा वृत्ति' लिङ्गानुशासन', विकृति वल्ली, आदि ग्रन्थों की रचना की है।

---

१. यज्ञेश्वर भट्ट—गण रत्नावली ४।१।९६ (पृ० १७५)

२. अष्टाध्यायी ४।१।८६ ३. काशिका ६।२।३७

ये तेरह पाणिनि के पूर्व के आचार्य हैं। यद्यपि इनका उल्लेख पाणिनि ने नहीं किया है।

पाणिनि उल्लिखित दश वैयाकरण—

आपिशालि—इनके विषय में 'हालदार जी का कथन है कि ये 'याज्ञवल्क्य' के श्वसुर थे। इनका स्थितिकाल कम से कम २६०० वि० पूर्व था। इन्होंने 'धातु पाठ', 'गण पाठ', उणादिसूत्र' और 'शिक्षा' नामक चार ग्रन्थ लिखे। उणादिसूत्र और शिक्षा ये दो उपलब्ध हैं।

काश्यप—अष्टाध्यायी में इनका उल्लेख दो बार हुआ है। 'वाजसनेय प्रातिशाख्य में इनका स्मरण किया गया है। इनका काल भारतयुद्ध के समय माना गया है। इन्होंने व्याकरण, कल्प, छन्दःशास्त्र, आयुर्वेद, पुराण और दर्शन-ग्रन्थों की रचना की है। किन्तु निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इन ग्रन्थों का रचयिता इस नाम का एक ही व्यक्ति हुआ या एक ही नाम के भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

गार्ग्य—इनका उल्लेख पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में तीन बार किया है। इनका नाम यदि गोत्रवाची है. तो इनके मूल पुरुष 'गर्ग' वैयाकरण 'भरद्वाज' के पुत्र थे। इनका स्थितिकाल ५५०० वि० पू० था।

गालव—इनका उल्लेख 'अष्टाध्यायी' में चार बार हुआ है।[1]। महाभारत शान्तिपर्व में उद्धृत शिक्षा के प्रवक्ता पांचाल 'बाभ्रव्य गालव' ही यदि वैयाकरण गालव थे तो इनका 'गोत्र बाभ्रव्य और पञ्जाब में इनका निवास होना चाहिये। इनके ग्रन्थ व्याकरण के अतिरिक्त भी मिलते हैं। जैसे—ब्राह्मण, क्रमपाठ, शिक्षा, निरुक्त, दैवत ग्रन्थ, शालाक्यतन्त्र और कामसूत्र आदि है।

चाक्रवर्मण—इनके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि ये प्राचीन वैयाकरण है। 'हालदार' ने इन्हें काश्यप' का पोत्र लिखा है।[2]

भरद्वाज—इनके पूर्व पुरुष 'भरद्वाज' इन्द्र के शिष्य थे। भरद्वाज का स्थितिकाल २८०० वि० पू० था। व्याकरणशास्त्र के अतिरिक्त इन्होंने वार्तिक आयुर्वेद और अर्थशास्त्र के भी ग्रन्थ लिखे हैं।

शाकटायन—अष्टाध्यायी में इसका उल्लेख तीन स्थानों पर है। निरुक्त[3] में भी वैयाकरण शाकटायन के मत का उल्लेख है। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार काण्ववंशीय शाकटायन ही वैयाकरण थे, यह समझा जाता है। इनका काल ३१०० वि० पू० था। इन्होंने दैवत ग्रन्थ, कोश ऋक्तन्त्र, लघु ऋक्तन्त्र, मानतन्त्र' पंचपादी उणादिसूत्र और श्राद्धकल्प लिखे हैं।

शाकल्य—पाणिनि ने इनका चार वार उल्लेख किया है। युधिष्ठिर मीमांसक

---

१. महाभारत शान्तिपर्व ३४२/१०३/१०४।

२. व्याकरण दर्शनेर इतिहास (बंगला) पृष्ठ ५१६।

३. निरुक्त १/१२।

के अनुसार अष्टाध्यायी में उद्धृत शाकल्य और ऋग्वेद का पदकार शाकल्य निश्चय ही एक व्यक्ति थे। इनका समय २८०० वि० पू० था। शकलचरण और पद-पाठ पर भी इनके ग्रन्थ हैं।

सेनक—आचार्य 'सेनक' का नाम अष्टाध्यायी के एक सूत्र में मिलता है।[1] इसके अतिरिक्त कुछ और ज्ञात नहीं है। इनका स्थिति काल २९०० वि० पू० था।

स्फोटायन—इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। यह इनका कर्तृत्वजन्य नाम है। व्याकरण में 'स्फोटवाद' एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। 'स्फोट' सम्भवतः इनके किसी पूर्वज का नाम था। हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' में इनका दूसरा नाम 'कक्षीवान्' लिखा है।[2] यही बात 'केशव' ने भी लिखी है।[3] इनका स्थितिकाल २८०० वि० पू० था। इस प्रकार २६ वैयाकरण आचार्य हुये हैं। ये २३ आचार्य ही व्याकरणजनक है।

पाणिनि और उनकी अष्टाध्यायी

आचार्य पाणिनि ने व्याकरणशास्त्र में सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की है। पुरुषोत्तमदेव ने अपने 'त्रिकाण्डकोष' में पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालंकि शालातुरीय और आहिक ये छह पर्यायवाची दिये हैं।

शालंकि शब्द को लेकर महामहोपाध्याय शिवदत्त शर्मा ने इनके पिता का नाम शालंक लिखा है।[4]

कुछ पाणिनि की शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैः—'पणोऽस्यातीति पणी, तस्यापत्यं पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं युवा पाणिनिः। यदि यह व्युत्पत्ति मानी जाय तो पाणिनि के पिता का नाम 'पाणिन' होता है। महाभाष्यकार 'पतञ्जलि' ने इनको दाक्षीपुत्र कहा है जिससे प्रतीत होता है कि इनकी मां दक्ष कुल की थी। आचार्य व्याडि का नाम 'दाक्षायण' था जो पाणिनि के मामा थे। छन्दःशास्त्र के रचयिता 'पिंगल' पाणिनि के 'लघु भ्राता' थे।[5]

पाणिनि के गुरु का नाम वर्ष था।[6] माहेश्वर को भी 'पाणिनि' का गुरु कहा जाता है। किन्तु इसका कोई प्रबल आधार नहीं मिलता। इनके शिष्य भी थे।

पाणिनि का ग्राम शालातुर बताया जाता है, जो अटक के समीप लाहुर नामक स्थान है। आधुनिक खोजों के आधार पर पाणिनि का जन्म-स्थान शालातुर नहीं है बल्कि वहाँ उनके पूर्वजों का निवास-स्थान है। पाणिनि का जन्म वाहीक देश में हुआ था।

पाणिनि के जन्म एवं उनके निवास-स्थान के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं।

---

१. अष्टाध्यायी ५/४/११ २. अभि चिन्ता० पृष्ठ ३४०,
३. नानार्थार्णव संक्षेप पृष्ठ ३ श्लोक १३६,
४. महाभारत नवा० भूमिका पृष्ठ १४, ५. क्रम्सर्वा० पृष्ठ ७०,
६. कथासरित्सागर लं० १ तर० ४, श्लोक २०।

पाणिनि का महान् ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' कहा जाता है। यह ग्रन्थ अनेक पीढ़ियों की क्रमिक और सामूहिक चेष्टाओं का परिणाम है। आधुनिक काल में पाणिनि[1] ही सर्वप्रथम उपलब्ध लौकिक वैयाकरण माने जाते हैं। जो परम्परा पूर्व से चली आ रही थी उसका सर्वतोमुखी ज्ञान पाणिनि को था कि अनेक पीढ़ियों से व्याकरण के विषय का अध्ययन होता चला आ रहा था। जिसका परिणाम यह हुआ कि पाणिनि एक पूर्ण एवम् सुन्दर ग्रन्थ की रचना कर सके।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्राणभूत 'माहेश्वर' प्रदत्त १४ सूत्र माने जाते हैं, जिन्हें शिवोपासना करके पाणिनि ने प्राप्त किया और जिनके आधार पर ही वे अपने बृहद् व्याकरण का सुसज्जित प्रासाद खड़ा कर सके।

'अल्बेरूनी' ने अपने ग्रन्थ में एक मनोरंजक चर्चा की है। उसने लिखा है कि[2]—एक बार सातवाहन नामक राजा ने अपनी रानियों के साथ जल विहार करते हुए एक रानी से कहा—'मोदकैः ताडय माम् अर्थात् जल के छीटों से मेरा ताड़न न करो। रानी ने उसका अर्थ लड्डुओं से मुझे मारो यह समझा और वैसे ही किया भी। इस बात को लेकर राजा-रानी में काफी विवाद हुआ। राजा नाराज एवं दुःखी होकर एकान्त में जाकर बैठ गया। इसी समय उधर से एक ऋषि आये और उन्होंने राजा को आश्वासन दिया और प्रतिज्ञा की कि समाज से इस द्विविधा को मैं अवश्य दूर कर दूंगा। ऋषि 'महादेव' के पास जाकर अपने अभीष्ट प्राप्ति के लिये प्रार्थना करने लगे। महादेव जी ने प्रसन्न होकर ऋषि को कुछ व्याकरण के नियम समझाये। वैसे नियम जैसे 'अबुल असवद दुएली' ने अरबी भाषा के लिए अपने प्रवचन में दिये थे। महादेव ने ऋषि को व्याकरण के भेद से परिपूर्ण करने का वचन भी दिया। ऋषि ने वहाँ से आकर राजा को दीक्षित किया, इस प्रकार व्याकरणशास्त्र की रचना हुई।[3]

प्राचीन वैयाकरणों और ग्रन्थों की सूची अल्बेरूनी ने इस प्रकार दी है—

१. ऐन्द्र व्याकरण	इन्द्र रचित
२. चान्द्र व्याकरण	बौद्ध भिक्षुचन्द्र विरचित
३. शाकट व्याकरण	पाणिनि वंश के शाकट विरचित
४. पाणिनि व्याकरण	पाणिनि वंश के शाकट विरचित
५. कातन्त्र व्याकरण	शर्व शर्मनृकृत
६. शशिदेव वृत्ति	शशिदेवकृत
७. दुर्ग विवृति	अज्ञात
८. शिष्यहितावृति	उग्रभूतिकृत

---

१. अष्टाध्यायी ४/२/११७, २. अल्बेरूनी का भारत पृ० ४१-४२ अनु०
३. अल्बेरूनी का भारत, पृ० ४१–४२ अनु०।

किन्तु इन सब ग्रन्थों में पाणिनि का व्याकरण ही श्रेष्ठ माना गया। उसका कारण यह है कि उसके नियम, निर्देश और निष्पत्तियाँ अपूर्व एवं सुव्यवस्थित है। इस ग्रन्थ में प्रकृति, प्रत्यय तथा प्रत्ययों का कार्य निर्धारण एवं सर्वाङ्गीण व्याकरण पद्धति का निर्माण हुआ।

युधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनी के काल, जीवनी एवं कृतित्व के विषय का अपने ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने पाणिनि को यास्क, शौनक, पिंगल और कौत्स के काल का ही माना है। अतः मीमांसक जी के अनुसार पाणिनि का काल लगभग भारत युद्ध से लेकर अधिसीम कृष्ण के काल तक लगभग २५० वर्षों के मध्य में हैं। अतः उनका समय २८०० विक्रम पूर्व में रखा है।[1]

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने प्रबन्ध में अष्टाध्यायी के आधार पर पाणिनि का काल ५वीं शताब्दी ई० पूर्व के मध्य में सम्भवतः ४८०-४१० ई० पू० में माना है।

पाणिनि काल के विषय में विद्वानों के कुछ मत इस प्रकार हैं—

१. पं० सत्यव्रत	२४०० ई० पू०
२. राजवाड़े	९००–८०० ई० पू०
३. डॉ० वेलवेलकर	७००–६०० ई० पू०
४. डॉ० भंडारकर	७०० ई० पू०
५. उपाध्याय	५०० ई० पू०
६. मैक्डोनल	५०० ई० पू०
७. मैक्समूलर	३५० ई० पू०
८. कीथ	३०० ई० पू०

'सुनीति बाबू' ने पाणिनि के विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार की है—

पाणिनि का जन्म गांधार में शालातुर नामक गाँव में हुआ था। उनकी शिक्षा तक्षशिला में हुई। पाणिनि का उदयकाल सम्भवतः ५वीं शताब्दी पूर्व रहा होगा, क्योंकि वे पारसीकों और उनके सेवक यवनों या ग्रीकों से सुपरिचित थे।[2] उनकी मृत्यु सिंह द्वारा हुई, ऐसा माना जाता है[3]। सब मतों का समन्वय करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाणिनि के काल की अन्तिम सीमा ६०० ई० पू० है।

पाणिनि के ग्रन्थ—पाणिनितन्त्र, प्रत्याहार-सूत्र, अष्टाध्यायी, अष्टाध्यायीवृत्ति, जाम्बवती विजय (पाताल विजय), द्विरूपकोश, पाणिनीय शिक्षा।

पाणिनि के परवर्ती आचार्य—पाणिनि के परवर्ती आचार्यों ने उनके व्याकरण में रह जाने वाली कमियों को पूरा किया, जिसका फल यह हुआ कि उन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिकों, वृत्ति और भाष्य लिखें।

---

१. मीमांसक— संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास खण्ड १, पृ० १३९-१४०।
२. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० ६६।
३. पञ्चतन्त्र मित्रसम्प्राप्ति श्लोक ३६।

वार्तिककार—सात वार्तिककारों के नाम 'महाभाष्य' में इस प्रकार मिलते हैं—

(१) कात्यायन, (२) भारद्वाज, (३) सुनाग, (४) क्रोष्टा, (५) वाडव, (६) व्याघ्रभूति, (७) वैयाघ्रपद। इनमें से अन्तिम दो आचार्यों के नाम केवल टीका में ही उपलब्ध होते हैं।

कात्यायन—'कात्यायन' का नाम 'पतञ्जलि' और 'पाणिनि' के साथ लिया जाता है। इन्होंने पाणिनि व्याकरण की पूर्ति के लिए वार्तिकों की रचना की। कात्यायन शाखा का अध्ययन महाराष्ट्र में प्रचलित है। इनका स्थितिकाल २९०० वर्ष वि० पू० माना जाता है। वार्तिक-पाठ, स्वर्गारोहण-काव्य, श्राजसंज्ञक-श्लोक, कात्यायन स्मृति इनके ग्रन्थ हैं।

भारद्वाज—एक भारद्वाज का उल्लेख पाणिनि से पूर्व हुआ है। हो सकता है, वार्तिककार भारद्वाज ने वैयाकरण भारद्वाज के ग्रन्थ पर ही वार्तिक लिखे हों। इनके विषय में और कुछ भी ज्ञात नहीं है।

सुनाग—इन्होंने 'अष्टाध्यायी' पर वार्तिक लिखे हैं, अतः ये पाणिनि के बाद के हैं। इनका स्थितिकाल कात्यायन और पतञ्जलि के बीच होना चाहिये।

क्रोष्टा—इन्होंने अपने वार्तिक अष्टाध्यायी पर लिखे हैं। पतञ्जलि ने इनका उल्लेख केवल एक स्थान पर किया है। इनका काल पतञ्जलि के पहिले माना जाता है और अधिक इनके विषय में कुछ नहीं मिलता है।

वाडव—इनका नाम महाभाष्य में केवल एक बार लिया गया है और दो स्थानों पर चर्चा है। लेकिन यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि दोनों नाम एक ही थे या दो व्यक्तियों के।

व्याघ्रभूति—इनके सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है, किन्तु महाभाष्यकार ने इनका उल्लेख नहीं किया है। महाभाष्य में 'जग्धिर्विधित्यपि' श्लोक वार्तिक उद्धृत हुआ है। कैयट, त्रिलोचनदास और सुपद्म मकरन्द के अनुसार उनका कर्त्ता वैयाघ्र-भूति है। न्यासकार के अनुसार इसको आगम वचन माना गया है।

वैयाघ्रपद—भट्टोजिदीक्षित ने काशिका में उद्धृत एक श्लोक को वैयाघ्रपद रचित वार्तिक लिखा है। एक वैयाघ्रपद वैयाकरण थे और दूसरे वार्तिककार इससे इनके विषय में बड़ा भ्रम है।

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

कुणि—अष्टाध्यायी वृत्ति के आचार्यों ने इनका नाम लिखा है। यह पतञ्जलि से पहले थे।

माथुर—इनका नाम देशज था, यह पतञ्जलि से पूर्व थे।

श्वोभूति—अपने न्याय-ग्रन्थ में जिनेन्द्र ने इनका उल्लेख अष्टाध्यायी वृत्तिकार के रूप में किया है। ये पतञ्जलि के पहले थे। कुछ लोग इन्हें पाणिनि का शिष्य मानते हैं।

वररुचि—इनका दूसरा नाम श्रुति है। ये विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य

के नवरत्नों में थे। इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। अष्टाध्यायी वृत्ति, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य व्याख्या, निरुक्त-समुच्चय आदि।

देवनन्दी—इन्होंने शब्दावतार नामक टीका अष्टाध्यायी पर लिखी है। इनको 'पूज्यपाद' भी कहते हैं। ये जैनाचार्य थे। इनके पिता का नाम 'माधव' था, माता का नाम 'श्रीदेवी'। कर्नाटक के काले नामक गाँव में इनका जन्म हुआ था। इनका स्थितिकाल छठी शताब्दी था।

दुर्विनीत—इनके गुरु देवनन्दी थे। इन्होंने 'बृहत् कथा' और 'किरातार्जुनीयम्' के १५वें सर्ग पर टीका लिखी थी। शब्दावतार नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है। ये देवनन्दी 'पूज्यपाद' के आश्रयदाता राजा थे।

चुल्लिभट्ट—जिनेन्द्र ने इनकी अष्टाध्यायी वृत्ति का उल्लेख किया है। ये ७०० वि० स्थित न्यासकार से प्राचीन थे।

निर्लूर—काशिका के दूसरे व्याख्याकार विद्यासागर ने इनका उल्लेख किया है।

जयादित्य-वामन—काशिका के संयुक्त लेखक 'जयादित्य' और 'वामन' ने अष्टाध्यायी पर अलग-अलग वृत्ति लिखी है। इत्सिंग ने 'जयादित्य' की मृत्यु का विवरण ७१८ वि० में उल्लेख किया गया है। इनके विषय में कुछ और सामग्री नहीं मिलती।

विमल यति—इन्होंने अष्टाध्यायी पर 'भागवृत्ति' लिखी। इनका नाम भर्तृहरी' भी था। ७वीं शती में ये माने जाते हैं।

भट्टोजिदीक्षित—इनका वैयाकरणों में विशिष्ट स्थान है। व्याकरण पर इन्होन कई ग्रन्थ लिखे हैं। ये १६वीं शताब्दी में थे। शब्दकौस्तुभ, सिद्धान्तकौमुदी, प्रौढ़-मनोरमा इनके ग्रन्थ हैं।

अप्पय दीक्षित—ये ७२ वर्ष तक जीवित रहे। इनके पिता का नाम 'रंगराज दीक्षित' था। इन्होंने १०० ग्रन्थ लिखे, इनका समय १६५७ ई० पर्यन्त माना जाता है।

महाभाष्य के टीकाकार

भर्तृहरि—पुण्यराज के अनुसार इनके गुरु का नाम 'वसुरात' था। 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के अनुसार भर्तृहरि महाराज 'शूद्रक' के भाई सिद्ध होते हैं। भर्तृहरि का काल ४५० वि० माना जाता है। 'महाभाष्य दीपिका', 'वाक्यप्रदीप', 'भट्टिकाव्य', 'भागवृत्ति', 'नीतिशतक', 'शृङ्गार शतक', 'वैराग्य शतक', शब्द धातु 'समीक्षा' आदि इनके ग्रन्थ माने जाते हैं।

कैयट—इनके पिता का नाम 'जैयट उपाध्याय' था। 'सुधासागर' के अनुसार कैयट और 'उव्वट, को मम्मट का अनुज बताया जाता है। इनका काल ११०० वि० पू० था। 'महाभाष्य प्रदीप' इनकी उत्कृष्ट रचना है।

ज्येष्ठ कलश और मैत्रेयरक्षित—ये दोनों १२वीं शती के टीकाकार माने जाते हैं। इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

पुरुषोत्तम देव—ये एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इनका काल १२वीं शताब्दी वि० माना जाता है। ये बौद्ध मतानुयायी थे। 'महाभाष्यलघुवृत्ति', कुण्डलीव्याख्यान'. 'कारककारिका', 'भाषावृत्ति', 'ज्ञापकसमुच्चय' आदि इनके १२ ग्रन्थ हैं।

शेषनारायण—ये शेषकृष्ण के पुत्र 'वीरेश्वर' के समकालीन थे। शेषकृष्ण का स्थितिकाल १६वीं श० वि० के आस-पास है। इनका विशेष परिचय 'पाणिनीय' व्याकरणनिकाय में मिलता है। 'सूक्ति रत्नाकर', 'श्रौतसर्वस्व' इनके ग्रन्थ हैं।

विष्णुमित्र—इनके पिता का नाम 'देवमित्र' था। ये 'भट्टोजिदीक्षित' से पहले हुये। १६वीं श० वि० इनका स्थितिकाल है। 'महाभाष्य टिप्पणी' इनका ग्रन्थ है।

नीलकण्ठ—इनके पिता का नाम बटेश्वर और पितामह का नाम 'रामचन्द्र' था। इनके गुरु 'ज्ञानेन्द्र सरस्वती' थे। इनका स्थितिकाल १७वीं श० था। भाष्यतत्व विवेक', 'सिद्धान्तकौमुदीसुबोधिनी', पाणिनीयदीपिका', परिभाषावृत्ति' ये ४ ग्रन्थ हैं।

शेष विष्णु—इनके प्रपिताह का नाम शेष नारायण और पितामह का नाम कृष्ण सूरि तथा पिता का नाम 'महादेव सूरि' था। इनकी स्थिति १८वीं श० में थी। 'महाभाष्य प्रकाशिका' इनका ग्रन्थ हैं।

शिवरामेन्द्र सरस्वती—इनका स्थितिकाल १७वीं शती है। 'महाभारत रत्नाकर', 'णेरणाविति पाणिनीय सूत्रस्य व्याख्यानम्' इत्यादि इनके ग्रन्थ हैं।

अन्य टीकाकार—वेकटाद्रि, 'तिरुमलयज्वा', कुमार तातय, राजनसिंह, नारायण, सर्वेश्वर दीक्षित, गोपाल शास्त्री ये सरस्वती भवन बनारस में स्थित सूत्रीपत्र में उल्लिखित हैं।

महाभाष्य प्रदीप के व्याख्याकार

चिन्तामणि—इनके विषय में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनका स्थितिकाल ५५वीं श० के पू० होना चाहिये।

नागनाथ—ये शेष वीरेश्वर के शिष्य एवं छोटे भाई थे। इनका काल १६वीं श० का उत्तरार्ध है।

रामचन्द्र—इनका दूसरा नाम सत्यानन्द था। ईश्वरानन्द सरस्वती इनके गुरु माने जाते है। इनका स्थितिकाल १८वीं शती है।

ईश्वरानन्द—ये रामचन्द्र के समकालीन थे। (१७वीं शती)

अन्नभट्ट—ये राघव सोमयाजी के वंशज तथा तैलंगदेशीय दाक्षिणात्य थे। इनके पिता का नाम 'तिरुमलाचार्य' था। इनकी शिक्षा काशी में हुई। इनके गुरु का नाम 'शेष वीरेश्वर' था। इनका स्थितिकाल १७वीं शती था।

नारायण शास्त्री—इनके गुरु का नाम 'म० म० धर्मराजयज्वा' है। इनका स्थितिकाल १८वीं शती है।

नागेश भट्ट—ये शीर्षस्थ वैयाकरणों में माने जाते हैं। इनके पिता का नाम 'शिवभट्ट', माता का नाम सतीदेवी था। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनका उपमान

'नागोजि भट्ट' था। भट्टोजिदीक्षित के पुत्र 'हरिदत्त दीक्षित' इनके गुरु थे, इनका काल १८वीं शती है।

वैद्यनाथ पायगुण्डे—ये नागेश के शिष्य थे। इनका काल १८वीं शती है।

मल्लयज्वा रामसेवक—इन दोनों का काल १८वीं शती है।

प्रवर्तकोपाध्याय—इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। इनकी पुस्तकें मद्रास, मैसूर, त्रिवेन्द्रम् के पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं। अतः ये दाक्षिणात्य कहे जा सकते हैं।

अन्य व्याख्याकार—नारायण, सर्वेश्वर सोमयाजी, हरिराम ये सब १९वीं शती के व्याख्याकार हैं।

काशिका के व्याख्याकार जिनेन्द्र बुद्धि—ये बौद्ध थे। इनका स्थितिकाल आठवीं शती था।

इस प्रकार से उपर्युक्त आचार्यों ने व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत कर संस्कृत भाषा को समृद्ध किया।

पाणिनीयेतर व्याकरण—

'पाणिनि' के कुछ समय पश्चात् ही अन्य आचार्यों के द्वारा भी स्वतन्त्र व्याकरण-ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हो गई थी, जिनका क्रम १५, १६वीं शती (ई०) तक चलता रहा। इनमें कुछ निम्नलिखित हैं—

(१) **चन्द्रगोमिन** (५वीं शती ई०)—इनका लिखा 'चन्द्रव्याकरण' अत्यन्त प्रसिद्ध है। चन्द्रगोमिन बौद्ध थे, इसलिए इसका प्रचार-प्रसार अधिकतर बौद्धों में हुआ। तिब्बत, काश्मीर और श्रीलंका आदि में इसका अधिक प्रसार हुआ। चन्द्रगोमिन ने अपने व्याकरण पर वृत्ति लिखने के साथ-साथ धातु-पाठ, गणपाठ और परिभाषासूत्र की भी रचना की है।

(२) **शाकटायन** (ई० की नवीं शती)—ये 'शाकटायन', 'पाणिनि' के द्वारा उल्लिखित 'शाकटायन' से भिन्न और जैन हैं। इनके व्याकरण का नाम 'शाकटायन व्याकरण' है। इस पर पाणिनि, कात्यायन और जिनेन्द्र का प्रभाव पाया जाता है। इस पर भी गणपाठ आदि पाए जाते हैं। 'शाकटायन' का ही एक अन्य ग्रन्थ 'अमोघवृत्ति' भी है।

(३) **हेमचन्द्र** (११वीं शती ई०)—ये प्रसिद्ध जैनाचार्य और महान् पण्डित थे। इनके व्याकरणग्रन्थ का नाम 'हेमशब्दानुशासन' है। इसके आठ अध्यायों में प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत और अन्तिम आठवें अध्याय में समस्त प्राकृत भाषाओं का विवेचन हुआ है। इस दृष्टि से यह व्याकरण अन्य व्याकरणों से भिन्न है। हेमचन्द्र ने इसके उदाहरण ने 'द्वयाश्रयमहाकाव्य' की भी रचना की जिसमें संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग हुआ है। हैमव्याकरण में लगभग ४००० सूत्र हैं। इस पर स्वयं ग्रन्थकार ने ही 'वृत्ति' भी लिखी है।

(४) **भोजदेव** (११वी शताब्दी ई०)—इनमें व्याकरण का नाम 'सरस्वती-कण्ठाभरण' है। इसमें सूत्रों में भोजदेव ने गण और धातुओं को भी समाविष्ट कर

लिया है, यह इसकी असाधारण विशेषता है। इस पर भी ग्रन्थकार ने 'वृत्ति' का निर्माण किया है।

(५) शर्ववर्मन—इनके व्याकरण ग्रन्थ का नाम 'कातन्त्रसूत्र' है। इसे ही 'कौमार' या 'कालाप' व्याकरण भी कहते हैं। विद्वानों के मतानुसार यद्यपि इसकी रचना बहुत पहले (प्रथम शती ई० में) ही हो गई थी, तथापि इसका उपलब्ध स्वरूप बाद का है। इस पर आठवीं शती ई० में दुर्गसिंह ने 'दुर्गवृत्ति' लिखी, जिस पर ११वीं शती में वर्धमान ने टीका लिखी। इसने बहुत से पालि और प्राकृत व्याकरणों को प्रभावित किया।

(६) अनुभूति स्वरूपाचार्य (१३वीं शताब्दी ई०)—इनके ग्रन्थ का नाम 'सारस्वत प्रक्रिया' है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता विषय का संक्षेप है। अपनी इस असामान्य विशेषता के कारण यह ग्रन्थ विद्वानों और छात्रों में बहुत दिनों तक बहुत प्रिय रहा। नेपाल आदि में यह अब भी पढ़ाया जाता है। इस पर १८ टीकायें मिलती हैं।

(७) बोपदेव (१६वीं शती ई०)—इनके ग्रन्थ का नाम 'मुग्धबोध' है। यह व्याकरण के क्षेत्र में बड़ी ही सरल रचना है। बंगाल में इस ग्रन्थ का अधिक प्रचार रहा है। राम तर्कवागीश ने इस पर टीका लिखी है।

(८) क्रमदीश्वर (१३वीं शती ई०)—इनके 'संक्षिप्तसार' नामक ग्रन्थ के आठ खण्डों में से प्रथम सात खण्डों में संस्कृत का और अन्तिम खण्ड में प्राकृत का विवेचन किया गया है। इस पर जूमरनन्दिन् ने 'सरस्वती' नामक टीका लिखी है। इसका प्रचार बंगाल में विशेष रहा है।

(९) पद्मनाभदत्त (१४वीं शती ई०)—इनके ग्रन्थ का नाम 'सुपद्मव्याकरण' है, जिस पर स्वयं ग्रन्थकार ने ही 'सुपद्मपञ्जिका' नामक टीका लिखी है। इस व्याकरण का अधिक प्रचार बंगाल में रहा है।

(१०) रूपगोस्वामी (१६वीं शती ई०)– इनके व्याकरण का नाम 'हरिनामामृत' है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता उदाहरणों के रूप में कृष्ण के विभिन्न नामों को उपन्यस्त करना है। जीव गोस्वामी ने भी इसी नाम का दूसरा व्याकरण लिखा।

प्राकृतव्याकरण—

बहुत से प्राकृत व्याकरण भी संस्कृत में समय-समय पर लिखे गए, जिनमें प्रथम वररुचिकृत 'प्राकृतप्रकाश' है। बाद के ग्रन्थों में हेमचन्द्र का 'प्राकृतव्याकरण', त्रिविक्रम की 'प्राकृतसूत्रवृत्ति', लक्ष्मीधर की 'षड्भाषाचन्द्रिका', रामतर्कवागीश का 'प्राकृतकल्पतरु' और मार्कण्डेय का 'प्राकृतसर्वस्व' अधिक प्रसिद्ध हैं।

———

अध्याय

१६ कोष-साहित्य

वैदिक निघण्टुओं से संस्कृत कोष-साहित्य का उद्गम पाया जाता है। परन्तु वास्तविक शब्द भाण्डार, जिन्हें कोष कहते हैं, एक लम्बी अवधि के बाद इनसे विभक्त कर दिये गये हैं। 'धातुपाठ धातुओं की सूचियाँ' तथा गणपाठों (शब्द समुहों की सूचियों) से अनुवाद का कार्य हुआ है। निघण्टुओं में क्रियाओं के साथ-साथ संज्ञायें भी दी हैं, जबकि कोषों में केवल संज्ञायें एवं अव्यय ही होते हैं। 'निघण्टु' केवल वैदिक ग्रन्थों से ही सम्बद्ध हैं जबकि कोष किसी विशेष ग्रन्थ से सम्बद्ध नहीं हैं। शब्दकोष कवियों के प्रयोग के लिये उपर्युक्त अप्रचलित एवं महत्त्वपूर्ण अथवा उपयोगी शब्दों के संग्रह हैं। ये पद्यबद्ध, विशेषतः श्लोक (अनुष्टुप्) छन्द में रचे हुए हैं तथा अलङ्कारों के समान काव्य-रचना के लिये अनिवार्य रूप से सहायक हैं। ये विशिष्ट प्रकार के होते हैं। क्योंकि इनमें साहित्य के दूसरे अङ्गों जैसे गणित, ज्योतिष के पारिभाषिक शब्द भी रहते हैं। कोषों के दो भेद हैं।

(१) पर्यायवाची (Synonymous)।
(२) अनेकार्थवाची (Homonymous)।

पहले प्रकार के कोष ऐसे शब्द-समूहों से युक्त होते हैं जो क्रमबद्ध रीति से एक ही अर्थ को व्यञ्जित करने वाले अथवा पर्यायवाची हों। जैसे 'पृथ्वी' अर्थ को व्यञ्जित करने वाले सब शब्द।

दूसरे प्रकार में एक से अधिक अर्थ व्यञ्जित करने वाले शब्द-समूह आते है जो (अर्थ) शब्द के लिंग के साथ ही सप्तमी विभक्ति में प्रायः बता दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ—'दिने'—दिन के अर्थ में, त्रिषु—तीनों लिङ्गों में—विशेषण।"

शब्द-कोषों का क्रम साधारणतः—वर्णमालानुसार नहीं होता—यह सत्य है परन्तु इस क्रम की इसलिये आवश्यकता नहीं क्योंकि यह कोष केवल विहंगावलोकन करने के लिये नहीं वरन् कण्ठस्थ करने के लिये बनाये गये हैं।

प्राचीनतर कोष, जिनसे हमारा साधारण परिचय है पर्याप्त मात्रा में क्रमविहीन एवं अपनी परिभाषाओं में उलझे हुए हैं यद्यपि उसकी व्याख्या एक सम्पूर्ण श्लोक में दी रहती है। इनमें से कई कोष आलोचना की पद्धतियों (Quotations) से ही पहचाने जाते हैं। अमरसिंह के 'नाम लिंगानुशासन ने' जो 'अमरकोष' के नाम से विख्यात है, अपने सभी विख्यात पूर्व ग्रन्थों की यशःकान्ति अपने प्राधान्य के कारण फीकी कर दी। इसका लेखक बौद्ध था। यद्यपि उसने अपने ग्रन्थ में बौद्ध-शब्द समूह अधिक नहीं दिया। इसका जीवनकाल निश्चित ज्ञात नहीं हुआ परन्तु सम्भवतः वह ५५० तथा ७५० ईसवी में हुए होंगे। उनका ग्रन्थ तीन भागों में पर्यायवाची शब्दों का संग्रह अथवा कोष है। इस कोष की

५० टीकाओं में से कुछ ही उपलब्ध हैं जिनमें से भट्टक्षीर स्वामी की टीका सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। ये सम्भवतः १०५० ई० में रहे होंगे।

.... पुरुषोत्तम देव का 'त्रिकाण्ड शेष' नामक कोष है। यह भारतीय मनोरंजक कोषों में से एक है तथा अत्यन्त उपयोगी माना जाता है, क्योंकि इसमें बौद्ध संस्कृत के कुछ विचित्र शब्दों के साथ-साथ साधारण संस्कृत एवं प्राकृत के शब्द-समूह भी हैं। इसके लेखक ने भी दोनों प्रकार के पर्यायवाची एवं अनेकार्थवाची शब्दों का संग्रह किया जो 'हारावली' के नाम से विख्यात हुआ। इसमें पहले ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक अप्रचलित शब्द हैं। पुरुषोत्तमदेव के स्थितिकाल के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं परन्तु ७०० ईसवी से अर्वाचीन नहीं कहे जा सकते।

शाश्वत का 'अनेकार्थ समुच्चय' प्राचीन महत्त्वपूर्ण अनेकार्थवाची शब्दकोष है। इसका क्रम उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम इसमें ऐसे शब्द हैं जिनकी व्याख्या एक श्लोक में समाप्त होती है, फिर ऐसे शब्द जिनकी व्याख्या में आधे श्लोक की आवश्यकता है और अन्त में वे शब्द आते हैं जिनकी व्याख्या के लिये श्लोक का एक चरण ही पर्याप्त है। फिर परिशिष्टों (Supplements) और अवयवों (Indeclinables) की बारी आती है।

प्राचीन शब्द-कोष जिसका समय अनुमानतः बताया जा सकता है, हलायुध का 'अभिधान-रत्नमाला' है जो ९५० ई० तक की लिखी मानी जाती है। यह केवल ९० श्लोकों का संक्षिप्त ग्रन्थ है।

"वैजयन्ती" कोष संस्कृत के कई विस्तृत कोषों में से उल्लेखनीय है। इसके लेखक यादव-प्रकाश दक्षिण भारत के निवासी थे जिनका स्थितिकाल हलायुध से एक शताब्दी पश्चात् अर्थात् १०५० ई० माना जाता है। इसमें शब्दों का क्रम सर्वप्रथम व्यञ्जनों से फिर लिंग द्वारा निर्धारित किया गया है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कोष है क्योंकि इसमें कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो अन्य कोषों में नहीं मिलते।

११२३ से ११४० ई० धनंजय नामक एक दिगम्बर जैन ने 'नाम-माला' नामक कोष की रचना की। कवि महेश्वर के अपने ही कथनानुसार ११११ ई० में अपने ग्रन्थ 'महेश्वर कोष' की सृष्टि मानी जाती है। मंखक नामक एक अन्य कवि ने 'अनेकार्थकोष' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसकी टीका ११५० ई० में की गई। हेमचन्द्र के कोष सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं जो उसके मत में उसने अपने 'व्याकरण के सहायक अथवा पूरक के रूप में लिखे। उसका पर्यायवाची कोष "अभिधान-चिन्तामणि" है, जिसकी भूमिका में कई प्रकार के शब्द, जैन तथा ब्राह्मण, देवता, मानव, पशु आदि से सम्बद्ध हैं। इस ग्रन्थ के सहायक के रूप में उसने "निघण्टुशेष" नामक पुस्तक लिखी जिसमें ३०० श्लोक हैं। उसने अनेकार्थवाची कोष भी लिखा जो "अनेकार्थ-संग्रह" नाम से अभिहित है। इसके ७ भाग हैं। इसका भी एक क्रम विशेष है।

बाद के कोष-साहित्य में दो अनेकार्थवाची कोष ही उल्लेखनीय हैं। १२०० ई० में केशव स्वामिन् ने "नानार्थ संग्रह" नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें शब्द व्यञ्जनों (Syllables) की संख्या वर्णमाला तथा लिंग के अनुसार विभक्त हैं। मेदिनीकार का सुविख्यात "नानार्थ शब्दकोष" का काल सम्भवतः १४ वीं शती है। यह 'मेदिनीकोष' अथवा मेदिनी भी कहलाता है तथा 'विश्व-प्रकाश' पर आधारित है।

संस्कृत साहित्य में कई शब्दार्थ सूचियाँ (Glossaries) हैं विशिष्ट बौद्ध संस्कृत पुस्तकों के साथ हैं, जो वैदिक निघण्टु से मिलती-जुलती हैं। प्राचीनतम उपलब्ध प्राकृत-कोष का नाम है। पाइयलच्छीनागमाला इसके लेखक धनपाल हैं, इसे २७९ आर्या छन्दों में ९७२ ई० में रचा गया था। इसके शब्द किसी विशेष क्रम का अनुसरण नहीं करते। केवल वे देवताओं अथवा पवित्र वस्तुओं के नामों से प्रारम्भ होते हैं। यह ग्रन्थ हेमचन्द्र द्वारा प्रयोग में लाया गया था। इसकी सहायता से उन्होंने अपना 'देशी-नाम माला' ग्रन्थ लिखा जिसके शब्द तत्सम तथा तद्भव शब्दों से भिन्न थे। यह प्राकृत-कोष प्राकृत भाषा के अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं क्योंकि हेमचन्द्र का तत्सम्बन्धी ग्रन्थ अरक्षित है।

प्राचीन पाली का एकमात्र कोष है "अभिधानार्थ-दीपिका"। इसके लेखक मोग्गलान हैं। यह १२०० ई० में लिखित होने तथा पद्य-बद्ध होने के कारण 'अमर-कोष' की प्रतिकृतिमात्र है।

आधुनिक काल में भी संस्कृत में कई कोशों का निर्माण हुआ, जिनमें से 'शब्द-कल्पद्रुमः' और 'वाचस्पत्यम्' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनके लेखक क्रमशः राजा राधा-कान्त देव और पं० तारा नाथ तर्क वाचस्पति है। ये दोनों कोश 'विश्वकोश' की श्रेणी के हैं। डॉ० रामावतार शर्मा का प्रसिद्ध कोष 'वाङ्मयार्णवः' भी इसी काल की रचना है जो वर्णक्रम से श्लोकों में लिखा गया है। पं० मथुराप्रसाद दीक्षित के सम्पादकत्व में प्राकृत भाषा का भी एक महान् कोश कई खण्डों में प्रकाशित हुआ है। पं० विश्वबन्धु शास्त्री के प्रधान सम्पादकत्व में विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसंधान संस्थान होशियारपुर (पंजाब) से 'वैदिक पदानुक्रमकोश' नामक विशालकाय वैदिक शब्दकोष निकला है जो १४ खण्डों में है। यह इस युग की, इस प्रकार की सबसे महान् रचना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत का कोष-साहित्य भी अपनी विशेषता के कारण साहित्य में मुख्य स्थान रखता है। वह साहित्य के पाठकों का ही नहीं, साहित्यकारों का भी पथ-प्रदर्शक है, लक्ष्य और लक्षण दोनों से सम्बद्ध है।

———

अध्याय

२० आयुर्वेद : उद्देश्य और उत्पत्ति

प्राचीन युग में महर्षियों की दृष्टि जहाँ अध्यात्म-दर्शन की ओर गई, वहीं उन्होंने शरीर को भी सुरक्षित रखने की व्यवस्था की, क्योंकि बिना स्वस्थ शरीर के अध्यात्म-दर्शन का उद्देश्य अधूरा ही रहता है। यदि शरीर पुष्ट और बलवान् न हो, तो साधन ही किसके द्वारा सम्पन्न किये जायें। 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्', शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' समझकर महर्षियों द्वारा योगशास्त्र की क्रियाओं (नेती, धौती आदि) इत्यादि से शरीर को शुद्ध करने की व्यवस्था की गई। हठयोग की अन्य क्रियायें भी प्रचलित हुईं। यहाँ तक कि अष्टाङ्गयोग की व्यवस्था भी हुई। किन्तु केवल योग से शरीर को शुद्ध करने की व्यवस्था से कार्य न चल सका। अतः महर्षियों ने 'धर्मार्थकाममोक्ष' के साधन रूप शरीर को दुर्बलता से बचाने के लिये एक सभा की।[1] 'चरकसंहिता' में लिखा है कि धर्मार्थकाममोक्ष आदि की सिद्धि में शरीर की शक्तियों के दुर्बल हो जाने के कारण जब बाधा उत्पन्न हुई तो परम ज्ञानी, दयालु ऋषिमण्डल इस बाधा को दूर करने के लिये पवित्रधाम हिमालय पर एकत्र हुआ। उन्होंने ध्यान एवं चिन्तन से जाना कि परम 'आयुर्वेदज्ञ देवराट् इन्द्र' ही मर्त्यलोक के इस रोग-शान्ति का सर्वाङ्गीण उपाय बता सकते हैं। हिमालय पर एकत्र ऋषियों की संख्या ५२ थी।"

ऋषियों का मण्डल इन्द्र से मिलने के लिये चला, परन्तु सबको एक साथ इसका ज्ञान मिलना असम्भव था। अतः इन ऋषियों ने महर्षि 'भरद्वाज' को ही अपना प्रतिनिधि निर्वाचित किया क्योंकि 'भरद्वाज' के पिता 'बृहस्पति' देवों के पूज्य गुरु थे। इसके अतिरिक्त इसी सम्बन्ध के आधार पर 'भरद्वाज' और इन्द्र की मित्रता भी थी फलतः 'इन्द्र' ने आयुर्वेद का सम्पूर्ण ज्ञान महर्षि 'भरद्वाज' को दे दिया।

आयुर्वेद का ज्ञान इतना गम्भीर था कि मनुष्य की बुद्धि उसको धारण करने में समर्थ न थी। अतः ऋषियों की प्रार्थना पर उस सम्पूर्ण आयुर्वेद के ज्ञान को जिसके श्लोकों की संख्या एक लाख थी, उसे आठ अङ्गों में विभाजित कर दिया।[2] वे अङ्ग क्रमशः इस प्रकार हैं।

आयुर्वेद के आठ अङ्ग—

(१) शल्य, (२) शालाक्य, (३) काय-चिकित्सा, (४) भूत-विद्या, (५) कौमार-भृत्य, (६) अगदतंत्र, (७) रसायन, (८) बाजीकरण। ये ही आयुर्वेद के आठ अङ्ग हैं, जिसके लिए अष्टाङ्गायुर्वेद का लोक-व्यवहार आज तक होता आ रहा है। इनका वर्णन आगे किया जायेगा। आयुर्वेद के ग्रन्थों में ये नाम कुछ परिवर्तित रूप में

---

१. चरकसंहिता सूत्रस्थान १/१११-१४
२. सुश्रुत, सूत्रस्थान १/६

ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। कालक्रम के अनुसार इसे और सरल किया गया तथा इसके विशिष्ट अध्ययन की व्यवस्था भी की गई, जिसमें एक-एक विषय को लेकर विभिन्न आचार्यों एवं महर्षियों ने गवेषणा[1] पूर्ण अध्ययन और अनुशीलन किया। जैसे 'धन्वन्तरि' ने भिषक् क्रिया पर अधिक बल दिया, 'पुनर्वसु' ने कायचिकित्सा पर, 'काश्यप' ने केवल कौमारभृत्य पर। इसके अतिरिक्त भी उस ज्ञान का विशिष्ट उपार्जन हुआ। 'धन्वन्तरि' ने शल्य-चिकित्सा विषयक अंग भी सीखा, उसके पश्चात् उन्होंने उसका उपदेश किया। महर्षि भरद्वाज के एक शिष्य और थे जिनका नाम—"आत्रेय-पुनर्वसु" था। ये ही काय-चिकित्सा के प्रथम विचारक माने जाते हैं। भिषग् के क्षेत्र में 'पुनर्वसु आत्रेय' को संसार के सर्वोच्च वैज्ञानिकों की कोटि में गिना जाता है।

पुराणों[2] में धन्वन्तरि को ही अष्टाङ्ग आयुर्वेद का विभाजक बताया गया है। धन्वन्तरि के विषय में यहाँ तक लिखा है कि उनका जन्म प्रथम द्वापर के अन्त में 'काशिराज शौनहोत्र' के यहाँ हुआ। उन्होंने 'भरद्वाज' से आयुर्वेद का और विशेषतया भिषक्क्रिया का ज्ञान प्राप्त किया, पुनः आठ अंगों में उसे विभाजित कर अपने सुयोग्य शिष्यों को उसका उपदेश दिया।

आयुर्वेद की प्राचीनता—आयुर्वेद की प्राचीनता के विषय में भगवान् 'धन्वन्तरि' ने स्वतः कहा है कि इसकी उत्पत्ति वेदों के साथ हुई है। ब्रह्मा ने प्रजा निर्माण करने से पूर्व ही इसका निर्माण किया था।[3] 'सुश्रुत' के आरम्भ में भी आयुर्वेद में वेद शब्द का प्रयोग दिखाई देता है।

"तथा च सुश्रुतारम्भे"—अथातो वेदोत्पत्तिमध्यायं 'व्याख्यास्यामः' यह कहकर शिष्य-परम्परा का निर्देश स्पष्ट रूप से किया गया है, जो शिष्यमण्डली अत्यधिक प्राचीन है। 'ब्रह्मा प्रोवाच, ततः प्रजापतिरधिजगे तस्मादश्विनौ, अश्विनिभ्यामिन्द्रः इन्द्रादहम्। मयाऽत्विह प्रदेयमर्षिभ्यः प्रजाहितहेतो, अनेन ज्ञायते यदध्यायादौ वेदशब्दोऽयमायुर्वेदमेवाह। ब्रह्मप्रोक्तत्वात् आम्नायप्रवृत्तत्वाच्च स्पष्टम् वेदत्वम् अङ्गत्वं तु वेदार्थोपकारकत्वात्'।

इससे यह सिद्ध है कि यह वेद के साथ उत्पन्न होने वाला एक उपवेद है। अन्यच्च—

विधाताऽथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।
स्वनाम्ना संहिताञ्चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्॥

---

१. तस्यायुर्वेदस्याङ्गान्यष्टौ तद् यथा काय-चिकित्सा शालाक्यम् विषगरवैरोधिकप्रशमनम्, शल्यापहर्तृकम्, वाजीकरण भूतविद्या, कौमारभृत्य रसायनानि।

२. हरिवंश पुराण १-१९-२२-२६-२७, ब्रह्माण्ड पुराण ३-१७-२०-२३-२४, वायु पुराण अ० १२-१८-२१-२२।

३. यदुक्तं धन्वन्तरिणा—इह खलु आयुर्वेदमष्टाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रञ्च कृतवान् स्वयम्भूः। सु० सू० अं १।

ततः प्रजापतिं दक्षं दक्षं सकलकर्मसु ।
विधिर्धीनीरदिः साङ्गमायुर्वेदमुपादिशत् । (भावप्रकाश)

उपर्युक्त क्रम देखने से इसकी प्राचीनता में कोई संदेह नहीं रहता । इस प्रकार अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इसकी सिद्धि हुई । बहिःसाक्ष्य के आधार पर भी इसकी प्राचीनता इस प्रकार है:—

ऋग्वेद[1] में आयुर्वेद के जन्मदाता 'दिवोदास' भरद्वाज और अश्विनीकुमार आदि आचार्यों, ऋषियों का उल्लेख मिलता है ।' काश्यप संहिता[2] में आयुर्वेद का उद्भव "अथर्व उपनिषद्" के रूप में कहा गया है । कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि 'अथर्वन् मन्त्रों में प्राचीन वैद्यक शास्त्र की विधियाँ वर्णित हैं । जिनमें राक्षसों को रोग उत्पन्न करने वाला और मन्त्रों द्वारा रोग निवृत्ति के उपाय बताये गये हैं[3] । इसी प्रकार 'महाभारत' और बौद्धों के 'विनय पिटक' में शल्यविद्या-विशारद अनेक वैद्यों का वर्णन है[4] । 'सर प्रफुल्लचन्द्र' ने यहाँ तक लिखा है कि 'चरक से पूर्व चिकित्सा-पद्धति का प्रायः सर्वथा अभाव था"[5] । इन मतों के अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि संस्कृत के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थकारों की कृतियाँ आयुर्वेद से प्रभावित हैं । शतपथ[6] जैसे प्राचीन ग्रन्थों में इसकी चर्चायें हैं ।

कविराज सूरमचन्द्र का कथन है कि आयुर्वेद का प्रदाता इन्द्र अति प्राचीन-काल में हुआ । उस समय अर्थात् आज से लगभग १२००० वर्ष पहले आयुर्वेद का पुनीत ज्ञान संसार में था । तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद शास्त्र अतिप्राचीन है एवं वह उपवेद के रूप में आज भी माना जाता है । महर्षि 'चरक' का तो यहाँ तक दावा है कि आयुर्वेद शाश्वत है—

'सोऽयमायुर्वेदः' शाश्वतो निर्दिश्यतेऽनादित्वात् स्वभावसंसिद्धि-लक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च । नाहि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषोवेदितातादि च सुखदुःखं स द्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात्" ।

(च० सू० अ० ३०)

इसके अनुसार भी आयुर्वेद का गौरव अनन्त वर्षों से विश्व में स्थित है ।

आयुर्वेद के आठ अङ्गों का क्रमिक वर्णन

(१) कायचिकित्सा—कायचिकित्सा शब्द की व्युत्पत्ति आचार्यों ने इस प्रकार की है—

"कामः सकलं शरीरम् तस्य चिकित्सा अथवा कायति शब्दं करोति इति

---

१. ऋग्वेद १/१२/१६ ।
२. 'काश्यप संहिता' पृष्ठ ४१ ।
३. देखिये दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी नवम्बर १९५१ पृष्ठ, २७६ ।
४. देखिये 'ऐश्येंट सर्जिकल इंस्ट्रामेन्ट्स' जिल्द १/३ ।
५. दि हिस्ट्री ऑफ हिन्दू कैमिस्ट्री भाग १ भू० पृष्ठ ११ ।
६. शतपथ ९/५/२/१ ।

इसके विषय में 'अत्रिदेव विद्यालंकार' का ; संस्कृतसाहित्य में आयुर्वेद देखिये ।

कायः जठराग्निरित्यर्थः तस्य चिकित्सानां सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्त-पित्तशोषोन्मादापस्मार-कुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनम् ।"

अर्थात् कायचिकित्सा वह चिकित्सा है जिसमें शरीर सम्बन्धी ज्वर, रक्त-पित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, मेह, अतिसार इत्यादि रोगों का शमन होता है ।

(२) शालाक्य—इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

'शलाका पटलवेधनीः, तस्याः कर्म शालाक्यम् तत्प्रधानमङ्गं शालाक्यं नाम विभिन्नधातु निर्मिताभिर्विविधौषधि-संस्कृताभिश्च शलाकाभिरूर्ध्वं गतानां श्रवण-नयन-वदन-घ्राण-शिरः कपालादि संश्रितानां व्याधीनामुपशमनम्" ।

अर्थात् शालाक्य उसे कहते हैं जिस चिकित्सा में विभिन्न औषधियों से संस्कृत करके शलाका को नाक-मुख-कपालादि में प्रवेश कराकर विविध व्याधियों का उप-शमन किया जाये ।

(३) शल्यापहर्तृकम्—"शलनं शलो हिंसा तस्य निमित्तं संयोगः शल्यम् तदपहर्तृकं नाम विविध तृण-काष्ठ-पाषाणलोहलोष्ठासि बालनखपूयास्रावदुष्ट व्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणं यन्त्रशस्त्रक्षारोऽग्निप्रणिधानं च" अर्थात् यह वह चिकित्सा कहलाती है जिसमें काष्ठ, पाषाण इत्यादि के द्वारा कोई घाव हो अथवा कोई वस्तु चुभ जाये उसे यन्त्रों से निकालना या उस स्थान को जलाकर व्याधि का उपशमन किया जाये ।

(४) विषगरवैरोधिकम्—(अगदतन्त्र) "विषं स्थावरं जङ्गमञ्चेति द्विविधम्" तत्रस्थावरं—कालकूटहलहलादिकम् । जङ्गमन्तु सर्पवृश्चिकादीनां दृष्टिनिश्श्वासापि भेदेन षोडशविधम । तदेतेषां सर्वविधानां लक्षणप्रभावादि ज्ञानपुरःसरं भेषजैर्मणि-मन्त्रौषधादिभिश्च चिकित्सनं विषगर वैरोधिकप्रशमनमगदतन्त्रम् नाम ।"

अर्थात् जिस चिकित्सा में कालकूट हालाहलादि विषों की एवं सर्प, बिच्छू आदि प्राणियों के विष के शामक उपाय बताये जायें वह अगदतन्त्र के नाम से कहा गया है ।

(५) भूतविद्या — "देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपिशाचपितृनागद्ग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म बलिमणिमन्त्रादिभिरुपशमनम् ।"

अर्थात् जिसमें भूत-गन्धर्व, यक्ष राक्षस इत्यादि द्वारा यदि जीव सताया हो तो उसके परिहार का उपाय बताया जाय ।

(६) कौमारभृत्यम्—गर्भात्प्रभृति तद्रक्षासुखप्रसवः जातस्य कुमारस्य पोषणम्, स्तन्यदुष्टि निराकरणम् ग्रहादिप्रशमेन च ।"

अर्थात् जिस चिकित्सा में गर्भ से लेकर उत्पन्न होने एवं शिशु के पालन-पोषण इत्यादि की व्यवस्था बताई जाय । ग्रहादि के शमन का उपाय बताया जाय ।

(७) रसायनानि—"रसादिशुक्रान्तधातूनामाप्यायनानि वयः स्थापना न्यायुर्मेधा-बलवर्धनानि च ।"

अर्थात् जिसमें शुक्रादि धातुओं के पुष्ट करने एवं आयु, मेधा इत्यादि के बढ़ाने के उपाय कहे गये हैं।

(८) वाजीकरणम्--"अल्पदुष्टक्षीण-शुष्करेतसामाप्यायनं स्त्रीषु वाजिवत्सामर्थ्यस्योत्पादनं च।"

अर्थात् जिसमें धातुओं में वर्धन-स्तम्भन इत्यादि की औषधियों की चर्चा हो उसे वाजीकरण कहते हैं। आयुर्वेद के ये आठ अङ्ग मानव कल्याण के लिये हैं।

आयुर्वेद का सिद्धान्त

आयुर्वेद का प्रमुख सिद्धान्त त्रिदोष सिद्धान्त के नाम से पुकारा जाता है। इस सिद्धान्त में धातुओं की विषमता ही रोग का कारण मानी जाती है। अतः धातुओं को साम्यावस्था में लाने का प्रयत्न किया जाता है। जैसा कि चरकाचार्य ने कहा है कि–

"विकारोधातु-वैषम्यं धातुसाम्यमरोगता।
स्वस्थस्य रक्षणं, कुर्याद्विकारस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्॥
क्षपयेद्मवृंहयेद्वापि, दोषधातुमलान् भिषक।
याभिः क्रियाभिर्जायन्ते, शरीरे धातवः समाः॥
सा चिकित्सा विकाराणां-कर्म तद्भिषजो मतम्।"—चरक० सू०

यही आयुर्वेद का सर्वमान्य सिद्धान्त है यही कारण है कि आयुर्वेद-शास्त्र में किसी औषधि का किसी विशेष रोग पर देने का निश्चय नहीं मिलता, यहाँ तक कि एक-एक प्रकरण में सहस्रों रोगों का वर्णन है। वैद्य अपने विचार के अनुसार उनका प्रयोग करें।

आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ

चरक—चरकसंहिता 'आत्रेय-पुनर्वसु' द्वारा उपदिष्ट है। इनका काल ६०० ई० पूर्व से पहले है। उनके शिष्य अग्निवेश ने इनकी रचना की है। महर्षि 'भरद्वाज' के शिष्य 'दृढबल' तथा 'चरक' ने उसका प्रति संस्कार किया है। चरक' का काल भी ई० पू० ६०० के लगभग है। चरक संहिता में आठ विभाग हैं जो स्थान के नाम से अभिहित हैं। (१) सूत्र-स्थान, (२) निदान-स्थान, (३) विमान-स्थान (४) शरीर-स्थान, (५) इन्द्रिय-स्थान, (६) चिकित्सा-स्थान, (७) कल्प-स्थान, (८) सिद्धि-स्थान—'चरकसंहिता' सबसे प्राचीन है। ८०० ई० के लगभग इसका अनुवाद फारसी में हो चुका था। ग्रन्थ में निदान एवं चिकित्सा के वर्णन के अतिरिक्त दार्शनिक पक्ष पर भी जमकर विचार किया गया है। आधुनिक युग में यह ग्रन्थ विद्वानों की कसौटी है।

सुश्रुत--आचार्य सुश्रुत महाभारत के अनुसार विश्वामित्र के पुत्र है। क्योंकि वाग्भट्ट ने इनके 'सुश्रुत' का बहुत अंश लिया है। वाग्भट्ट ५वीं-६वी शताब्दी

में थे अतः 'सुश्रुत' का काल लगभग दूसरी तीसरी शताब्दी रहा होगा। इनका काल वाग्भट्ट से पूर्व ही हो सकता है। पूर्व में 'कम्बोज' और पश्चिम 'अरब' देशों में नवम् और दशम शताब्दी में यह ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में ६ भाग हैं। (१) सूत्र स्थान, (२) निदान-स्थान, (३) शरीर-स्थान, (४) चिकित्सा-स्थान, (५) कल्प-स्थान (६) उत्तरतन्त्र। 'सुश्रुत' की ख्याति सर्वाधिक शरीर विज्ञान के सम्बन्ध में है। 'शल्य' क्रिया एवं तत्सम्बन्धी यन्त्रों का सचित्र वर्णन है।

वाग्भट्ट—इस नाम के दो ग्रन्थकार प्रसिद्ध हैं। जिनके अलग-अलग दो ग्रन्थ प्राप्त हैं। एक ग्रन्थ है 'अष्टांगसंग्रह' और दूसरा अष्टांगहृदय संहिता। प्रथम ग्रन्थ के लेखक 'वृद्धवाग्भट्ट' सिंहगुप्त के पुत्र[1] थे। इनका काल ६वीं शताब्दी है। इनके ग्रन्थ का नाम बौद्ध 'अवलोकितेश्वर था। द्वितीय वाग्भट्ट प्रथम के बाद के प्रतीत होते हैं। दोनों ही बौद्ध थे। द्वितीय 'वाग्भट्ट के ग्रन्थ का अनुवाद तिब्बती भाषा में हो चुका है, जो जर्मनी से प्रकाशित हुआ है।

उक्त तीनों ग्रन्थ आयुर्वेद में वृहत्त्रयी के नाम से प्रसिद्ध है।

माधवनिदान—इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य माधवकर हैं। इनके पिता का नाम 'इन्दुकर' था। इनका काल ८ वीं शताब्दी है। इस ग्रन्थ का नाम 'रुग्विनिश्चय भी है। इस ग्रन्थ की एक 'वृहती' टीका है जिसका नाम 'मधुकोष व्याख्या' है। इस टीका के लेखक विजयरक्षित' और श्री कण्टदत्त हैं।

इस ग्रन्थ में केवल रोगों के लक्षणों का गम्भीरतम विचार किया गया है। निदान के सम्बन्ध में यह ग्रन्थ ही आजकल अत्यधिक प्रचलित एवं सरलतम समझा जाता है।

शार्ङ्गधरसंहिता—यह ग्रन्थ भी आयुर्वेद के ग्रन्थों में एक विलक्षण ग्रन्थ है। इनके लेखक 'आचार्य शार्ङ्गधर' है। इनका स्थिति काल १२ वीं शताब्दी है। इनके पिता का नाम आचार्य 'केशव' था। इसकी टीका वैयाकरण 'वोपदेव' ने की। इस ग्रन्थ में अनुभूत प्रयोग एवं अच्छे योगों का वर्णन है।

भावप्रकाश—इस ग्रन्थ के लेखक 'आचार्य भावमिश्र' है। इनका काल १६वीं शताब्दी है।

वैद्यजीवन—यह आयुर्वेद परम्परा का १७वीं शताब्दी का अन्तिम ग्रन्थ है। इसके लेखक 'लोलम्बराज' है—

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद शास्त्र में रासायनिक ग्रन्थ भी अनेक हैं। जिनके नाम इस प्रकार है—

रासायनिक ग्रन्थ—रसरत्नाकर, रसरत्नसमुच्चय।

---

१. वृद्ध वाग्भट्ट ७वीं शताब्दी में थे और वाग्भट्ट ८वीं शताब्दी में थे। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृष्ठ ११९।

पशु चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थ—अश्व लक्षण, हयलीलावती, अश्वायुर्वेद, शालिहोत्र, गजलक्षण, गजायुर्वेद, गजपरीक्षा, गौवैद्यशास्त्र इत्यादि ग्रन्थों की भी कमी नहीं है।

आयुर्वेद कोष-ग्रन्थ—धन्वन्तरीय निघण्टु, शब्दप्रदीपराज निघण्टु, मदन विनोद निघण्टु, पथ्यापथ्य निघण्टु इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इसी परम्परा में लिखा एक ग्रन्थ और है जिसका नाम 'मृगपक्षिशास्त्र' है।

मृगपक्षिशास्त्र—इस ग्रन्थ में शेरों के भेद, व्याघ्र, भालू, हाथी आदि वन्य पशुओं तथा गरुड़, हंस, वाज आदि नभचारी पक्षियों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन दिया गया है। इस ग्रन्थ के लेखक विजयराघवाचार्य हैं।

आधुनिक काल में आयुर्वेद के जिन प्रसिद्ध ग्रन्थों का निर्माण हुआ उनमें से कतिपय ये हैं —

१. प्रत्यक्षशारीरम् २. सिद्धान्तनिदानम्	कविराज गणनाथ सेन
३. नेत्र चिकित्सा	डॉ० बालकृष्णशिवराम मुंजे
४. आयुर्वेदीयपदार्थविज्ञानम्	श्री चि० श० काशीकर
५. अनुग्रहमीमांसा	पी० एस० वेरियर तथा वी० एन० नायर
६. स्वास्थ्यवृत्तम्	म्हस्कर तथा वाटवे
७. शारीरतत्त्वदर्शनम्	पुरुषोत्तम सखाराम हिर्लेकर

———

अध्याय

२१ धनुर्वेद

धनुर्वेद' यजुर्वेद का उपवेद है। यह अस्त्र-वेद की संज्ञा से अभिहित है। धनुर्विद्या चिरकाल तक भारतीय-शिक्षा का अङ्ग रही है। प्राचीन भारत में अस्त्र-विद्या की उन्नत दशा का यही रहस्य है कि उसे नित्य शिक्षण का विषय बताया जाता था। धनुर्वेद के अन्तर्गत शस्त्रास्त्रों के प्रयोग तथा संहार की सम्यक् शिक्षा देने की व्यवस्था थी। कृशाश्व, जामदग्न्य, विश्वामित्र, अग्निवेश, द्रोण, कृप आदि इसके कतिपय प्रमुख आचार्य थे।

यद्यपि धनुर्वेद, यजुर्वेद का उपवेद है, किन्तु ऋग्वेद-काल में भी धनुष-बाण अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुके थे। ऋग्वेद के दशम मण्डल वाले-सूक्त में रुद्र के धनुष का बड़े ही गौरवपूर्ण शब्दों में उल्लेख है—

"अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वाउ। ऋ० १० मं०। १२५-६।

इस काल में विजय-वाहिनी का प्रधानतम अस्त्र धनुष-बाण था। 'शरपत्र निर्मित द्विविध बाणों का युद्धादि में विशेष प्रयोग होता था। ये 'विषधर' तथा 'अयोमुख' बाण कहलाते थे। 'विषधर' शिलीमुख का अग्रभाग शृङ्गयुक्त होता था तथा 'अयोमुख' का मुख ताम्र अथवा लौह निर्मित होता था।

यजुर्वेद में धनुर्विद्या के प्रयोग का अधिक स्पष्ट वर्णन है। धनुष बाण के ही बल पर लक्ष्य वेध करके यजुर्वेद में युद्ध-विजय की उत्कट कामना की गई है, जैसा निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

'धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः सत्रदो जयेम।

धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वा प्रदिशो जयेम॥ (यजु० २९/३९)

अर्थात् धनुष की सहायता से हम धरती व युद्ध पर विजय प्राप्त करें तथा धनुष के बल पर हम अत्यन्त वेगवती सेना को परास्त करके उस पर विजय लाभ करें। धनुष शत्रु की कामनाओं का विध्वंसक है इसकी सहायता से हम समग्र दिशाओं एवं विदिशाओं पर विजय पाप्त कर लेंगे।

यजुर्वेद के सदृश अथर्ववेद में धनुष-बाण का वर्णन है। यद्यपि शत्रु पर विजय प्राप्ति हेतु क्षत्रियों के लिये धनुर्विद्या का विशेष महत्त्व था, किन्तु ब्राह्मण भी इस विद्या में पारङ्गत होते थे। अथर्ववेद में ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख हैं, जिनके बाण अत्यन्त तीक्ष्ण है तथा जो हथियार धारण करते हैं :

'तीक्ष्णेषवो ब्राह्मण हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां इन सामृषा।

अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादवभिन्दन्त्येनम्॥' (अथर्व० ५/१/१८/९)

अर्थात्, उन ब्राह्मणों के द्वारा प्रक्षिप्त ज्ञानास्त्र निष्फल नहीं होते जो तीक्ष्ण बाणों वाले हैं तथा जो शत्रास्त्रों से युक्त हैं। परम तेजस्वी ये ब्राह्मण तपस्या सहित पराक्रम के साथ शत्रु का पीछा करते हैं और निःसन्दिग्ध रूप से शत्रु का भेदन करने में सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त विजयी योद्धा की प्रशस्ति निम्न रूप में की गई है—

'धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
समागृभाय वसुभूरि पुष्टमर्वाङ्त्वमेह्यु पजीवलोकम्। (अथर्व० १८-२-६०)

अर्थात्, हे योद्धा-प्रवर! तुम अपने क्षत्रियोचित धर्म, तेज तथा विक्रम के द्वारा इस युद्ध में दिवङ्गत शत्रुओं के धनुष व अन्य वस्तुओं को उनके हाथों से लेकर इस पराभूत दल के समक्ष होते हुए आदर सहित आओ'।

धनुर्वेद-सूत्र—धनुर्वेद-सूत्रों का उल्लेख महाभारत में सभा-पर्व (५/११०) में प्राप्त होता है।

१. औशनस धनुर्वेद—उशना (शुक्राचार्य) का एक अत्यन्त प्राचीन धनुर्वेद था। इनका उपनाम 'काव्य' था। 'वीरमित्रोदय' में इसके उद्धरण प्राप्त होते हैं।

२. भरद्वाज धनुर्वेद—महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २१२ के निम्न उल्लेख के अनुसार भरद्वाज धनुर्वेद के विशेषज्ञ थे।

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।३३।

ऐतरेय आरण्यक (१/२/२) भरद्वाज को ऋषियों में अनूचानतम बनाता है। इनके द्वारा किसी धनुर्वेद की रचना की जानी सहज स्वाभाविक है। वे धनुर्वेद के प्रख्यात आचार्य द्रोण के पुत्र थे।

३. जमदग्निकृत धनुर्वेद—आयुर्वेद की सुश्रुत-संहिता के टीकाकार डल्हण ने चिकित्सा स्थान अध्याय १२ की टीका में लिखा है—

'रथचर्या पदातिचर्या च जमदग्निराह-
सर्वदिग्भागभागेषु हस्त्यश्वरथपत्तिषु।
शस्त्रास्त्रेयस्तु संयोगः सा चर्येति प्रकीर्त्यते'[2] ॥११॥

भारत में बाण-विद्या अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन काल में अस्त्रों का प्रक्षेपण मन्त्रों द्वारा भी किया जाता था। ये अग्नि, गैस, विद्युत् तथा यान्त्रिक उपायों से चलाये जाते थे। ये दैवी आयुध थे। प्रत्येक शस्त्र पर पृथक-पृथक् देवी अथवा देवता का अधिकार होता था। मन्त्र-तन्त्र के द्वारा संचालित होने के कारण ये दिव्य तथा मान्त्रिक अस्त्र थे। ये आठ प्रकार के बाण होते थे—

१. आग्नेय—यह विस्फोटक बाण जल के सदृश अग्नि वर्षा कर सब कुछ भस्म कर देता था।

२. पर्जन्य—आग्नेय बाण की विकृति की शान्ति पर्जन्य द्वारा होती थी। इस बाण से कृत्रिम मेघ उत्पन्न होकर वर्षा कर देते थे, बिजलियाँ (सौदामिनी) चमकती थीं तथा तूफान आता था।

---

१. वैदिक—सम्पत्ति पं० रघुनन्दन—पृ० संख्या ६७२-७३।
२. कल्याण—हिन्दू संस्कृति अङ्क—पृ० सं० २५०-२५१।

६. वायव्य—वायव्य बाण से उत्पन्न वात्याचक्र, अन्धड़ तथा आँधी आदि आकर वातावरण को तिमिराच्छन्न कर देते थे।

४. पन्नग—पन्नग बाण से उत्पन्न सर्प युद्ध-क्षेत्र में शत्रुओं का विध्वंस करते थे।

५. गरुड़—गरुड़-बाण से उत्पन्न गरुड़, सर्पों को खा जाते थे।

६. ब्रह्मास्त्र—यह अत्यन्त विकट अस्त्र था। शत्रु का विध्वंस करके ही यह शान्त होता था। इसका प्रतीकार ब्रह्मास्त्र से ही होता था।

७. पाशुपत—विश्व संहारक यह बाण महाभारत काल में अर्जुन के पास था।

८. वैष्णव—नारायणास्त्र पाशुपत के सदृश विकट रूप से घातक होता था। यह बाण भी प्रतीकारोपाय रहित होता था। इसका एकमात्र प्रतीकार यह था कि शत्रु अस्त्र त्यागकर नम्रतापूर्वक आत्मसमर्पण कर दे। एकमात्र इसी दशा में यह अपना प्रभाव नहीं डालता था।

इन अष्टविध बाणों के अतिरिक्त, शक्तिबाण, ब्रह्मशिरा व एकाग्नि आदि बाण भी थे।[1]

पृथ्वीराज के बाद बाण-विद्या का प्रायः लोप सा हो गया।[2]

बस्ती के प्रज्ञाचक्षु पं० श्री धनराज जी ने अपनी स्मृति के आधार पर धनुर्वेद, धनुष-चन्द्रोदय व धनुष-प्रदीप नामक तीन प्राचीन ग्रन्थ बताये हैं। इनमें से संभवतः आदि के दो ग्रन्थों की श्लोक सख्या पृथक्-पृथक् ६०००० है।[3]

———

१. कल्याण—हिन्दू संस्कृति अङ्क—पृ० सं० ७२६।
२. कल्याण—हिन्दू-संस्कृति अङ्क—पृ० सं० ७१७ पर टिप्पणी।
३. कल्याण—हिन्दू-संस्कृति अङ्क—पृ० सं० ५२७ पर टिप्पणी।

अध्याय

२२ ज्योतिष शास्त्र

अङ्कगणित—गणित-शास्त्र का मूल, अङ्क विद्या है,। डॉ० गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओझा 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' में लिखते हैं—'भारतवर्ष ने अन्य देशों को जो अनेक बातें सिखाईं' उनमें सबसे अधिक महत्त्व अङ्कविद्या का है। संसार में गणित की उन्नति का मूल वर्तमान अङ्क-क्रम है, जिसमें से नौ तक के अङ्क और शून्य इन दश चिह्नों से सारा काम चल जाता है। मिस्र में केवल १, १०, १०० तीन ही संख्याओं के मूल चिह्न थे। वहाँ ८ या ९ के लिये आठ या नौ बार एक का चिह्न बनाना पड़ता था। यूनान और रोम में केवल १, ५, १०, ५०, १००, १००० के चिह्न थे। इन्हीं को दुहरा तिहरा कर वांछित संख्या की अभिव्यञ्जना कर लेते थे। इसे रोमन अङ्क प्रणाली कहते हैं।

वैदिक युग का अङ्कगणित - 'दि स्कोप एण्ड डवलपमेण्ट आफ हिन्दू गणित' में वी० वी० दत्त लिखते हैं—'उस समय छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी।

यजुर्वेद में कहा है 'इमा मे अग्र इष्टका धेनवः एकाच, दशच-दशच शतंच-शतंच सहस्रं च सहस्रं चायुतं च आयुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं च अर्थदं च ००००००० १७/२.

इसी वेद में दो व चार ० पहाड़े का उल्लेख है। अतः सिद्ध है कि जोड़, ऋण, गुणन, भाजन आदि के अङ्कगणित के मौलिक सिद्धान्त वैदिक काल में प्रौढ़ हो चुके थे।

'अथर्ववेद परिशिष्ट' के गणित सम्बन्धी सोलह सूत्रों पर भारती कृष्णतीर्थ की 'Vedic Mathematics' पुस्तक बनारस हिं० वि० वि० से १९६४ में प्रकाशित हुई है जो अत्यन्त उपयोगी है।

'शतपथ ब्राह्मण' में अङ्क गणना का उल्लेख है। उसके अग्निचयन प्रकरण में ऋग्वेद के अक्षरों की संख्या दी गई है जो ४३२००० है।

ई० सन् के बाद का अङ्कगणित और सशून्य दशांश गणना-विधि—

समय के अनुसार अङ्कगणित विकसित हुआ और सशून्य दशांश गणना विधि का आविष्कार भारतीयों ने किया, जिसका समस्त विश्व ऋणी है।

डॉ० मैक्डानल "हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर" में लिखता है—"ईसा से ४०० वर्ष तक इस विधि का उल्लेख नहीं मिलता है।"

काणे ने 'इण्डियन मैथमैटिक्स' में लिखा है कि १२वीं शती में इस विधि का प्रचार अरबों ने योरुप में किया और उन्होंने इसे भारत से सीखा।

दशगुणोत्तर पद्धति का सर्वप्रथम पूर्ण उल्लेख पातञ्जल योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने किया है।

यूसुफ जई इलाके की खुदाई में प्राप्त भोजपत्र की प्राप्ति में इसी अङ्क शैली का प्रयोग है। अतः यह शैली विश्व को भारत की देन है।

'तहकीकाते हिन्द' में अल्बेरूनी ने भी इस विधि का श्रेय भारतीयों को दिया है। अरबी भाषा में संख्या को हिंदसा कहते हैं। ईसवी ५०५ के वराहमिहिर इस विधि का ध्यान रखते हैं। वे ३७५० को 'खवाणाद्रिरामाः' लिखते हैं। अङ्क बाईं ओर से गिने जाते हैं। "इसके पूर्व आर्यभट्ट को भी इसका ज्ञान था क्योंकि उसने वर्गमूल व घनमूल निकालने की विधि का वर्णन किया है। ब्रह्मगुप्त ईसवी ६२४ श्रीधर १००० ई० आदि भी इसे जानते हैं।" ('दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया' आर० सी० दत्त।)

६३५ ई० के सनखेड़ा के लेख में भी कलचुरी संवत् लिखा गया था। पंजाब में वंक्रवली में चौथी शती के ग्रन्थ प्राप्त हुये हैं, जो अङ्कगणित सम्बधी हैं। 'एनसाइक्लोपीडियाब्रिटैनिका' में लिखा है—

"इसमें कोई शक नहीं कि हमारे वर्तमान अङ्क क्रम की उत्पत्ति भारतीय है। ७७३ ई० में भारतीय राजदूत इसे बगदाद लाया। वहाँ से यह योरुप पहुँची। ब्रह्मगुप्त का 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' और भास्कराचार्य की 'लीलावती' अङ्कगणित के चरमोत्कर्ष के प्रदर्शक हैं।

अङ्कगणित का विकास ८ प्रकार से हुआ था—(१) जोड़, (२) बाकी, (३) गुणा, (४) भाग, (५) वर्ग, (६) घन, (७) वर्गमूल, (८) घनमूल। प्रो० विनयकुमार सरकार 'हिन्दू एचीवमेन्ट इन एक्जेक्ट साइन्स' में इस सम्बन्ध में एक यूरोपीय विद्वान् का उद्धरण देते हैं—"यह एक मार्के की बात है कि भारत का गणित-शास्त्र हमारे आज के विद्वान् कहाँ तक काम में लाते हैं और गंगा के किनारे के ब्राह्मणों के हम कितने ऋणी हैं"। आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, भास्कर आदि के ग्रन्थ आश्चर्यकारक हैं।

(२) बीजगणित—गणित के इतिहास के लेखक काजोरी का कहना है कि "बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् दियोफांतुस को ३६० ई० मे बीजगणित का प्रथम आभास भारत से ही मिला था।" ४०० ई० और १२००—१४०० ई० के बीच का काल महान् उन्नत काल था। १९वीं शती के प्रख्यात गणितज्ञ दमौर्गा लिखते हैं, "दियाफांतुस का बीजगणित ज्ञान भारतीय विज्ञान के समक्ष नाममात्र का है।" जर्मन गणितज्ञ हानकेल कहते हैं, "बीजगणित के आविष्कार का सारा श्रेय हिन्दुस्तान को हैं।"

आर्यभट्ट और वराहमिहिर बीजगणित के महान् आचार्य हैं। इन्होंने ज्यामिति के कार्यों का वर्णन किया है। पाश्चात्य विद्वान् मिल आदि ने ज्यामिति का श्रेय अरबों को दिया है, पर यह आर्यभट्ट को मिलना चाहिये। वराहमिहिर के पौलस सिद्धान्तों में भी इसका उल्लेख है। ब्रह्मगुप्त और भास्कर ने अनेक साधारण समीकरणों को सुलझाया है।

डॉ० मैक्डानल 'इण्डियाज पास्ट' में लिखते हैं—"भारतीयों का गणितशास्त्र

में सबसे बड़ा आविष्कार द्वितीय स्थल की असीमाबद्ध संख्याओं के समाधान करने की क्रिया को निकालना था। यह क्रिया १२वीं शती के सभी आविष्कारों से सूक्ष्म थी।" 'चलन-कलन का १७वीं शती का न्यूटन का सिद्धान्त १३वीं शती में भास्कर ने आविष्कृत कर दिया था।' —सुधाकर द्विवेदी।

इस प्रकार गणित के मौलिक तत्त्वों का विकास भारत में हुआ था।

(३) रेखागणित—इसका यज्ञ से निकट का सम्बन्ध है और इसके विकास का सम्बन्ध वैदिक युग के यज्ञों से है। भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञों के लिये विभिन्न आकार की वेदियाँ बनाई जाती थीं। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद में रेखागणित के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है जैसे:—प्रभा, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द आदि।

शुल्बसूत्र व रेखागणित—रेखागणित के विकास का स्पष्ट पता शुल्बसूत्रों से चलता है। इनमें यज्ञ वेदी के आकार नापने आदि का पूरा ब्यौरा मिलता है। कोण, त्रिकोण आदि नापने की विधियाँ बताई गई हैं। ये सूत्र तीन हैं—

बोधायन, कात्यायन और आपस्तम्ब। इनका समय आर० सी० दत्त ८०० ई० पू० मैक्समूलर व मैकडानल ५०० ई० पू० ह्यूलर ४०० ई० पू० कहते हैं। आर० सी दत्त का कहना है—"सूत्रों में कुछ समीकरणों का उल्लेख आ गया है। इसे कुछ लोग यूनानी गणितज्ञ पाइथागोरस का सिद्धान्त कहते है।

भारतीय गणित के इतिहास लेखक विभूतिभूषणदत्त कहते हैं, "पाइथागोरस साध्य (यूनानी ५०० ई० पू०) का उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' और विवेचन 'शुल्बसूत्र' में है। कर्ण के वर्ण विषयक सिद्धान्त का विवेचन भी शुल्बसूत्रों में हैं।

'ब्रह्मगुप्त ने ६०० ई० में कई गणित सम्बन्धी ऐसी विधियाँ दी हैं, जो यूनानियों व अरबों को ज्ञात न थीं। जैसे वृत्त का व्यास और त्रिभुज, विषमकोण चतुर्भुज, वृत्त का क्षेत्रफल आदि निकालना।" —विनयकुमार सरकार

ज्यामिति का प्रयोग भी भारत से अरब और अरब से यूनान पहुँचा।

रेखागणित व ज्योतिष, शुल्बसूत्रों के बाद—१०० वर्ष तक का रेखागणित सम्बन्धी साहित्य नहीं मिला। ई० सन् के बाद आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त आदि इसको पुनः जीवन-दान देते हैं और धार्मिकता से पृथक् करके ज्योतिष से सम्बन्धित कर देते हैं। नये-नये आविष्कार इस क्षेत्र में हुए। वृत्तस्थचतुर्भुज की विशेषतायें ब्रह्मगुप्त ने खोज निकालीं। ज्यामिति का विकास हुआ। इधर यह ज्ञान यूनानियों से प्रभावित भी होता रहा था। १८वीं शती के यूक्लिड के ग्रन्थ का संस्कृत अनुवाद अरबी से जगन्नाथ द्वारा किया गया।

डॉ० मैक्डानल का कहना हैं "हो सकता है गणित-ज्योतिष के साथ इसका ज्ञान यूनान से प्राप्त किया गया हो। किन्तु उसका यह अनुमान अब भ्रमात्मक सिद्ध हो चुका है। अतः निष्कर्ष निकालना कि 'त्रिकोणमिति' आदि का ज्ञान विदेशीय है" नितान्त भ्रान्त धारणा होगी।

'वैदिक मैथमेटिक्स' में पाइथागोरस थ्योरम की ही एक शाखा विशेष एपोल्लोनियस् थ्योरम (Apollonius Theorem) की सिद्धि अत्यन्त सरल ढंग से दिखाई गई है, जो अन्यथा अत्यन्त दुरूह तथा श्रमसाध्य प्रणाली से सिद्ध होती है।

गणित ज्योतिष एवं फलित ज्योतिष

यद्यपि वैदिक प्रकरण में वेदाङ्ग-ज्योतिष पर विचार किया जा चुका है, किन्तु उसके विकास का क्रमिक इतिहास देने के उद्देश्य से उसके विविध अङ्गों का अनुशीलन यहाँ पुनः अपेक्षित है।

प्राणिमात्र की प्रवृत्ति है कि वह सुरक्षित और सुखी रहना चाहता है। मनुष्य और पशु सभी अपने-अपने जीवन की रक्षा के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। मनुष्य इस कार्य में अपनी बुद्धि की सहायता लेता है। वह अपना तथा अखिल ब्रह्माण्ड का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार जीवन-यापन करना चाहता है। वह वर्तमान पर ही न सोचकर भविष्य के परिणामों के प्रभावों पर भी गम्भीरता से विचार करता है।

भारतीय और यूरोपीय ज्ञान की खोज के इतिहास स पता चलता है कि जैसे-जैसे मानव का ज्ञान-भण्डार बढ़ता गया, वैसे ही वैसे उसकी अनेकानेक शाखायें प्रशाखायें होती गई। इस प्रकार धीरे-धीरे अनेकानेक विज्ञानों का जन्म हुआ, जिनमें एक ज्योतिर्विज्ञान भी है, जो मानव-जीवन को पूर्वापर प्राकृतिक घटनाओं और तज्जन्य परिणामों से परिचित कराता है।

प्रसिद्ध विद्वान् जी० थिबेण्ट (G. Thibant) का कहना है कि भारत में गणित और फलित ज्योतिष परस्पर (ओतप्रोत) बहुत मिले-जुले हैं। अधिकतर साहित्य एवं लेखक दोनों प्रकारों के एक ही हैं। गणित भी ज्योतिष का अभिन्न अंग-सा है।

ज्योतिष का शैशव (वैदिक युग)—ज्योतिष का प्रारम्भ वैदिक सूक्तों और ब्राह्मणों के आख्यानों में प्राप्त होता है। नित्य प्रकाश का ज्ञान, जिसे ऋतु भी कहा जाता है, वैदिक युग में गतिशील के रूप में प्राप्त होता है। "वैदिक-युग में ही ऋषियों का ध्यान गणना की अपेक्षा अन्तरिक्ष की घटनाओं की ओर अधिक गया।"[1]

वैदिक यज्ञों के सम्पादन के लिये, ग्रह नक्षत्र आदि का समुचित ज्ञान उपयोगी था। विद्वानों ने ज्योतिष का उद्गम खोज निकालने की दिशा में अथक प्रयत्न किये हैं। प्रयत्नों के पश्चात् कुछ तथ्य निश्चित किये हैं, जिनमें आपस में मत वैपरीत्य भी है। पर, इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक वाङ्मय में ऐसे अनेक स्पष्ट संकेत और अस्पष्ट सूचनाएँ हैं, जिनसे ज्योतिष विषयक ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण (३/४४) में लिखा है" यह सूर्य वस्तुतः न कभी अस्त होता है न उदित। यह दिन और रात को इस पृथ्वी पर लाता है।"

---

१. 'दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया"।

शरत्-संपात पर दिन-रात का समान होना उन्हें ज्ञात था। सूर्य के क्रान्ति-वृत्त को चन्द्र के द्वारा २७½ दिन में तय करने के कारण २७ नक्षत्र बन चुके थे। २८वां अभिजित् भी कभी-कभी गिना जाता था।

"उस समय यन्त्र न थे। नेत्रों से देखने का काम लिया जाता था। आर्य लोग चन्द्र, गुरु, मंगल, शनि आदि ग्रहों को जानते थे। वे वर्ष के १२ मास और मल मास (लौंद) भी जानते थे।

तैत्तरीय संहिता में उल्लेख है कि उस समय ३० दिन का साधारण मास और २९ दिन का चान्द्र मास होता था। वर्ष के १२ मास ३ ऋतुएँ एवं ३६० दिनों का उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में है। ध्यान देने की बात है कि रोमवासी शुरु में १० मास और ३०४ दिनों का ही वर्ष मानते थे। ७०० ई० पू० में उन्होंने १२ मास और ३५५ दिनों का वर्ष मानना प्रारम्भ किया। 'ऐतरेय' ब्राह्मण सूर्य और चन्द्र का सहवास अमावस्या को कहता है। किन्तु वैदिक युग में सम्भवतः ज्योतिष का कोई ग्रन्थ निर्मित नहीं हुआ।

वेदोत्तरकालीन 'वेदाङ्गज्योतिष'—षट् वेदाङ्गों में एक ज्योतिष भी है। पूर्व कथनानुसार 'वेदाङ्गज्योतिष' का लगधकृत एक छोटा-सा ग्रन्थ प्राप्त है। इसके दो भाग हैं। प्रथम में आर्य ज्योतिष जिसमें ३६ श्लोक हैं, द्वितीय याजुष ज्योतिष हैं, इसमें ४३ श्लोक हैं। यह सूत्र-शैली में है। मैक्समूलर इसे ३०० ई० पू० का तथा तिलक १४०० ई० पू० का कहते हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र की गतिविधि समझने का प्रयत्न किया गया है। इसमें ५ वर्ष के एक युग का कथन है, जिसका प्रत्येक वर्ष ३६६ दिन का होता है।

वैदिक युग के बाद के कुछ प्राचीन ग्रन्थ—यद्यपि लगध के बाद सूर्य, गृत्समद, बृहस्पति, वसिष्ठ, पराशर, गर्ग, कपिल, बादरायण आदि ज्योतिषाचार्यों का उल्लेख आर्यभट्टादि के साथ विविध ग्रन्थों में प्राप्त होता है और इनमें निश्चय ही ऐतिहासिक व्यक्ति अधिक हैं, जिनके ग्रन्थों का उल्लेख ही अन्य रचनाओं में प्राप्त होता है, पर उनके मूल ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं।

वैदिक-युग के बाद के ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ 'वृद्धगर्गसंहिता' की मैन्युस्क्रिप्ट डॉ० वेबर को मिली थी। जैन उपाङ्ग 'सूरियपण्णित' भी ज्योतिष का प्राचीन ग्रन्थ है। अथर्ववेद के कुछ अंश भी ज्योतिष सम्बन्धी प्राप्त हुए हैं। डॉ० वेबर ने लेह में कुछ ज्योतिष सम्बन्धी हस्तलिखित ग्रन्थ क्रय किये थे। महाभारत और मानव धर्मशास्त्र के कुछ अंशों में ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेख हैं, जिनमें कृत, त्रेता, द्वापर और कलि चार युगों का उल्लेख है। सर्वप्रथम 'ऐतरेय ब्राह्मण' में चार युगों के नामों का वर्णन चौपड़ के खेल के रूप में 'कलिः शयानो भवति उज्जिहानस्तु द्वापरः' आदि मिलता है। किन्तु विज्ञान के रूप में ज्योतिष का कोई दृढ़ अस्तित्व ई० पू० में नहीं दिखाई देता।

---

१. "दि कल्चरल हेरिटेज—ऑफ इण्डिया"।

ई० सन् के बाद का भारतीय ज्योतिष और उसकी समीक्षा—यद्यपि सूत्र-साहित्य में कुछ विद्वान् गणित-ज्योतिष सम्बन्धी संकेत ढूंढते हैं, पर डॉ० कीथ इसे भ्रान्तिमय अनुमान कहते हैं। "ई० सन् के पश्चात् का ज्योतिष-साहित्य पूर्णतः वैज्ञानिक है, पर पूर्णतः भारतीय नहीं है।" यह आजकल के कतिपय विद्वानों की धारणा है।

ई० सन् के बाद के साहित्य को हम विशेष वैज्ञानिक ढंग से परख सकते हैं। प्रारम्भिक साहित्य को हम फलित ज्योतिष (Astrology) कहेंगे और पूर्ण विकसित विज्ञान को हम गणित ज्योतिष (Astronomy) कहेंगे। यद्यपि दोनों नक्षत्र विज्ञान हैं "Both are Sciences of Stars" अब हम क्रमशः फलित और गणित ज्योतिष पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

गणित-ज्योतिष—भारतीय गणित-ज्योतिष डॉ० मैक्डानल के अनुसार ई० सन् से बाद का है और वह तो यहाँ तक कहता है—

"वास्तव में यहाँ पर गणित-ज्योतिष की विधि का विकास ग्रीक देश के गणित-ज्योतिष की पूर्व-मान्यता के आधार पर हुआ है।" इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय ज्योतिष-शास्त्र का विकास यूनानियों पर आश्रित नहीं है। हाँ, यह प्रभावित अवश्य हुआ है। सूर्य, वसिष्ठ, पितामह, पौलश आदि सिद्धान्त लगध से बाद के और आर्यभट्ट ४७६ ई० से पूर्व के हैं। इनमें ग्रहों की गति का अध्ययन किया गया है।

आचार्य और ग्रन्थ—ई० सन् के बाद के प्राप्त ज्योतिष साहित्य को हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) सिद्धान्त—वे पुस्तकें जो पूर्णतः गणित-ज्योतिष की विस्तार से व्याख्या करती हैं।

(२) करणरण—वे ग्रन्थ जो गणित-ज्योतिष सम्बन्धी हिसाब लगाकर देते हैं।

(३) ऐसी पुस्तकें जो गणित-ज्योतिष सम्बन्धी चक्र कुण्डली (नक्शे) बनाती हैं।

(४) प्राचीन पुस्तकों की व्याख्यायें।

सिद्धान्त—इस श्रेणी का पूर्ण और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'सूर्य-सिद्धान्त', जिसका प्राचीन रूप अभी तक प्राप्त नहीं है। वराहमिहिर ने 'पंच सिद्धान्तिका' में इसका संक्षेप दिया है यह श्लोकों में है। इसके मुख्य-मुख्य अंश यूनानी गणित-ज्योतिष से मिलते जुलते हैं। इसका प्राप्त रूप मौलिक नहीं है। इसमें कुल चार अध्याय हैं। इसके लेखक का उद्देश्य प्राचीन मतों का संग्रह और उसकी नवीन मतों के साथ संगति बैठानी है। डॉ० मैक्डानल का कहना है कि "इसमें ऐसे संकेत हैं जो इसका

---

*"The system of Astronomy here developed in fact presupposes knowledge of Greek Astronomy." India's past p/32.

विदेशी स्रोत व्यक्त करते हैं।" इसके लेखक और समय का पता आज तक ज्ञात नहीं हो सका। यह आर्यभट्ट ४७६ ई० या (२०० ई० पूर्व०) से भी पूर्व का है।

आर्यभट्ट—वराहमिहिर द्वारा उल्लखित प्राचीन ज्योतिषाचार्यों में आर्यभट्ट हैं जिनकी पुस्तक है 'आर्यभट्टीय' जो गणित और ज्योतिष, दोनों के इतिहास में समान महत्व रखती है। यह आर्या छन्द में है और चार छन्दों (अध्यायों) में विभक्त है। इसमें शास्त्रीय ढंग से ज्योतिष का विकास दिखाया गया है। आर्यभट्ट ने सूर्य और तारों के स्थिर होने, सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण, सूर्य की गति और पृथ्वी की परिधि का पता लगाया। वह कहते हैं कि पृथ्वी दिनभर में अपनी धुरी पर घूम जाती है। परन्तु परवर्ती काल के ज्योतिषियों ने विशेषतः वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने इस बात को अस्वीकार कर दिया। इस सिद्धान्त के बारे में डॉ० मैक्डानल कहते हैं–'यह प्रमाणित (सिद्ध) नहीं किया जा सकता कि वह सिद्धान्त जो परवर्ती भारतीय गणित ज्योतिषियों द्वारा अमान्य सिद्ध कर दिया गया था, वह यूनानियों से लिया गया था।'*

पाश्चात्यों के मत—आर्यभट्ट उपरोक्त लेखानुसार ४७६ ई० में पैदा हुए थे। ४९९ ई० में उन्होंने ग्रन्थ-रचना की। एक-दूसरे आर्यभट्ट की रचित पुस्तक है—'आर्य-सिद्धान्त' जिसे भास्कराचार्य जानते हैं।

करण--करण (ज्योतिष) की श्रेणी का प्रामाणिक ग्रन्थ प्रसिद्ध विद्वान् वराहमिहिर का 'पञ्च सिद्धान्तिका' है। डॉ० मैक्डानल, डॉ० कीथ आदि अन्तः-साक्ष्य से इनका समय ५०५ ई० स्वीकार करते हैं। कुछ भारतीय विद्वान् 'ज्यातो वराहमिहिरोनृपतेः समायाम्' के अनुसार इनका समय प्रथम शताब्दी ई० पू० स्वीकार करते हैं। इनके पाँच सिद्धान्तों के नाम हैं—(१) सूर्य, (२) पैतामह, (३) पौलस; (४) वसिष्ठ, (५) रोमक। अल्बेरूनी रोमक और पौलस सिद्धान्तों को ग्रीक-सिद्धान्त कहता है। रोमक सिद्धान्त को वराहमिहिर ने भी गर्हित कहा है। अतः उसका विदेशीपन सिद्ध है। यद्यपि डॉ० भाउदाजी और डॉ० कोलब्रुक ने इन्हें भारतीय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

वराहमिहिर ने वर्ष की अवधि की गणना वैसे ही की है, जैसे २०० ई० पूर्व में हिप्पाकस और २०० ई० मेंयले ने की है। लेखक ने युग को २८५० सूर्य वर्षों का माना है, जो भारतीय परम्परा से भिन्न है।

श्रीशेष—रोमक सिद्धान्त से भिन्न इसी नाम का एक ग्रन्थ है, जिसे वराहमिहिर के बाद श्रीशेष ने लिखा है। इसका भी समय विद्वान् ५०५ ई० मानते हैं। ब्रह्मगुप्त लेखक के बारे में कहता है—लाट और आर्यभट्ट से लेखक अत्यन्त प्रभावित है। इस पर ग्रीक प्रभाव है, फिर भी मौलिकता है।

'वराहमिहिर और श्रीशेष का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी तक दोलायमान रहता है।

ब्रह्मगुप्त—वराहमिहिर के पश्चात् ब्रह्मगुप्त प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य हैं। इनकी प्रथम प्रसिद्ध पुस्तक है 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त'। इनका जन्म ५९८ ई० और ग्रन्थ-रचना ६२८ ई० है। ये गणित के अद्वितीय लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् हैं। वे प्राचीन आचार्यों के अनुयायी हैं। अध्याय ११वें में इन्होंने आर्यभट्ट की आलोचना की है।

---

*It can not be proved that this doctrine, which was rejected by the later Indian astronomers was adopted from the Greek's.

भास्कराचार्य—ये गणित-ज्योतिष के अन्तिम सर्वमान्य विद्वान् थे। इनका जन्म १११४ ई० में खानदेश में हुआ था। इन्होंने आर्या छन्द में 'सिद्धान्त-शिरोमणि' नामक ग्रन्थ लिखा है। ये महान् गणितज्ञ थे। इसका स्थान गणित-ज्योतिष में अत्यन्त ऊँचा है। इन्होने पूर्व के सिद्धान्तों की अच्छी व्याख्या की है। ये ब्रह्मगुप्त से अधिक प्रभावित हैं। इनके ग्रन्थ के चार खण्ड हैं—प्रथम दो खण्ड गणित सम्बन्धी हैं—

(१) लीलावती और (२) बीजगणित। शेष दो खण्ड—ग्रहों की गतिविधि से सम्बद्ध हैं। (३) ग्रह गणिताध्याय और (४) गोलाध्याय, ये दोनों गणित-ज्योतिष सम्बन्धी हैं।

भास्कर ने 'करणकुतूहल' नाम का एक और ग्रन्थ लिखा है। इन्हें पृथ्वी के 'गुरुत्वाकर्षण' का ज्ञान था। जब न्यूटन का विश्व में पता तक न था।

इसके पश्चात् यवनों की विजय से दमन के कारण बहुत कम ग्रन्थ बने। साथ ही फारसी और अरबी ज्योतिष का भी प्रभाव पड़ा। बाद के ग्रन्थों में कमलाकर का 'सिद्धान्त तत्व-विवेक' अच्छा ग्रन्थ है। इसमें अरबिक प्रभाव है। आज यूरोपीय विज्ञान पर्याप्त रूप में विकसित हैं, फिर भी भारतीय ज्योतिष के ग्रन्थ अपनी प्रामाणिकता अक्षुण्ण बनाए हुये हैं।

फलित ज्योतिष—'फलित-ज्योतिष' जो कि ग्रहों की गतिविधि का मानव जीवन पर प्रभाव का सिद्धान्त है, वह भारतीय गणित-ज्योतिष से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।"

यद्यपि भारत में गणित-ज्योतिष और फलित-ज्योतिष का अभेद सम्बन्ध है, दोनों का एक ही इतिहास है। फलित-ज्योतिविज्ञान का ही पूर्ण विकसित रूप गणित-ज्योतिविज्ञान हैं। फिर भी हम प्राप्त सामग्री के बल पर पृथक् रूप से फलित-ज्योतिष पर भी कुछ लिखने का प्रयत्न करेंगे।

नक्षत्रों के प्रभाव से मानव जगत् के भाग्य पर पड़ने वाले परिणाम पर फलित-ज्योतिष ही प्रकाश डालता है। आकाश के ग्रह, नक्षत्रों का प्रिय तथा अप्रिय प्रभाव मनुष्य के भविष्य पर अवश्य पड़ता है। यह विश्वास भारत और प्राचीन सभ्यता वाले अन्य देशों में बहुत समय से व्याप्त रहा है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी विवाह संस्कार के अवसर पर अनुकूल तथा प्रतिकूल ग्रहों के प्रभाव का कथन है। राजा के लिए ज्योतिषी आवश्यक था। बौद्धों के यहाँ ज्योतिष हेय था। बराहमिहिर फलित-ज्योतिष के अधिकारी विद्वान् थे। प्राचीन ग्रन्थों में 'वृद्धगर्गसंहिता' ही शेष है। किन्तु उसके मौलिक स्वरूप के बारे में सन्देह है। इसमें विद्वानों ने प्रक्षिप्त अंश बहुत माने हैं। इसमें यूनानी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। इसने ग्रीक ज्योतिषियों की सराहना की है। वराहमिहिर के बाद के साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जाता है। (१) तंत्र, (२) होरा (कुण्डली), (३) शाखा या संहिता (शकुन)।

फलित-ज्योतिष के महान् ग्रन्थ

बृहत्संहिता—यह प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर की कृति है। यह फलित

ज्योतिष के सभी अंगों पर विचार करता है। इसके बारे में डा० मैकडानल का कहना है[1]—

"फिर भी, सामान्यतः इसे भारतीय साहित्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है"[2] धार्मिक इतिहास के विचार से भी इसका विशेष महत्त्व है। कविता के कृत्रिम उदाहरण भी यह प्रस्तुत करते हैं कि इसकी भाषा और शैली साहित्यिक है। एक स्थल पर लेखक कहता है—

"जैसे रात्रि बिना दीपक के, व्योम बिना मार्तण्ड के, उसी प्रकार सम्राट् बिना ज्योतिषी के हैं, जो नेत्रहीन की भाँति अपने पथ पर भटक रहा है।"[3] नवीन भवन के निर्माण में, कूप खनन में, वाटिका लगाने में, तड़ाग खुदवाने में, पृथ्वी के गर्भ में जल का स्रोत खोजने में तथा मूर्ति निर्माण आदि के विषय में यहाँ अध्याय के अध्याय भरे पड़े हैं। दो अध्यायों में पाणिग्रहण संस्कार का ही वर्णन है। वराह-मिहिर ने विवाह के मुहूर्तों के सम्बन्ध में एक अन्य ग्रन्थ की रचना की है।

एक अन्य ग्रन्थ 'योगयात्रा' में राजा के चढ़ाई के मुहूर्तों का वर्णन है। यद्यपि प्राकृतिक फलित-ज्योतिष का उदय भारतीय विज्ञान से ही हुआ है किन्तु ज्योतिष-शास्त्र के जिन विषयों का सम्बन्ध संस्कृत के 'जातक' और ग्रीक के होड़ा से है, उन पर यूनानी ज्योतिषशास्त्र का पूर्ण प्रभाव है। दोनों के पारिभाषिक शब्द एक-दूसरे से पूर्णतः मिलते-जुलते हैं।

वराहमिहिर ने ज्योतिष की इस शाखा पर एक बृहद् ग्रन्थ 'बृहज्जातक' लिखा है—जिसे होराशास्त्र भी कहते हैं और एक छोटा ग्रन्थ (लघुजातक) भी लिखा है। इन सूचनाओं में जन्म समय के नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर मनुष्य के भाग्य के विषय में भविष्यत् वाणियाँ की गई हैं।

डा० मैक्डानल के अनुसार इस विज्ञान का जन्म बेबीलोनिया में हुआ है। किन्तु यह निश्चित नहीं कि यह किस समय और किस प्रकार भारत में पहुँचा होगा। ६०० ई० के वराहमिहिर के पुत्र पृथ्वीयराश ने "होड़ाशत पंचिका" लिखी है।

महोतल ने १०वीं शती में इसी पर तथा वराहमिहिर के समस्त ग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं जो आज भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनमें प्राचीन उद्धरण अधिक हैं। महोतल ने ७५ श्लोकों में "होड़ाशास्त्र" नामक ग्रन्थ भी लिखा है।

ज्योतिर्विदाभरण—१६वीं शती का यह ग्रन्थ बाद के फलित ज्योतिष सम्बन्धी साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके लेखक कालिदास हैं। इस ग्रन्थ पर अरब ज्योतिष का पूर्ण प्रभाव है।

वराहमिहिर के पश्चात् फलित ज्योतिष में (मुहूर्त) नामक एक नये ढंग के ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। जिसमें सभी अवसरों के शुभ-मुहूर्तों का उल्लेख है। जैसे-

---

1. Astrology on the theory of the influence of the stars on human life has been very intimately connected with astronomy in India" —India's Past, page, 186
2. "It may even be called one of the most imp[illegible] of India an literature in general." —I[illegible]
3. "As a night without a lamp as a sky without [illegible] king without an astrologer, like a blind Dande[illegible]

धार्मिक संस्कार, पारिवारिक उत्सव, व्यापारिक अनुष्ठान आदि। इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'मुहूर्त चिन्तामणि"।

१२वीं शती के बाद का साहित्य—मुसलमानों के भारत-विजय के बाद पारसी और अरबिक ज्योतिष के प्रभाव से 'ताजिक' नामक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। जैसे—'ताजिक नीलकण्ठी'

स्वप्न सम्बन्धी बातों के लिये 'स्वप्नचिन्तामणि' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इसके लेखक हैं 'जगदेव'। आधुनिक काल में भी ज्योतिष कई एक अच्छे विद्वान् हुए जिन्होंने आधुनिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में भारतीय ज्योतिष की व्याख्या की। इनमें अधिक प्रसिद्ध ये हैं—

१. बापूदेव शास्त्री (१९वीं शती ई०)—ये अपनी ज्योतिष शास्त्रीय पाण्डित्य के कारण महामहोपाध्याय और सी० आई० ई० की उपाधियों से विभूषित थे। इनके संस्कृत ग्रन्थों के नाम हैं—'रेखागणित,' 'त्रिकोणमिति,' 'सायनवाद,' 'प्राचीन-ज्योतिषाचार्योशंवर्णन,' 'यन्त्र वर्णन,' 'अंकगणित,' और 'तत्त्वविवेकपरीक्षा' आदि। इसके अतिरिक्त इन्होंने कतिपय ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी और अंग्रेजी में किया है।

२. नीलाम्बर शर्मा (१९ वीं शती ई०)—ये मैथिल ब्राह्मण थे। इन्होंने पाश्चात्य पद्धति पर 'गोलप्रकाश' नामक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा।

३ शंकर बालकृष्ण दीक्षित—आधुनिक ज्योतिषियों में ये बहुत प्रसिद्ध हैं। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ मराठी भाषा में लिखे, जैसे—'भारतीय ज्योतिष शास्त्र चा त्रोटक इतिहास,' 'सृष्टिचमत्कार,' 'ज्योतिर्विलास' आदि।

४. वेंकटेश बापूजी केतकर (१९वीं शती ई०)—ये भी महाराष्ट्रीय विद्वान् हैं। इन्होंने 'केतकीग्रहगणित,' 'वैजयन्ती', 'केतकी परिशिष्ट,' 'सौरार्थपक्षीयतिथि-गणितम्,' 'केतकीवासनाभाष्यम्' और 'भूमण्डलीय, सूर्यग्रहगणितम्' आदि संस्कृत ग्रन्थों की रचना की।

५. सुधाकर द्विवेदी (१९ वीं शती ई०)—ये काशी के पास के रहने वाले थे। इन्होंने आधुनिक विज्ञान के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर भारतीय ज्योतिष को नवीन रूप में प्रस्तुत किया। इनके रचे ग्रन्थों की संख्या लगभग २२ है।

यह हैं संक्षेप में भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास।

गणित - प्राचीन भारत में विभिन्न शास्त्रों व विद्याओं का सम्यक् विकास हुआ था। गणितशास्त्र का श्रीगणेश भारतवर्ष में ही हुआ था। अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, शरीर विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, भूगोलशास्त्र, प्राणिशास्त्र, आयुर्वेद आदि पर अच्छी तरह से विचार कर इन्हें मानव-जीवन से सम्बन्धित किया गया था।

'इन शास्त्रों के मूल तत्त्वों का विकास वैदिककाल से प्रारम्भ हुआ।" इस तथ्य को मैक्समूलर, मैकडानल प्रभृति विद्वान् स्वीकार करते हैं। भौतिक विज्ञान के लिये गणितशास्त्र अत्यन्त आवश्यक है। वैदिककाल में गणित विद्या के तीन भेद प्राप्त होते हैं—(१) अङ्कगणित, (२) रेखागणित, (३) बीजगणित।

॥ इत्यलम् ॥

बृहत्

———